ॐ

परमात्मने नमः

परमाध्यात्मतरङ्गिणी

श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेव-विरचित समयसार-कलश पर
श्रीमद् शुभचन्द्राचार्यदेव रचित संस्कृत टीका का हिन्दी अनुवाद

हिन्दी अनुवाद एवं सम्पादन :
बाल ब्रह्मचारिणी कल्पना जैन, सागर
एम.ए., शास्त्री

प्रकाशन सहयोग :
एक मुमुक्षु परिवार, मुम्बई
हस्ते बाल ब्रह्मचारी हेमन्तभाई गाँधी, सोनगढ़

प्रकाशक :
तीर्थधाम मङ्गलायतन
श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट
सासनी-२०४२१६, हाथरस (उत्तरप्रदेश) भारत

प्रथम आवृत्ति - 2000 प्रतियाँ
[तीर्थधाम मङ्गलायतन के दसवें स्थापना दिवस 'मङ्गलायतन अमृत महामहोत्सव' दिनांक 31.01.2013 से 06.02.2013 के पावन अवसर पर]

लागत मूल्य -
विक्रय मूल्य - 40 रुपये

प्राप्ति स्थान :

1. **श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट**
   तीर्थधाम मङ्गलायतन, अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (उ.प्र.)
   Email - info@mangalayatan.com

2. **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
   302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400056
   फोन (022) 26130820
   Email - vitragva@vsnl.com

3. **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,** ए-4, बापूनगर, जयपुर-302015 (राज.) फोन : (0141) 2707458

4. **पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,** कहाननगर, लाम रोड, देवलाली-422401,
   फोन : (0253) 2491044

5. **श्री परमागम प्रकाशन समिति,** श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सिद्धक्षेत्र सोनागिरजी, दतिया (म.प्र.)

6. **रत्नत्रय तीर्थ ध्रुवधाम,** पोस्ट-कूपड़ा, जिला-बाँसवाडा (राज.)

7. **तीर्थधाम सिद्धायतन,** पोस्ट-द्रोणागिर, जिला-छतरपुर (म.प्र.)

8. **आत्मसाधना केन्द्र, आत्मार्थी ट्रस्ट,** रोहतक रोड, घेवरा मोड, दिल्ली-110041

मुद्रक :

प्रकाशकीय

परम पूज्य श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेव विरचित, समयसार–कलश पर श्रीमद् शुभचन्द्राचार्यदेव विरचित संस्कृत टीका '**परमाध्यात्मतरङ्गिणी**' नामक ग्रन्थ का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है। विदित हो कि समयसार–कलश स्वयं कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है, अपितु कलिकाल सर्वज्ञ श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्यदेव विरचित परमागम श्री समयसार की आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका में समागत 278 कलशों का संग्रह है। इस ग्रन्थ की प्रस्तुत टीका का शब्दश: अनुवाद प्रथम बार प्रकाशित किया जा रहा है।

आज से लगभग 2000 वर्ष पहले जैनशासन के स्तम्भसमान भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव हुए, जिन्हें विदेहक्षेत्र में विराजमान भगवान सीमन्धरस्वामी की दिव्यदेशना का रसपान करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। आठ दिन तक विदेहक्षेत्र में वैदेही आत्मस्वरूप की आनन्ददायिनी चर्चा का रसपान करके, करुणामूर्ति आचार्यश्री स्वदेश पधारे और भक्तों को दिये.... पञ्च परमागम — श्रीसमयसार, श्रीप्रवचनसार, श्रीनियमसार, श्रीपञ्चास्तिकाय, एवं श्रीअष्टपाहुड। इन पञ्च परमागमों में सम्पूर्ण दिव्यध्वनि का सार गूँथकर आचार्यदेव ने पञ्चम काल में तीर्थङ्करवत् कार्य किया है। इस उपकार के लिए भरतक्षेत्र के भव्यजीव आपश्री के चिर ऋणी रहेंगे।

पञ्च परमागमों में से शुद्धात्मा का स्वरूप दर्शानेवाला समयसार–परमागम अद्‌भुत है। जिसे आज से एक हजार वर्ष पूर्व हुए आचार्य अमृतचन्द्रदेव, जगत्‌चक्षु कहते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र ने आचार्य कुन्दकुन्ददेव कृत प्राभृतत्रय—समयसार, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय पर टीका रचकर, इस काल में मानों गणधर जैसा कार्य किया है।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने समयसार, समयसार–कलशटीका पर प्रवचन करते हुए अनेक बार इस परमात्माध्यात्मतरङ्गिणी के उद्धरण दिये हैं। जिनसे प्रेरित होकर बाल ब्रह्मचारी हेमन्तभाई गाँधी ने प्रस्तुत ग्रन्थ को हिन्दी अनुवादसहित प्रकाशित करने की प्रेरणा प्रदान की, उसके फलस्वरूप यह प्रकाशन किया जा रहा है।

वर्तमान में पूज्य गुरुदेवश्री, समयसार के पर्यायवाची हैं; उन्होंने विक्रम संवत् 1978 में सर्व प्रथम समयसार प्राप्त करके, अपने को धन्य अनुभव किया और सहज ही उनके अन्त:स्थल से यह उदगार प्रस्फुटित हुए कि **अहो! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है!** और तभी से उनका अन्तर्मन समयसार की गहराईयों में गोते खाने लगा। उन्होंने अपने जीवन में सैकड़ों बार इस ग्रन्थ का पारायण तो किया ही... सभा में सार्वजनिकरूप से 19 बार इस ग्रन्थ पर आद्योपान्त प्रवचन प्रदान किये। सच में गुरुदेवश्री कानजीस्वामी की अमृतवाणी का सुयोग पाकर, यह परमागम आज जन-जन की आस्था का केन्द्र बन चुका है। पूज्य गुरुदेवश्री के इस अनुपम उपकार के प्रति हम नतमस्तक हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद, पद्यानुवाद एवं सम्पादन कार्य बाल ब्रह्मचारिणी कल्पनाबेन द्वारा किया गया है। साथ ही इस ग्रन्थ का सम्पादन एवं प्रूफ रीडिंग कार्य भी आपके द्वारा सम्पन्न हुआ है। ग्रन्थकार एवं ग्रन्थ की समग्र विषय-वस्तु का परिचय, प्रस्तावना में दिया गया होने से यहाँ उस सम्बन्ध में कुछ भी कहना उपयुक्त नहीं है, विज्ञ पाठक, प्रस्तावना पढ़कर अपनी जिज्ञासा शान्त करें - ऐसा विनम्र अनुरोध है। जिनवाणी प्रचार-प्रसार की उत्कृष्ट भावना के लिए हम आदरणीय बहिन का आभार व्यक्त करते हैं।

सभी जीव 'परमाध्यात्मतरङ्गिणी' में समाहित कारण-समयसारस्वरूप भगवान आत्मा का स्वरूप समझकर, अपना आत्मकल्याण करें - इसी भावना के साथ।

पवन जैन

तीर्थधाम मङ्गलायतन

अनुवादकीय/सम्पादकीय

अपने रुचि–पोषक कार्यों में व्यक्ति की प्रवृत्ति सहज हो जाती है। वहाँ उसे थकान या कठिनता भी प्रतीत नहीं होती है। हम स्वयं अनादि–अनन्त ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान आत्मा होने के कारण पर्याय में उसकी व्यक्तता की भी भावना होना, रागी जीव का सहज स्वभाव है। इस हेतु प्रयास में मार्गदर्शक के सान्निध्य में रहने का भाव भी उसे सतत बना रहता है। ऐसे ही भाव से प्रस्तुत अनुवाद–कार्य सहज सम्पन्न हो गया है।

अध्यात्म–रसिक, समादरणीय भाईश्री देवेन्द्रकुमारजी, बिजौलियाँ ने यह सूचित करते हुए परम अध्यात्म तरंगिणी की एक प्रति मेरे पास प्रेषित की कि अध्यात्म–रसिक, समादरणीय भाईश्री बाल ब्रम्हचारी हेमन्तकुमारजी गाँधी, सोनगढ़ इसका शब्दश: अनुवाद चाहते हैं। सहज स्वीकृति पूर्वक यह कार्य प्रारम्भ हो गया। टीका का अनुवाद करते समय भावना हुई कि क्यों न मूल कलशों का भी उसी छन्द में शब्दश: पद्यानुवाद हो जाए; इसी की फल–श्रुति के रूप में प्रस्तुत कार्य आपके समक्ष है।

इस कार्य–हेतु आदरणीय भाईश्री ने श्री शिवसागर दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला शान्तिवीरनगर श्री महावीरजी (राजस्थान) से सन् १९७८ में प्रकाशित अध्यात्म तरंगिणी की एक प्रति मेरे पास भेजी थी। अध्ययन करने के बाद अन्य प्रतिओं से मिलान करने की आवश्यकता प्रतीत हुई; अत: इस दिशा में प्रयास प्रारम्भ हुआ; परिणाम–स्वरूप वीर सेवा मन्दिर दिल्ली द्वारा सन् १९९० में प्रकाशित परम अध्यात्म–तरंगिणी की एक प्रति प्राप्त हो गयी। इन दो प्रतिओं के अतिरिक्त प्रकाशित या हस्तलिखित कोई अन्य प्रति प्राप्त नहीं हो सकी; अत: इनके आधार से ही कार्य सम्पन्न हुआ है।

प्रस्तुत टीका में टीकाकार भट्टारक श्री शुभचन्द्र यति ने अधिकारों के कलश–पद्यों की उत्थानिका–टीका लिखने के पूर्व उस अधिकार के प्रारम्भ में अपना स्वतन्त्र मंगलाचरण लिखा है; परन्तु कहीं–कहीं वह उपलब्ध नहीं है। उनके मंगलाचरण लिखे ही नहीं गए हैं या प्रतिलिपिकारों की असावधानी से छूट गए हैं ह्व इसका निर्णय करने के लिए और पाठ–भेद आदि के निर्णय–हेतु अन्य प्रतियों की खोज हो रही थी; परन्तु सफलता नहीं मिली। यदि

किन्हीं भी महानुभावों को वे उपलब्ध हो सकें तो अभी भी वे उन्हें मेरे पास प्रेषित कर सकते हैं। पुन: प्रकाशन के समय उनका उपयोग कर लिया जाएगा।

प्रस्तुत प्रकाशन में संस्कृत गद्य-टीका के शब्दश: हिन्दी अनुवाद के साथ ही उसके भाव को सरलता से समझने की दृष्टि से पृथक् परिच्छेद में अर्थात् के रूप में अधिकांशतया सभी का सरलार्थ भी प्रस्तुत है। आचार्यश्री अमृतचन्द्र स्वामी की 'भावानुसार छन्दों के प्रयोग की भावना' को बहुमान देते हुए उसी छन्द में ही उसका शब्दश: हिन्दी पद्यानुवाद प्रस्तुत करने का प्रयास भी किया गया है। कलशों के अन्त में ग्रन्थ क्रमांक के साथ ही उनका अधिकार क्रमांक भी दिया गया है। कलशों की वर्णानुक्रमणिका के साथ ही कलशागत छन्दों के अनुसार भी उनका पृथक्-पृथक् उल्लेख अन्त में किया गया है।

अपनी पर्यायगत कार्य-सीमा भी मात्र अपने विकल्पों पर्यन्त ही है। अन्य में कुछ कर पाना तो किसी भी रूप में कभी भी सम्भव नहीं है। कार्य तो उसकी अपनी योग्यतानुसार ही होता है ह्न इस परम सत्य तथ्य को जीवन में सर्वांगीण स्वीकार करते हुए कलश-कर्ता आचार्यश्री अमृतचन्द्र स्वामी के अकर्तृत्व-पोषक, स्वातन्त्र्य-घोषक, निर्भय-निश्चिन्त-कारक, पीयूषवर्षी वाक्यों को आत्मसात् कर इसके कर्तृत्व के भार से मुक्त हो सहज साक्षी-भाव का अनुभव करती हुई; सभी इसी भाव का अनुभव करें ह्न यह भावना है।

यदि इसमें अज्ञान या प्रमाद-वश कहीं कुछ स्खलन हो गया हो, आचार्यश्री के भावों से विपरीत कुछ लिखा गया हो तो छद्मस्थ सहधर्मी समझकर, उनसे अवगत कराने का सहृदयी प्रयास कर अवश्यमेव मुझे अनुगृहीत करेंगे ह्न इस अपेक्षा के साथ जो भी, जैसा भी कार्य हो गया है; वह आपके कर-कमलों में सादर समर्पित है।

शान्त, स्वच्छ, आनन्दमय चैतन्य रस के वाचक शब्दों रूपी जल से परिपूर्ण इस तरंगिणी/महानदी में अवगाहन कर/इसका स्वाध्याय कर सभी आत्म-स्थिर हो अतीन्द्रिय आनन्द-रस का पान करें ह्न इस पवित्र भावना के साथ प्रस्तुत कार्य के विकल्प से विराम लेती हूँ।

माघ शुक्ल पंचमी/८-२-२०११ **कल्पना जैन, सागर**

आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी : जन्म-दीक्षा दिवस

दशलक्षण पर्व का प्रथम दिन

आचार्य कुन्दकुन्द : व्यक्तित्व-कर्तृत्व

वर्तमान-युगीन वीतरागी निर्ग्रन्थ दिगम्बर परम्परा के पर्याय-वाची, द्वितीय-श्रुत-स्कन्ध के आद्य प्रणेता 'आचार्य कुन्दकुन्द' अध्यात्म-जगत के सर्वोपरि आचार्य हैं। अपनी कृतियों के माध्यम से आत्मार्थीजनों के हृदय में गहराई से प्रविष्ट हो जाने पर भी आपका जीवन-परिचय अभी भी उत्कण्ठा और जिज्ञासा का केन्द्र बना हुआ है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार के श्लोक ११८ में चार दानों में प्रसिद्ध व्यक्तियों के अन्तर्गत शास्त्र-दान-दाता के रूप में कौण्डेश की प्रसिद्धि वर्णित है। इसकी प्रभाचन्द्रीय टीका में इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है—

'गोविन्द नामक ग्वाले ने कोटर में स्थित शास्त्र की महिमा से अभिभूत होकर बाल्यावस्था से ही उसकी सुरक्षापूर्वक पूजा-भक्ति करते हुए अवसर पाकर एक मुनिराज को उसे प्रदान किया था; फलस्वरूप वह अगले भव में कौण्डेश नामक बहु-श्रुत-ज्ञानी मुनि हुआ।'

लगभग इस जैसी ही कथा 'पुण्यास्रव कथा कोश' और 'आराधना कथा कोश' में भी उपलब्ध होती है।

ऐसा घटित होना, असम्भव भी प्रतीत नहीं होता है; क्योंकि करणानुयोग यह प्रतिपादन करता है कि पढ़ने, अर्थ समझने में असमर्थ होने पर भी जिनवाणी के प्रति विशिष्ट भक्ति, बहुमान, उसके माध्यम से कषायों की मन्दता इत्यादिरूप परिणाम, ज्ञानावरणादि कर्मों के विशिष्ट क्षयोपशम में कारण होते हैं।

'ज्ञान-प्रबोध' के आधार पर उनके वर्तमान जीवन संबंधी कुछ उल्लेख इस प्रकार हैं—

मालवदेश वारापुर नगर के राजा 'कुमुदचंद्र' के राज्य में, अपनी धर्म-पत्नी 'कुन्दलता' के साथ 'कुन्द-श्रेष्ठी' नामक एक वणिक रहता था। माघ शुक्ला पंचमी/वसन्त पंचमी के दिन उनके 'कुन्दकुन्द' नामक एक पुत्र-रत्न उत्पन्न हुआ। उसने 'जिनचन्द्र' नामक आचार्य-मुनि के सदुपदेश से प्रभावित हो ११ वर्ष की अल्प-वय में ही जिन-दीक्षा धारण कर ली, ४४ वर्ष की आयु में इन्हीं 'जिनचन्द्राचार्य' से ही आपको आचार्य पद प्राप्त हुआ। ९५ वर्ष, १० माह, १५ दिन पर्यन्त आप आत्म-आराधना, रत्नत्रय-साधना में संलग्न रह इस भारत-भू को अलंकृत करते रहे।

आप ईसा की प्रथम सदी के आचार्य माने जाते हैं।

'अभिधान राजेन्द्र कोश' के उल्लेखानुसार आप विक्रम संवत् ४९ में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए थे।

कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, गृद्धपिच्छाचार्य, एलाचार्य और पद्मनन्दी - इन पाँच नामों से आप प्रसिद्ध हैं।

वि० सं० ९९० में हुए श्री देवसेनाचार्य ने अपने 'दर्शनसार' ग्रन्थ में आपकी महिमा बताते हुए लिखा है कि—

''जइ पउमणंदिणाहो, सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।
ण बिबोहइ तो समणा, कहं सुमग्गं पयाणंति।।

श्री सीमन्धरस्वामी से प्राप्त हुए दिव्य-ज्ञान द्वारा यदि श्री पद्मनन्दीनाथ ने बोध नहीं दिया होता तो मुनिराज सच्चे मार्ग को कैसे जानते।''

इससे उन्होंने विदेह-क्षेत्र में विराजमान विद्यमान तीर्थंकर श्री सीमन्धरनाथ के साक्षात् दर्शन किए थे - यह भी फलित होता है। १३ वीं सदी के आचार्य जयसेन ने भी अपनी कृतियों में इस कथन की पुष्टि की है।

शास्त्रीय दृष्टि से वस्तु-स्वरूप की विवेचना करते हुए आध्यात्मिक दृष्टि से नय-विवेचना द्वारा शुद्धात्म-स्वरूप के दिग्दर्शन का प्रयास आपके व्यक्तित्व की प्रमुख विशेषता है।

आपकी कृतिरूप से प्रसिद्ध साहित्य में पंच-परमागम सर्व-मान्य हैं - (१) समयसार/ समयपाहुड़, (२) प्रवचनसार / पवयणसारो, (३) पंचास्तिकाय-संग्रह/पंचत्थिकाय संगहो, (४) नियमसार / णियमसारो, (५) अष्ट-पाहुड़ / अट्ठ-पाहुड़ - आचार्य कुन्दकुन्द-कृत ये पाँच ग्रन्थ 'पंच-परमागम' रूप में प्रसिद्ध हैं। इनमें से प्रारम्भिक तीन ग्रन्थ प्राभृत-त्रयी, नाटक-त्रयी, कुन्दकुन्द-त्रयी, कुन्दकुन्द के तीन रत्न इत्यादि नामों से भी प्रसिद्ध हैं।

इनके अतिरिक्त 'बारहाणुवेक्खा' और 'प्राकृत-भक्ति' भी आपकी कृतियाँ मानी जाती हैं। कितने ही विद्वान 'रयणसार' और 'मूलाचार' को भी आपकी ही कृतियाँ मानते हैं। कुछ लोग 'कुरल-काव्य' को भी आपकी कृति कहते हैं। यह भी कहा जाता है कि 'षट्खण्डागम' के प्रारम्भिक तीन खण्डों पर भी आपने 'परिकर्म' नामक टीका लिखी थी; जो आज उपलब्ध नहीं है। आपकी सर्व-मान्य कृतियों का सामान्य-परिचय इस प्रकार है—

१. समयसार : आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार ४१५ और आचार्य जयसेन के अनुसार ४३९ गाथाओं में ग्रथित यह अध्यात्म रस से ओतप्रोत आपकी एक बेजोड़ कृति है। नव तत्त्वों / पदार्थों में छिपी हुई एक चैतन्य ज्योति को बताना ही इसका मूल प्रतिपाद्य है। यही कारण है कि यहाँ नव तत्त्वों का वर्णन भी भेद-विज्ञान की प्रधानता से ही करते हुए उनसे भिन्न त्रिकाली, ध्रुव, शुद्धात्मा, भगवान आत्मा को पक्षातिक्रान्त एकत्व-विभक्त रूप में दिखाया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'परमाध्यात्म-तरंगिणी' की विषय-वस्तु का मूल-स्रोत यह अद्भुत कृति ही है।

२. प्रवचनसार : आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार २७५ और आचार्य जयसेन के अनुसार ३११ गाथाओं में समाहित यह ग्रन्थ प्रमाण-प्रमेय की मीमांसा करनेवाली, दार्शनिक शैली में लिखी गई एक अद्वितीय कृति है। इसमें अतीन्द्रिय और इन्द्रिय ज्ञान के रूप में प्रमाण का विश्लेषण, अतीन्द्रिय-ज्ञान/सर्वज्ञता-प्राप्ति का उपाय, सर्वज्ञता का विशद-स्वरूप विवेचित कर, इन्द्रिय-ज्ञान और इन्द्रिय-सुख को हेय बताकर, सुखमय अतीन्द्रिय-ज्ञान का प्ररूपण कर; उसके विषयभूत द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक पदार्थों का सामान्य-विशेषरूप से विशद विवेचन कर, सर्व-पदार्थों से पृथक् निजात्म-तत्त्व का निरूपण करते हुए अन्त में आत्माराधक मुनिवरों की अन्तर्बाह्य परिणति का विस्तार से वर्णन किया गया है।

३. पंचास्तिकाय-संग्रह : आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार १७३ और आचार्य जयसेन के अनुसार १८१ गाथाओं में निबद्ध यह ग्रन्थ प्रारम्भिक शास्त्राभ्यासी के लिए संक्षेप में समग्र वस्तु-व्यवस्था का परिज्ञान कराने में पूर्ण सक्षम है। यहाँ प्रारम्भ में पंचास्तिकाय, षड्-द्रव्यों का संक्षिप्त विवेचन कर बाद में स्वरूप-भेद-प्रभेद पूर्वक उनका विस्तार से वर्णन करते हुए ७ तत्त्व, ९ पदार्थों का विवेचन किया है। अन्त में निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग का निरूपण कर अभेद रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग का संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट शैली में प्ररूपण है।

४. नियमसार : १८७ गाथाओं में निबद्ध, निज-भावना-निमित्त रचा गया यह ग्रन्थ शुद्धात्म-सेवी-साधुओं की अन्तर्बाह्य परिणति को हस्तामलकवत् प्रदर्शित करने के लिए अद्वितीय है। प्रारम्भ में नियम, नियम-फल का वर्णन करते हुए, छह द्रव्यों का सामान्य विवेचन कर, साध्यभूत शुद्धात्म-तत्त्व की प्रकृष्ट प्ररूपणा कर व्यवहार-चारित्र का प्ररूपण है। तदनन्तर निश्चय-परक षडावश्यक क्रियाओं की विशद विवेचना करते हुए परम-समाधि और परम-

भक्ति को भी स्पष्ट किया है। अन्त में केवली भगवान के स्व-पर प्रकाशकता सिद्ध करते हुए, उन्हें निर्बन्ध सिद्ध कर, यहाँ सिद्ध भगवान का स्वरूप स्पष्ट किया गया है।

५. अष्ट-पाहुड़ : अनुशासन-प्रशासन की मुख्यता से ग्रथित इस ग्रन्थ में दर्शन पाहुड़, सूत्र पाहुड़, चारित्र पाहुड़, बोध पाहुड़, भाव पाहुड़, मोक्ष पाहुड़, लिंग पाहुड़ और शील पाहुड़ - इन ८ पाहुड़ों का संकलन है। यथा नाम, तथा गुण की सूक्ति को चरितार्थ करनेवाले ये नाम ही अपनी विषय-वस्तु के परिचायक हैं।

६. बारहाणुवेक्खा : ९१ गाथाओंवाले इस ग्रन्थ में अनित्य आदि १२ भावनाओं का वर्णन करते हुए एकमात्र शुद्धोपयोगरूप आत्म-ध्यान को ही संवर का कारण बताकर परमार्थनय से आत्मा को संवरादि से रहित देखने की प्रेरणा दी गई है।

७. प्राकृत भक्ति : प्राकृत भाषा में निबद्ध तीर्थंकर भक्ति, सिद्ध भक्ति, श्रुत भक्ति, चारित्र भक्ति, योग भक्ति, आचार्य भक्ति, पंच गुरु भक्ति और निर्वाण भक्ति - ये आठ भक्तियाँ नामानुसार आराध्य के गुणानुवाद-सहित और अन्त में गद्यरूप अंचलिका-युक्त हैं। इनके अतिरिक्त नन्दीश्वर भक्ति, शान्ति भक्ति, समाधि भक्ति और चैत्य भक्ति - ये चार भक्तियाँ मात्र गद्यरूप और अंचलिकामय ही उपलब्ध हुई हैं।

इस प्रकार आपकी कृतियाँ क्रमश: भक्ति के माध्यम से पाठक की चित्तभूमि मृदु बनाकर, अष्ट-पाहुड़ के माध्यम से देव-शास्त्र-गुरु का यथार्थ निर्णय कराती हुईं, पंचास्तिकाय-संग्रह और प्रवचनसार के माध्यम से 'सन्मात्र वस्तु' का निर्णय कराके, समयसार के माध्यम से भेद-ज्ञान द्वारा 'चिन्मात्र वस्तु' की पृथक् प्रतीति कराती हुईं, बारहाणुवेक्खा के माध्यम से समस्त परद्रव्यों के प्रति उदासीन-भाव लाकर, नियमसार के माध्यम से साधकदशा का विश्लेषण कर पुन:-पुन: आत्म-भावना को प्रेरित कर विशेष स्वरूप-स्थिरता के माध्यम से शिव-सुखमय सिद्धदशा को प्राप्त कराने में समर्थ निमित्त हैं। इनसे ही आपका व्यक्तित्व और प्रेरणादाई लक्ष्य भी परिलक्षित होता है।

आचार्य अमृतचन्द्र : व्यक्तित्व-कर्तृत्व

लौकिक नि:स्पृहता और मोक्ष-मार्गारूढ़ अलौकिक जीवन-सम्पन्न आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी के लौकिक जीवन के सम्बन्ध में उनकी आध्यात्मिक, भक्ति-परक, अनुपम साहित्यिक कृतियों के अतिरिक्त हमें कुछ भी विदित नहीं है। मात्र पण्डित आशाधरजी द्वारा आपको

'ठक्कुर' शब्द से सम्बोधित किए जाने के कारण आपका क्षत्रिय घराने से सम्बन्धित रहना परिलक्षित होता है।

यद्यपि आपने अपनी चिरजीवी कृतियों में अपने लौकिक जीवन के सम्बन्ध में कुछ भी लिखने की आवश्यकता अनुभव नहीं की; तथापि अपने अलौकिक आध्यात्मिक जीवन का परिचय प्रत्येक अमर कृति में दिया है। आप इनमें स्वयं को दर्शन-ज्ञानमयी, अनन्त चैतन्य-स्वरूपी; समस्त परद्रव्यों, उनके भावों, उन सम्बन्धी अपने भावों, कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि सम्पूर्ण विकल्पों से पूर्णतया पृथक्; त्रिकाल शुद्ध, एक, परिपूर्ण, स्वसंवेदनमयी प्रत्यक्ष-गोचर भगवान आत्मा कहते हैं। इसी प्रकार के अन्यान्य अनेकानेक विशेषणों द्वारा आपने अपना वृहद् परिचय अपनी समग्र उपलब्ध कृतियों में दिया है।

परिचय में नाम, काम और धाम की मुख्यता होती है। लोक में व्यक्ति जिससे जाना जाता है, वह 'नाम' है। वह जिसे सदैव करता है, वह 'काम' है और उसका स्थायी निवास-स्थल 'धाम' कहलाता है। प्रस्तुत आचार्य 'अमृतचन्द्रसूरी' नाम से सुविख्यात हैं; आत्मा का ज्ञान ही उनका काम है और आत्मा ही उनका स्थायी निवास-स्थल/धाम है।

विक्रम की दशवीं सदी के उत्तरार्ध में भारत-भू को अलंकृत करनेवाले, आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी की तीन कृतियों के अद्वितीय टीकाकार, अनेक मौलिक कृतियों के कर्ता, गहन तात्त्विक चिंतक, निरभिमानी, अनुभूति-मूलक आचार्य अमृतचन्द्रस्वामी, अपने अकर्तृत्व/सहज ज्ञातृत्व-स्वभाव को समयसार की आत्मख्याति टीका के कलश/पद्य २७८ में इस प्रकार शब्दांकित करते हैं—

''स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वैः, व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः।
स्वरूप-गुप्तस्य न किंचिदस्ति, कर्तव्य-मेवामृतचन्द्रसूरेः।।

अपनी शक्ति से वस्तु के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन करनेवाले शब्दों द्वारा यह समय/समयसार की व्याख्या की गई है। स्वरूपगुप्त मुझ अमृतचन्द्रसूरी का इसमें कुछ भी कर्तव्य/कर्तापना नहीं है।''

लगभग इसी प्रकार के भाव आपने अपनी प्रत्येक कृति के अन्त में व्यक्त किए हैं।

आप नंदि-संघ के आचार्य थे। अनेकानेक तथ्यों से यह प्रमाणित हो गया है कि नन्दि-संघ के आचार्यों के नाम के साथ नन्दि, चन्द्रकीर्ति या भूषण - जैसे शब्दों का प्रयोग किया

जाता रहा है। एक स्थल पर आपको अमृतनन्दि नाम से भी स्मृत किया गया है। यद्यपि कुछ लोग आपको काष्ठा-संघ का आचार्य मानते हैं; परन्तु इस संघ की किसी भी मान्यता का किंचित् भी पोषण आपकी कृतियों में उपलब्ध नहीं है। आपकी कृतियों में सर्वत्र स्त्री-मुक्ति आदि का और मुनिराजों को परिग्रह रूप में कुछ भी रखने का सर्वथा निषेध किया गया है।

आप आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी के निजामृत रस के रसिक, अनुगामी शिष्य, परम-भक्त और गम्भीरतम विषय को स्पष्ट करनेवाले प्रामाणिक अद्वितीय टीकाकार हैं। आचार्य उमास्वामी की एकमात्र उपलब्ध कृति 'तत्त्वार्थ-सूत्र' के भी आप सफलतम प्रामाणिक टीकाकार हैं – इन सभी तथ्यों से यह निश्शंकतया स्पष्ट तथ्य है कि आप मूल-संघ नन्दि-संघ के आध्यात्मिक, सैद्धान्तिक, पंच-परमेष्ठी भगवान के प्रति भक्ति-रस में रँगे हुए एक महान आचार्य रहे हैं।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी आप संस्कृत-भाषा के असाधारण अधिकारी विद्वान थे। सर्वत्र अनुचरी के समान भाषा, आपके भावों का अनुचरण करती है। गद्य-पद्य – दोनों ही प्रकार की कृतियाँ भावानुसारी भाषा-सम्पन्न, सहज बोधगम्य, माधुर्य गुण से सहित आपकी विशद-विज्ञता की परिचायिका हैं। टीका और मौलिक रचनाओं के रूप में उपलब्ध आपकी कृतियाँ इस प्रकार हैं—

१. आत्म-ख्याति टीका: प्रस्तुत रचना आचार्यश्री कुन्दकुन्ददेव कृत समय-पाहुड़/समयसार के आध्यात्मिक अद्भुत रहस्यों को उद्घाटित करनेवाली सर्वोच्च व्याख्या है। इसमें समयसार ग्रन्थ की ४१५ गाथाओं को ९ अंकों में विभक्त कर आपने उन्हें गद्य-पद्यात्मक चम्पू काव्यमय नाटक के रूप में प्रस्तुत किया है।

यहाँ सर्व प्रथम पूर्वरंग में सूत्रावतार आदि के रूप में नाटक की भूमिका बनाते हुए ३८ गाथाओं के गद्यात्मक विश्लेषण के मध्य ३२ कलशों/पद्यों द्वारा आपने जीव और अजीव के स्वरूप को स्पष्ट किया है। इसके बाद पहले अंक में एक पात्र बनकर प्रविष्ट हो स्वांग दिखानेवाले जीव और अजीव का; ३९ से ६८ पर्यन्त ३० गाथाओं के गद्यात्मक विश्लेषण में ३३ से ४५ पर्यन्त १३ कलशों/पद्यों द्वारा नय-विभाग-युक्त स्व-पर के भेद-विज्ञान की मुख्यतापूर्वक विवेचन किया गया है। जिससे लक्षण की पृथक्ता द्वारा पहिचान लिए जाने के कारण वे दोनों जीव और अजीव पृथक्-पृथक् हो रंगभूमि से निकल जाते हैं।

तदनन्तर वे जीव और अजीव ही कर्ता और कर्म के वेष में आकर दूसरे अंक में प्रवेश

करते हैं। इसमें ६९ से १४४ पर्यन्त ७६ गाथाओं का गद्यात्मक विश्लेषण करते हुए ४६ से ९९ पर्यन्त ५४ पद्यों द्वारा कर्ता-कर्म सम्बन्धी अनादिकालीन मिथ्या मान्यता का निराकरण कर व्याप्य-व्यापकरूप तादात्म्य में ही यथार्थ कर्ताकर्म सम्बन्ध घटित होता है; शेष सभी उपचार है – ऐसा प्रतिपादन किया है। इससे जीव और अजीव के यथार्थ कर्ता-कर्म का सम्यक् भेदज्ञान हो जाने के कारण उस कर्ता-कर्म का वेष त्यागकर जीव-अजीव रंगभूमि से निकल जाते हैं।

तत्पश्चात् तीसरे अंक में एक कर्म, पुण्य-पाप रूप दो पात्र बनकर प्रवेश करता है। यहाँ १४५ से १६३ पर्यन्त १९ गाथाओं का गद्यात्मक विश्लेषण करते हुए १०० से ११२ पर्यन्त १३ पद्यों द्वारा तर्क, युक्ति, उदाहरण पूर्वक उन दोनों की एकता सिद्ध की गयी है। जिससे कर्म, मात्र कर्मरूप एक पात्र हो निकल जाता है। तदुपरान्त चौथे अंक में मदोन्मत्त आस्रव प्रवेश करता है। यहाँ १६४ से १८० पर्यन्त १७ गाथाओं के गद्यात्मक विश्लेषण में ११३ से १२४ पर्यन्त १२ पद्यों द्वारा उसका स्वरूप, भेद, प्रक्रिया का बोध करा जीव से उसकी पृथक्ता सिद्ध की है। इस कारण वह भी रंगभूमि छोड़कर चला जाता है।

पाँचवें अंक में अनादिकालीन आस्रव को परास्त करता हुआ संवर प्रविष्ट होता है। यहाँ १८१ से १९२ पर्यन्त १२ गाथाओं के गद्यात्मक विश्लेषण में १२५ से १३२ पर्यन्त ८ पद्यों द्वारा संवर-प्राप्ति के साधनभूत स्व-पर के भेद-विज्ञान का अभिनन्दन करते हुए उसका स्वरूप, भेद, क्रम बताकर उससे भिन्न शाश्वत आत्मा में स्थिरता का प्रतिपादन किया है; इसलिए वह भी रंगभूमि से चला जाता है।

छठवें अंक में संवर की अनुचरी निर्जरा प्रवेश करती है। यहाँ १९३ से २३६ पर्यन्त ४४ गाथाओं के गद्यात्मक विश्लेषण में १३३ से १६२ पर्यन्त ३० पद्यों द्वारा निर्जरा का स्वरूप, भेद, ज्ञान-वैराग्य की सामर्थ्य, सप्तभय-विरहित सम्यग्दृष्टि के आठ अंग आदि विषयों का विवेचन कर, उसकी प्राप्ति और वृद्धि-हेतु उससे भी भिन्न शाश्वत ज्ञानानन्द स्वभावी निज भगवान आत्मा में सन्तुष्टि का प्रतिपादन होने से वह निर्जरा भी वहाँ से निकल जाती है।

सातवें अंक में बंध रंगभूमि में प्रवेश करता है। यहाँ २३७ से २८७ पर्यन्त ५१ गाथाओं की गद्यात्मक व्याख्या में १६३ से १७९ पर्यन्त १७ पद्यों द्वारा बंध का स्वरूप, कारण, भेद का वर्णन कर शाश्वत शुद्धात्मा को इस बंध से पूर्णतया पृथक् बता देने के कारण वह बंध भी वहाँ से चला जाता है।

तदुपरान्त आठवें अंक में सकल सुखमय मोक्ष प्रवेश करता है। यहाँ २८८ से ३०७

पर्यन्त २० गाथाओं की गद्यात्मक व्याख्या में १८२ से १९२ पर्यन्त १३ पद्यों द्वारा मोक्ष-प्राप्ति का उपाय, स्वरूप, भेद बताकर उसकी उपलब्धि-हेतु उससे भी पूर्णतया पृथक्, अनादि-अनन्त मुक्त स्वभावी अपने भगवान आत्मा में लीनता का प्रतिपादन होने से वह मोक्ष भी रंगभूमि से चला जाता है।

इसके बाद नवमें अंक में सदा साथ रहनेवाला सर्व विशुद्धज्ञान रंगभूमि में प्रवेश करता है। यहाँ ३०८ से ४१५ पर्यन्त १०८ गाथाओं की गद्यात्मक व्याख्या करते हुए १९३ से २४६ पर्यन्त ५४ पद्यों द्वारा तर्क, युक्ति, उदाहरणादि पूर्वक आत्मा का अकर्तृत्व-अभोक्तृत्व सिद्ध कर; प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना का स्वरूप स्पष्ट कर स्व-पर भेद-विज्ञान मूलक सम्यक् रत्नत्रय को ही मोक्षमार्ग बता; ग्रन्थ के अध्ययन, मनन, चिन्तन पूर्वक समयसार-स्वरूप, अपने आत्मा में परिपूर्ण स्थिरता से सिद्धदशा प्रगट होती है - इस रूप में इसका फल प्ररूपित कर अंक के साथ नाटक भी समाप्त किया है।

परिशिष्ट के रूप में २४७ से २६३ पर्यन्त १७ पद्यों द्वारा स्याद्वाद और अंत में २६४ से २७८ पर्यन्त १५ पद्यों द्वारा साध्य-साधक भाव का विवेचन करते हुए यह आत्म-ख्याति टीका समाप्त की है।

प्रस्तुत ग्रन्थ परमाध्यात्म-तरंगिणी में इन २७८ पद्यों का ही विवेचन किया गया है।

२. तत्त्व-प्रदीपिका टीका : आचार्यश्री कुन्दकुन्दस्वामी द्वारा रचित, २७५ गाथाओं में निबद्ध पवयणसार पाहुड़/प्रवचनसार ग्रन्थ की यह व्याख्या है। इसमें २७५ गाथाओं को ज्ञान तत्त्व प्रज्ञापन, ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन और चरणानुयोग सूचक चूलिका - इन ३ महाधिकारों और अनेक अन्तराधिकारों में विभक्त कर नाम के अनुसार ही सर्वज्ञता, वस्तु-व्यवस्था, साधकदशा का गूढ़तम स्वरूप अत्यन्त विशद शैली में विवेचित है।

३. समय व्याख्या : यह आचार्यश्री कुन्दकुन्दस्वामी द्वारा १७३ गाथाओं में रचित पंचास्तिकाय संग्रह ग्रन्थ की व्याख्या है। इसमें गाथाओं को ३ स्कन्धों में विभक्त कर वस्तु-व्यवस्था को संक्षेप में समझाकर, सात तत्त्व, नौ पदार्थ और मोक्षमार्ग का विवेचन किया गया है।

४. तत्त्वार्थसार : आचार्यश्री उमास्वामी की एकमात्र उपलब्ध कृति, दश अध्यायों में विभक्त, ३५७ सूत्रों में निबद्ध तत्त्वार्थ सूत्र/मोक्ष-शास्त्र की सैद्धान्तिक दृष्टि से मीमांसा, विश्लेषण करनेवाली यह पूर्णतया पद्यात्मक व्याख्या है।

५. पुरुषार्थ सिद्धि-उपाय : २२६ आर्या छन्दों में निबद्ध, आचार्यश्री समन्तभद्रस्वामी की तार्किक शैली का अनुसरण करनेवाली प्रस्तुत कृति आचार्यश्री अमृतचन्द्रस्वामी की मौलिक रचना है। हिंसा-अहिंसा का सूक्ष्म विवेचन करनेवाली, मुख्यतया श्रावकाचार परक इस कृति का अपर नाम 'जिन प्रवचन रहस्य कोश' भी है। इस पर अनेकानेक भाषाओं में टीकाएँ भी प्रकाशित हुई हैं। इसकी विषयवस्तु से प्रभावित होकर अनेकों अजैन विद्वान भी अपने विचारों में परिवर्तन कर जैन-दर्शन की ओर आकृष्ट हो अहिंसक धर्म के उपासक हुए हैं।

६. लघु तत्त्व-स्फोट : आचार्यश्री समन्तभद्रस्वामी के स्तुति-साहित्य का अनुसरण कर रचित, सैद्धान्तिक, आध्यात्मिक गूढ़ रहस्यों को उद्‌घाटित करनेवाली, चौबीस तीर्थंकरों की भक्ति-परक यह आपकी मौलिक अनुपम कृति है। इसका दूसरा नाम 'शक्ति-मणित कोश' या 'शक्ति-भणित-कोश' भी है। यह आचार्यश्री अमृतचन्द्रस्वामी की सर्वाधिक क्लिष्ट, प्रौढ़, गहन-गम्भीर दार्शनिक कृति है।

इस प्रकार आचार्यश्री अमृतचन्द्रस्वामी ने आत्माराधना के साथ-साथ यद्यपि साहित्यिक साधना से जिनवाणी माँ के साहित्यिक कोश को भी भरपूर समृद्ध किया है; तथापि अकर्तृत्व स्वभावमय ज्ञानानन्द-सम्पन्न जीवन व्यतीत करनेवाले परम-पूज्य आचार्यश्री ने कहीं भी इनके कर्तृत्व को स्वीकार नहीं किया है। लोकैषणा से दूर रहनेवाले तथा लोक-व्यवहार के निर्वहन को मोह में नाचना माननेवाले आचार्यदेव ने प्राय: अपनी प्रत्येक कृति में ये भाव व्यक्त किए हैं कि 'विविध वर्णों से पदों की रचना हो जाती है; पदों से वाक्य और वाक्यों से पवित्र शास्त्र बन जाते हैं; स्वरूप-गुप्त मुझ अमृतचन्द्र का कुछ भी कर्तृत्व नहीं है।'

हम भी इनके समान अध्यात्म-रस के रसिक हो सकल कर्तृत्व से दूर रह आत्म-निमग्न रहें - यही पावन भावना है।

भट्टारक शुभचन्द्र : व्यक्तित्व-कर्तृत्व

सुप्रसिद्ध भट्टारक ज्ञान-भूषण और विजयकीर्ति - इन दोनों के शासन काल के प्रत्यक्ष-दृष्टा भट्टारक शुभचन्द्र, भट्टारक विजयकीर्ति के शिष्य थे। संभवत: आपका जन्म विक्रम संवत् १५३०-४० के मध्य हुआ था। शैशव काल से ही अध्ययन कर आपने संस्कृत, प्राकृत, देशी भाषा; व्याकरण, छन्द, काव्य, न्याय आदि विषयों का पाण्डित्य सहज ही प्राप्त कर लिया था। त्रिविध विद्याधर और षट्‌भाषा कवि चक्रवर्ती आपकी उपाधियाँ थीं।

गौड, कलिंग, कर्नाटक, तौलब, पूर्व, गुर्जर, मालव आदि देशों में विहार कर आपने जैन-धर्म की सातिशय प्रभावना की थी। आपने अनेक प्रतिष्ठा-महोत्सवों में सम्मिलित होकर, उनका सफल संचालन कर धर्म प्रभावना में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया था।

आपकी शिष्य परम्परा में सकल-भूषण, वर्णी क्षेमचन्द्र, सुमतिकीर्ति, श्री भूषण आदि के नाम उल्लिखित हैं। आपके पश्चात् आपके पट्ट पर सुमतिकीर्ति आसीन हुए। डॉ० जोहरापुरकर ने आपका भट्टारकीय काल १५७३ से १६१३ माना है। सुमतिकीर्ति भट्टारक का काल वि० सं० १६२२ है। तदनुसार आपका जीवन-काल अनुमानत: वि० सं० १५३५ से १६२० होना चाहिए। आपने अपने ४० वर्षीय पट्टासीन समय में साहित्य और समाज की भरपूर सेवा की है।

ज्ञान के सागर आप बहु विद्याओं में पारंगत विद्वान थे। कम प्रचलित या अप्रचलित शब्दों का प्रयोग आपके शब्दकोश की बहुलता के प्रमाण हैं। विषय को स्पष्ट करने-हेतु आपने विविध ग्रन्थों के वाक्यादि उद्धृत किए हैं; जिससे आपकी बहु-अध्ययन-शीलता परिलक्षित होती है। संघ-व्यवस्था, धर्मोपदेश और आत्माराधना से शेष रहे समय को आपने साहित्य-साधना में व्यतीत किया है। वि० सं० १६०८ में रचित पाण्डव-पुराण की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि इसके पूर्व आपकी २१ कृतियाँ प्रसिद्ध हो गई थीं। अभी तक उपलब्ध, संस्कृत की २४ और हिंदी की ७ रचनाएँ इस प्रकार हैं –

१. चन्द्रप्रभ चरित्र : इसमें आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ भगवान का पावन चरित्र १२ सर्गों में निबद्ध है।

२. करकण्डु चरित्र : इसमें करकण्डु का जीवन चरित्र १५ सर्गों में निबद्ध है।

३. परमाध्यात्म तरंगिणी : आचार्यश्री अमृतचन्द्रस्वामी कृत आत्मख्याति के कलश-पद्यों का इसमें विवेचन है। आगे इस पर स्वतन्त्ररूप से चर्चा की जा रही है।

४. कार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका : आचार्यश्री कार्तिकेयस्वामी कृत, प्राकृत भाषा में निबद्ध बारह अनुप्रेक्षाओं का यह विश्लेषणात्मक ग्रन्थ है। वि० सं० १६००, माघ शुक्ल एकादशी को हिसार नगर में रची गई इस टीका से प्रस्तुत ग्रन्थ लोकप्रिय हुआ है।

५. जीवन्धर चरित्र : १३ सर्गों में निबद्ध जीवन्धर कुमार के चरित्र का चित्रण करनेवाले इस ग्रन्थ का रचना काल वि० सं० १६०३ है।

६. चन्दना चरित्र : महाशीलवान चन्दना के पावन और उज्ज्वल जीवन का चित्रण करनेवाला यह कथा काव्य ५ सर्गों में निबद्ध है।

७. पाण्डव पुराण : पच्चीस पर्वों में विभक्त, कौरव और पाण्डवों के जीवन चरित्र को प्रस्तुत करनेवाला यह कथा ग्रन्थ वि०सं० १६०८ में समाप्त हुआ था।

८. श्रेणिक चरित्र : इसमें मगध सम्राट श्रेणिक का कथानक वर्णित है।

९. पार्श्वनाथ काव्य पंजिका : इसमें तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनार्थ भगवान का प्रेरणाप्रद जीवन चरित्र चर्चित है।

१०. सज्जनचित्तबल्लभ : अति मनोरम शैली में आत्माराधक साधकों की अन्तर्बाह्य दशा का इसमें भावनापूर्ण चित्रण है।

११. प्राकृत लक्षण; १२. अंबिकाकल्प; १३. अष्टाह्निका कथा; १४. कर्मदहन पूजा; १५. चन्दन षष्ठी व्रत पूजा; १६. गणधर वलय पूजा; १७. चारित्र शुद्धि विधान; १८. तीस चौबीसी पूजा; १९. पंच कल्याणक पूजा; २०. पल्ली व्रतोद्यापन; २१. तेरह द्वीप पूजन; २२. पुष्पांजलि व्रत पूजा; २३. सार्धद्वय द्वीप पूजा; २४. सिद्ध चक्र पूजा – इन सभी संस्कृत कृतियों की विषय-वस्तु नामानुसार है।

हिन्दी कृतियों के अन्तर्गत – **१. तत्त्वसार दूहा :** ९१ दोहे और चौपाइयों में निबद्ध इसमें मोक्षमार्ग में अति प्रयोजनभूत सात तत्त्वों का वर्णन है। **२. महावीर छन्द :** नामानुसार इसमें २७ पद्यों द्वारा भगवान महावीरस्वामी का स्तवन किया गया है।

३. विजयकीर्ति छन्द : ३९ पद्यों में निबद्ध यह एक ऐतिहासिक कृति है। अपने गुरु विजयकीर्ति की प्रशंसा में लिखा गया यह रूपक काव्य अध्यात्मशक्ति की विजय का उद्घोषक है। इसमें विजयकीर्ति नायक और कामदेव उपनायक/खलनायक है।

४. गुरु छन्द : ११ पद्यवाले इसमें अपने गुरु भट्टारक विजयकीर्ति का गुणानुवाद किया गया है।

५. नेमिनाथ छन्द : इसमें बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ भगवान का पावन प्रेरणा-दाई चरित्र २५ पद्यों द्वारा वर्णित है।

६. अष्टाह्निका गीत और ७. क्षेत्रपाल गीत में नाम के अनुसार ही विषय-वस्तु वर्णित है।

इस प्रकार अपनी साहित्य–साधना द्वारा आपने साहित्यिक कोश को समृद्ध करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

प्रस्तुत कृति परमाध्यात्म–तरंगिणी : इस ग्रन्थ की रचना आश्विन शुक्ल पंचमी वि० सं० १५७३ में हुई थी। शम–दम–यम–सम्पन्न त्रिभुवन कीर्ति के आग्रह से विषयवस्तु की स्पष्टता और ध्यान की सिद्धि–हेतु रचित यह ग्रन्थ कुमतरूपी वृक्षों को जड़–मूल से नष्ट कर देनेवाली तीव्र प्रवाह–युक्त विशाल नदी के समान होने के कारण इसका नाम परमाध्यात्म–तरंगिणी है। आचार्यश्री कुन्दकुन्दस्वामी द्वारा रचित समयपाहुड़/समयसार पर आचार्यश्री अमृतचन्द्रस्वामी कृत आत्म–ख्याति नामक गद्य–पद्यात्मक व्याख्या के पद्यों का इसमें कुछ विवेचन–सहित खण्डान्वयी शैली में शब्दशः अर्थ है।

आत्म–ख्याति के समान ही क्रमिक अंक–विभाजनमय २७८ पद्यों का इसी के गद्य भाग के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हुए यह लिखी गई है; तथापि इसमें १८९ और २११ वें पद्य पर कुछ भी उपलब्ध नहीं है। इसमें कितने ही पद्यों के दो पाठों का उल्लेख स्वयं रचनाकार शुभचन्द्रस्वामी ने किया है। जैसे – १४० वें पद्य के 'स्वा' पाठ को विवेचित करने के बाद लिखा है कि अन्यत्र 'स्वां' पद भी उपलब्ध होता है। २२३ पद्य के 'नित्यं स्वभाव....' का अर्थ लिखने के बाद लिखा है कि अन्यत्र 'नित्य–स्वभाव....' पद भी प्राप्त है। इत्यादि।

वर्तमान में प्रचलित समयसार–आत्म–ख्याति वचनिका और समयसार कलश बालबोध टीका के साथ तुलना करने पर इसके कितने ही पद्यों में पाठ–भेद भी ज्ञात होता है। इसका विवरण इस प्रकार है–

पद्य क्रमांक	**इसका पाठ**	**अन्य का पाठ**
१४	चिदुच्छ्वलन.....	चिदुच्छलन....
२२	...माजन्मलीढं	...माजन्मलीनं
३३	प्रत्याय्य यत्...(प्रतीतिगोचर कर जो)	प्रत्याययत् (भिन्न द्रव्य की प्रतीति प्रगट कर रहा है)
३९	ततस्त्विदं	ततोऽस्त्विदं
१३०	पराञ्च्युत्वा	पराच्च्युत्वा
१८८	कुटः (कुम्भ)	कुतः (कैसे)

२०३	...षंगाकृति:	...षंगात्कृति:
२०९	भर्तुं	भेत्तुं
२२३	बलां	बलात्
२४१	...ममलं	...मचलं
२६४	शक्तिषु निर्भरो	शक्ति-सुनिर्भरो

....इत्यादि आत्म-ख्याति के पद्यों का विश्लेषण होने के कारण इस ग्रन्थ में स्पष्टता-हेतु आवश्यकतानुसार कहीं-कहीं उसके सम्पूर्ण या अंशरूप गद्य भाग को और कहीं-कहीं उनका शब्दान्तर कर इसमें गर्भित किया गया है। जैसे - २९ वें पद्य के 'अपरभावत्यागदृष्टान्तदृष्टि:' पद के विवेचन में इसके पूर्व आए गद्य भाग को ही लिया गया है।

३४ वें पद्य के 'अकार्यकोलाहलेन' पद के विवेचन में इसके पूर्ववर्ती गद्य भाग को ही समाहित कर लिया है। ५१ से ५४ पर्यन्त ४ पद्यों के विवेचन में इनके पूर्वगत गद्यात्मक कुछ वाक्यों को यथावत् ले लिया है। इत्यादि।

२१९, २२०, २२१ वें इत्यादि पद्यों के विवेचन में कुछ शब्दान्तर पूर्वक आत्म-ख्याति के गद्य को समाहित किया है।

कितने ही पद्यों के विवेचन में स्वतन्त्ररूप से भी विविध विषयों को प्रस्तुत किया है। जैसे - २४९-२५० वें पद्य का विवेचन करते हुए अन्य मत-मतान्तरों का निषेध करते हुए स्याद्वाद की स्थापना की है। इत्यादि।

प्रस्तुत टीका में कहीं-कहीं कितने ही शब्दों के भाव को व्यक्त करनेवाली परिभाषाएं भी समाहित हैं। यथा - ९ वें पद्य के विवेचन में चार निक्षेपों को इस प्रकार परिभाषित किया है - 'तत्रातद्गुणे वस्तुनि संज्ञाकरणं नाम, अन्यत्र सोऽयमिति व्यवस्थापनं स्थापना, वर्तमानतत्पर्यायादन्यद् द्रव्यं, तत्कालपर्यायाक्रान्तं वस्तुभावोऽभिधीयते।'

५० वें पद्य के विवेचन में प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य को परिभाषित करते हुए लिखा है कि 'प्राप्यं कर्मपर्यायं प्राप्तुं योग्यं, यथा स्वभाविनि वह्नावुष्णत्वं; पूर्वावस्थापरित्यागेन चावस्थान्तरप्राप्ति: तद्विकार्यं, यथा मृत्पिण्डस्य घट:; पर्यायस्वरूपेण निर्वर्तयितुं निष्पादितुं योग्यं निर्वर्त्यं, मृद: स्थासकोशकुशूलघटादिवत्।' इत्यादि।

शब्दों का विशिष्ट अर्थ निकालना भी इस टीका की अपनी विशेषता है। यथा - ४६

वें पद्य के धीरं पद का विश्लेषण करते हुए लिखा है – 'धी धारणा तां जगत् ग्रहणाय राति आदत्ते इति धीरं' – अर्थात् जगत को ग्रहण करने/जानने के लिए धी=धारण/ज्ञान, उसे जो लाता है, वह धीर है। इत्यादि।

संस्कृत-साहित्य पर जन-मानस सदैव श्रद्धावनत है। प्रस्तुत टीका संस्कृत भाषा में होने पर भी अपने विश्लेषण को और अधिक प्रामाणिक, आकर्षक बनाने के लिए टीकाकार ने इसमें अनेक आचार्यों के अनेक वाक्यों को उद्‌धृत किया है। जैसे – चौथे पद्य के विवेचन में आचार्य देवसेनस्वामी, समन्तभद्रस्वामी, सोमदेवसूरी; पाँचवें पद्य के विवेचन में आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी; छठवें पद्य के विवेचन में आचार्य अकलंकस्वामी; इत्यादिरूप में विविध वाक्यांशों द्वारा विषय को स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया गया है।

अन्य आचार्यों द्वारा प्रदत्त परिभाषाओं द्वारा भी यह ग्रन्थ समलंकृत है। शुद्धनय-निष्ठ को परिभाषित करने-हेतु उद्‌धृत पद्य इस प्रकार है –

''अस्पृष्टमबद्धमनन्यमयुतमविशेषणमविभ्रमोपेतः।
यः पश्यत्यात्मानं स पुमान् खलु शुद्धनयनिष्ठः।।

अस्पृष्ट, अबद्ध, अनन्य, अयुत, अविशेष आत्मा को अविभ्रम से सहित/निश्शंक हो जो देखता है; वह आत्मा वास्तव में शुद्धनय-निष्ठ/शुद्धनय के विषयभूत शुद्धात्मा में स्थिर है।''

४४ वें पद्य के विवेचन में अविवेक को परिभाषित करने हेतु उद्‌धृत वाक्य इस प्रकार हैं–

''चिदचित्त्वे परतत्त्वे विवेकस्तद्विवेचनं, तद्विपरीतोऽविवेकः – चेतन और अचेतन रूप परतत्त्व – इनका विवेचन करना/इन्हें पृथक्-पृथक् जानना, विवेक है; उससे विपरीत अविवेक है।'' इत्यादि।

इस टीका का शब्दशः विश्लेषण भी अध्येता को अपनी ओर आकृष्ट करने में पूर्णतया सक्षम है। यथा – ८ वें पद्य के 'अपरं' पद का विवेचन करते हुए लिखा है – ''निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थिति-विधानलक्षणं, सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्प-बहुत्वलक्षणं च।''

५८ वें पद्य के 'शुद्धज्ञानमया अपि' पद का विवेचन करते हुए लिखा है कि 'निर्मल-भेदबोधप्राचुर्य्याः, अभेदज्ञानिनः कथं कर्मकर्तारो न स्युरित्यपि शब्दार्थः – निर्मल भेदज्ञान की प्रचुरता होने पर भी, अभेद-ज्ञानी कर्म के कर्ता कैसे नहीं होंगे (वे तो होंगे ही) – यह अपि/भी शब्द का अर्थ है।'

१२४ वें पद्य के 'नित्योद्योतं' पद का विवेचन करते हुए लिखा है – ''नित्यं प्रकाशमानं, यद्यपि लब्ध्यपर्याप्तकस्य निगोदस्य महानुभागज्ञानावरणावृतस्य नित्योद्योतत्वं न, तथापि पर्यायाख्यस्य लब्ध्यक्षरा–परनामधेयस्याक्षरानन्तभागशक्तेः निरावरणत्वं नित्योद्योतत्वं आत्मनोऽस्त्येव – नित्य प्रकाशमान है। यद्यपि अधिक अनुभागवाले ज्ञानावरण कर्म से ढ़के हुए लब्ध्यपर्याप्तक निगोद जीव के नित्य प्रकाशपना नहीं है; तथापि अक्षर के अनन्तवें भागमय शक्तिवाले, लब्ध्यक्षर है दूसरा नाम जिसका उस पर्याय नामक ज्ञान के निरावरणपना है; इस प्रकार आत्मा के नित्य उद्योतपना ही है।''

१३७ वें पद्य के 'रागिणोऽपि' को स्पष्ट करते हुए लिखा है – ''न केवलं तत्त्वविदः – इत्यपि शब्दार्थः – मात्र तत्त्व को जाननेवाले व्यक्ति नहीं, अपितु रागी व्यक्ति भी – यह 'अपि' शब्द का अर्थ है। यहीं 'अद्यापि' को स्पष्ट करते हुए लिखा है – 'इदानीमपि न तु पूर्वमित्यपि शब्दार्थः – पूर्व में ही नहीं, अपितु अभी भी – यह 'अपि' शब्द का अर्थ है।''

१४९ वें पद्य के 'कर्ममध्यपतितोऽपि' का विवेचन करते हुए लिखा है – ''कर्मणां उदयादिरूपाणां, मध्ये अन्तः पतितोऽपि शब्दात्तत्रापतितस्य कथं बन्धः – उदय आदि रूप कर्मों के मध्य में रहता होने पर भी वह नहीं बँधता है, उनके मध्य नहीं रहनेवाले के तो बन्ध कैसे होगा? यह 'अपि' शब्द से फलित होता है।''

इत्यादि रूप में अनेकानेक शब्दों का अर्थ यहाँ भली–भाँति स्पष्ट हुआ है।

११० वें पद्य के 'न काचित् क्षतिः' का अर्थ 'कर्मणां क्षयो न भवेत् – किसी कर्म का क्षय नहीं होता है' – ऐसा किया है; परन्तु पाण्डे राजमल्लजी, पण्डित बनारसीदासजी और पण्डित जयचन्द छाबड़ाजी ने '(कर्म और ज्ञान के एकत्रित रहने में) कुछ क्षति/विरोध नहीं है' – ऐसा अर्थ किया है।

इत्यादि अनेक रूपों में अनेक विशेषता–सम्पन्न होने के कारण समयसार की विषय–वस्तु को हृदयंगम करने–हेतु इस 'परमाध्यात्म–तरंगिणी' ग्रन्थ की महत्त्वपूर्ण निमित्तता है।

इसके अध्ययनादि में प्रवृत्त हो सभी कारण समयसार स्वरूप अपने शुद्धात्मा को समझकर इसमें ही स्थिर रह कार्य–समयसाररूप अव्याबाध सुख–शान्तिमय जीवन जिएं – ऐसी पावना भावना है।

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजम्बा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 - ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्रार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का

परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970 – 07 दिसम्बर 1913) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक – इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद तुरन्त ही महात्मा कानजीस्वामी ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य क्षण में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, गुरुदेवश्री के हस्तकमल में आया, जिसका अध्ययन और चिन्तन करते हुए अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रस्फुटित हुआ। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — '**सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।**' तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको निःशंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। सत्यधर्म का स्वरूप प्रकाशित करने में हिचकना पड़ता था; अतः अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का श्रावक हूँ।** सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अतः

भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल **'श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर'** का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

यहाँ ग्रन्थाधिराज समयसार पर प्रवचन प्रारम्भ करने के पश्चात् दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1961 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। **सुवर्ण-सन्देश** नामक साप्ताहिक पत्रिका अक्टूबर 1960 से अप्रैल 1962 तक प्रकाशित हुई। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। मूल दिगम्बर जैनों को भी आपने सच्चा दिगम्बर बनाया।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर, पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। ईस्वीं सन् 1980 तक पूज्य कृपालु कहान गुरुदेव की उपस्थिति तक बाईस लाख पुस्तकें प्रकाशित हुईं। श्री टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर की ओर से भी इस समय तक आठ लाख पुस्तकें प्रकाशित हुईं। सत्साहित्य द्वारा इस वीतरागी

तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो अनवरतरूप से अभी भी चल रही है।

वर्तमान में सत्साहित्य का प्रकाशन सोनगढ़ के उपरान्त भावनगर, राजकोट, मुम्बई, देवलाली, जयपुर, अलीगढ़, सोनागिर, इत्यादि अनेक स्थानों से हो रहा है। अब तो पूज्य गुरुदेवश्री की रिकार्डिंग वाणी के अक्षरश: प्रकाशन भी प्रारम्भ हुए हैं। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने हम सब पर अमाप करुणा बरसायी है, तत्त्व जिज्ञासु जीवों के लिए यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, जो अनवरतरूप से चल रहा है। ईस्वीं सन् 1967 से श्री वीतराग-विज्ञान परीक्षा बोर्ड जयपुर द्वारा प्रतिवर्ष सम्पूर्ण भारत में वीतराग-विज्ञान पाठशाला के सैकड़ों केन्द्रों पर धार्मिक परीक्षा का आयोजन किया जाता है। जिसमें बालकों के साथ-साथ छोटे-बड़े जिज्ञासु भाई-बहिन हजारों की संख्या में मूल तत्त्वज्ञान सिखते हैं। बालकों के तत्त्वज्ञान का बीजारोपण करने हेतु प्रशिक्षित अध्यापक तैयार करने के लिये, शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर इस शृंखला की अविस्मरणीय कड़ी है, जो पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर का विनम्र प्रयास है।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज (28 फरवरी 1941) के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई और आज भी यह प्रवृत्ति अनवरतरूप से चल रही है।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु

मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था। दिनांक 29 नवम्बर 1980 शुक्रवार (कार्तिक कृष्ण 7, संवत् 2037) के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके यहाँ से अध्यात्म युग सृजक बनाकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।
10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

विषयानुक्रमणिका

अधिकार नाम	कलश संख्या	पृष्ठांक
पूर्वरंग	१-३२-३२	१-५९
जीव-अजीव अधिकार	३३-४५-१३	६०-८०
कर्ताकर्म अधिकार	४६-९९-५४	८१-१४२
पुण्य-पाप अधिकार	१००-११२-१३	१४३-१६२
आस्रव अधिकार	११३-१२४-१२	१६३-१८१
संवर अधिकार	१२५-१३२-८	१८२-१९३
निर्जरा अधिकार	१३३-१६२-३०	१९४-२३९
बन्ध अधिकार	१६३-१७९-१७	२४०-२६३
मोक्ष अधिकार	१८०-१९२-१३	२६४-२८३
सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार	१९३-२४६-५४	२८४-३६३
स्याद्वाद अधिकार	२४७-२७८-३२	३६४-४२२
टीकाकार प्रशस्ति		४२३-४२४
समयसार कलश वर्णानुक्रमणिका		४२५-४३०

ॐ

परमात्मने नमः

परमाध्यात्म–तरङ्गिणी

समयसार–कलश–टीका

पूर्वरङ्गः

टीकाकारस्य शुभचन्द्राचार्यस्य मङ्गलाचरणं—

आर्या : *शुद्धं सच्चिद्रूपं भव्याम्बुजचन्द्रममृतमकलङ्कम्।*
ज्ञानाभूषं वंदे सर्वविभावस्वभावसम्मुक्तम्॥१॥
सुधाचन्द्रमुनेर्वाक्य–पद्यान्युद्धृत्य रम्याणि।
विवृणोमि भक्तितोऽहं चिद्रूपे रक्तचित्तश्च॥२॥

अथ श्रीमदमृतचन्द्रसूरिः श्रीकुन्दकुन्दाचार्योक्तसमयसारप्राभृतव्याख्यानं कुर्वाणः संस्तदन्तरे चित्स्वरूपप्रकाशकानि चिन्नाटकरङ्गावनिवितीर्णानि पद्यानि परमाध्यात्मतरङ्गिण्य–परनामधेयानि रचयन् प्रथमतः परमात्मादिनमस्कृतिरूपमङ्गलमाचष्टे —

टीकाकार–कृत मङ्गलाचरण का हिन्दी अर्थ : शुद्ध सत्तावान, चैतन्य–स्वरूप, भव्य जीवों रूपी अम्बुज/कुमुद को विकसित करने के लिए चन्द्रमा के समान, अविनाशी, निर्दोष, समस्त विभाव–स्वभावों से पूर्णतया रहित, ज्ञान से सुशोभित की मैं वन्दना करता हूँ।।१।।

अमृतचन्द्र मुनि के वाक्य/वचनात्मक रमणीय पद्यों को लेकर, चिद्रूप/आत्म–स्वरूप में अनुरक्त मनवाला मैं, भक्ति पूर्वक उनका विश्लेषण करता हूँ।।२।।

अब, श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित समयसार–प्राभृत का व्याख्यान करते हुए उसके मध्य में, चेतन के स्वरूप को प्रकाशित करनेवाले, चेतन के नाटक की रंगभूमि में फैले हुए; 'परमाध्यात्म–तरंगिणी', इस दूसरे नामवाले पद्यों को रचते हुए सबसे पहले परमात्मा आदि को नमन करनेरूप मङ्गल को श्रीमद् अमृतचन्द्र सूरी/आचार्य कहते हैं—

अनुष्टुप् : **नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।**
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे॥ १॥

टीका : १. सामान्यपक्षे : ***समयसाराय*** सं सम्यक् त्रिकालावच्छिन्नतया, अयन्ति गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति स्वगुणपर्यायानिति समयाः पदार्थाः, तेषां मध्ये सारः सरति गच्छति सर्वोत्कृष्टत्वमिति सारः परमात्मा, तस्मै। ***भावाय*** भूयते सत्स्वरूपेणेति भावः पदार्थस्तस्मै परमात्मरूपपदार्थाय; ***नमः*** त्रिशुद्ध्या नमस्कारोऽस्तु। किं लक्षणाय? ***चकासते*** देदीप्यमानाय। कया? ***स्वानुभूत्या*** स्वस्य आत्मनः अनुभूतिः अनुभवनं तया, स्वानुभवप्रत्यक्षेण चकासते प्रकाशते। पुनः किंभूताय? ***चित्स्वभावाय*** चित् ज्ञानदर्शनरूपा सैव स्वभावः स्वरूपं यस्य, तस्मै। पुनः किंलक्षणाय? ***सर्वभावान्तरच्छिदे*** आत्मनो

अनुष्टुप् : **नमूँ चित्स्वभावी सत्, सर्व ज्ञ सबसे पृथक्।**
समयसार स्वभावी को, स्वानुभव से जो प्रगट।।१।।

पद्यार्थ : स्वानुभूति से प्रकाशित होनेवाले, चैतन्य-स्वभावी, भाववान सभी पदार्थों को जाननेवाले समयसार के लिए नमस्कार है।।१।।

टीकार्थ : (यहाँ इस मङ्गलाचरण के सात अर्थ किए गए हैं, जो क्रमशः इस प्रकार हैं—)

१. सामान्य-पक्ष में : समयसाराय=सं=सम्यक्/भली-भाँति (भूत, वर्तमान, भविष्य) तीनों कालों से सहित/त्रिकालवर्ती अपने गुण-पर्यायों को (जो) जाते हैं, प्राप्त करते हैं, वे समय या पदार्थ हैं। उनके मध्य में/उनमें सार; जो सर्वोत्कृष्टता को सरता है, जाता है, वह सार है, अर्थात् परमात्मा; उनके लिए। **भावाय**=जो सत् स्वरूप से होता रहता है, वह भाव या पदार्थ है; उस परमात्मारूप पदार्थ के लिए। **नमः**=(मन, वचन, कायरूप) तीन शुद्धि पूर्वक नमस्कार हो। वह (पदार्थ) किस लक्षणवाला है? **चकासते**=देदीप्यमान है। वह किससे देदीप्यमान है? **स्वानुभूत्या**=अपने आत्मा की अनुभूति, अनुभवन से; स्वानुभव-प्रत्यक्ष से देदीप्यमान है, प्रकाशित है। वह और कैसा है? **चित्स्वभावाय**= चित्=ज्ञान-दर्शन रूप, वही है स्वभाव या स्वरूप जिसका, (इस प्रकार के सभी वाक्य बहुब्रीहि समास द्वारा किए गए विवेचनवाले हैं) उसके लिए। वह और किस लक्षणवाला है? **सर्वभावान्तरच्छिदे**=आत्मारूपी भाव से अन्य भाव, स्वभाव अथवा पदार्थ, भावांतर है;

भावादन्ये भावा: स्वभावा: पदार्था वा भावान्तरा:, सर्वे च ते भावान्तराश्च, सर्वभावान्तरा:, तान् छिनत्ति स्वस्वभावात् पृथक्करोतीति सर्वभावान्तरच्छित् तस्मै। सामान्यपक्षोऽयम्।

२. जिनपक्षे : ***समयसाराय*** सं सम्यक् यथोक्तरूपेण, अयन्ति जानन्ति स्याद्वादात्मकं वस्तु निश्चिन्वन्ति, ते समया: सातिशयसम्यग्दृष्टिप्रभृतिक्षीणकषायपर्यन्ता जीवा: तेषां पूज्यत्वेन सारो जिनस्तस्मै ***नम:।*** ***स्वानुभूत्या*** स्वस्यानुभूति: विभूति: समवसरणादिलक्षणा, तया; ***चकासते*** प्रकाशमानाय; ***चित्स्वभावाय*** घातिकर्मक्षयात्साक्षात् चित्स्वभावाय; ***भावाय*** भानि नक्षत्राणि, उपलक्षणात् चतुर्निकायदैवतानि, अवति रक्षति पातीति भावस्तस्मै। ***सर्वभावान्तरच्छिदे*** सर्वभावानां, अन्तरं भेदं जीवाजीवादिकं भिन्नमित्यादिरूपं विचारं छिनत्ति परिच्छिनत्ति जानातीति सर्वभावान्तरच्छित् तस्मै।

सभी और वे भावांतर – इस प्रकार तत्पुरुष समास होकर 'सर्वभावान्तर' पद बन गया; उन्हें छेदता है, अपने स्वभाव से पृथक् करता है, वह सर्वभावान्तरछित्, उसके लिए।

अर्थात्, सत्-स्वरूप से विद्यमान, स्वानुभव-प्रत्यक्ष से प्रकाशित होनेवाले, ज्ञान-दर्शन-स्वभावी, सभी पदार्थों को अपने स्वभाव से पृथक् करनेवाले, त्रिकालवर्ती अपने गुण-पर्यायों को प्राप्त होनेवाले, सभी पदार्थों में सर्वोत्कृष्ट परमात्मारूपी पदार्थ के लिए, त्रिशुद्धि पूर्वक नमस्कार हो। यह (इस मङ्गलाचरण का) सामान्य-पक्ष-परक/साधारण अर्थ है।

२. जिन-पक्ष में : समयसाराय=सं=सम्यक्, जैसा पहले कहा है, अर्थात् त्रिकालवर्ती अपने गुण-पर्याय-सम्पन्न पदार्थों को जो जानते हैं, स्याद्वादात्मक वस्तु का निश्चय करते हैं; वे सातिशय सम्यग्दृष्टि से लेकर क्षीण-कषाय पर्यन्त के जीव, समय हैं; उनकी/उनके द्वारा पूज्यता के कारण सार 'जिन'/जिनेन्द्र भगवान; उन्हें **नम:**=नमस्कार है। **स्वानुभूत्या**=अपनी अनुभूति, समवसरण आदि लक्षणमय विभूति; उसके द्वारा **चकासते**= प्रकाशमान के लिए; **चित्स्वभावाय**=घाति-कर्म के क्षय से साक्षात् चित्स्वभाववाले के लिए; **भावाय**=भा=भानि=नक्षत्र, उपलक्षण से चारों प्रकार के देवों की 'अवति' रक्षा करता है, सुरक्षा करता है, वह भाव है, उसके लिए। **सर्वभावान्तरच्छिदे**=सभी भावों के अन्तर-भेद को; जीव से अजीवादि भिन्न हैं – इत्यादि रूप विचार को, परिच्छेदता है, जानता है, उस सर्वभावांतरच्छित् के लिए।

अर्थात्, त्रिकालवर्ती अपने गुण-पर्याय-सम्पन्न अनन्त धर्मात्मक पदार्थों का स्याद्वाद शैली से निर्णय करनेवाले सातिशय सम्यग्दृष्टि से लेकर क्षीण-कषाय पर्यन्त के जीवों द्वारा

३. *सिद्धपक्षे :* परमात्मवत्प्रक्रिया। ***समयसाराय*** समं साम्यं यान्ति प्राप्नुवन्तीति समया योगिनस्तेषां मध्ये ध्येयतया सारः सिद्धपरमेष्ठी। ***स्वानुभूत्या*** सु सुष्ठु जगत्त्रयासम्भाविनी, आ अतिशयेनानुभूतिर्वृद्धिः अगुरुलघ्वादिगुणानां षट्वृद्धिः, तया। भूधातुर्वृद्ध्यर्थे वर्तते; तथा चोक्तं —

सत्तायां मङ्गले वृद्धौ निवासे व्याप्तिसम्पदोः। अभिप्राये च शक्तौ च प्रादुर्भावे गतौ च भूः॥

इति। ***चकासते चित्स्वभावाय,*** पूर्ववत्। ***भावाय*** भाःदीप्तिः ज्ञानज्योतिः, तया वाति प्राप्नोति जगदिति भावः सकलस्य जगतः ज्ञानान्तर्गतत्वात्, वा गतिगन्धनयोः, ये गत्यर्थास्ते प्राप्त्यर्थाः; 'आतोऽनुपसर्गात्कः' इति कप्रत्ययेन सिद्धम्। ***सर्वभावान्तरच्छिदे***

पूज्यता को प्राप्त, समवसरण आदि विभूति से शोभायमान, घाति-कर्म के क्षय में व्यक्त केवलज्ञानादि अनन्त चतुष्टय से सम्पन्न, नक्षत्र आदि चारों प्रकार के देवों की रक्षा करनेवाले, जीव-अजीव आदि सभी पदार्थों को पृथक्-पृथक् जाननेवाले जिनेन्द्र/अरहन्त भगवान के लिए नमस्कार हो।

३. सिद्ध-पक्ष में : इसमें (सामान्यरूप से) अरहन्त परमात्मा के समान ही प्रक्रिया / विशेषणों का अर्थ है (जो विशेष है, उसे यहाँ बताते हैं)। **समयसाराय**=जो सम या साम्य को प्राप्त हुए हैं, वे योगी समय हैं; उनके मध्य में / उनके ध्येय होने से उनमें सार सिद्ध परमेष्ठी हैं। **स्वानुभूत्या**=सु=सुष्ठु / भली-भाँति, तीनों लोकों में सभी के नहीं होनेवाली, आ=अतिशयरूप से अनुभूति=वृद्धि, अगुरुलघु आदि गुणों की षट्वृद्धि / षट्गुणी वृद्धि, उससे। यहाँ 'भू' धातु 'वृद्धि' अर्थ में है; वैसा कहा भी है—

''सत्ता, मंगल, वृद्धि, निवास, व्याप्ति, सम्पत् / सम्पत्ति, अभिप्राय, शक्ति, प्रादुर्भाव और गति अर्थ में 'भू' धातु आती है।''

इस प्रकार (यहाँ भू का अर्थ, वृद्धि है)। **चकासते; चित्स्वभावाय**=इनका अर्थ यहाँ पहले के समान ही है। **भावाय**=भा=दीप्ति, ज्ञानज्योति; उसके द्वारा जो प्राप्त होता है, वह भाव, अर्थात् यहाँ भाव का अर्थ जगत है; क्योंकि सम्पूर्ण जगत, ज्ञान के अन्तर्गत है/ ज्ञान का विषय है। ''वा धातु, गति और गन्धन के अर्थ में है।'' जो 'गति' अर्थवाली हैं, वे 'प्राप्ति' अर्थवाली भी हैं। ''आ से और उपसर्ग-रहित से 'क' प्रत्यय होता है''। किसी भी शब्द के साथ जुड़ते समय इसका 'अ' शेष रहकर, वही उससे जुड़ता है। इस प्रकार 'क' प्रत्यय द्वारा 'वा' धातु की सिद्धि हुई।

सर्वभावानामन्तः अभ्यन्तरं तेषां अच्छित् अविच्छेदोऽविनाशो यस्मात्स तथोक्तस्तस्मै, सिद्धपरमेष्ठिनः, केषाञ्चित् पदार्थानां विनाशाभावात्।

४. आचार्यपक्षे : समयसाराय सं सम्यक्, अयनं गमनं [1]यतं चरेदित्यादिलक्षणं चरणं येषां ते समया योगिनस्तेषु सारः आचार्यः, तस्मै। ***स्वानुभूत्या*** [2]षट्त्रिंशद् गुणलक्षणया ***चकासते*** प्रकाशमानाय। ***चित्स्वभावाय भावाय*** चित्सु चिद्रूपेषु, स्वस्य आत्मनः, भावः परिणतिः स एव अयभावः शुभावहभावो यस्य स यथोक्तस्तस्मै। सर्वभावेत्यादि पूर्ववत्।

५. उपाध्यायपक्षे : ***समयसाराय*** समयः सिद्धान्तः स्त्रियते, प्राप्यते येन स

सर्वभावान्तरच्छिदे=सभी भावों का अन्तः, अभ्यन्तर/वास्तविक स्वरूप; उनका अच्छित्, अविच्छेद, अविनाश जिस कारण है, वह वैसे, उनके लिए, सिद्ध-परमेष्ठी के लिए; किन्हीं भी पदार्थों का विनाश नहीं होने के कारण।

अर्थात्, साम्य को प्राप्त योगियों के ध्येयभूत, सभी में नहीं होनेवाली अगुरुलघु आदि गुणों की षट्गुणी वृद्धि में सातिशय वृद्धि से शोभायमान, समस्त जगत को जाननेवाली ज्ञान-ज्योति से सम्पन्न, सभी भावों के अभ्यन्तर-स्वरूप से अविनाशी सिद्ध-परमेष्ठी के लिए नमस्कार हो।

४. आचार्य-पक्ष में : समयसाराय=भली-भाँति अयन, गमन, यत्न पूर्वक चलें इत्यादि लक्षण-युक्त चरण है जिनका, वे योगी, समय हैं, उनमें सार/श्रेष्ठ आचार्य हैं, उनके लिए। **स्वानुभूत्या**=छत्तीस गुण-युक्त लक्षण से **चकासते**=प्रकाशमान के लिए; **चित्स्व-भावाय भावाय**=चित्सु=चैतन्यरूप में, स्व=अपने आत्मा की, भाव=परिणति, वही हुई अय भाव=शुभावह भाव/कल्याण-कारी भाव से परिपूर्ण; जिनकी परिणति ऐसी है, उनके लिए। शेष रहे **सर्वभावः** इत्यादि का अर्थ पूर्ववत् है।

अर्थात्, छत्तीस गुणों से शोभायमान, चैतन्य-स्वरूप में अपनी परिणति निमग्न होने से आत्म-कल्याण-कारी भावों से परिपूर्ण, सभी भावों से भेद-ज्ञान करनेवाले, यत्नाचारी योगिओं में श्रेष्ठ आचार्य-परमेष्ठी के लिए नमस्कार हो।

५. उपाध्याय-पक्ष में : समयसाराय=समय=सिद्धान्त, सार=प्रिय, प्राप्त कर

---

१. जदं चरे जदं चिट्ठे, जदमासे जदं सये। जदं भुंजेज्ज भासेज्ज, एवं पावं ण बज्झइ।

२. पंचेंदीसंवरणो, नवविहबंभचेरुगुत्तिधरो। चउविय कसायमुक्को, य अट्ठारसगुणसंजुओ ॥१॥
पंचमहव्वयजुत्तो, पंचविहायारपालणसमत्थो। पंच समिओ ति गुत्तो, छतीस गुणओ हवइ सूरी ॥२॥

तथोक्तस्तस्मै स्वानुभूत्येति पूर्ववत्। ***चित्स्वभावाय भावाय*** चित्सु चेतनेषु पदार्थेषु, उपलक्षणादचेतनेष्वपि अभावः स्यान्नास्तित्वं तेन सह आयः भणनं कथनमिति यावत्; इङ् अध्ययनेऽस्य धातोर्भावे घञ् प्रत्ययविधानात्; भावस्य स्यादस्तित्वरूपस्य यस्योपाध्यायस्य तथोक्तस्तस्मै पदार्थेष्वस्तित्वं नास्तित्वेनोपलक्षितमिति कथकायेत्यर्थः।

६. साधुपक्षे : ***समयसाराय*** समयेषु कालावलिषु सारः साधुः शेषं पूर्ववत्। मयो गतिः, मय गतावस्य धातोः प्रयोगः, तेषु सारं रत्नत्रयं, तेन सह वर्तत इति समयसारः साधुरित्यर्थो वा।

७. रत्नत्रयपक्षे : ***समयसाराय*** सं सम्यक्त्वं, अयो ज्ञानं, सरणं सारः चरित्रं,

---

लिया है जिसके द्वारा, वह, उनके लिए। **स्वानुभूत्या** आदि विशेषणों का अर्थ पूर्ववत् है। **चित्स्वभावाय भावाय**=चेतन पदार्थों में और उपलक्षण से अचेतनों में भी; अभाव =कथंचित् नास्तित्व; उसके साथ, आय=कथन करते हैं। अध्ययन के अर्थ में प्रयुक्त होनेवाली 'इङ्' धातु से भाव वाच्य में 'घञ्' प्रत्यय का विधान होने से 'आय' पद बन जाता है। भाव का, कथंचित् अस्तित्वरूप जिन उपाध्याय का; पदार्थगत अस्तित्व, नास्तित्व से उपलक्षित कथन करनेवाले – यह इसका अर्थ है।

अर्थात्, सिद्धान्त को प्राप्त/जिनागम के अभ्यासी, अपनी अनुभूति से प्रकाशित, परस्पर विरुद्ध जैसे प्रतीत होनेवाले अस्तित्व, नास्तित्व आदि अनन्त धर्मात्मक चेतन –अचेतन पदार्थों का स्याद्वाद शैली से प्रतिपादन करनेवाले, स्वयं को सभी पदार्थों से पृथक् जाननेवाले, उपाध्याय–परमेष्ठी के लिए नमस्कार हो।

६. साधु–पक्ष में : समयसाराय=समय, कालावलि, आत्म–स्वरूप को जाननेवालों में; सार – श्रेष्ठ, साधु। शेष पूर्ववत् है। मय ह्र गति; यहाँ गति अर्थ में इस 'मय' धातु का प्रयोग हुआ है। उनमें सार – रत्नत्रय; उससे सहित वर्तते हैं। इस प्रकार समयसार का अर्थ, साधु हुआ।

अर्थात्, अपनी अनुभूति से प्रकाशित, चैतन्य–स्वभावी, सत्तावान, स्वयं को सभी पदार्थों से पृथक् जाननेवाले, प्रति समय आत्म–स्वरूप को जाननेवाले, साधकों में रत्नत्रय के साथ वर्तनेवाले साधु–परमेष्ठी को नमस्कार हो।

७. रत्नत्रय–पक्ष में : समयसाराय=सं – सम्यक्त्व; अय – ज्ञान; सार – सरण, चारित्र – इन तीनों का द्वन्द्व समास होने से एकत्व/अभेदपना; उसके लिए। शेष विशेषणों

द्वंद्वैकत्वं, तस्मै, शेषं पूर्ववद्यथासम्भवं व्याख्येयम्।

एवं सप्तार्थकं व्याख्यातं अत्याक्षिप्यमाणं बहुशोऽर्थेन व्याख्यायते, विस्तरभयान्नेक्षितं पद्यम्॥ १॥

अथ सरस्वतीमभिष्टौति —

अनुष्टुप् : **अनन्तधर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः।**
अनेकान्तमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम्॥ २॥

टीका : *अनेकान्तमयी मूर्तिः* अनेकान्तेन स्याद्वादेन निर्वृत्ता स्याद्वादात्मिका मूर्तिर्यस्याः सा अनेकान्तमयी मूर्तिः जिनवाणी; जिनवाण्या अनेकान्तात्मकत्वादनुक्तापि सामर्थ्याज्जिनवाणी लभ्यते। ***नित्यं*** सदैव त्रिकालं; ***प्रकाशतां*** नित्योद्योतं कुरुतां। किंविशिष्टा सा? ***प्रत्यगात्मनः*** परमात्मनः अथवा आत्मनः चिद्रूपस्य, प्रत्यक् तत्त्वं ***पश्यन्ती*** भिन्नं

का यथा-सम्भव पहले के समान व्याख्यान करना चाहिए।

अर्थात्, सत्तावान, चैतन्य-स्वभावी, सभी पदार्थों से पूर्णतया पृथक्, अपने आत्मा की अनुभूति से प्रगट हो प्रकाशित होनेवाले, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रमय रत्नत्रय को नमस्कार हो।

इस प्रकार सात अर्थों का व्याख्यान हुआ; और भी अनेक प्रकार से पदों का विश्लेषण करने पर और भी अनेक अर्थों द्वारा व्याख्यान हो सकता है। विस्तार भय से इस पद्य के अन्य अर्थ नहीं किए हैं।।१।।

अब, सरस्वती/जिनवाणी का स्तवन करते हैं —

अनुष्टुप् : **अनन्त धर्ममयी तत्त्व, आतमा देखे पृथक्।**
अनेकान्तमयी मूर्ति, प्रकाशे वर्ते सतत।। २।।

टीकार्थ : अनेकान्तमयी मूर्तिः=अनेकान्त से, स्याद्वाद से रची हुई, स्याद्वाद स्वरूप है मूर्ति/आकृति जिसकी, वह अनेकान्तमयी मूर्ति, जिनवाणी। अनुक्त/कहा नहीं होने पर भी; क्योंकि जिनवाणी के अनेकान्तात्मकपना है; अतः इस सामर्थ्य से (इसका अर्थ) 'जिनवाणी' प्राप्त होता है। **नित्यं**=सदैव, त्रिकाल; **प्रकाशतां**=सदा प्रकाश करें। वे जिनवाणी किस विशेषतावाली हैं? **प्रत्यगात्मनः**=परमात्मा अथवा चिद्रूप आत्मा के, प्रत्यक् तत्त्व को **पश्यन्ती**=भिन्न **तत्त्वं**=स्वरूप देखती, प्रकाशित करती हुईं – ऐसा अर्थ है।

तत्त्वं स्वरूपं अवलोकयन्ती प्रकाशयन्तीत्यर्थः। किंविशिष्टस्य तस्य? ***अनन्तधर्मणः*** अनन्ता द्विकवारानन्त-प्रमाणाः अस्तित्वनास्तित्वनित्यत्वानेकत्वादिरूपा धर्माः स्वभावा यस्य स तथोक्तस्तस्य। धर्मशब्दोऽत्र स्वभाववाची, ''धर्माः पुण्यसमन्यायस्वभावा-चारसोमपाः'' इत्यनेकार्थाः ॥२॥

अथ स्वचित्तविशुद्धयर्थं प्रार्थयति —

मालिनी : **परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा-**
दविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः।
मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्ते-
र्भवतु समयसार-व्याख्य-यैवानुभूतेः ॥३॥

टीका : ***मम*** मे, ***भवतु*** अस्तु। का? ***परमविशुद्धिः*** परमा उत्कृष्टा कर्ममल-

---

किस विशेषतावाले तत्त्व को देखती हुईं? **अनन्तधर्मणः**=अनन्त, दो बार अनन्त का प्रमाण, अर्थात् अनन्तानन्त; अस्तित्व, नास्तित्व, नित्यत्व, अनेकत्व आदि रूप धर्म-स्वभाव हैं जिसके वह, उस प्रकार कहे गए, उसके। यहाँ 'धर्म' शब्द 'स्वभाव' का वाचक है; ''पुण्य, सम, न्याय, स्वभाव, आचार, सोमप/सोमरस को पीनेवाला'' इत्यादि अनेक अर्थों में 'धर्म' शब्द का प्रयोग होता है।

अर्थात्, अस्तित्व, नास्तित्व आदि अनन्तानन्त धर्मात्मक परमात्मा या चैतन्य-स्वरूपी आत्मा के पर से पूर्णतया पृथक् वास्तविक स्वरूप को दिखानेवाली, अनेकान्तात्मक वस्तु को स्याद्वाद-शैली में निरूपित करनेवाली, जिनवाणी सदा प्रकाशित रहें, जयवन्त वर्तें!।।२।।

अब, अपने मन की विशिष्ट शुद्धि के लिए (आचार्यश्री अमृतचन्द्र) प्रार्थना करते हैं—

मालिनी : **परपरिणति कारण मोह कारण विषय में,**
उलझ मलिन मेरी शुद्ध चिन्मात्रमूर्ति।
अब हो परम विशुद्धि आत्म-अनुभूति ही से,
समयसार व्याख्या से जो अधिक बड़ेगी।।३।।

टीकार्थ : मम=मेरी **भवतु**=हो। क्या हो? **परम विशुद्धिः**=परम, उत्कृष्ट, कर्मरूपी मल के कलंक से रहित; वह और वह विशुद्धि (इस प्रकार तत्पुरुष समास किया),

कलङ्करहिता, सा चासौ विशुद्धिश्च विशुद्धता; कुतः ? ***अनुभूतेः*** अनुभवात् कया ? ***समय-सारव्याख्ययैव*** समयेषु पदार्थेषु सारः परमात्मा, तस्य व्याख्या विशेषेण वर्णनं; एव निश्चयेन, परमात्मव्यावर्णनादनुभूतिः, ततो विशुद्धिर्भवतु; अथवा समयसाराख्यमिदं शास्त्रं तद्व्याख्यया कृत्वा अनुभूतिः ततः शुद्धिश्च। कस्याः ? ***शुद्धचिन्मात्रमूर्तेः*** शुद्धं कर्मकलङ्करहितं, चिन्मात्रं-ज्ञानमात्रं तदेव मूर्तिर्यस्याः सा तथोक्ता तस्याः, व्यवहारदशायां तु किं लक्षणायाः ? ***अविरतं*** निरन्तरं; ***अनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः*** संसारिणां अनुभवितुं योग्याः अनुभाव्याः विषयाः, तेषां व्याप्तिः प्राचुर्यं तया कल्माषिता कश्मलीकृता या सा तथोक्ता तस्याः। कुतः ? ***अनुभावात्*** प्रभावात्। कस्य ? ***मोहनाम्नः*** शत्रोरित्याध्याहार्यम्। किंलक्षणस्य तस्य ? ***परपरिणतिहेतोः*** परेभ्यः पुत्रमित्रकलत्रशत्रुभ्यः, उत्पन्ना परिणतिः परिणामः; अथवा परा आत्मस्वरूपाद्भिन्ना विभावरूपा परिणतिः सैव हेतुः कारणं यस्य स तथोक्तस्तस्य॥ ३॥

विशुद्धता/निर्मलता। परम विशुद्धि किससे हो? **अनुभूतेः**=अनुभव, अनुभूति से हो। वह किसके द्वारा हो? **समयसारव्याख्ययैव**=समयों=पदार्थों में, सार=परमात्मा, उसकी व्याख्या=विशेष रूप से वर्णन; एव=ही=निश्चय से; परमात्मा के विशेष वर्णन से प्रगट हुई अनुभूति; उससे विशिष्ट शुद्धि हो; अथवा समयसार नामक यह शास्त्र, उसकी व्याख्या द्वारा व्यक्त अनुभूति; उससे शुद्धि हो। किसकी परम विशुद्धि हो? **शुद्धचिन्मात्रमूर्तेः**=शुद्ध=कर्मरूपी कलंक से रहित, चिन्मात्र=ज्ञानमात्र, वही है मूर्ति जिसकी, वह; इस प्रकार उसकी। व्यवहार-दशा/वर्तमान में वह किस लक्षणवाली/कैसी है? **अविरतं**=निरन्तर; **अनुभाव्य-व्याप्तिकल्माषितायाः**=संसारियों के अनुभव करने-योग्य, अनुभाव्य विषय; उनकी व्याप्ति, प्रचुरता; उसके द्वारा कल्माषित, कश्मली, कलुष/मलिन हुई है जो, वह उस प्रकार, उसकी। वह कैसे मलिन हुई है? **मोहनाम्नः**=शत्रु शब्द यहाँ अध्याहार्य है (मूल में नहीं है, अर्थ करते समय स्वयं लगा लेना); मोह नामक शत्रु के प्रभाव से मलिन हुई है। उस मोह का लक्षण क्या है? **परपरिणतिहेतोः**=पर=पुत्र, मित्र, स्त्री, शत्रु से उत्पन्न; परिणति=परिणाम; अथवा पर=आत्म/अपने स्वरूप से भिन्न विभावरूप, परिणाम; वही है हेतु, कारण जिसका वह, उस प्रकार उसके प्रभाव से मलिन हुई है।

अर्थात्, सदा कर्मरूपी कलंक से रहित, ज्ञानमात्र स्वभावी मेरी वर्तमान दशा, पुत्र, मित्र, स्त्री, शत्रु आदि पर-पदार्थों के आश्रय से उत्पन्न विभाव-परिणामों मय मोह नामक

अथ जिनवचसः समयसारस्य प्राप्तिं दृढयति —

मालिनी : **उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के,**
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव॥४॥

टीका : ***ते*** पुरुषाः; ***सपदि*** तत्कालं; ***एव*** निश्चयेन; ***ईक्षंते*** अवलोकयन्ति, साक्षात्कुर्वन्तीत्यर्थः। किं तत्? ***परं ज्योतिः*** परं उत्कृष्टं अतिक्रान्तसूर्यादि, तच्च तज्ज्योतिश्च ज्ञानतेजः परम्ब्रम्हेत्यर्थः। किंलक्षणं तत्? ***समयसारं*** सर्वपदार्थेषु सारं; पुनः किंभूतं? ***उच्चैः*** अतिशयेन; ***अनवं*** न नवं अकृत्रिमं पुराणमित्यर्थः, अनादिनिधनत्वात्। पुनः किंभूतं?

शत्रु के प्रभाव से निरन्तर संसारी जीवों के अनुभव करने-योग्य विषयों की प्रचुरता से मलिन हो रही है। वह वास्तव में परमात्मा/शाश्वत शुद्धात्मा के विशेष वर्णन से या इस समयसार ग्रन्थ की व्याख्या से व्यक्त हुई अनुभूति द्वारा, कर्मरूपी मल के कलंक से पूर्णतया रहित परम-विशुद्धि को प्राप्त हो जाए।।३।।

अब, समयसार की प्राप्ति जिन-वचन से होती है; यह दृढ़ करते हैं—

मालिनी : **उभयनय विरोधों को मिटा स्यात् चिंहित,**
रमें जिन वचन में वमन कर मोह का खुद।
तत्क्षण वे वेदें नित कुनय से अभेदित,
समयसार अतिशय युत परम ज्योति अद्भुत।।४।।

टीकार्थ : ते=वे पुरुष, **सपदि**=तत्काल/उसी समय, **एव**=निश्चय से/वास्तव में, **ईक्षन्ते**=अवलोकन करते हैं, साक्षात् करते हैं - ऐसा अर्थ है। वह क्या है/किसे साक्षात् करते हैं? **परं ज्योतिः**=उत्कृष्ट, सूर्यादि के प्रकाश का उल्लंघन करनेवाली/उन सभी के प्रकाश से पृथक् जाति की ज्योति; वह और वह ज्योति (इस प्रकार कर्मधारय समास द्वारा विश्लेषण किया)=ज्ञानतेज, परं ब्रह्म - ऐसा अर्थ है। वह ज्योति किस लक्षणवाली है? **समयसारं**=सभी पदार्थों में सार है। वह और कैसी है? **उच्चैः**=अतिशय/विशेषता-सहित है; **अनवं**=नूतन नहीं है, कृत्रिम नहीं है, अनादिनिधन स्वभाव के कारण पुराण है - ऐसा अर्थ है। वह और कैसी है? **अनयपक्षाक्षुण्णं**=नैगमादि स्याद्वाद की अपेक्षावाले नय, उनसे

अनयपक्षाक्षुण्णं नयो नैगमादिः स्याद्वादसापेक्षः, ततो विपरीतः एकान्तरूपोऽनयस्तेषु पक्षोऽभिनिवेशो येषां तेऽनयपक्षाः, एकान्तवादिनः; तैरक्षुण्णं अक्षुभितं अध्वस्तमित्यर्थः।

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते।
आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथा-वादिनो जिनाः॥ ꖦ इति वचनात्।

ते के? ***ये स्वयं*** स्वत एव ***वान्तमोहाः*** सन्तः वान्तो वमितो मोहो रागद्वेषरूपो यैस्तथोक्ताः; ***रमन्ते*** क्रीडन्ति एकत्वं भजन्त इत्यर्थः। क्व? ***जिनवचसि*** जिनोक्त-सिद्धान्तसूत्रे; किं लक्षणे तस्मिन्? ***उभयनयविरोधध्वंसिनि*** उभये नया द्रव्यपर्यायार्थिकाः अस्तित्वनास्तित्वं, एकत्वानेकत्वं, नित्यत्वानित्यत्वमित्येवमादयः, तेषां विरोधः परस्परं विरोधित्वं, यत्रास्तित्वं तत्र नास्तित्वस्य विरोधः, यत्र नास्तित्वं तत्रास्तित्वस्य विरोध इत्याद्येकान्तवादिनां विरोधः, तं ध्वंसते इत्येवंशीलं तस्मिन्; तथा चोक्तमष्टसहस्त्र्यां—

विपरीत एकान्तरूप अनय; उनमें पक्ष, अभिनिवेश, आग्रह है जिनका, वे अनय-पक्षवाले एकान्त-वादी; उनसे अक्षुण्ण, अक्षुभित, नष्ट नहीं होनेवाली - ऐसा अर्थ है।

ऐसा ही आचार्य देवसेनस्वामी ने भी कहा है -

"जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रतिपादित सूक्ष्म तत्त्व, हेतुओं द्वारा खण्डित नहीं होता है। जिनेन्द्र भगवान अन्यथावादी नहीं हैं; अतः उन्हें 'आज्ञा प्रमाण' रूप में ही स्वीकार कर लेना चाहिए।" - ऐसा वचन होने से।

उसे साक्षात् करनेवाले वे कौन हैं? **ये स्वयं**=जो स्वयं ही **वान्तमोहाः**=वान्त=वमन/उल्टी कर दी है, मोह-राग-द्वेषरूप मोह की जिन्होंने, उस प्रकार हैं। **रमन्ते**=क्रीड़ा करते हैं, एकत्व को भजते हैं, उसके वाच्य में मग्न रहते हैं - ऐसा अर्थ है। कहाँ रमते हैं? **जिन-वचसि**=जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे गए सिद्धान्त-सूत्र में रमते हैं। किस लक्षणवाले उसमें रमते हैं? **उभयनयविरोधध्वंसिनि**=दोनों नय - द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक; अस्तित्व-नास्तित्व; एकत्व-अनेकत्व; नित्यत्व-अनित्यत्व इत्यादि; उनका विरोध, परस्पर विरोधीपना; जहाँ अस्तित्व है, वहाँ नास्तित्व का विरोध है; जहाँ नास्तित्व है, वहाँ अस्तित्व का विरोध है इत्यादिरूप में एकान्त-वादियों का विरोध; उसे नष्ट करते हैं - ऐसा है स्वभाव जिनका, उसमें।

वैसा ही अष्टसहस्री (आप्तमीमांसा) में कहा है—

ꖦ आलापपद्धति : आचार्य देवसेनस्वामी।

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम्।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते॥[1]

पुनः किंभूते? ***स्यात्पदाङ्के*** कथञ्चित्पदेन लक्षिते, जिनवचसः स्याद्वादात्मकत्वात्। तथा चोक्तं सोमदेवसूरिणा-**स्याच्छब्दमन्तरेण उन्मिषितमात्रमपि न सिद्धिरधिवसतीति।**[2] ॥४॥

मालिनी : **व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्या-**
मिह निहितपदानां हन्त हस्तावलम्बः।

''स्याद्वाद न्याय से विद्वेष रखनेवाले/उसे स्वीकार नहीं करनेवालों के मत में विरोध होने के कारण, दोनों का एकात्म्य (परस्पर विरुद्ध धर्मों को एक साथ मानना) सम्भव नहीं है। अवाच्यता के एकान्त में/सर्वथा अवाच्य मानने पर, 'अवाच्य है' - ऐसा कहना भी सम्भव नहीं होता है।''

वे वचन और कैसे हैं? **स्यात्पदांके**=कथंचित् पद से लक्षित/पहिचाने जाते हैं, क्योंकि जिनेन्द्र भगवान के वचन, स्याद्वाद-स्वरूप होते हैं।

वैसा ही सोमदेवसूरी ने कहा है - *''स्यात् शब्द के विना, उन्मिषित/लेशमात्र भी सिद्धि नहीं होती है।''*

अर्थात्, जो स्वयं राग-द्वेष-मोह को छोड़कर/उनसे भेद-विज्ञान कर, अस्तित्व-नास्तित्व आदि जैसे परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले धर्म-युगलों के विरोध को नष्ट करनेवाले, स्यात् पद से चिंहित जिन-वचनों में रमते हैं/उनके वाच्य को समझकर स्व-शुद्धात्मा में मग्न रहते हैं; वे जीव, सभी पदार्थों में सारभूत, सातिशय, अनादि-अनन्त, सर्वथा एकान्त-वादियों के दुराग्रह से खण्डित नहीं होनेवाली, सूर्यादि के प्रकाश से भिन्न जातिवाली, उत्कृष्ट ज्योति, ज्ञान-तेज, परं ब्रह्म का तत्काल साक्षात् अनुभव करते हैं।।४।।

अब, प्राथमिक जीवों को व्यवहार-नय की उपयोगिता दिखाकर, निश्चयात्मक/आत्मस्थ जीवों को निश्चय का निश्चय/निर्णय कराते हैं—

मालिनी : **व्यवहारनय है प्राथमिक मोक्षमग पर,**
चलनेवालों को हस्त अवलम्ब, पर ना।

१. आप्तमीमांसा, कारिका १३ : आचार्य समन्तभद्रस्वामी। २. सोमदेवसूरी

तदपि परम-मर्थं चिच्चमत्कार-मात्रं,
परविरहितमन्तः पश्यतां नैष किञ्चित्॥५॥

टीका : अथ प्राथमिकानां व्यवहारनयोपयोगित्वं प्रदर्श्य निश्चयात्मकानां निश्चयं निश्चिनोति — ***हन्त*** इति वाक्यालङ्कारे; ***इह*** जगति; ***यद्यपि व्यवहरणनयः*** व्यवहाराख्यो नयः; ***हस्तावलम्बः*** करावलम्बनं; ***स्यात्*** भवति; केषां? ***निहितपदानां*** निहितं आरोपितं, पदं स्थानं सन्मार्गे यैस्ते तथोक्ताः तेषां, 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्मांघ्रिवस्तुषु' इत्यनेकार्थः। कदा? ***प्राक् पदव्यां*** शुद्धचिद्रूपप्राप्तितः प्राक्पूर्वं तत्सम्मुखत्वे सति पूर्वं प्राथमिकावस्थायाम्।

तदपि व्यवहारनयः पूर्वमुपयोगी यद्येषोऽस्ति तथापि; ***नैष किञ्चित्*** एष व्यवहारनयः, न किञ्चित्कार्यकारी। केषां? ***पश्यतां*** अवलोकयतां; कं? ***परममर्थं*** शुद्ध-चिद्रूपलक्षणां पदार्थं; क्व? ***अन्तः*** अभ्यन्तरे चेतसि; किं भूतं? ***चिच्चमत्कारमात्रं*** चित्

कुछ भी उपयोगी लीन वर आत्मा में,
पर विरहित अन्तस् चिच्चमत्कार निज का।।५।।

टीकार्थ : हन्त=खेद-सूचक यह अव्यय, वाक्य में अलंकार के रूप में आया है। **इह**=इस जगत में, **यद्यपि व्यवहरणनयः**=यद्यपि व्यवहार नामक नय, **हस्तावलम्बनः**= हाथ के आलम्बन/सहारे-जैसा **स्यात्**=हो जाता है। वह किन्हें हो जाता है? **निहितपदानां**= निहित, आरोपित रखा गया है; पद, स्थान; सन्मार्ग/मोक्ष-मार्ग में जिनके द्वारा स्थान बनाया जा रहा है/मोक्ष-मार्ग प्राप्त करने के पुरुषार्थ में संलग्न जीव, वे उस प्रकार, उन्हें ऐसा हो जाता है। *'पद के व्यवसित, त्राण, स्थान, लक्ष्म, अंघ्रि, वस्तु' इत्यादि अनेक अर्थ हैं।* वह उन्हें ऐसा कब हो जाता है? **प्राक्पदव्यां**=शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति से पूर्व, उसकी सम्मुखता होने पर, पहले की प्राथमिक अवस्था में वह ऐसा हो जाता है।

तदपि=यद्यपि वह व्यवहार-नय पहले उपयोगी है; तथापि **नैष किंचित्**=वह व्यवहार-नय, लेशमात्र भी कार्य-कारी नहीं है। वह किन्हें कार्य-कारी नहीं है? **पश्यतां**=देखनेवालों को कार्य-कारी नहीं है। किसे देखनेवालों को कार्य-कारी नहीं है? **परममर्थं**=शुद्ध-चिद्रूप लक्षण पदार्थ को देखनेवालों के लिए, वह कुछ भी कार्य-कारी नहीं है। वह कहाँ है? **अन्तः**=अभ्यन्तर/अन्दर आत्मा में है। वह कैसा है? **चिच्चमत्कारमात्रं**= दर्शन-ज्ञान लक्षणवाला चित्; उसका चमत्कार, आश्चर्य का उद्रेक/असाधारणता की

दर्शनज्ञानलक्षणा, तस्याश्चमत्कारः आश्चर्योद्रेकः, स एव मात्रा प्रमाणं, यस्य स तथोक्तस्तम्। भूयः किं भूतं ? ***परविरहितं*** परैः पुद्गलादिद्रव्यैः, विरहितं त्यक्तं; तथा चोक्तं कुन्द-कुन्दाचार्यवरैः समयसारे—

ववहारोऽभूयत्थो, भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु, सम्माइट्ठी हवइ जीवो॥卐 इति॥ ५॥

अथ आत्मन एकत्वं वितनोति —

शार्दूलविक्रीडित : **एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः,**
पूर्ण-ज्ञान-घनस्य दर्शन-मिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक्।
सम्यग्दर्शन-मेतदेव नियमा-दात्मा च तावानयं,
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसंततिमिमामात्मायमेकोऽस्तु नः॥ ६॥

अधिकता, वही है मात्रा, प्रमाण जिसका, वह वैसा है, उसे। और वह कैसा है? **परविरहितं**=पर-पुद्गलादि द्रव्यों से; विरहित - छूटा हुआ, रहित है। वैसा ही कुन्दकुन्द आचार्यवर द्वारा समयसार में कहा गया है—

''व्यवहार, अभूतार्थ और शुद्ध-नय, भूतार्थ का प्रतिपादक है। जो वास्तव में भूतार्थ का आश्रय लेता है, वह जीव, सम्यग्दृष्टि होता है।'' इस प्रकार।

अर्थात्, मोक्ष-मार्ग प्राप्त करने के पुरुषार्थ में संलग्न जीवों को शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति से पूर्व, उसकी सम्मुखता होते समय, यद्यपि व्यवहार-नय हस्तावलम्बन जैसा हो जाता है; तथापि अपने अन्दर, पर से पूर्णतया पृथक्, दर्शन-ज्ञान लक्षणमय चिच्चमत्कारमात्र, शुद्ध-चिद्रूप लक्षणमय परम पदार्थ का अनुभव करनेवालों के लिए वह व्यवहार-नय, रंचमात्र भी कार्य-कारी/उपयोगी नहीं है।।५।।

अब, आत्मा के एकत्व का विशेष प्रतिपादन करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **परद्रव्यों से भिन्न शुद्धनय से एकत्व में लीन जो,**
व्यापक है परिपूर्ण ज्ञानघनमय मैं हूँ यही आत्मा।
समकित इतना आत्मा अनुभवन बस मान यों छोड़कर,
कर्माश्रित नव तत्त्व संतति हमें हो एक यह आत्मा।।६।।

卐 श्रीसमयसार, गाथा ११, आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी।

टीका : ***इह*** जगति; ***नियमात्*** निश्चयनयमाश्रित्य; ***एव*** निश्चयेन; ***एतत्सम्यग्दर्शनं*** शुद्धसम्यक्त्वं; एतत् किं? ***यत् अस्य*** जगत्प्रसिद्धस्य; ***आत्मनः*** चिद्रूपस्य; ***दर्शनं*** अवलोकनं, ध्यानेन आत्मनः साक्षात्करणमित्यर्थः। कथं? ***द्रव्यान्तरेभ्यः*** शुद्धचिद्रूपद्रव्या-दन्यद्रव्याणि, द्रव्यान्तराणि, पुद्गलादिद्रव्याणि तेभ्यः; ***पृथक्*** भिन्नं भवति। तथा किंविशिष्टस्यात्मनः? ***शुद्धनयतो*** निश्चयनयात्; ***एकत्वे*** अहमात्मा, आत्माहमित्येतल्लक्षणे एकत्वे; ***नियतस्य*** रतिं प्राप्तस्य; पुनः किं भूतस्य? ***व्याप्तुः*** स्वगुणपर्यायव्यापकस्य, व्यवहारनयाद्वा लोकालोकव्यापकस्य, ज्ञानेन ज्ञानत्वात्सर्वस्य। तथाचोक्तमकलङ्कपादैः—

स्वदेह-प्रमितिश्चात्मा ज्ञान-मात्रोऽपि संमतः।
ततः सर्वगतः सोऽपि विश्वव्यापी न सर्वथा॥ 卐 इति।

पूर्णज्ञानघनस्य पूर्णं परिपूर्णं, ज्ञानस्य बोधस्य घनो यत्र स तथोक्तस्तस्य; ***च*** पुनः ***अयं*** प्रत्यक्षीभूत ***आत्मा*** चिद्रूपः; ***तावान्मात्रः*** सम्यग्दर्शनमात्र इत्यर्थः। ***तत्*** तस्मात्

टीकार्थ : इह=यहाँ जगत में; **नियमात्**=नियम से, निश्चय-नय का आश्रय लेकर; **एव**=ही, निश्चय से; **एतत् सम्यग्दर्शनं**=यह शुद्ध सम्यक्त्व। यह क्या है? **यत् अस्य**=जो इस जगत-प्रसिद्ध; **आत्मनः**=चिद्रूप का; **दर्शनं**=अवलोकन है, ध्यान द्वारा आत्मा का साक्षात् करना/अनुभव करना है - ऐसा अर्थ है। कैसे आत्मा का? **द्रव्यान्तरेभ्यः**= शुद्ध-चिद्रूप द्रव्य से अन्य द्रव्य; द्रव्यान्तर; पुद्गल आदि द्रव्य, उनसे; **पृथक्**=भिन्न है। और किस विशेषतावाले आत्मा का? **शुद्धनयतो**=निश्चय-नय से; **एकत्वे**=मैं आत्मा, आत्मा मैं - इस प्रकार इस लक्षणमय एकत्व में; **नियतस्य**=नियत, रति/लीनता को प्राप्त आत्मा का। और कैसे आत्मा का? **व्याप्तुः**=अपने गुण-पर्यायों में व्यापक अथवा ज्ञान की अपेक्षा सभी के ज्ञानत्व होने के कारण, व्यवहार-नय से लोकालोक में व्यापक आत्मा का।

वैसा ही अकलंक-पाद-स्वामी द्वारा कहा गया है - *''अपने शरीर-प्रमाण आत्मा, ज्ञानमात्र भी माना गया है; इस कारण वह सर्वगत भी है; परन्तु वह सर्वथा विश्व-व्यापी नहीं है।''* इस प्रकार।

पूर्णज्ञानघनस्य=पूर्ण=परिपूर्ण; ज्ञान, बोध का घन जिसमें है, वह वैसा, उसका। **च**=और **अयं**=यह प्रत्यक्ष हुआ; **आत्मा**=चिद्रूप आत्मा; **तावान्मात्रः**=सम्यग्दर्शनमात्र है

卐 स्वरूपसंबोधन, कारिका ५ : आचार्य अकलंक-स्वामी।

कारणात्, अयं आत्मा चिद्रूपः; ***नः*** अस्माकं; ***एकः*** अद्वितीयः; ***अस्तु*** भवतु। किं कृत्वा? ***इमां*** प्रसिद्धां, ***नवतत्त्वसन्ततिं*** जीवादिनवतत्त्वानां समूहं; ***मुक्त्वा*** त्यक्त्वा कर्मकलङ्कित-जीवादितत्त्वानि विहाय एक आत्मा, नः शुद्धयेऽस्तु सदेति यावत् ॥६ ॥

अथात्मनः प्रकाशो द्योतत इति द्योतयति —

अनुष्टुप् : **अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत्।**
नव-तत्त्व-गतत्वेऽपि यदेकत्वं न मुंचति॥ ७॥

टीका : ***अतः*** यतो नवतत्त्वेष्वपि, अयमेकः आत्मास्तु नः, अतः कारणात्; ***चकास्ति*** द्योतते। **तत्**प्रसिद्धं ***प्रत्यग्ज्योतिः*** परंधाम; ***शुद्धनयायत्तं*** निश्चयनयस्य, आयत्तं अधीनं, शुद्धनिश्चयनयेनेति यावत्। ***यत्*** परं ज्योतिः, ***एकत्वं*** अद्वितीयत्वं; ***न मुञ्चति*** नो

- ऐसा अर्थ है। **तत्**=उस कारण यह चिद्रूप आत्मा; **नः**=हमारे लिए; **एकः**=एक, अद्वितीय; **अस्तु**=हो। क्या करके मात्र यही हो? **इमां**=इस प्रसिद्ध; **नवतत्त्वसन्ततिं**=जीवादि नौ तत्त्वों के समूह को; **मुक्त्वा**=छोड़कर, कर्म-कलंकित जीवादि तत्त्वों को छोड़कर, हमारी शुद्धि के लिए, सदा एक आत्मा हो।

अर्थात्, क्योंकि इस जगत में शुद्ध-चिद्रूप द्रव्य से भिन्न, पुद्‌गलादि द्रव्यों से पूर्णतया पृथक्, शुद्ध-नय की अपेक्षा मैं आत्मा हूँ-आत्मा मैं हूँ —इस प्रकार से एकत्व में लीन, अपने गुण-पर्यायों में व्यापक अथवा ज्ञान की अपेक्षा सभी उसके विषय होने के कारण लोकालोक में व्यापक, परिपूर्ण ज्ञानघन इस प्रत्यक्ष आत्मा का, ध्यान द्वारा साक्षात् अनुभवन ही सम्यग्दर्शन है; आत्मा, मात्र इतना ही है; अतः कर्मों से कलंकित/कर्मों की अपेक्षावाले जीवादि नौ तत्त्वों के समूह को छोड़कर, यह अद्वितीय चिद्रूप आत्मा ही हमारी शुद्धि के लिए हो।।६।।

अब, आत्मा का प्रकाश प्रकाशित होता है, यह प्रकाशित करते हैं—

अनुष्टुप् : **अतः शुद्ध नयाश्रित वह, प्रत्यक् ज्योति प्रकाशती।**
नव तत्त्वों में व्यापे पर, जो एकत्व न छोड़ती।।७।।

टीकार्थ : अतः=क्योंकि नव तत्त्वों में भी यह एक आत्मा हमें हो, इस कारण से; **चकास्ति**=प्रकाशित होती है। **तत्**=वह प्रसिद्ध; **प्रत्यग्ज्योतिः**=परं धाम/उत्कृष्ट तेज; **शुद्धनयायत्तं**=निश्चय-नय के आयत्त, अधीन, शुद्ध निश्चय-नय से ही जो ज्ञात होती है। **यत्**=जो परं ज्योति; **एकत्वं**=अद्वितीयपना; **न मुंचति**=नहीं छोड़ती है। कहाँ होने पर भी

जहाति। क्व सति? ***नवतत्त्वगतत्त्वेऽपि*** नवतत्त्वेषु गतत्वं प्राप्तत्वं तस्मिन् सत्यपि। अपि शब्दात्तेषु, अगतत्वेऽपि सिद्धात्मनो नवतत्त्वेष्वगतत्वात् संसार्यात्मनः नवतत्त्वा-यत्तत्वान्नवगतत्वं ॥ ७ ॥

अथात्मैव दृश्य इति प्रेरयति —

मालिनी : **चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुन्नीयमानं,**
कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे।
अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं,
प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम् ॥८ ॥

टीका : ***अथ*** परंज्योतिषः प्रकाशकथनादनन्तरं; ***इदं आत्मज्योतिः*** परमात्मज्योतिः ***दृश्यतां*** अन्तरदृष्ट्या अवलोक्यतां; ***इति*** अमुना प्रकारेण; कोऽसौ प्रकारः? एकस्मिन्

उसे नहीं छोड़ती है? **नवतत्त्वगतत्वेऽपि**=नौ तत्त्वों में जानापना; प्राप्त होनापना; उसमें होने पर भी, वह एकत्व को नहीं छोड़ती है। **अपि**=भी; (इस शब्द से दूसरा अर्थ भी फलित होता है) सिद्धात्मा के नव तत्त्वों में नहीं गई होने से; नहीं गई होने पर भी; संसारी आत्मा के नौ तत्त्वों की अधीनता होने से, नौ तत्त्व-गतत्व है।

अर्थात्, क्योंकि हमें नौ तत्त्वों में भी यह एक आत्मा ही हो—ऐसी भावना छठवें पद्य में व्यक्त की थी; अतः अब वह शुद्ध-नय की विषयभूत प्रत्यक् ज्योति/ज्ञानमयी शाश्वत सत्ता ही प्रकाशित होती है। यह संसारी आत्माओं की अपेक्षा, नौ तत्त्वोंरूप परिणमित होने पर भी और सिद्धात्माओं की अपेक्षा उन रूप परिणमित नहीं होने पर भी, एकत्व/अद्वितीयपने को नहीं छोड़ती है।।७।।

अब, आत्मा ही देखने-योग्य है; अतः इसे ही देखो! यह प्रेरणा देते हैं—

मालिनी : **चिर से नव तत्त्वों में छुपी आत्मज्योति,**
विविध वर्णमाला संघ में स्वर्णवत ही।
पृथक् सभी पर से इक प्रकाशित सदा ही,
ज्ञान से जान इसको अब सदा अनुभवो ही।।८।।

टीकार्थ : अथ=अब, परं ज्योति के प्रकाशित होनेरूप कथन के बाद; **इदं आत्मज्योतिः**=यह परमात्म-ज्योति; **दृश्यतां**=अन्तर्दृष्टि से अवलोकन करो। **इति**=इस

संसार्यात्मनि, जीवाजीवादिनवतत्त्वसद्भाव इति। ***चिरं*** आसंसारं पूर्वं पश्चाच्च; ***नवतत्त्वच्छन्नं*** नवतत्त्वैः जीवाजीवादिभिः, छन्नं आच्छादितम्। किमिव? ***कनकमिव*** यथा स्वर्णं, ***वर्णमालाकलापे*** वर्णस्य सप्ताष्टादिरूपवर्णस्य, माला पंक्तिः, तस्याः कलापः समूहस्त-स्मिन्; ***निमग्नं*** अन्तःपतितम्। ननु च तत्त्वाच्छादितं परंज्योतिः, वर्णमालाच्छादितं स्वर्णं च कथमस्तीति ज्ञायते? ***उन्नीयमानं*** नयप्रमाणादिभिर्निश्चीयमानं, निघर्षणच्छेदनादिभिः ज्ञायमानं; ***सततं*** निरन्तरं; किं विशेषेण? निश्चयनयेन ***विविक्तं*** द्रव्यभावमलाद्भिन्नं; स्वर्णं च निजकिट्टकालिकादिमलात् परमार्थतो भिन्नं; ***एकरूपं*** सर्वत्र पर्यायेषु चिद्विवर्त-त्वेनैकस्वरूपं, लब्ध्यपर्याप्तादिषु लब्ध्यक्षरादिचिद्विवर्तस्याऽपरित्यक्तत्वात्। स्वर्णं च पीतत्वादिस्वरूपेण सर्वत्र वर्णेषु एकस्वरूपम्। ***प्रतिपदं*** एकेन्द्रियादिपदेषु ज्ञानादिशक्तितः; ***उद्योतमानं*** प्रकाशमानं; स्पर्शनेन्द्रियज्ञानात् द्वीन्द्रियादिषु रसनेन्द्रियादिज्ञानानां वृद्धिस्वभाव-

---

प्रकार से। वह कौन-सा प्रकार है? एक संसारी आत्मा में जीव, अजीव आदि नव तत्त्वों का सद्भाव है, इस प्रकार। **चिरं**=अनादि-कालीन संसार में, पहले और बाद में भी। **नवतत्त्वच्छन्नं**= जीव, अजीव आदि नव तत्त्वों से छन्न, आच्छादित/ढकी हुई। वह किसके समान आच्छादित है? **कनकमिव**=जैसे स्वर्ण; **वर्णमालाकलापे**=वर्ण की, सात-आठ आदिरूप, रंग की माला, पंक्ति, उसका कलाप, समूह, उसमें; **निमग्नं**=अंत:पाती/डूबा हुआ है/उस रूप हुआ-जैसा लगता है।

यहाँ प्रश्न है कि तत्त्व से आच्छादित परं ज्योति और वर्ण-माला से आच्छादित स्वर्ण में क्रमश: परं ज्योति और स्वर्ण है - ऐसा कैसे ज्ञात होता है? (उसका उत्तर देते हुए कहते हैं) **उन्नीयमानं**=नय-प्रमाण आदि द्वारा निश्चय करने पर, निघर्षण/घिसना-छेदन आदि द्वारा जानने पर; **सतत**=निरन्तर/सदा; किस विशेष से ज्ञात होते हैं? निश्चय-नय से **विविक्तं**=द्रव्य-भाव मल से भिन्न और स्वर्ण भी अपने किट्ट-कालिक आदि मल से वास्तव में भिन्न; **एकरूपं**=सर्वत्र पर्यायों में चित्-विवर्त/चेतन, एक स्वरूप, लब्ध्यपर्याप्त आदि में लब्ध्यक्षर आदिरूप चित्-विवर्त को नहीं छोड़ता होने से और स्वर्ण, सर्वत्र वर्णों में पीलेपन आदि स्वरूप से एक स्वरूप ज्ञात होता है। **प्रतिपदं**=एकेन्द्रिय आदि पदों/दशाओं में ज्ञानादि-शक्ति की अपेक्षा; **उद्योतमानं**=प्रकाशमान, एकेन्द्रिय में स्पर्शन इन्द्रिय सम्बन्धी ज्ञान से, दो इन्द्रिय आदि में रसना इन्द्रिय आदि सम्बन्धी ज्ञानों की वृद्धिरूप स्वभावपने से/

त्वात्। कनकमपि प्रतिपदं सप्ताष्टकादिवर्णिकस्थानेषु उद्योतमानं इति छायार्थः कनकेष्वपि ज्ञातव्यः ॥८॥

अथ परंज्योतिषि प्रकाशिते सति नयादीनां वैयर्थ्यं स्पष्टयति —

मालिनी : **उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं,**
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मिन्-
ननुभव-मुपयाते भाति न द्वैत-मेव॥९॥

स्वर्ण भी प्रतिपद, सातवें-आठवें आदि वर्णिका स्थानों/दशाओं में प्रकाशमान है - इस प्रकार छायार्थ/उदाहरणरूप में समझने के लिए स्वर्ण में भी जानना चाहिए।

अर्थात्, जैसे स्वर्ण, स्वर्ण-पाषाण के रूप में अनादि से किट्ट-कालिमा-सहित है। बाद में उसे खदान में से निकालकर, कसौटी पर कस कर, उसके स्वर्णत्व का निर्णय कर, जब उसे शुद्ध करने के लिए क्रमशः सोलह वान देने हेतु भट्टी में डालते हैं; तब एक, दो, तीन आदि वर्णिका/वानों में धुएँ की विविधता होने पर भी, प्रत्येक वान में एक स्वर्ण ही प्रकाशित होता है; उसी प्रकार अनादि से और बाद में (आस्रव आदि अनादि से; संवर आदि बाद में) होनेवाले नौ तत्त्वों से आच्छादित इस आत्म-ज्योति को अन्तर्दृष्टि से देखो।

नय-प्रमाण आदि द्वारा निर्णय करने पर, यह आत्म-ज्योति सदा ज्ञानावरणादि द्रव्य-मल और मोहादि भाव-मल से भिन्न, सर्वत्र सभी दशाओं में एक चिद्विवर्तरूप से ज्ञात होती है। लब्ध्यपर्याप्तक एकेन्द्रिय दशा में यह स्पर्शन इन्द्रिय सम्बन्धी लब्ध्यक्षररूप ज्ञान द्वारा सिद्ध हो जाती है। आगे दो इन्द्रिय आदि दशाओं में स्पर्शन-रसना आदि सम्बन्धी वृद्धिंगत ज्ञान के रूप में यह सदा व्यक्त रहती है।

इस प्रकार प्रत्येक पर्याय में विद्यमान इस शाश्वत सत्तारूप आत्मज्योति का सतत अनुभव करो।।८।।

अब, परं ज्योति के प्रकाशित होने पर, नयादि की व्यर्थता को स्पष्ट करते हैं —

मालिनी : **प्रगट नहीं नयश्री अस्त हैं सब प्रमाण,**
निक्षेप समूह हैं कहाँ हम न जानें।
अधिक क्या कहें इस तेज सर्वज्ञ सब के,
वेदन होने पर द्वैत भी अब न भासें।।९।।

टीका : ***अस्मिन्*** परात्मलक्षणे; ***धाम्नि*** ज्योतिषि; ***सर्वंकषे*** लोकालोकं कषति, त्रासमानं करोति जानातीति लक्षणया धातूनामनेकार्थत्वात् सर्वंकषः **'सर्वकूलाभ्र-करीषेषु कषः'** इति खश्प्रत्ययविधानात्। ***अनुभवं*** स्वानुभवप्रत्यक्षं; ***उपयाते*** प्राप्ते सति; ***नयश्रीः*** नया द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकाः नैगमादयः, तेषां श्रीः; ***न उदयति*** न प्राप्नोति नयानां परमात्मन्यधिकाराऽयोगात् बाह्यवस्तुप्रकाशकत्वाच्च। ***पुनः अस्तं एति तस्मिन्*** प्रकाशिते ***प्रमाणं*** प्रमीयते परिच्छिद्यते वस्तु तत्त्वं येन तत्प्रमाणं स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं, तच्च द्वैधं प्रत्यक्षपरोक्षभेदात्। तत्र विशदं प्रत्यक्षं, तच्च द्वेधा साकल्यवैकल्यभेदात्। साकल्यं केवलज्ञानं सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणत्वात्। वैकल्यं अवधिमनःपर्ययभेदाद् द्वेधा। ऐन्द्रियप्रत्यक्षं सांव्यवहारिकं स्पर्शनादीन्द्रियभेदात् षोढा। तच्च प्रत्येकं अवग्रहेहावायधारणा भेदाच्चतुर्धा।

टीकार्थ : अस्मिन्=इस परात्म लक्षणवाली; **धाम्नि**=ज्योति में; **सर्वंकषे**= लोकालोक को कसती है, त्रासमान करती है, लक्षणा शक्ति से इसका अर्थ हुआ जानती है। धातुओं के अनेक अर्थपना होने के कारण, सर्वं=सभी को; कष् धातु का प्रयोग **'सर्वकूलाभ्रकरीषेषु कषः** – सर्व, कूल, अभ्र/जाना/जानना, करीष/गोबर' इत्यादि में होता है; यहाँ उसका 'जानना' अर्थ लेकर, उसमें खश् (अ) प्रत्यय के विधान से (खश् का अ लगकर) कष शब्द बना है; इस प्रकार सर्वंकष का अर्थ है – सभी को जाननेवाली। **अनुभवं**=उस ज्योति का स्वानुभव प्रत्यक्ष; **उपयाते**=होने पर; **नयश्रीः**=द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक या नैगम आदि नय, उनकी लक्ष्मी; **न उदयति**=प्रगट नहीं होती है; परमात्मा/ शाश्वत सत्ता में नयों का अधिकार/प्रवेश नहीं होने के कारण और नयों के बाह्य वस्तु की प्रकाशकता होने के कारण (अनुभव में नय नहीं हैं)।

पुनः=और **अस्तं एति**=अस्त हो जाते हैं, **तस्मिन्**=उसके प्रकाशित होने पर, **प्रमाणं**=प्रमाण। जिसके द्वारा वस्तु तत्त्व प्रकृष्टरूप से ज्ञात होता है, वह प्रमाण है; अथवा स्व और अपूर्व अर्थ का व्यवसायात्मक ज्ञान, प्रमाण है। वह प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है। वहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण विशद/स्पष्ट/निर्मल है और वह सकलता तथा विकलता के भेद से दो प्रकार का है। सामग्री विशेष/स्वरूप में परिपूर्ण स्थिरता के कारण, सम्पूर्ण आवरणों का पूर्णतया क्षय हो जाने से केवलज्ञान साकल्य/सकल-प्रत्यक्ष है। वैकल्य/विकल प्रत्यक्ष, अवधि और मनःपर्यय के भेद से दो प्रकार का है। ऐन्द्रिय

तच्च बहुबहुविधादिद्वादशविषयभेदात् षट्त्रिंशदधिकत्रिंशतभेदभिन्नं; परोक्षं स्मृतिप्रत्यभिज्ञान-तर्कानुमानागमभेदाद् बहुधा; एतद्विविधलक्षणं प्रमाणमस्तं गतमेति प्रमाणानां तत्प्राप्ति-निमित्तत्वात् तत्प्राप्ते वैयर्थ्याच्च। ***च*** पुनः; ***निक्षेपचक्रं*** निक्षेपस्तु नामस्थापनाद्रव्यभाव-भेदतश्चतुर्धा, तत्रातद्गुणे वस्तुनि संज्ञाकरणं नाम, अन्यत्र सोऽयमिति व्यवस्थापनं स्थापना, वर्तमानतत्पर्यायादन्यद् द्रव्यं, तत्कालपर्यायाक्रान्तं वस्तु भावोऽभिधीयते, तस्य चक्रं समूहः। ***क्वचिदपि*** कुत्रचिदपि, आत्मनोऽन्यत्रालक्ष्ये स्थाने; ***याति*** गच्छति; तद् वयं ***न विद्मः*** न जानीमः। अतिशयालङ्कारकथनमेतत्। प्राथमिकानां निक्षेपस्योपयोगित्वात्। अत्र ***अपरं*** निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानलक्षणं, सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्प-बहुत्वलक्षणं च ***किमभिदध्मः*** किं कथयामः ? तत्र तेषामनुपयोगित्वात्। ***एव*** निश्चयेन ***द्वैतं*** द्वाभ्यां नयनेय-प्रमाणप्रमेय-निक्षेपनिक्षेप्यादिलक्षणाभ्यामितं प्राप्तं, द्वीतं, द्वीतमेव द्वैतं स्वार्थिकाऽण्प्रत्ययविधानात्। ***न भाति*** न प्रतिभासते। तथा चोक्तं —

प्रत्यक्षरूप सांव्यवहारिक-प्रत्यक्ष, स्पर्शन आदि इन्द्रिय और मन के भेद से छह प्रकार का है। उनमें से प्रत्येक भेद, अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के भेद से चार-चार प्रकार का है और वह बहु, बहुविध आदि बारह प्रकार के विषय-भेद से कुल छत्तीस अधिक तीन सौ/ तीन सौ छत्तीस प्रकार का हो जाता है। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, आगम के भेद से परोक्ष-प्रमाण अनेक प्रकार का है। यह विविध लक्षणवाला प्रमाण, अस्त को प्राप्त हो जाता है। अनुभव की प्राप्ति के पूर्व, प्रमाणों की निमित्तता होने से और उसकी प्राप्ति हो जाने पर, वे व्यर्थ हो जाने से, अनुभव में प्रमाण के विकल्प नहीं रहते हैं।

च=और; **निक्षेपचक्रं**=निक्षेपों का समूह। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से निक्षेप चार प्रकार का है। उनमें से अतद्गुण (उन गुणों से रहित) वाली वस्तु में संज्ञा करना, नाम; किसी अन्य में 'वह यह'- इस प्रकार व्यवस्थापन करना, स्थापना; वर्तमान उस पर्याय से अन्य/शेष/अतिरिक्त वस्तु, द्रव्य; उस कालवर्ती पर्याय से अभिन्न वस्तु, भाव निक्षेप है - ऐसा कहा गया है, उसका चक्र=समूह। **क्वचिदपि**=कहीं भी, आत्मा से अन्यत्र अलक्ष्य स्थान में; **याति**=जाता है, **तद् वयं**=वह हम, **न विद्मः**=नहीं जानते हैं। यह अतिशय अलंकार का कथन है। प्राथमिक दशा में निक्षेप की उपयोगिता होने से (उस समय यह होता है; परन्तु) अनुभव दशा में इसका कोई विकल्प नहीं है।

''प्रमाण-नय-निक्षेपा अर्वाचीनपदे स्थिताः।
केवले च पुनस्तस्मिंस्तदेकं प्रतिभासताम्॥''॥९॥

अथ स्वात्मस्वभावं प्रकाशयन्तं शुद्धनयं व्यनक्ति —

उपजाति : **आत्म-स्वभावं पर-भाव-भिन्न-**
मापूर्ण-माद्यन्त-विमुक्तमेकम्।
विलीनसङ्कल्पविकल्पजालं,
प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति॥ १०॥

टीका : ***अभ्युदेति*** उदयं गच्छति, कोऽसौ? ***शुद्धनयः*** शुद्धपरात्मग्राहक-

---

यहाँ, **अपरं**=इनके अतिरिक्त निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति, विधान लक्षण और सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्प-बहुत्व लक्षणवाले अन्य भेदों के सम्बन्ध में; **किमभिदध्मः**=क्या कहा जाए? वहाँ उनकी उपयोगिता नहीं होने के कारण (अनुभव में उनके विकल्प भी नहीं हैं)। **एव**=निश्चय से, **द्वैतं**=दो से; नय-नेय, प्रमाण-प्रमेय, निक्षेप-निक्षेप्य आदि लक्षणवाले दोपने को प्राप्त होना, द्वीत है; स्वार्थिक द्वीत में अण् प्रत्यय के विधान से द्वैत हो गया; द्वीत ही द्वैत। **न भाति**=प्रतिभासित नहीं होता है।

वैसा कहा भी है—

''अर्वाचीन पद/अशुद्धोपयोग में स्थित जीवों के प्रमाण, नय, निक्षेप (के विकल्प) होते हैं और उस केवल/शुद्धोपयोग में वह एक/चिद्रूप शाश्वत ज्योति ही प्रतिभासित होती है।''॥९॥

अब, अपने आत्म-स्वभाव को प्रकाशित करनेवाले शुद्ध-नय का विवेचन करते हैं—

उपजाति : **आत्मा स्वभाव परभाव भिन्न,**
परिपूर्ण शाश्वत जो एक ज्ञाता।
विलीन संकल्प विकल्प सब ही,
इसको बताता नय शुद्ध प्रगटा॥१०॥

टीकार्थ : अभ्युदेति=उदय को प्राप्त होता है। वह कौन उदित होता है? **शुद्धनयः**= शुद्ध परमात्मा को बतानेवाला, द्रव्यार्थिक शुद्ध-नय उदित होता है। वह क्या करता हुआ उदित होता है? **प्रकाशयन्**=व्यक्त करता हुआ उदित होता है। किसे बताता हुआ वह उदित

द्रव्यार्थिकः। किं कुर्वन् प्रकाशयन् व्यक्तीकुर्वन्; कं ? तं ***आत्मस्वभावं*** शुद्धचिद्रूपस्वरूपं; कीदृशं तं ? ***परभावभिन्नं*** परे च ते भावाश्च परभावा स्वात्मान्यपदार्थाः; अथवा परेषां अचेतनादीनां भावाः स्वभावास्तैर्भिन्नं। भूयः कीदृशं ? ***आपूर्णं*** आ अतिशयेन परिपूर्णं, ज्ञानाद्यनन्तगुणपूर्णत्वात्तस्य। पुनः किं भूतं ? ***आद्यन्तविमुक्तं*** अनादिनिधनमित्यर्थः। पुनः कीदृशं ? ***एकं*** अद्वैतं अखण्डद्रव्यत्वात्; ***विलीनसङ्कल्पविकल्पजालं*** परद्रव्ये ममेदमिति मतिः सङ्कल्पः, अहं सुखी-दुखीत्यादिमतिः विकल्पः, सङ्कल्पश्च विकल्पश्च सङ्कल्प-विकल्पौ, विलीनं सङ्कल्पविकल्पयोर्जालं समूहो यस्य तम्॥ १०॥

अथात्मनोऽनुभवनं भावयति —

होता है ? उस **आत्मस्वभावं**=शुद्ध चिद्रूप-स्वभावी आत्मा को बताता हुआ उदित होता है। वह आत्म-स्वभाव कैसा है ? **परभावभिन्नं**=दूसरे और वे भाव - परभाव, अपने आत्मा से अन्य पदार्थ; अथवा अचेतन आदि दूसरों के भाव, स्वभाव; उनसे भिन्न है। वह और कैसा है? **आपूर्णं**=आ अतिशय अधिकता से परिपूर्ण है; क्योंकि वह ज्ञानादि अनन्त गुणों से परिपूर्ण है। वह और कैसा है? **आद्यन्तविमुक्तं**=आदि-अन्त से रहित, अनादिनिधन है - ऐसा अर्थ है। वह और कैसा है ? **एकं**=अखण्ड द्रव्यपना होने के कारण, एक है। **विलीन-संकल्प-विकल्पजालं**=पर-द्रव्य के सम्बन्ध में 'यह मेरा है' - ऐसी बुद्धि/मान्यता, संकल्प है और 'मैं सुखी-दुःखी हूँ' इत्यादि बुद्धि, विकल्प है; संकल्प और विकल्प=संकल्प-विकल्प, विलीन हो गया है संकल्प-विकल्पों का जाल समूह जिसका, उसे बताता हुआ उदित होता है।

अर्थात्, अचेतन आदि सभी पर-भावों से पूर्णतया पृथक्, ज्ञानादि अनन्त गुणों से परिपूर्ण, अनादि-अनन्त, अखण्ड द्रव्यरूप एक, पर-द्रव्यों के सम्बन्ध में -'यह मेरा है' इत्यादिरूप संकल्प और इनसे 'मैं सुखी-दुःखी हूँ' इत्यादिरूप विकल्प के समूह से सर्वथा रहित, शुद्ध चिद्रूपमय आत्म-स्वभाव को व्यक्त करता हुआ, शुद्ध परमात्मा को बतानेवाला, शुद्ध-नय प्रगट होता है।।१०।।

अब, आत्मा के अनुभवन की भावना करते हैं—

मालिनी : **नहिं दिखते बद्धस्पृष्ट भावादि जिसमें,**
ऊपर ही तरते स्थिति हो न जिसमें।

मालिनी : **न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी,**
स्फुटमुपरि तरन्तोऽप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम्।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समन्तात्–
जगदपगतमोहीभूय सम्यक् स्वभावम्॥ ११॥

टीका : भो जगत् भो जगन्निवासिलोक! आधारे आधेयस्योपचारः, लोकोक्तिरपीदृशास्ति मालवो देशः समागतोऽत्र, इत्युक्ते तत्रत्या भूमिर्नागता किन्तु तत्रत्यो लोकः तथा जगदित्युक्ते जगन्निवासिलोकः। ***अनुभवतु*** अनुभवगोचरीकरोतु। कं? ***तमेव स्वभावं*** शुद्धनिश्चयनयोक्तत्वात् यथोक्तस्वभावं; अथवा स्वभावं स्वपदार्थं स्वशुद्धचिद्रूपमित्यर्थः। कथं? ***सम्यक्*** यथोक्ततया; पुनः कथम्भूतं? ***समन्तात्*** सामस्त्येन ***द्योतमानं*** लोकप्रकाशमानम्। किं कृत्वा? ***अपगतमोहीभूय*** अपगतमोहो भूत्वा विनष्टमोहो भूत्वेत्यर्थः।

यत्र आत्मनि ***अमी बद्धस्पृष्टभावादयो*** बद्धः कर्मनोकर्मभ्यां संश्लेषरूपेण बन्धेन

जो नित निज भावी सर्व ज्ञायक प्रकाशक,
जगजन निर्मोही हो उसे अनुभवो अब।।११।।

टीकार्थ : भो **जगत्**=जगत में रहनेवाले हे लोगो! आधार में आधेय का उपचार कर ऐसा कथन किया है; लोक में भी ऐसा कहा जाता है; जैसे, मालव देश यहाँ आया है – ऐसा कहने पर वहाँ की भूमि नहीं आयी है, वरन् वहाँ के लोग यहाँ आए हैं – ऐसा समझ लेते हैं; उसी प्रकार 'जगत' – ऐसा कहने पर 'जगत में रहनेवाले लोग' समझना चाहिए। **अनुभवतु**=अनुभव का विषय करो/आत्मानुभव करो। किसका अनुभव करें? **तमेव स्वभावं**=शुद्ध निश्चय-नय के द्वारा कहा गया होने के कारण, जैसा कहा है, उस स्वभाव का; अथवा स्व पदार्थ का, अपने शुद्ध चिद्रूप का – ऐसा अर्थ है; इस स्वभाव का अनुभव करो। उसका अनुभव कैसे करें? **सम्यक्**=जैसा कहा गया है, उस प्रकार से अनुभव करो। किस प्रकार से? **समंतात्**=सभी प्रकार से; **द्योतमानं**=लोक में प्रकाशमान। क्या करके उसका अनुभव करें? **अपगतमोहीभूय**=मोह से रहित होकर, विनष्ट मोहवाला होकर, उसका अनुभव करो – ऐसा अर्थ है।

जिस आत्मा में **अमी बद्धस्पृष्टभावादयो**=बद्ध=कर्म-नोकर्म के साथ संश्लेषरूप बन्धन से बद्ध, स्पृष्ट=विस्रसोपचय आदि परमाणुओं और अन्य के साथ संयोगमात्र से स्पृष्ट,

बद्धः, स्पृष्टः विस्रसोपचयादिपरमाणुभिः अन्यैश्च संयोगमात्रतया स्पृष्टः, बद्धश्च स्पृष्टश्च बद्धस्पृष्टौ तावेवादिर्येषामन्ययुतादीनां ते च ते भावाश्च ते तथोक्ताः। ***एत्य*** आगत्य प्राप्येत्यर्थः। ***प्रतिष्ठां*** स्थितिं माहात्म्यं वा; ***नहि विदधति*** नैव दधते। ***स्फुटं*** व्यक्तं यथा भवति तथा। उपरि ***तरन्तोऽपि*** सर्वतः उत्कृष्टा भवन्तोऽपि व्यवहारदृष्ट्या दृश्यमाना अपि व्यवहारिभिः कथ्यमाना अपीत्यर्थः। उक्तं च—

''अस्पृष्टमबद्धमनन्यमयुतमविशेषमविभ्रमोपेतः।
यः पश्यत्यात्मानं स पुमान् खलु शुद्धनयनिष्ठः॥''

इति॥ १०॥

अथ पूर्वापरबन्धविनाशकत्वेनात्मानमुद्बोधयति —

बद्ध और स्पृष्ट=बद्धस्पृष्ट, वे दोनों ही हैं आदि जिन अन्य युतादि के, वे और वे भाव, वे वैसे कहे गए। **एत्य**=आकर, प्राप्त होकर—ऐसा अर्थ है। **प्रतिष्ठां**=स्थिति या माहात्म्य को; **नहि विदधति**=धारण नहीं करते हैं। **स्फुटं**=व्यक्त जैसे होता है, उस प्रकार। **उपरि तरन्तोऽपि**=सब ओर से उत्कृष्ट होते हुए भी, व्यवहार-दृष्टि से दिखाई देने पर भी, व्यवहारियों द्वारा कहे जाने पर भी - ऐसा अर्थ है।

कहा भी है—

''अस्पृष्ट, अबद्ध, अनन्य, अयुत, अविशेष आत्मा को अविभ्रम से सहित/निश्शंक हो जो देखता है; वह आत्मा, वास्तव में शुद्ध-नय-निष्ठ/शुद्ध-नय के विषय/शुद्धात्मा में स्थित है।'' इस प्रकार।

अर्थात्, शुद्ध-निश्चय-नय के विषयभूत, सभी प्रकार से लोक में प्रकाशमान, अपने शुद्ध-चिद्रूप-स्वभाव का, हे जगतवासी जीवो! निर्मोही होकर सब ओर से भली-भाँति अनुभव करो। व्यवहार की अपेक्षा संयोग, पर्याय आदि में कर्म-नोकर्म के साथ संश्लेषरूप बन्धन से बद्ध, विस्रसोपचय आदि परमाणुओं और अन्य के साथ संयोगमात्र से स्पृष्ट आदि भाव इसमें दिखाई देने पर भी, वे ऊपर-ऊपर ही तैरते हैं/क्षणिक संयोग, पर्याय में ही रहते हैं; शाश्वत सत्तावान स्वभाव में प्रतिष्ठित नहीं होते हैं/आत्म-स्वभाव उनरूप नहीं होता है; अतः इसका ही अनुभव करो।।११।।

अब, पूर्व-अपर बन्ध की विनाशकता होने से/सभी प्रकार के बन्धों को नष्ट

शार्दूलविक्रीडित : **भूतं भान्तमभूतमेव रभसा निर्भिद्य बन्धं सुधी-**
र्यद्यन्तः किल कोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात्।
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं,
नित्यं कर्मकलङ्कपङ्कविकलो देवः स्वयं शाश्वतः॥ १२॥

टीका : ***किल*** इति आगमोक्तौ; ***अहो*** इति आश्चर्ये। ***यदि कोऽपि सुधीः*** धीमान्; ***अन्तः*** अभ्यन्तरे शुद्धचिद्रूपं ***कलयति*** अनुभवति अवलोकयति साक्षात्करोतीत्यर्थः। ***व्याहत्य*** निश्शेषमुन्मूल्य; कं ? ***मोहं*** अष्टाविंशतिप्रकृतिभेदभिन्नं मोहनीयं कर्म। कथं ? ***हठात्*** बलात्कारेण तपोध्यानादिभिः। पुनः किंकृत्य ? ***निर्भिद्य*** निश्शेषं भेदयित्वा; कं? ***बन्धं*** प्रकृति-स्थित्यनुभाग-प्रदेश-लक्षणं चतुर्धा कर्मबन्धं; कथं ? ***रभसा*** शीघ्रं शुक्ल-ध्यानावाप्त्यनन्तरं अन्तर्मुहूर्ततः। कीदृशं बन्धं ? ***भूतं*** पूर्वं संसारावस्थायां समयप्रबद्ध-

---

करनेवाला होने से आत्मा/स्वयं को उद्‌बोधन देते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **शाश्वत कर्म कलंक पंक विरहित आत्मानुभवगम्य इक,**
महिमामय ध्रुव व्यक्त देव निज का अनुभव करे कोइ भी।
बुद्धिमान यदि भूत भावी भवते सब बन्ध को भेद कर,
बल पूर्वक कर मोह नष्ट तब हो आत्मानुभव शीघ्र ही।।१२।।

टीकार्थ : किल=इस प्रकार, आगम में कही गयी विधि से; **अहो**=यह 'आश्चर्य' अर्थ में अव्यय है। **यदि कोऽपि सुधी**ः=यदि कोई भी बुद्धिमान; **अंत**ः=अन्तरंग में शुद्ध-चिद्रूप का; **कलयति**=अनुभव करता है, अवलोकन करता है, साक्षात् करता है/प्रत्यक्ष वेदन करता है - ऐसा अर्थ है। **व्याहत्य**=निश्शेष/पूर्णरूप से नष्ट कर। किसे नष्ट कर? **मोहं**=अट्ठाईस प्रकृतियों के भेद से भिन्नतावाले मोहनीय-कर्म को नष्ट कर। उसे कैसे नष्ट कर? **हठात्**=हठ से तप, ध्यान आदि द्वारा बल पूर्वक; और क्या करके? **निर्भिद्य**=पूर्णरूप से भेदन कर। किसका भेदन कर? **बन्धं**=प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश लक्षणवाले, चार प्रकार के कर्म-बन्ध का भेदन कर। उसका कैसे भेदन कर? **रभसा**=शीघ्र, शुक्ल-ध्यान की प्राप्ति के बाद अन्तर्मुहूर्त में भेदन कर। कैसे बन्ध का भेदन कर? **भूतं**=पहले संसार अवस्था में समयप्रबद्ध स्वरूप से बँधे हुए को निर्जरा-वश/पूर्वक झड़ा/खिराकर, **भान्तं**=वर्तमान में योगादि द्वारा आते हुए कर्मरूप समयप्रबद्ध को अन्तरंग में संवर के वश

स्वरूपेण बद्धं निर्जरावशान्निर्जीर्य; ***भान्तं*** वर्तमानं योगादिभिरागमकर्मसमयप्रबद्धं, अन्तः संवरवशान्निरुद्ध्य; ***अभूतं*** अनागतं अग्रे बध्यमानं निरुद्ध्य, तत्कारणयोगकषायानामभावात् 'कारणाभावे कार्यस्याप्यभावादिति' न्यायात्; ***एव*** निश्चयेन। तदिति अध्याहार्यम्।

अयं प्रत्यक्षीभूतः; ***आत्मा*** शुद्धचिद्रूपः; ***व्यक्तः*** साक्षात् अनन्तचतुष्टयापन्नः; ***ध्रुवं*** निश्चितं, ***आस्ते*** तिष्ठति। कीदृशः ? ***आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा*** आत्मनश्चित्स्वरूपस्य अनुभवः, तेन, एकः अद्वितीयः; गम्यः ज्ञेयः; महिमा माहात्म्यं यस्य सः। ***नित्यं*** सदैव परमावस्थायां; ***कर्मकलङ्कपङ्कविकलो*** कर्म एव कलङ्कपङ्कः संसारस्य कालंक्यहेतुत्वात् तेन, ***विकलः*** रहितः। पुनः किंभूतः ? ***देवः*** दीव्यति क्रीडति एकलोलीभावमनुगच्छति परमात्मपदे द्योतते वा देवः। ***स्वयं*** कर्माद्यनपेक्षत्वेन ***शाश्वतः*** नित्यः॥ १२॥

से/पूर्वक रोककर, **अभूतं**=अनागत आगे बँधनेवालों को रोककर, उनके कारणभूत योग-कषायों का अभाव हो जाने से, 'कारण के अभाव में कार्य का अभाव हो जाता है' - इस न्याय से; **एव**=निश्चय से। 'तत-उस' - यह यहाँ अध्याहार्य है (अपनी ओर से ले लेना)।

अयं=यह प्रत्यक्षीभूत; **आत्मा**=शुद्ध चिद्रूप स्वयं; **व्यक्तः**=साक्षात् अनन्त चतुष्टय-सम्पन्न; **ध्रुवं**=निश्चित; **आस्ते**=विद्यमान है। वह कैसा है? **आत्मानुभवैक-गम्य-महिमा**=चित्स्वरूप आत्मा का अनुभव, उसके द्वारा, एक अद्वितीय, गम्य जानने-योग्य, महिमा माहात्म्य है जिसका, वह। **नित्यं**=सदा ही परम अवस्था में; **कर्मकलङ्कपङ्क-विकलो**=संसाररूप कलंकता/मलिनता का कारण होने से, कर्म ही है कलंक-पंक, उससे रहित है। वह और कैसा है? **देवः**=दीवता है, क्रीड़ा करता है, एक लोलीभाव/एकत्व/तन्मयता को प्राप्त है अथवा परमात्म-पद में प्रकाशमान है, वह देव है। **स्वयं**=कर्मादि से पूर्ण निरपेक्ष होने के कारण स्वयं; **शाश्वतः**=नित्य है।

अर्थात्, सदा अनन्त चतुष्टय-सम्पन्न, एकमात्र आत्मानुभव के द्वारा ज्ञात होने-योग्य, महिमावान, नित्य ही संसाररूपी कलुषता के कारणभूत कर्मरूपी कलंक-पंक से पूर्णतया रहित, परमात्म-पद में प्रकाशमान, देव-स्वरूप कर्मादि से पूर्ण निरपेक्ष स्वयं, शाश्वत आत्मा निश्चित ही ध्रुवरूप से सदा विद्यमान है; अतः यदि कोई भी बुद्धिमान अट्ठाईस प्रकार के मोहनीय-कर्म को ध्यान-तप आदि द्वारा बल-पूर्वक पूर्णतया नष्ट कर; कारण नष्ट हो जाने पर कार्य भी नष्ट हो जाता है - इस न्याय के अनुसार, शुक्ल-ध्यान

अथात्मानुभूतिमेव समर्थयति —

वसन्ततिलका : **आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या,**
ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा।
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकम्प-
मेकोऽस्ति नित्यमवबोधघनः समन्तात्॥ १३ ॥

टीका : ***किल*** इति निश्चितं; ***इति*** पूर्वोक्तप्रकारेण; ***या शुद्धनयात्मिका*** शुद्धनय एव आत्मा स्वरूपं यस्याः सा; ***आत्मानुभूतिः*** आत्मनः शुद्धचैतन्यस्य, अनुभूतिः उपलब्धिर्वा पारमार्थिकी आत्मोपलब्धिरित्यर्थः। ***इयमेव*** आत्मानुभूतिरेव, ***ज्ञानानुभूतिः*** ज्ञानस्य सम्यग्बोधस्य, अनुभूतिः अनुभवः उपलब्धिर्वा। ***इति*** इत्थं; ***बुद्ध्वा*** मत्वा; ***एकः*** अद्वितीयः; ***अस्ति*** वर्तते; समन्तात् सामस्त्येन। किंभूतः ? ***नित्यं*** निरन्तरं; ***अवबोधघनः***

द्वारा योग, कषाय आदि कारणों के नष्ट हो जाने से, पूर्व-बद्ध कर्मों की निर्जराकर, वर्तमान कालीन कर्मों का संवर कर, भविष्य कालीन कर्मों को रोककर; प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेशरूप चार प्रकार के बन्ध का शीघ्र ही भेदन कर, अन्तरंग में शुद्ध चिद्रूप आत्मा का अनुभव करता है, तो उसे इस शाश्वत देव का प्रत्यक्ष वेदन हो जाता है।।१२।।

अब, आत्मानुभूति का ही समर्थन करते हैं —

वसन्ततिलका : **आत्मानुभूति जो शुद्धनयात्मक है,**
ज्ञानानुभूति वह ही यह मानकर यों।
निष्कम्प थाप आतम को आत्मा में,
नित एक पूर्ण चित पिण्ड निजात्म वेदो।।१३।।

टीकार्थ : किल=इस प्रकार निश्चित; **इति**=इस प्रकार पूर्वोक्त प्रकार से; **या शुद्धनयात्मिका**=जो शुद्ध-नय ही है, आत्मा स्वरूप जिसका/शुद्ध-नय का विषयभूत आत्मा, वह; **आत्मानुभूतिः**=शुद्ध चैतन्य आत्मा की अनुभूति या उपलब्धि, आत्मा के पारमार्थिक स्वरूप की उपलब्धि है - ऐसा अर्थ है। **इयमेव**=यह आत्मानुभूति ही; **ज्ञानानुभूतिः**=ज्ञान की, सम्यग्बोध की अनुभूति, अनुभव या उपलब्धि है। **इति**=इस प्रकार; **बुद्ध्वा**=जानकर, मानकर; **एकः**=अद्वितीय; **अस्ति**=है; **समंतात्**=सब ओर/पूर्णरूप से। वह आत्मा कैसा है? **नित्यं**=निरन्तर/सदा; **अवबोधघनः**=केवलज्ञान का

केवलज्ञानपिण्डः। किंकृत्वैकोऽस्ति? ***निवेश्य*** आरोप्य; ***सुनिष्प्रकम्पं*** अविचलं यथा भवति तथा; ***आत्मनि*** स्वस्वरूपे; ***आत्मानं*** स्व-स्वभावम्॥ १३॥

अथ परमात्मस्वरूपप्रकाशनं नः आशास्ति —

पृथ्वी : **अखण्डितमनाकुलं ज्वलदनन्तमन्तर्बहि-**
र्महः परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा।
चिदुच्छ्वलननिर्भरं सकलकालमालम्बते,
यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितम्॥ १४॥

टीका : ***अस्तु*** भवतु; किं तत्? ***परमं महः*** जगदुत्कृष्टं ज्योतिः जगत्प्रकाशकत्वात्; केषां? ***नः*** अस्माकम्। किं भूतं? ***अखण्डितं*** न खण्डितं अध्वस्तं; केनापि प्रमाणेन कैश्चिद्विवादिभिस्तत्स्वरूपस्य खण्डयितुमशक्यत्वात् '**सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव**

पिण्ड है। वह क्या करके एक है? **निवेश्य**=आरोप कर/स्थापन करके; **सुनिष्प्रकंपं**=अविचल जैसे होता है, उस प्रकार **आत्मनि**=अपने स्वरूप में, **आत्मानं**=अपने स्वभाव को।

अर्थात्, शुद्धनय के विषयभूत शुद्ध चैतन्य-स्वरूप आत्मा की अनुभूति या पारमार्थिक स्वरूप की यह उपलब्धि ही सम्यग्ज्ञान की उपलब्धि है - ऐसा मानकर, अपने स्वरूप में अपने स्वभाव को अविचलरूप से स्थापित कर, सब ओर से परिपूर्ण, एक अद्वितीय, ज्ञान के घन-पिण्ड का ही सदा अनुभव करो।।१३।।

अब, परमात्म-स्वरूप का प्रकाशन/अनुभव हमें हो; ऐसी भावना व्यक्त करते हैं —

पृथ्वी : **अखण्डित अनाकुलित, नित अनन्त देदीप्यमान,**
सहज चिद्विलासयुत, ज्ञानघन तेज जो।
नमक डलीसम सभी, क्षेत्र व काल में,
एकरस ज्ञानमय, वह हमें प्राप्त हो।।१४।।

टीकार्थ : अस्तु=हो; वह क्या हो? **परमं महः**=जगत की प्रकाशक होने के कारण, जगत की उत्कृष्ट ज्योति हो। वह किन्हें हो? **नः**=हमारे लिए/हमें हो। वह कैसी है? **अखण्डितं**=खण्डित नहीं होती है, किन्हीं भी विवादी/प्रतिवादियों द्वारा किसी भी प्रमाण से, उसके स्वरूप को खण्डित करना अशक्य होने से, वह अध्वस्त/अविनाशी है; *'जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रतिपादित सूक्ष्म तत्त्व, हेतुओं द्वारा खण्डित नहीं होता है'* - ऐसा

हन्यते' इति वचनात्। ***अनाकुलं*** न केनापि व्याकुलीकृतं तत्स्वरूपस्य केनापि पुद्गलादि-संयोगेनास्पृष्टत्वात् जलेन विशनीपत्रवत्। भूयः किंभूतं? ***अनन्तं*** न विद्यते अन्तो विनाशो यस्य तत्, तद्गुणाविर्भावेन विनाशरहितत्वात्। ***अन्तः*** अभ्यन्तरे; ***बहिः*** बाह्ये; ***ज्वलत्*** देदीप्यमानं बहिरन्तः स्वरूपप्रकाशकत्वात्। ***सहजं*** स्वाभाविकं केनापीश्वरादिनाऽ कृत्रिमत्वात्। ***सदा*** निरन्तरं; ***उद्विलासं*** उत् ऊर्ध्वं तनुवातवलये, विलासः सुखानुभवनं अथवा उदयमानो विलासो यस्य तत्। ***चिदुच्छ्वलन-निर्भरं*** चितश्चैतन्यस्य, उच्छ्वलनं तेन निर्भरं प्रवर्धमानचित्स्वभावत्वात्। ***यत्*** परंज्योतिः; ***सकलकालं*** पूर्वापरवर्तमानकालं; ***एकरसं*** शुद्धपरमात्मरसं; ***आलम्बते*** अवलम्बयति। किंवत्? ***लवणरसवत्।***

यथैव हि व्यञ्जनलुब्धानामबुद्धानां लोकानां विचित्रव्यञ्जनसंयोगोपजातसामान्य-विशेषतिरोभावाविर्भावाभ्यामनुभूयमानं लवणं स्वदते न पुनरन्यसंयोगशून्यतोपजातसामान्य-

---

वचन होने से। **अनाकुलं**=जल में रहनेवाले कमल के पत्र/पत्ते के समान, उसके स्वरूप का किसी भी पुद्गल आदि संयोग द्वारा स्पर्श नहीं होने के कारण, वह किसी से भी व्याकुल नहीं होती है। वह और कैसी है? **अनन्तं**=उन गुणों के आविर्भाव से विनाश-रहित होने के कारण, जिसका अन्त नहीं है, वह। **अन्तः**=अन्तरङ्ग में; **बहिः**=बाहर में; **ज्वलत्**=देदीप्यमान, बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग स्वरूप की प्रकाशकता होने से। **सहजं**=किसी भी ईश्वर आदि द्वारा नहीं रची/बनायी होने से, स्वाभाविक है। **सदा**=निरन्तर; **उद्विलासं**=उत्=ऊर्ध्व, तनुवात वलय में, विलास सुखानुभवनरूप अथवा प्रगट हुआ है विलास जिसका, वह। **चिदुच्छ्वलन-निर्भरं**=चित्=चैतन्य का, उच्छ्वलन=परिणमन, उससे निर्भर=व्याप्त, वृद्धिंगत चित्स्वभावपना होने के कारण। **यत्**=जो वह परं ज्योति; **सकलकालं**=पहले, पश्चात्, वर्तमान - सभी कालों में; **एकरसं**=शुद्ध परमात्म-रस का; **आलम्बते**=आलम्बन करती है। किसके समान? **लवणरसवत्**=लवण रस के समान।

जैसे, व्यंजन/पकवानों में लुब्ध अज्ञानी लोगों को अनेक प्रकार के व्यंजनों के संयोग से उत्पन्न, सामान्य के तिरोभाव और विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आते हुए लवण का स्वाद आता है; परन्तु अन्य के संयोग से पूर्णतया रहित, सामान्य के आविर्भाव और विशेष के तिरोभाव से प्रगट हुए नमक का स्वाद नहीं आता है; उसी प्रकार ज्ञेय-लुब्ध अज्ञानी जीवों को अनेक प्रकार के ज्ञेयों के आकार से सहित, सामान्य के तिरोभाव और

विशेषाविर्भाव-तिरोभावाभ्यां; तथैव ज्ञेयलुब्धानामबुद्धानां विचित्रप्रमेयाकारकरम्बितसामान्य-विशेषतिरोभावाविर्भावाभ्यामनुभूयमानं ज्ञानं स्वदते न पुनस्तदन्यसंयोगशून्यतोपजात-सामान्यविशेषाविर्भाव-तिरोभावाभ्यां; ज्ञानिनां केवललवणरसिकानां तु तदेकं स्वदते।

भूय: किं भूतमिति पदं सर्वत्र विशेषणे योज्यम्। भूय: किं भूतं ? ***उल्लसल्लवण-खिल्यलीलायितं*** उल्लसन् उल्लासं गच्छन् स चासौ लवणखिल्यश्च लवणखण्डं तस्य लीला तद्वदायतं विस्तृतं। यथा अलुब्धबुद्धानां केवल: सैन्धवखिल्य: परद्रव्यसम्पर्कराहित्ये-नैवानुभूयमान: सर्वतोऽप्येकलवणरसत्वाल्लवणत्वेन स्वदते तथात्मापि सकलपरद्रव्य-वैकल्येन केवल एव कल्पमान: सर्वतोऽप्यद्वितीयविज्ञानघनत्वाद् बोधत्वेन स्वदते॥१४॥

विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आते हुए ज्ञान का स्वाद आता है; परन्तु अन्य के संयोग से पूर्णतया रहित, सामान्य के आविर्भाव और विशेष के तिरोभाव से प्रगट हुए ज्ञान का स्वाद नहीं आता है; मात्र लवण के रसिक या ज्ञानियों को तो उस एक का ही स्वाद आता है।

'और वह कैसा है?' ऐसा पद, विशेषण में सर्वत्र लगा लेना चाहिए; और वह कैसा है? **उल्लसल्लवणखिल्यलीलायितं**=उल्लास को प्राप्त, वह और वह लवणखिल्य, नमक का टुकड़ा, उसकी लीला, उसके समान आयत, विस्तृत। जैसे, अलुब्ध-ज्ञानियों को, पर-द्रव्य के सम्पर्क से रहितपने से ही, अनुभव में आता हुआ नमक का टुकड़ा, सभी ओर से मात्र एक लवण-रसवाला होने के कारण, लवणरूप से ही स्वाद में आता है; उसी प्रकार सम्पूर्ण पर-द्रव्यों से पूर्णतया रहित होने के कारण, मात्र एक आत्मा ही अनुभव में आता हुआ, सभी ओर से अद्वितीय विज्ञान-घनता होने के कारण, ज्ञानरूप से ही अनुभव में आता है।

अर्थात्, जैसे स्वाद के लोभी अज्ञानी-जनों को नमक का वास्तविक स्वाद अनुभव में नहीं आता है, व्यंजन का ही स्वाद आता है; उसी प्रकार ज्ञेयों में लुब्ध अज्ञानियों को वास्तविक ज्ञान-स्वभाव का अनुभव नहीं होता है, ज्ञेय-मिश्रित ज्ञान का ही अनुभव होता है; और जैसे स्वाद-लिप्सा से रहित जीव, नमक-युक्त प्रत्येक व्यंजन में, मात्र नमक का ही ज्ञान करते हैं; उसी प्रकार ज्ञेय-लुब्धता से रहित जीव, ज्ञेयों को जाननेवाली प्रत्येक ज्ञान-पर्याय में, मात्र ज्ञान-स्वभाव का अनुभव करते हैं। यह ज्ञान-स्वभाव ही हमारे लिए सदा हो/इसमें ही हम सदा सन्तुष्ट रहें।

यह लोकालोक-प्रकाशक उत्कृष्ट तेज, विवाद करनेवालों के किसी भी प्रमाण से

अथ तस्यैवोपासनं सन्धत्ते —

अनुष्टुप् : **एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः।**
साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम्॥१५॥

टीका : ***एष आत्मा*** चिद्रूपः; ***नित्यं*** सदा; ***समुपास्यतां*** सेव्यतां ध्यायतामित्यर्थः। कैः ? ***सिद्धिं*** स्वात्मोपलब्धिं, ***'सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिरिति'*** 卐वचनात्। ***अभीप्सुभिः*** प्राप्तुमिच्छुभिः; किम्भूतः ? ***ज्ञानघनः*** बोधपिण्डः; ***एकः*** योऽद्वितीयः; ***साध्यसाधकभावेन*** साध्यश्च साधकश्च तौ, तयोर्भावेन, स एव आत्मा ध्येयरूपतया साध्यः, स एव

खण्डित नहीं होता है; अतः अखण्डित है; पुद्गल आदि संयोगों से पूर्णतया रहित होने के कारण, किसी से भी व्याकुल नहीं होता है, अतः अनाकुल है; स्व-पर प्रकाशक होने से सदा देदीप्यमान, विनाश-रहित होने के कारण, अनन्त है; ईश्वर आदि किसी ने भी बनाया नहीं होने से, सहज है; सदा विद्यमान है; तनुवात-वलय में परिपूर्ण सुखानुभवरूप से उदित -विलासमय है; वृद्धिंगत चित्स्वभावत्व के कारण, चैतन्य के परिणमन से परिपूर्ण है; त्रिकाल शुद्ध परमात्म-रसरूप एक रस का सर्वत्र, लवण की डली के समान, आलम्बन करता है। इसका ही अनुभव हमें सदा हो।।१४।।

अब, उसी आत्मा की उपासना करने-हेतु प्रेरित करते हैं —

अनुष्टुप् : **यही ज्ञानघनी आत्मा मुमुक्षु ध्याओ सदा।**
साध्य साधक दशा से दो भले पर है एकता।।१५।।

टीकार्थ : एष आत्मा=यह चिद्रूप स्वयं; **नित्यं**=सदा; **समुपास्यतां**=सेवन करने, ध्यान करने-योग्य है - ऐसा अर्थ है। वह किनके द्वारा ध्याने योग्य है? **सिद्धिं**=अपने आत्मा की उपलब्धि को *'अपने आत्मा की उपलब्धि, सिद्धि है'* - ऐसा वचन होने से। (अपने आत्मा की उपलब्धि को) **अभीप्सुभिः**=प्राप्त करने के इच्छुक जीवों द्वारा, ध्याने योग्य है। वह कैसा है? **ज्ञानघनः**=बोध-पिण्ड है; **एकः**=जो अद्वितीय है। **साध्य-साधकभावेन**=साध्य और साधक - वे दोनों, उन दोनों के भाव से; ध्येयरूप होने से, वही आत्मा साध्य है और ध्यायकरूप/ध्यान करनेवाला होने से, वही साधक है। कोई दूसरा साध्य नहीं है और कोई दूसरा साधक नहीं है; उस स्वरूप से; **द्विधा**=दो प्रकार का है।

卐 सिद्धभक्ति, पद्यांश : आचार्य पूज्यपादस्वामी।

ध्यायकरूपतया साधकः। न त्वन्यः साध्यः न त्वन्यश्च साधकः, तेन स्वरूपेण; ***द्विधा*** द्विप्रकारः ॥ १५ ॥

अथात्मनस्त्रित्वमेकत्वमाह —

अनुष्टुप् : **दर्शन-ज्ञान-चारित्रैस्त्रित्वादेकत्वतः स्वयं।**
मेचकोऽमेचकश्चापि सममात्मा प्रमाणतः ॥१६ ॥

टीका : ***आत्मा*** परमात्मा, ***समं*** युगपत्, ***मेचकः*** विचित्रस्वभावः। कुतः? ***दर्शनज्ञानचारित्रैः*** कृत्वा ***त्रित्वात्*** त्रिस्वभावत्वात्। ***अपि च अमेचकः*** विचित्र-स्वभावरहितः; कुतः? ***स्वयं*** स्वतः ***एकत्वतः*** एकस्वभावत्वात्। ननु यः एकस्वभावः सोऽनेकः कथं स्यात् एकानेकयोः परस्परं विरोधात्? इति चेन्न ***प्रमाणतः*** प्रत्यक्षपरोक्ष-प्रमाणतः, एकानेकस्वभावत्वसाधनात्। तानि पुनस्त्रीण्यपि परमार्थेन आत्मैक एव

अर्थात्, सिद्ध-दशा प्राप्त करने के इच्छुक जीव, ज्ञान के घन-पिण्ड, एक, अद्वितीय; स्वयं ध्येय होने के कारण साध्य और ध्यान करनेवाला होने से साधक - इस रूप में दो प्रकार का होने पर भी, दोनों के अभेद, एकरूप इस चैतन्यमय आत्मा की नित्य उपासना करें/इसका ही ध्यान करें।।१५।।

अब, आत्मा के त्रित्व और एकत्व का निरूपण करते हैं—

अनुष्टुप् : **दर्शन ज्ञान चारित्र से, तीन है पर एकता।**
अमेचक मेचक यही, सुप्रमाण से स्व आत्मा।।१६।।

टीकार्थ : आत्मा=परमात्मा; **समं**=युगपत्/एक साथ; **मेचकः**=विचित्र/अनेक स्वभाववाला है। वह मेचक कैसे है? **दर्शनज्ञानचारित्रैः**=दर्शन, ज्ञान, चारित्र द्वारा **त्रित्वात्**= तीन स्वभाववाला होने से, वह मेचक है। **अपि च अमेचकः**=और विचित्र-स्वभाव से रहित भी है। वह ऐसा कैसे है? **स्वयं**=स्वतः **एकत्वतः**=एक स्वभावपना होने से, वह अमेचक है।

प्रश्न : एक और अनेक के परस्पर विरोध होने से जो एक स्वभावी है, वह अनेक स्वभावी कैसे हो सकता है?

उत्तर : ऐसा नहीं है। **प्रमाणतः**=प्रत्यक्ष और परोक्ष-प्रमाण से एक-अनेक स्वभावपने की सिद्धि होने के कारण, वह एक साथ दोनों रूप है। अन्य वस्तु का अभाव होने से,

वस्त्वन्तराभावात्। देवदत्तस्य यथा श्रद्धानं, ज्ञानं, आचरणं, तत्स्वभावानतिक्रमात् तत्स्वभाव एव, न वस्त्वन्तरं; तथात्मन्यपि तत्त्रितयं तत्स्वभावानतिक्रमात् आत्मा एव, न वस्त्वन्तरं, मेचकचित्रज्ञानवद्वा एकत्वानेकत्वम्॥१६॥

अथ मेचकामेचकत्वमात्मन: पद्यद्वयेन विवृणुते—

अनुष्टुप् : **दर्शन-ज्ञान-चारित्रैस्त्रिभि: परिणतत्वत:।**
एकोऽपि त्रिस्वभावत्वाद् व्यवहारेण मेचक:॥ १७॥
परमार्थेन तु व्यक्त-ज्ञातृत्व-ज्योतिषैकक:।
सर्व-भावान्तर-ध्वंसि-स्वभावत्वा-दमेचक:॥ १८॥

टीका : आत्मा, ***एकोऽपि*** चैतन्यैकस्वभावेनाद्वितीय:। ***व्यवहारेण*** व्यवहारदशायां, ***मेचक:*** नानास्वभाव:; ***त्रिस्वभावत्वात्*** त्रय: दर्शनादिलक्षणा:, स्वभावा यस्य तस्य

वास्तव में वे तीनों ही एक आत्मा में हैं। जैसे देवदत्त के श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र, उसके स्वभाव का उल्लंघन नहीं करने के कारण, उसके स्वभाव ही हैं; अन्य वस्तु नहीं हैं; उसी प्रकार आत्मा में भी वे तीनों उसके स्वभाव का उल्लंघन नहीं करने के कारण, आत्मा ही हैं; अन्य वस्तु नहीं हैं। अथवा मेचक चित्र ज्ञानवाला होने से भी उसमें एकत्व-अनेकत्व है। (ज्ञान, अनेक ज्ञेयों को जानता हुआ, उनके आकार जैसा (ज्ञेयाकार के समान ज्ञानाकार) दिखायी देता है; अत: मेचक है और सभी को जानते हुए भी, मात्र ज्ञानरूप ही रहता है; ज्ञेयोंरूप नहीं हो जाता है; अत: अमेचक है। इन दोनों रूप, एक साथ ही प्रतीत होता है)।।१६।।

अब, आत्मा की मेचकता और अमेचकता का दो पद्यों द्वारा विवेचन करते हैं—

अनुष्टुप् : **दर्शन ज्ञान चारित्रमय, तीन से परिणमित है।**
एक भी पर त्रिस्वभावी, सुमेचक व्यवहार से।।१७।।
वास्तव में व्यक्त ज्योति, ज्ञातृता से एक ही।
सभी भावों से पृथक् है अमेचक स्व भाव ही।।१८।।

टीकार्थ : आत्मा; **एकोऽपि**=चैतन्यमय एक स्वभाव से अद्वितीय है। **व्यवहारेण**= व्यवहार-दशा में; **मेचक:**=अनेक स्वभाववाला है। **त्रिस्वभावत्वात्**=दर्शन आदि लक्षणवाला तीन प्रकार का स्वभाव है जिसका, उसका भाव, तत्त्व, उससे त्रिस्वभावत्व है। क्या करके/

भावस्तत्त्वं तस्मात् त्रिस्वभावत्वं। किं कृत्वा? ***त्रिभिः*** त्रिसंख्याकैः; ***दर्शनज्ञानचारित्रैः*** आत्मश्रद्धानावबोधानुचरणैः ॥ १७ ॥

तु पुनः आत्मा, ***एककः*** एक इति संज्ञा यस्य सः, संज्ञायां कप्रत्ययविधानात्। अथवा एक एव, एककः; ***परमार्थेन*** द्रव्यादेशतया, ***अमेचकः*** अखण्डैकस्वभावः। केन? ***व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिषा*** व्यक्तं स्पष्टं, तच्च तज्ज्ञातृत्वं बोधकत्वं तदेव ज्योतिर्महस्तेन कृत्वा। कुतः? ***सर्वभावान्तरध्वंसिस्वभावत्वात्*** सर्वे च ते भावान्तराश्च अन्यपदार्था, तान् ध्वंसयति विनाशयति ततो विविक्तो भवतीत्येवं शीलः स्वभावो यस्य स, तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् ॥१८ ॥

कैसे ऐसा है? **त्रिभिः**=तीन संख्या द्वारा; **दर्शनज्ञानचारित्रैः**=आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान और अनुचरण से ऐसा है।

तु=और आत्मा, **एककः**=एक - ऐसी है संज्ञा जिसकी, वह; 'संज्ञा/नाम' अर्थ में 'क' प्रत्यय का विधान होने से; अथवा एक ही, एकक है। **परमार्थेन**=द्रव्यार्थिक-नय की अपेक्षा; **अमेचकः**=अखण्ड एक स्वभावी है। वह ऐसा कैसे है? **व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिषा**= व्यक्त=स्पष्ट, वह और ज्ञातृता, बोधकता/जाननापना, वही है ज्योति, तेज, उसके द्वारा है। वह ज्योति ऐसी कैसे है? **सर्वभावान्तरध्वंसिस्वभावत्वात्**=सभी और वे भावान्तर, अन्य पदार्थ, उन्हें ध्वंस, विनष्ट करती है, उनसे विविक्त/पृथक् होती है - ऐसा है शील, स्वभाव जिसका वह, उसका भाव, तत्त्व है, उससे ऐसी है।

अर्थात्, चैतन्यमय एक अद्वितीय स्वभावी होने पर भी, आत्मा व्यवहार-दशा में अपने श्रद्धान, ज्ञान, अनुचरणरूप से तीन संख्या द्वारा दर्शन आदि तीन स्वभावी होने के कारण, मेचक/अनेक स्वभाववाला है।

एक है नाम जिसका, वह एक ही आत्मा, परमार्थ से/द्रव्यार्थिक-नय की अपेक्षा, व्यक्त ज्ञान ज्योति/स्व-पर प्रकाशक तेज द्वारा सभी पर-पदार्थों से पूर्णतया पृथक् होने के कारण, अमेचक/अखण्ड एक स्वभावी है।

इस प्रकार प्रमाण की अपेक्षा एक साथ मेचक-अमेचक स्वभावी आत्मा ही व्यवहार से मेचक और परमार्थ से अमेचकरूप में ज्ञात होता है।। १७-१८।।

अथात्मनः साध्यं प्रतिफलते—

अनुष्टुप् : **आत्मनश्चिन्त-यैवालं मेचकामेचकत्वयोः।**
दर्शन-ज्ञान-चारित्रैः साध्यसिद्धिर्न चान्यथा॥१९॥

टीका : ***आत्मनः*** चिद्रूपस्य; **मेचकामेचकत्वयोः** एकत्वानेकत्वयोः शुद्धत्वा-शुद्धत्वयोर्वा; ***चिन्तयैव*** चिन्तनेनैव, विचारणेनेत्यर्थः; ***अलं*** पूर्यतां, तद्विचारणे न किमपीत्यर्थः। तर्हि कुतः साध्यसिद्धिः ? ***दर्शनज्ञानचारित्रैः*** आत्मश्रद्धानावबोधानुचरणैः साध्यो मोक्षो भव्यात्मनां मुक्तेरेव साध्यत्वात् तस्य सिद्धिदर्शनज्ञानचारित्रैर्भवतीत्याध्याहार्यम्। ***अन्यथा*** तत् श्रद्धानादिमन्तरेण साध्यसिद्धिः ***न च*** नैव रसाङ्गवत्; यथा उपास्यमानो रसाङ्गस्तद्गुण-श्रद्धानतत्सेवनानुचरणविधानतो रोगो वनीवच्यते नान्यथा तथात्मनो दर्शनादिकम्॥१९॥

अब, आत्मा के साध्य को प्रतिफलित करते हैं/आत्मा की सिद्धि का उपाय बताते हैं—

अनुष्टुप् : **मेचकामेचकी भावी आत्मचिन्तन बस करो।**
दर्शन ज्ञान चारित्र से साध्यसिद्धि न अन्य हो।।१९।।

टीकार्थ : आत्मनः=चिद्रूप आत्मा का; **मेचकामेचकत्वयोः**=एकत्व, अनेकत्व रूप अथवा शुद्धत्व, अशुद्धत्वरूप; **चिन्त्यैव**=चिन्तन से ही, विचार करने से ही – ऐसा अर्थ है; **अलं**=बस हो, उस विचार से कुछ भी (लाभ) नहीं है – ऐसा अर्थ है। तब फिर साध्य की सिद्धि किससे होती है? **दर्शनज्ञानचारित्रैः**=आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान और अनुचरण से साध्य, मोक्ष की सिद्धि होती है; भव्य जीवों का साध्य, मुक्ति ही होने के कारण, उसकी सिद्धि दर्शन, ज्ञान, चारित्र से होती है – ऐसा अध्याहार्य/गर्भित अर्थ है। **अन्यथा**=उन श्रद्धानादि के विना साध्य की सिद्धि **न च**=नहीं है, नहीं है; रसांग के समान।

जैसे, उपासित/उपयोग में लाया जाता रसांग, उसके गुणों के श्रद्धान व अनुचरण पूर्वक उसका सेवन, रोग को समाप्त करता है; ऐसा नहीं करने पर, वह उसे समाप्त करने में समर्थ नहीं है; उसी प्रकार आत्मा के दर्शन आदि से मोक्ष प्राप्त हो जाता है; ऐसा नहीं करने पर वह प्रगट नहीं होता है; अत: मोक्ष के इच्छुक जीवों को आत्मा का श्रद्धान, ज्ञान और अनुचरण करना चाहिए।।१९।।

अथात्मनस्त्रित्वैकत्वाभ्यामभिन्नत्वेन सर्वमुपपनीपद्यते—

मालिनी : **कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकतायाः,**
अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छम्।
सततमनुभवामोऽनन्तचैतन्यचिह्नं,
न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः ॥२०॥

टीका : ***अनुभवामः*** अनुभवविषयीं कुर्मः; किं तत्? ***इदं*** संवेद्यमानं सुखादिभिः; ***आत्मज्योतिः*** परं महः; कियन्तं कालं? ***सततं*** निरन्तरं; किम्भूतं तत्? ***कथमपि*** केनचित्प्रकारेण–रत्नत्रयात्मलक्षणेन; ***समुपात्तत्रित्वमपि*** सं सम्यक्, उपात्तं गृहीतं, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूपेण त्रित्वं त्रयात्मकत्वं येन तत्, ईदृशमपि ***एकतायाः*** चैतन्यैक-स्वभावायाः सकाशात्; ***अपतितं*** अभिन्नं, आत्मनस्त्रित्वैकत्वसमर्थनात्। पुनः किं भूतं? ***उद्गच्छत्*** ऊर्ध्वगमनस्वभावं, उद् ऊर्ध्वं–अग्रेऽग्रे गच्छति जानातीति उद्गच्छत् विशुद्धकर्म-

---

अब, आत्मा के त्रित्व, एकत्व के साथ अभिन्नता के कारण, सभी में साध्य की सिद्धि हो जाती है; ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

मालिनी : **त्रयमय होकर भी एकता नित अखण्डित,**
निर्मल अविनाशी ऊर्ध्वता चेतनामय।
लक्षणयुत आतम ज्योति वेदें सदा ही,
क्योंकि सिद्धि न साध्य की अन्यरूप।।२०।।

टीकार्थ : अनुभवामः=अनुभव का विषय करते हैं/अनुभव करते हैं। वह क्या/कौन है? **इदं**=सुखादि के द्वारा संवेद्यमान यह; **कथमपि**=किसी प्रकार से, रत्नत्रय-स्वरूप लक्षण द्वारा; **समुपात्तत्रित्वमपि**=सं=सम्यक्, उपात्त=गृहीत, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप से त्रित्व, त्रयात्मकता जिसके द्वारा भली-भाँति ग्रहण की गयी है, वह; और इसी प्रकार **एकतायाः**=चैतन्यमय एक स्वभाव से एकता के साथ; **अपतितं**=अभिन्न, आत्मा के तीनपने और एकपने का समर्थन होने से। वह और कैसा है? **उद्गच्छत्**=ऊर्ध्व-गमन-स्वभाव, उद्=ऊर्ध्व=आगे-आगे, जाता है/जानता है, पूर्णतया कर्मों का क्षय हो जाने या विशिष्ट शुद्धि का निमित्त पा कर्मों का क्षय हो जाने के बाद, ऊर्ध्व-गमन-स्वभाव होने के कारण और विशुद्धि-विशेष के कारण, आगे ज्ञान की प्रचुरता होने से।

क्षयादनन्तरं, ऊर्ध्वगमनस्वभावत्वात् विशुद्धिविशेषादग्रे ज्ञानस्य प्राचुर्य्याच्च। पुनः किं भूतं? ***अच्छं*** निर्मलं कर्मकर्दमरहितत्वात्; ***अनन्तचैतन्यचिह्नं*** अनन्तं विनाशरहितं, चैतन्यं चेतनस्वभावः, तदेव चिह्नं लक्ष्म यस्य, तत्। कुत एतत् अनुभवामः? ***यस्मात्*** यतः कारणात् ***अन्यथा*** आत्मानुभवमन्तरेण; ***साध्यसिद्धिः*** साध्यस्य चिद्रूपलक्षणस्य सिद्धिः प्राप्तिः; ***न खलु न खलु*** निश्चयेन नैव भवतीत्यर्थः। वीप्सार्थोऽयमतिशयेन निषेधकः। अधिकवचनं च किञ्चिदभीष्टं ज्ञापयत्याचार्यस्तथोपपत्त्यान्यथानुपपत्त्या चात्मनः साध्य-सिद्धिर्नान्यथा। आत्मानुभवनेनैव मुक्तिप्राप्तिरिति तथोपपत्तिः, तदनुभवनमन्तरेण कदाचित्क्वचिदपि कस्यचित् न तत्सिद्धिरित्यन्यथानुपपत्तिः ॥२०॥

वह और कैसा है? **अच्छं**=कर्मरूपी कीचड़ से रहित होने के कारण, निर्मल है। **अनन्तचैतन्यचिह्नं**=अनन्त=विनाश-रहित, चैतन्य=चेतन-स्वभाव, वही है चिह्न, लक्षण जिसका, वह। इसका ही अनुभव क्यों करते हैं? **यस्मात्**=क्योंकि **अन्यथा**=आत्मानुभव के विना; **साध्यसिद्धिः**=चिद्रूप लक्षणमय साध्य की सिद्धि=प्राप्ति; **न खलु न खलु**=वास्तव में नहीं होती है - ऐसा अर्थ है; वीप्सा/दो बार प्रयोग, यह अत्यधिक निषेध करनेवाले के अर्थ में है। 'अधिक' वचन द्वारा आचार्य 'इस तथोपपत्ति और अन्यथा अनुपपत्ति से ही आत्मा के साध्य की सिद्धि है; अन्य प्रकार से नहीं'—यह कुछ अभीष्ट बता रहे हैं। आत्मानुभव से ही मुक्ति की प्राप्ति है - यह तथोपपत्ति और उसके अनुभव के विना कभी भी, कहीं भी, किसी को भी उसकी सिद्धि नहीं होती है - यह अन्यथा अनुपपत्ति है।

अर्थात्, आत्मानुभव से ही साध्य की सिद्धि/मोक्ष की प्राप्ति होती है; इस आत्मानुभव के विना कभी भी, कहीं भी, किसी को भी साध्य की सिद्धि नहीं होती है, नहीं होती है - ऐसा तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्तिरूप नियम होने के कारण, हम सदा सुखादि द्वारा संवेदन में आनेवाले इस आत्म-तेज का ही अनुभव करते हैं। यह आत्म-तेज, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की अपेक्षा, त्रयात्मक दिखने पर भी चैतन्यमय एक स्वभाव की अपेक्षा एकत्व होने से, अभिन्न है; अत्यन्त विशुद्धि के कारण, ज्ञान की प्रचुरतामय/ज्ञान का घन-पिण्ड है; कर्मरूपी कीचड़ से रहित होने के कारण, निर्मल है; अविनाशी चेतना से पहिचाना जाता है। (सुखी होने के लिए, सदा इसका ही अनुभव करना चाहिए)।।२०।।

अब, उस आत्मानुभव की प्राप्ति की स्तुति करते हैं—

अथ तल्लाभलम्भनं स्तौति—

मालिनी : **कथमपि हि लभन्ते भेदविज्ञानमूला-**
मचलितमनुभूतिं ये स्वतो वान्यतो वा।
प्रतिफलननिमग्नाऽनन्तभावस्वभावै-
र्मुकुर-वदविकारा सन्ततं स्युस्त एव॥ २१ ॥

टीका : ***ही*** ति स्फुटं; ***लभन्ते*** प्राप्नुवन्ति; ***ये*** भव्याः; कां? ***अनुभूतिं*** आत्मानुभवनं आत्ममाहात्म्यं वा। कथं? ***अचलितं*** निश्चलं यथा भवति तथा। कथं लभन्ते? ***कथमपि*** महता कष्टेन, भवाब्धौ स्वरूपप्राप्तेर्दुष्प्राप्यत्वात्। कुतः प्राप्तिः? ***स्वतो वा*** स्वयमेव, अभ्यन्तरात्कर्मलाघवत्वलक्षणात्कारणात्, जातिस्मरण-देवागम-दर्शन-विद्युदभ्रपरशरीरादि-विघटनदर्शनाद्वा, अनित्याद्यनुप्रेक्षाचिन्तनादात्मस्वरूपप्राप्तिः 'णमो सयं बुद्धाणं', इत्यागम-वचनात्। ***वा*** अथवा; ***अन्यतः*** गुरूपदेशादेः।

मालिनी : **कैसे भी करके स्वयं या दूसरों से,**
प्रेरित हो पाते भेदविज्ञान मूलक।
अचलित अनुभूति वे सदा निर्विकारी,
झलकते सब भावों से पृथक् नित मुकुरवत्।।२१।।

टीकार्थ : हि=ऐसा स्पष्ट; **लभन्ते**=प्राप्त करते हैं; **ये**=जो भव्य; वे किसे प्राप्त करते हैं? **अनुभूतिं**=आत्मानुभव अथवा आत्मा की महिमा को प्राप्त करते हैं। वे कैसी अनुभूति प्राप्त करते हैं? **अचलितं**=निश्चल जैसे होती है, उस प्रकार की/शाश्वत अनुभूति प्राप्त करते हैं। उसे वे कैसे प्राप्त करते हैं? **कथमपि**=महा-कष्ट से, संसार-सागर में स्वरूप की प्राप्ति दुष्प्राप्य/कठिनाई से प्राप्त होने के कारण। उसकी प्राप्ति किस प्रकार होती है? **स्वतो वा**=स्वयं ही, कर्म-लाघवत्व लक्षणमय अन्तरङ्ग कारण से/कर्मों की क्षीणता आदि होने से; अथवा जाति-स्मरण, देवों का आगमन देखना, बिजली गिरना, बादलों का विघटित होना, दूसरे के शरीर आदि का विलय देखने से, अनित्य आदि अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन से आत्म-स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है; *'स्वयं बुद्धों के लिए नमस्कार है'* - ऐसा आगम वचन होने से। **वा**=अथवा **अन्यतः**=गुरु के उपदेश से।

वह अनुभूति कैसी है? **भेदविज्ञानमूलां**=आत्मा और शरीर का भेद, उनकी

किं भूतां तां? ***भेदविज्ञानमूलां*** आत्मशरीरयोर्भेद: भिन्नत्वं, तस्य वि-विशिष्टं यथोक्तं ज्ञानमुपलब्धि:, तदेव मूलकारणं यस्या: सा तां; ***त एव*** ये अनुभूतिभावकास्ते एव भव्या नान्ये; ***स्यु:*** भवन्ति। ***सन्ततं*** निरन्तरं; ***अविकारा:*** मानसभावादिविकृतिरूप-विकाररहिता:, ***''विकारो मानसो भाव:''***इत्यमर:। कै:? ***प्रतिफलननिमग्नाऽनन्त-भावस्वभावै:*** प्रतिफलनं प्रतिबिम्बं, आत्मनि प्रतिभासत्वमित्यर्थ:, तेन निमग्ना आत्मान्तर्गता, प्रतिभासत्व-धर्मेणात्मान्तर्गतत्वं, न तु तदुत्पत्ति-तादात्म्य-तदध्यवसायत्वेन, ते च ते भावाश्च, तेषां स्वभावा: जीर्णनूतनागुरुलघुत्वादिलक्षणास्तै:। किम्वत्? ***मुकुरवत्*** यथा मूर्तस्य मुकुरस्य स्वपराकारावच्छेदिका स्वच्छतैव बहिरूष्मणस्तत्र प्रतिभाता ज्वाला औष्ण्यं च तथा नीरूपस्यात्मन: स्वपराकारावच्छेत्री ज्ञातृतैव पुद्गलानां कर्मनोकर्मेन्द्रियादीनां च॥ २१॥

भिन्नता, उसके वि=विशिष्ट, जैसा कहा गया है, उस प्रकार के ज्ञान की उपलब्धि/प्राप्ति, वही है मूल कारण जिसका, वह उस; **त एव**=जो अनुभूतिमय परिणमित हैं, वे ही भव्य हैं और दूसरे नहीं; **स्यु**:=हैं। **संततं**=निरन्तर; **अविकारा**:=मन में होनेवाले भावादि विकृतिरूप विकार से रहित, 'विकार मानसिक-भाव हैं' - ऐसा अमर-कोश का कथन है। वे किनसे अविकारी हैं? **प्रतिफलननिमग्नाऽनन्तभावस्वभावै**:=प्रतिफलन, प्रतिबिम्ब, आत्मा में प्रतिभासपना - ऐसा अर्थ है, उससे निमग्न, आत्मा के अन्तर्गत/अन्दर; प्रतिभासत्व धर्म के कारण, उनका आत्मा के अन्तर्गतपना है; तदुत्पत्ति, तादात्म्य, तदध्यवसाय की अपेक्षा, आत्मान्तर्गतपना नहीं है; वे और वे भाव; उनका पुराना, नया, अगुरुलघुत्व आदि लक्षणमय स्वभाव, उससे अविकारी हैं।

वे किसके समान अविकारी हैं? **मुकुरवत्**=दर्पण के समान; जैसे मूर्त दर्पण की अपने और पराये आकारों को झलकानेवाली स्वच्छता/निर्मलता ही है; उसके बाह्य तेज में ज्वाला और उष्णता झलकती रहती है; उसी प्रकार अरूपी आत्मा की स्व-पर के स्वभाव को जाननेवाली ज्ञातृता ही है और वह पुद्गलों को; कर्म, नोकर्म, इन्द्रिय आदि को जानती है।

अर्थात्, जो स्वयं ही कर्मों की क्षीणता आदि होनेरूप अन्तरङ्ग कारण से; जाति-स्मरण, देवों के आगमन, बिजली गिरने, बादलों के विघटित होने, दूसरों के देह आदि के विलय को देखकर; अनित्य आदि अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन आदि कारणोंरूप स्वयं से अथवा

अथ मोहादीनस्यति—

मालिनी :

त्यजतु जग-दिदानीं मोह-माजन्मलीढं,
रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञान-मुद्यत्।
इह कथमपि नात्माऽनात्मना साकमेकः,
किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिम्॥ २२॥

गुरु के उपदेश आदि अन्य कारणों से, किसी भी प्रकार, आत्मा और शरीर की भिन्नतापरक भेद-विज्ञान-मूलक, निश्चल आत्मानुभूति या आत्मा की महिमा/आत्मानुभव प्राप्त कर लेते हैं, वे आत्मानुभवी भव्य जीव ही दर्पण के समान, आत्मा में प्रतिबिम्बित, पुरानी, नवीन, अगुरुलघुत्व आदि पर्यायों सहित अनन्त पदार्थों से प्रभावित नहीं होते हैं; सदा निर्विकारी ही रहते हैं।

इस संसार-सागर में स्वरूप की प्राप्ति कठिनता से प्राप्त होने के कारण, किसी भी प्रकार/महा-कष्ट से भी आत्मानुभव करने का यहाँ निरूपण है।

कुछ लोग (बौद्ध लोग) ऐसा मानते हैं कि ज्ञान, ज्ञेयों से उत्पन्न होता है/तदुत्पत्ति; उन रूप होता है/तादात्म्य, तब उन ज्ञेयों को जानता है/तदध्यवसाय। यहाँ इसका निषेध करते हुए बताया है कि जैसे मूर्त दर्पण में स्व-पर को झलकानेवाली स्वच्छता स्वयं ही है, उस कारण ही उसमें अग्नि आदि बाह्य पदार्थ भी झलक जाते हैं; उसी प्रकार अरूपी आत्मा में स्व-पर को जाननेवाली ज्ञातृता स्वयं ही है, इस कारण वह पुद्गलों को; कर्म, नोकर्म, इन्द्रिय आदि को जान लेता है। उन्हें जानने के लिए, इस आत्मा के उन्हें जाननेवाले ज्ञान को, उन पुद्गल आदि से उत्पन्न होने की आवश्यकता नहीं है। आत्मा, स्वयं ज्ञान-स्वभावी होने से, सभी को जान लेता है, सभी पदार्थ उसमें प्रतिबिम्बित होते रहते हैं और भेद-विज्ञान के बल पर, अनुभव-सम्पन्न आत्मा, उनसे पूर्णतया अप्रभावित, अविकारी रहता है। यह सब इस भेद-विज्ञान-मूलक आत्मानुभूति की ही महिमा है।।२१।।

अब, मोहादि नष्ट करने की प्रेरणा देते हैं—

मालिनी :

जग में यह आतम शरीरादि सभी से,
किसी भी तरह से हो न तादात्म्यरूप।
अत: अब अनादि से लगा मोह छोड़ो,
रसिकों को रुचिकर अनुभवो व्यक्त ज्ञान।।२२।।

टीका : ***इदानीं*** आत्मस्वरूपप्रकाशनध्यानकाले; ***जगत्*** विष्टपं; ***मोहं*** ममेदं अहं अस्य, आसीन्मम पूर्वमिदं अहमेतस्यासं भविष्यति पुनर्ममैतत्, एतस्याहमपि भविष्यामि, इत्यादिरूपं मोहं; ***त्यजतु*** जहातु; किम्भूतं ? ***आजन्मलीढं*** आसंसारात्प्रवृत्तम्। ***ज्ञानं*** भेद-विज्ञानं, ***रसयतु*** आस्वादयतु ध्यानविषयीकरोत्वित्यर्थः। किम्भूतं तत् ज्ञानं ? ***रसिकानां*** शुद्धचिद्रूपरसास्वादकानां; ***रोचनं*** रुचिकरं; ***उद्यत्*** उदयं गच्छत्। ***इह*** जगति; ***क्वापि काले*** कस्मिंश्चित्समये, क्षयोपशमविशुद्ध्यादिलब्धिपञ्चकसामग्रीसद्भावसमये। ***किल*** इति निश्चितं ***एकः आत्मा*** जीवः; ***अनात्मना*** परद्रव्येण शरीरादिना ***साकं*** सह ***तादात्म्यवृत्तिं*** एकत्ववृत्तिं; ***न कलयति*** नाङ्गीकरोति तन्मयो न भवतीत्यर्थः; ***कथमपि*** केनचित् प्रकारेणापि॥ २२॥

टीकार्थ : इदानीं=आत्मा के स्वरूप को प्रकाशित करनेवाले ध्यान के समय; **जगत्**=जगत में रहनेवाले जीवो! **मोहं**=यह मेरा है, मैं इसका हूँ, यह मेरा पहले था, मैं इसका पहले था, यह मेरा पुनः होगा, मैं भी इसका होऊँगा इत्यादिरूप मोह को; **त्यजतु**= छोड़ दो। वह मोह कैसा है? **आजन्मलीढ़ं**=वह अनादि-कालीन संसार से चला आ रहा है। **ज्ञानं**=भेद-विज्ञान का; **रसयतु**=आस्वाद लो, ध्यान का विषय करो - ऐसा अर्थ है। वह ज्ञान कैसा है? **रसिकानां**=शुद्ध चिद्रूप-रस के आस्वादकों को; **रोचनं**=रुचिकर; **उद्यत्**=उदय को प्राप्त/प्रगट हुआ है। **इह**=इस जगत में; **क्वापि काले**=किसी भी काल में, क्षयोपशम, विशुद्धि आदि पाँच लब्धिओंरूप सामग्री के सद्भाव के समय में। **किल**=ऐसा यह निश्चित अर्थ का सूचक अव्यय है; **एकः आत्मा**=एक जीव; **अनात्मना**=शरीर आदि पर-द्रव्यों के; **साकं**=साथ; **तादात्म्यवृत्तिं**=एकत्ववृत्ति को; **न कलयति**=अङ्गीकार नहीं करता है, तन्मय नहीं होता है - ऐसा अर्थ है; **कथमपि**=किसी भी प्रकार से।

अर्थात्, यह एक आत्मा, इस जगत में किसी भी प्रकार से शरीर आदि पर-पदार्थों के साथ, वास्तव में एकत्व-वृत्ति को अंगीकार नहीं करता है/एकमेक/एकरूप नहीं होता है; अतः जगतवासी हे जीवो! आत्मा के स्वरूप को प्रकाशित करनेवाले ध्यान के समय, अब तो 'यह पर-पदार्थ मेरा है, मैं इसका हूँ, यह पहले मेरा था, मैं इसका पहले था, यह आगे मेरा होगा, मैं भी आगे इसका होऊँगा' इत्यादि प्रकार का, अनादि-काल से चला आया, मोह छोड़ दो और इस लोक में क्षयोपशम, विशुद्धि आदि पाँच लब्धिओंरूप

अथ मोहहापनार्थं देहहापनं ख्यापयति—

मालिनी : **अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्,**
अनुभव भवमूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्।
पृथगथ विलसन्तं स्वं समालोक्य येन,
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम्॥२३॥

टीका : ***अयि*** इति कोमलालापेऽव्ययं; ***तत्त्वकौतूहली*** तत्त्वं परात्म-लक्षणं, तस्यावलोकने कौतूहली; ***सन्*** भवन् हे मित्रेत्यध्याहार्यम्। ***कथमपि*** केनचित् प्रकारेण मायादिप्रकारेण; ***मृत्वा*** च्युत्वा, साक्षान्मरणे तदनन्तरं तत्क्षणे साक्षात्तत्त्वावलोकनाभावात्। ***मुहूर्तं*** द्विनालिकापर्यतं; ***मूर्तेः*** शरीरस्य ***पार्श्ववर्ती*** नैकट्यवर्ती; ***भव*** तच्छरीरस्वभावाव-

---

सामग्री के सद्भाव में प्रगट होनेवाले, शुद्ध चिद्रूप-रस का आस्वाद लेनेवाले रसिक-जनों के लिए रुचिकर, इस पृथक् ज्ञान का/ज्ञान-स्वभावी आत्मा का आस्वाद लो, ध्यान करो!।।२२।।

अब, मोह का त्याग करने के लिए, देह के प्रति मोह के त्याग को प्रसिद्ध करते हैं—

मालिनी : **भविजन! जैसे भी हो करो आत्म अनुभव,**
पड़ोसी हो तन का तत्त्व कौतूहली बन।
पृथक् पर से विलसित आत्म अवलोक क्षणभर,
तब तन से छूटे शीघ्र एकत्व मोह।।२३।।

टीकार्थ : अयि=यह 'कोमल सम्बोधन' के अर्थ में उपयोग किया जानेवाला अव्यय है। **तत्त्वकौतूहली**=परमात्म-लक्षण तत्त्व, उसके अवलोकन में कौतूहली; **सन्**=होकर; 'हे मित्र!' यह यहाँ अध्याहार्य है। **कथमपि**=किसी भी प्रकार से, माया आदि प्रकार से/छल आदि पूर्वक भी; **मृत्वा**=छूटकर, क्योंकि साक्षात् मरण हो जाने पर, उसके बाद उस समय तत्त्व का साक्षात् अवलोकन सम्भव नहीं है; अत: 'मरकर' का भाव 'छूटकर/पर-पदार्थों से दृष्टि हटाकर' समझना चाहिए। **मुहूर्तं**=दो नालिका/४८ मिनिट पर्यन्त; **मूर्तेः**=शरीर का; **पार्श्ववर्ती**=निकटवर्ती/पड़ोसी; **भव**=हो जाओ, उस शरीर के स्वभाव का अवलोकन करने के लिए।

लोकनार्थम्। अथ मृत्वा पार्श्ववर्तिभवनानन्तरं; ***स्वं*** परमात्मानं; ***अनुभव*** अनुभवगोचरी कुरु स्वध्यानविषयं कुर्वित्यर्थः। किं कृत्वा? ***समालोक्य*** दृष्ट्वा ***पृथग्*** भिन्नं, ***विलसन्तं*** स्वस्वरूपे विलासं कुर्वन्तं आत्मव्यतिरिक्ताचेतनादिशरीरावस्थाज्ञानादि-परिणतात्मा-वस्थामवलोक्य स्वस्वरूपे स्थिरी-भवत्वित्यर्थः। ***येन*** पृथक् स्वानुभवनेन; ***मूर्त्या*** शरीरेण; ***साकं*** सह ***एकत्वमोहं*** 'ममेदं शरीरं, शरीरस्याहमित्येकत्वलक्षणं मोहं; ***त्यजसि*** जहासि ***झगिति*** तत्कालं विलम्बमन्तरेणेत्यर्थः ॥२३॥

मरकर पार्श्ववर्ती होने के बाद, अब **स्वं**=अपने परमात्मा को; **अनुभव**=अनुभव-गोचर करो, अपने ध्यान का विषय करो – ऐसा अर्थ है। क्या करके यह करें? **समालोक्य**= देखकर; **पृथग्**=भिन्न; **विलसन्तं**=अपने स्वरूप में विलास करते हुए, आत्मा से भिन्न अचेतन आदि शरीर की अवस्था के प्रति अज्ञानादिरूप से परिणमित, आत्मा की अपनी अवस्था को देखकर, अपने स्वरूप में स्थिर हो – ऐसा अर्थ है। **येन**=जिससे, स्वानुभव से पृथक्; **मूर्त्या**=शरीर के; **साकं**=साथ; **एकत्वमोहं**='यह शरीर मेरा है, मैं शरीर का हूँ' – ऐसे एकत्व लक्षण मोह को; **त्यजसि**=छोड़ देते हो; **झगिति**=तत्काल, विलम्ब किए विना ही – ऐसा अर्थ है।

अर्थात्, हे भव्य! अपने परमात्मारूपी तत्त्व के अवलोकन-हेतु, कैसे भी/पर-पदार्थों से उपयोग हटाने के लिए यदि छल आदि भी करना पड़े तो करके, अड़तालीस मिनिट पर्यन्त इस शरीर के स्वभाव का अवलोकन करने-हेतु, पड़ोसी हो जाओ और स्वयं से पृथक् इस अचेतन शरीर को अज्ञानादि के कारण, अपना मानने आदिरूप दशाओं के फल का विचार कर, अपने स्वरूप में विलास करते हुए, अपने परमात्मा का अनुभव करो; जिससे स्वानुभव द्वारा, इस पृथक् शरीर के साथ – 'यह शरीर मेरा है, मैं शरीर का हूँ' इत्यादिरूप में एकत्व-बुद्धि आदिरूप मोह तत्काल समाप्त हो जाता है।

यद्यपि कलश में 'मृत्वा/मरकर' भी यह कार्य करने की प्रेरणा दी है; तथापि यहाँ इसका भाव 'अनन्त पुरुषार्थ पूर्वक' समझना चाहिए; क्योंकि मरने/देह-विलय के तत्काल बाद तो यह कार्य कर पाना सम्भव ही नहीं है तथा बुद्धि पूर्वक मरना तो आत्म-हत्या नामक बड़ा पाप है; 'आत्म-घाती, महा-पापी' – यह लोकोक्ति सर्व प्रसिद्ध है; अतः 'मरकर' का भाव, यहाँ सभी प्रकार के प्रयत्न कर, अपने उपयोग को पर-पदार्थों से हटा लेना ही समझना चाहिए।।२३।।

ननु शरीरमेवात्मा, तद्व्यतिरिक्तस्य कस्यचिदात्मनोऽनुपलभ्यमानत्वात्; अन्यथा महामुनीनां तीर्थकरशरीराद्यतिशयवर्णनानुपपत्तिः, इति युक्तिमुद्भाव्य भिन्नात्मवादिनं योगिनं प्रति कश्चिदप्रतिबुद्धः शिष्यः इति पद्यमुत्प्लवते—

शार्दूलविक्रीडित : **कान्त्यैव स्नपयन्ति ये दश दिशो धाम्ना निरुन्धन्ति ये,**
धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णन्ति रूपेण ये।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरन्तोऽमृतं,
वन्द्यास्तेऽष्टसहस्त्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः ॥२४॥

टीका : *ते* प्रसिद्धाः, ***तीर्थेश्वराः सूरयः*** नाभेयादयस्तीर्थेश्वराः श्रुतज्ञानलक्षण-तीर्थनायकाः; ***वन्द्याः*** नमस्करणीयाः। ***ये*** भगवन्तः; ***कान्त्यैव*** द्युत्या एव केवलं; ***दश दिशः*** ककुभः; ***स्नपयन्ति*** प्रक्षालयन्ति, स्वकान्त्यैव समस्ता दिशः प्रकटयन्तीत्यर्थः। ***ये*** जिनाः; ***निरुन्धन्ति*** निवारयन्ति स्वल्पी कुर्वन्तीत्यर्थः। किं तत्? ***धाम*** तेजः। केषां?

अब, यहाँ कोई शंका करता है कि शरीर ही आत्मा है; क्योंकि उससे भिन्न कोई आत्मा प्राप्त नहीं होता है। यदि ऐसा नहीं माना जाए तो महामुनिओं के, तीर्थंकरों के शरीर आदि सम्बन्धी अतिशयों का वर्णन सिद्ध नहीं हो सकेगा। इस प्रकार की युक्ति को कहनेवाले, भिन्न आत्मवादी योगिओं के प्रति/की ओर से कोई अप्रतिबुद्ध शिष्य ऐसा/यह पद्य प्रस्तुत करता है—

शार्दूलविक्रीडित: **कान्ति द्वारा व्याप्त जो दशदिशा स्वतेज से रोकते,**
अति तेजस्वी तेज जो जनमनों को खीचते रूप से।
दिव्यध्वनि से श्रवण में सुख सुधा डालें सदा धर्म की,
वन्दन योग्य हजार आठ लक्षण युत तीर्थकर सूरि भी।।२४।।

टीकार्थ : ते=वे प्रसिद्ध **तीर्थेश्वराः सूरयः**=ऋषभदेव आदि तीर्थेश्वर/तीर्थंकर, श्रुत-ज्ञान-सम्पन्न तीर्थ-नायक/आचार्य; **वन्द्याः**=नमस्कार के योग्य हैं। **ये**=जो भगवान; **कांत्यैव**=द्युति/मात्र तेज से ही; **दश दिशः**=दशों दिशाओं को; **स्नपयन्ति**=प्रक्षालित करते हैं; अपनी कान्ति से ही सभी दिशाओं को प्रगट करते हैं - ऐसा अर्थ है। **ये**=जो जिन; **निरुन्धन्ति**=रोकते हैं, स्वल्प/तुच्छ करते हैं - ऐसा अर्थ है। ऐसा क्या करते हैं? **धाम**= तेज; किनका तेज रोकते हैं? **उद्दाम-महस्विनां**=स्वर्ण, रत्न, मुक्ताफल, नक्षत्र, विमान,

उद्दाममहस्विनां मर्यादीभूततेजस्विनां स्वर्णरत्नमुक्ताफलनक्षत्रविमानसूर्यचन्द्रदीपाग्न्यादीनाम्। केन? ***धाम्ना*** घातिकर्मक्षयोत्पन्नकोटिसूर्याधिकशरीरतेजसा।

तथा चोक्तं –

आकस्मिकमिव युगपद्दिवसकरसहस्त्रमपगतव्यवधानम्।
भामण्डलमिव भावितरात्रिन्दिवभेदमतितरामाभाति॥ इति॥卐

ये रूपेण कृत्वा ***जनमनः*** त्रिलोकनिवासिप्राणिचित्तं; ***मुष्णन्ति*** हरन्ति तच्चित्ताकर्षणं कुर्वन्तीत्यर्थः। किम्भूतास्ते? ***क्षरन्तः*** स्त्रवन्तः। किं तत्? ***साक्षादमृतं*** प्रत्यक्षं; अमृतं धर्मसुधां संसारदुःखापहारित्वात्; केन? ***दिव्येन ध्वनिना*** अन्यजनातिशायिना; तीर्थकर-पुण्यकर्मातिशय-विजृम्भमाणध्वनिना। कयोः? ***श्रवणयोः*** कर्णयोः उभयोः ***सुखं*** शर्म

सूर्य, चन्द्र, दीप, अग्नि आदि अमर्यादित तेजस्विओं के तेज को रोकते हैं। किसके द्वारा रोकते हैं? **धाम्ना**=घाति-कर्मों के क्षय से उत्पन्न, करोड़ों सूर्यों से अधिक, शारीरिक तेज द्वारा रोकते हैं।

उसी प्रकार कहा भी है—

'एक साथ अचानक उपस्थित, बाधाओं से पूर्णतया-रहित हजारों सूर्यों के समान प्रतीत होनेवाला भामण्डल, रात और दिन के भेद को दूर करता हुआ सातिशयरूप में सुशोभित हो रहा है।' इस प्रकार।

ये रूपेण=जो रूप के द्वारा; **जनमनः**=तीन लोक के निवासी प्राणियों के चित्त को; **मुष्णन्ति**=हर लेते हैं, वे चित्त को आकर्षित करते हैं – ऐसा अर्थ है। वे कैसे हैं? **क्षरन्तः**=बहाते/बरसाते/उड़ेलते हैं। वे वह क्या उड़ेलते/डालते हैं? **साक्षादमृतं**= प्रत्यक्ष, अमृत, धर्मरूपी सुधा, संसाररूपी दुःखों को हरण करनेवाला होने से। उसे किससे डालते हैं? **दिव्येन ध्वनिना**=अन्य व्यक्तियों में नहीं पायी जानेवाली दिव्य, तीर्थंकर नामक पुण्य-कर्म की अतिशयता से, विस्तृत ध्वनि द्वारा उसे डालते हैं। किनमें डालते हैं? **श्रवणयोः**=दोनों कानों में डालते हैं। उसे कैसे डालते हैं? **सुखं**=सुख जैसे होता है, उस प्रकार डालते हैं। वे और कैसे हैं? **अष्टसहस्रलक्षणधराः**=आठ अधिक हजार/एक हजार आठ, वे और वे लक्षण, वज्र, कमल, तोरण, छत्र-आकार आदि; उनके धर, धारक, वे उस

卐 नन्दीश्वर भक्ति, पद्य ५५ : आचार्य पूज्यपादस्वामी।

यथा भवति तथा; पुनः किम्भूताः ? ***अष्टसहस्रलक्षणधराः*** अष्टाभिरधिकानि सहस्राणि तानि च तानि लक्षणानि वज्र-कुशेशय-तोरण-छत्राकारादीनि तेषां धराः धारकाः, ते तथोक्ताः नवशतव्यञ्जनोपलक्षिताष्टशत-लक्षणालक्षितत्वात्॥ २४॥

अथ कथं कान्त्येत्यादिशरीरस्तवनेन तदधिष्ठातृत्वादात्मनो निश्चयेन स्तवनं न युज्यते, इत्युक्ते प्रत्युत्तरयति पद्यद्वयेन—

आर्या : **प्राकारकवलिताम्बरमुपवनराजीनिगीर्णभूमितलम्।**
पिबतीव हि नगरमिदं परिखावलयेन पातालम्॥२५॥
नित्यमविकारसुस्थितसर्वाङ्गमपूर्वसहजलावण्यम्।
अक्षोभमिव समुद्रं जिनेन्द्ररूपं परं जयति॥ २६॥

प्रकार कहे गए नौ सौ व्यंजनों से उपलक्षित एक सौ आठ लक्षणों से आलक्षित होने के कारण।

अर्थात्, जिनकी कांति सभी दिशाओं में व्याप्त है; घाति-कर्मों के क्षय में प्रगट जिनके सर्वाधिक शारीरिक-तेज के सामने, स्वर्ण, रत्न, मुक्ता-फल, नक्षत्र-विमान, सूर्य, चन्द्र, दीप आदि सभी प्रकाशमान पदार्थों का प्रकाश तुच्छ-सा प्रतीत होता है; जिनके रूप से सभी के मन आकर्षित हो जाते हैं; तीर्थंकर नामक पुण्य-कर्म के सातिशय उदय में व्यक्त हुई, संसाररूपी दुःखों को नष्ट करने का मार्ग बतानेवाली, साक्षात् अमृत के समान जिनकी दिव्य-ध्वनि सुनकर, जीवों के दोनों कान तृप्त हो, सुख का अनुभव करते हैं; जो नौ सौ व्यंजनों और वज्र, कमल, तोरण, छत्र आदि एक सौ आठ चिह्नों - इस प्रकार एक हजार आठ लक्षणों से सुशोभित हैं, वे प्रसिद्ध ऋषभनाथ आदि तीर्थंकर और श्रुत-ज्ञान-सम्पन्न तीर्थ-नायक आचार्य, वन्दनीय हैं।।२४।।

शरीर का अधिष्ठाता होने के कारण, कान्ति आदि सहित शरीर की स्तुति द्वारा आत्मा की निश्चय से स्तुति, युक्त/उचित क्यों नहीं है? ऐसा कहने पर दो पद्यों द्वारा उत्तर देते हैं—

आर्या : **प्राकार ग्रसित अम्बर, उपवन आधिक्य भू लगे उसमय।**
परिखामण्डल गहरा, मानों पाताल तक वह पुर।।२५।।
नित्य अविकार सुस्थित, सर्वांग अपूर्व सहज सुन्दरता।
अक्षुब्ध जलधि सम तन, जयवन्तो रूप जिनवरेन्द्रों का।।२६।।

टीका : ***इदं*** प्रसिद्धं; ***नगरं*** पत्तनं; ***पिबतीव*** पानं करोति गिलतीत्यर्थः; इव उपमायां; किं? ***पातालं*** अधोभवनं; केन? ***परिखावलयेन*** अतिमात्रं निम्नत्वात्। पुनः किम्भूतं? ***प्राकारकवलिताम्बरं*** प्राकारेण शालेन, कवलितं कवलीकृतं, व्याप्तमित्यर्थः, अम्बरं नभः येन तत् अत्युच्चैस्तरत्वात्। ***उपवनराजीनिगीर्णभूमितलं*** उपवनानां वाटिकानां, राजिः पंक्तिस्तया निगीर्णां व्याप्तं, भूमितलं पृथ्वीतलं, येन तत्। इति नगरे वर्णितेऽपि राज्ञस्तदधिष्ठातृत्वेऽपि प्राकारादिस्वरूपाभावात् वर्णनं नो भवति।

तथैव— ***जिनेन्द्ररूपं*** सर्वज्ञरूपं; ***परं जयति*** सर्वोत्कर्षेण वर्तते; किं भूतं? ***नित्यं*** यावच्छरीरभावित्वात् स्थिरमित्यर्थः; ***अविकारसुस्थितसर्वाङ्गं*** अविकारेण नेत्रहस्तादि-विकृत्यभावेन, सुस्थितानि सर्वशरीराङ्गानि सर्वावयवा यस्य तत्। पुनः किभूतं? ***अपूर्वसहज-लावण्यं*** अपूर्वं अन्यजीवासम्भवि, सहजं अकृत्रिमं, स्वाभाविकमित्यर्थः, लावण्यं लवणिमा

टीकार्थ : इदं=यह प्रसिद्ध; **नगरं**=पत्तन/शहर; **पिबतीव**=पान करता है, निगल रहा है - ऐसा अर्थ है, 'इव' अव्यय 'उपमा' वाचक होने से 'समान' के अर्थ में प्रयुक्त है। किसे निगल रहा है? **पातालं**=पाताल, अधो-लोक को निगल रहा है; किसके द्वारा उसे निगल रहा है? **परिखावलयेन**=बहुत गहरी खातिका/खाई द्वारा निगल रहा है। वह और कैसा है? **प्राकारकवलिताम्बरं**=प्राकार, शाल/कोट द्वारा कवलित किया, ग्रास बनाया, व्याप्त हो रहा है - ऐसा अर्थ है, अम्बर=नभ/आकाश, जिससे वह, अत्यधिक ऊँचा होने के कारण। **उपवनराजीनिगीर्णभूमितलं**=उपवन=वाटिकाएँ, राजि=पंक्ति, उससे निगीर्ण= व्याप्त, भूमितल=पृथ्वीतल, जिसके द्वारा, वह। इस प्रकार नगर का वर्णन करने पर भी और राजा उसका अधिष्ठाता होने पर भी, राजा में प्राकारादि स्वरूप का अभाव है; अतः नगर के वर्णन से राजा का वर्णन नहीं होता है।

उसी प्रकार, **जिनेन्द्ररूपं**=सर्वज्ञरूप; **परं जयति**=सर्वोत्कृष्टरूप से विद्यमान है। वह रूप कैसा है? **नित्यं**=जब तक शरीर है, तब तक रहनेवाला होने से नित्य है, स्थिर है - ऐसा अर्थ है। **अविकारसुस्थितसर्वांगं**=नेत्र, हाथ आदि में विकृति का अभाव होने से, अविकाररूप में सुस्थित हैं, शरीर के सभी अङ्ग, सभी अवयव जिसके, वह। वह और कैसा है? **अपूर्वसहजलावण्यं**=अपूर्व=अन्य जीवों में असम्भव, सहज=अकृत्रिम, स्वाभाविक है

यस्य तत्। किमिव ? ***अक्षोभमिव समुद्रं*** समुद्रमिव अक्षोभ्यं न केनापि क्षुभ्यत इत्यक्षोभं। इति शरीरस्तूयमाने तीर्थकर-केवलि-पुरुषस्य तदधिष्ठातृत्वेऽपि सुस्थितसर्वाङ्गादि-गुणाभावात् स्तवनं न स्यात्॥ २६॥

यद्येवं तीर्थकराचार्यस्तुतिः समस्ताप्यप्रशस्ता स्यात् ततः शरीरात्मनोरेकान्तिकी प्रतिपत्तिः ? नैवं, नयविभागाभावात्। तं नयमुल्लेखयति—

शार्दूलविक्रीडित : **एकत्वं व्यवहारतो न तु पुनः कायात्मनोर्निश्चया-**
न्नुः स्तोत्रं व्यवहारतोऽस्ति वपुषः स्तुत्या न तत्तत्त्वतः।

– ऐसा अर्थ है, लावण्य=लवणिमा/सुन्दरता है जिसकी, वह। किसके समान? **अक्षोभमिव समुद्रं**=समुद्र के समान अक्षुब्ध, किसी से क्षुब्ध नहीं होता है – ऐसा अक्षोभ है। इस प्रकार शरीर की स्तुति करने पर भी और तीर्थंकर केवली पुरुष के उसका अधिष्ठातापना होने पर भी, उन केवली में सर्वांग सुस्थित आदि गुणों का अभाव है; अत: शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन नहीं होता है।

अर्थात्, जैसे नगर का स्वामी राजा, उसके विकास, व्यवस्था आदि का यद्यपि कारण है; अत: उन्हें देखकर राजा की रुचि, योग्यता आदि का ज्ञान हो जाता है; तथापि राजा स्वयं उन विकासादि कार्योंरूप परिणमित नहीं होने से, उनके वर्णन द्वारा राजा का वर्णन नहीं होता है; उसी प्रकार शरीर में रहनेवाले तीर्थंकर के पूर्व-बद्ध कर्मों के उदयादि-अनुसार, शरीर की स्थिति, आकृति आदि होती है; अत: उन्हें देखकर तीर्थंकर के भावों आदि का ज्ञान हो जाता है; तथापि वे तीर्थंकर स्वयं शरीररूप परिणमित नहीं होने के कारण, शरीर की स्तुति से तीर्थंकर की स्तुति नहीं होती है।।२५-२६।।

यदि ऐसा है तो तीर्थंकर, आचार्य की सभी स्तुतियाँ अप्रशस्त/निरर्थक हो जाएँगीं; उस कारण, शरीर और आत्मा में एकत्व है – ऐसी एकान्त/सर्वथा मान्यता ही सिद्ध होती है। (शिष्य द्वारा ऐसा प्रश्न किए जाने पर, आचार्य उसका उत्तर देते हैं –) ऐसा नहीं है, नय-विभाग के ज्ञान का अभाव होने से (तुम्हें ऐसा लग रहा है)। उस नय का उल्लेख करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **है एकत्व व्यवहार से पर नहीं तन चेतना एक ही।**
यों निश्चय तन-स्तुति से नहीं हो चेतना स्तुति।।

स्तोत्रं निश्चयतश्चितो भवति चित्स्तुत्यैव सैवं भवे-
न्नातस्तीर्थकरस्तवोत्तरबलादेकत्वमात्माङ्गयोः ॥ २७॥

टीका : ***कायात्मनोः*** देहदेहिनोः; ***एकत्वं*** कथञ्चिदेकता; ***व्यवहारतः*** व्यवहार-नयमाश्रित्य, लोकव्यवहारं वा आत्मकर्मवशान्नोकर्मरूपेण पुद्गलस्कन्धबन्धो देहः, कनककलधौतयोरेकस्कन्धव्यवहारवत् नीरक्षीरवद्वा। ***पुनः निश्चयात्*** निश्चयनयमाश्रित्य नैकत्वं, तयोः परस्परं भिन्नत्वात्। ***तु*** इत्यधिकपदं विशेषज्ञापकं; निश्चयाद्धि देहदेहिनोः अनुपयोगोपयोगरूपयोः, कनककलधौतयोः, पीतपाण्डुत्वस्वभावयोरिव, अत्यन्तव्यति-रिक्तत्वे नैकार्थत्वानुपपत्तेर्नानात्वं, एवं किल नयविभाग इति अतः कारणात्; ***वपुषः*** शरीरस्य ***स्तुत्या*** स्तवनेन, शरीरगुणवर्णनेन; ***नुः*** आत्मनः; ***स्तोत्रं*** स्तवनं; ***अस्ति*** भवति। कुतः ? ***व्यवहारतः*** व्यवहारनयात्; ***तत्*** स्तोत्रं ***तत्त्वतः*** निश्चयात् परमार्थतः; ***न हि।***

ननु आत्मस्तोत्रं कथं ? ***निश्चयतः*** परमार्थतः; ***चितः*** चिद्रूपस्यात्मनः; ***स्तोत्रं***

वास्तव में चित् स्तुति से सही चैतन्य की स्तुति।
यों तीर्थंकर स्तुति से नहीं तन चेतना एक ही।।२७।।

टीकार्थ : कायात्मनोः=शरीर और आत्मा के; **एकत्वं**=कथंचित् एकता; **व्यवहारतः**=व्यवहार-नय की अपेक्षा है, अथवा यह लोक-व्यवहार है। आत्मा और कर्म के वश, नोकर्मरूप पुद्‌गल-स्कन्ध का बन्ध देह है; स्वर्ण और चाँदी के एक स्कन्ध में सुवर्ण-व्यवहार के समान अथवा नीर-क्षीर के समान। **पुनः निश्चयात्**=निश्चय-नय की अपेक्षा, एकत्व नहीं है; उन दोनों में परस्पर भिन्नता होने के कारण। **तु**=यह 'अधिक पद' का विशेष ज्ञापक है; वास्तव में निश्चय से अनुपयोग लक्षण देह और उपयोग लक्षण आत्मा में, स्वर्ण के पीलेपन और चाँदी के पाण्डुत्व/श्वेतपन स्वभाव के समान, अत्यन्त पृथक्ता होने के कारण, एकार्थपने की असिद्धि होने से नानात्व/पृथक्ता है। इस प्रकार का वास्तविक नय-विभाग है। उस कारण **वपुषः**=शरीर की; **स्तुत्या**=स्तुति से, शरीर के गुणों का वर्णन करने से; **नुः**=आत्मा की; **स्तोत्रं**=स्तुति; **अस्ति**=हो जाती है। कैसे हो जाती है? **व्यवहारतः**=व्यवहार-नय से हो जाती है। **तत्**=वह स्तोत्र; **तत्त्वतः**=निश्चय से, परमार्थ से/वास्तव में; **न हि**=नहीं है।

स्तवनं गुणवर्णनमित्यर्थः। ***भवति*** अस्ति। कया? ***चित्स्तुत्यैव*** चिद्रूपस्यामूर्ताखण्डज्ञान-दर्शनाद्यनन्तगुणस्तवनेन; ***एवं*** निश्चयस्तुतिरेव, आत्मस्तुतिः। एवं सति ***सा*** निश्चयस्तुतिः ***स्तुतिर्भवेत्। अतः*** आत्मशरीरयोर्भिन्नत्वसमर्थनात्; ***एकत्वं*** अभिन्नता ***न*** भवतीत्यर्थः। कयोः? ***आत्माङ्गयोः*** चिद्रूपदेहयो; कुतः? ***तीर्थकरस्तवोत्तरबलात्*** तीर्थकरस्य नाभेयादिजिनस्य, स्तवः अष्टप्रातिहार्यादिगुणवर्णनं, तीर्थकरशरीरगुणवर्णनमेव परमार्थ-स्तवनमिति प्रत्युत्तरबलाधानात् एकत्वं न कदाचन॥ २७॥

तब फिर आत्मा की स्तुति कैसे होती है? **निश्चयतः**=परमार्थ से/वास्तव में; **चितः**=चिद्रूप आत्मा का; **स्तोत्रं**=स्तवन, गुण-वर्णन - यह अर्थ है। **भवति**=होता है। कैसे होता है? **चित्स्तुत्यैव**=चिद्रूप आत्मा का स्तवन, अमूर्त, अखण्ड, ज्ञान, दर्शन आदि अनन्त गुणों द्वारा होता है। **एवं**=इस प्रकार की निश्चय स्तुति ही आत्मा की स्तुति है। **एवं**=ऐसा होने पर; **सा**=वह निश्चय-स्तुति ही, **स्तुतिर्भवेत्**=स्तुति हो; **अतः**=इसलिए आत्मा और शरीर में भिन्नता के समर्थन से; **एकत्वं**=उन दोनों में एकता, अभिन्नता; **न**=नहीं होती है - ऐसा अर्थ है। किनमें एकता नहीं है? **आत्मांगयोः**=चिद्रूप आत्मा और देह में एकता नहीं है। उनमें एकता कैसे नहीं है? **तीर्थकरस्तवोत्तरबलात्**=तीर्थंकर ऋषभनाथ आदि जिन के, स्तवन=आठ प्रातिहार्य आदि गुणों का वर्णन; तीर्थंकर के शारीरिक गुणों का वर्णन ही परमार्थ स्तवन है - इस कथन के प्रत्युत्तररूप में किए गए इस कथन के बल से, उन दोनों में कभी भी एकता नहीं है - यह सिद्ध होता है।

अर्थात्, स्वर्ण और चाँदी मिलकर बने एक स्कन्ध में सुवर्ण; दूध और जल के मिश्रण में दूध के लौकिक-व्यवहार के समान, व्यवहार-नय से आत्मा और कर्म के उदय में बने नोकर्मरूप पुद्गल-स्कन्धों के बन्धरूप देह में एकता देखकर, उन्हें आत्मा कहा जाता है। इस अपेक्षा शरीर-सापेक्ष स्तुति से, आत्मा की स्तुति कह दी जाती है; परन्तु जैसे स्वर्ण, अपने पीले और चाँदी, अपने श्वेत स्वभाव के कारण, मिली हुई दशा में भी पूर्णतया पृथक्-पृथक् ही हैं; उसी प्रकार आत्मा अपने ज्ञान-दर्शनादि उपयोग और शरीर अपने अनुपयोग स्वभाव के कारण, एकक्षेत्रावगाह-संबंध दशा में भी पूर्णतया पृथक्-पृथक् ही हैं; अतः शारीरिक गुणों के वर्णन से, आत्मा की स्तुति नहीं होती है; ज्ञान, दर्शन आदि चेतनात्मक गुणों द्वारा ही आत्मा की वास्तविक स्तुति होती है।

अथैकत्वनिरासमुपसंहरति—

मालिनी : **इति परिचिततत्त्वैरात्मकायैकतायां,**
नयविभजनयुक्त्यात्यन्तमुच्छादितायाम्।
अवतरति न बोधो बोधमेवाद्य कस्य,
स्वरसरभसकृष्टः प्रस्फुटन्नेक एव॥ २८॥

टीका : ***अद्य*** इदानीं; ***एव*** निश्चयेन; ***कस्य?*** पुरुषस्य; ***बोधः*** भेदविज्ञानं; ***बोधं*** बुध्यते जानातीति बोधः आत्मा, अथवा गुणे गुणिन उपचारः, तं; ***न अवतरति*** न प्रादुर्भवति? अपि तु प्रादुर्भवत्येव। किम्भूतः सः? ***स्वरसरभसकृष्टः*** स्वस्य आत्मनः, रसः

इस प्रकार आठ प्रातिहार्य आदि द्वारा आत्मा की स्तुति करना, आत्मा की वास्तविक स्तुति नहीं है - यह तथ्य, नय-विभाग से सिद्ध हो जाता है। आत्मा और शरीर में कथंचित् सम्बन्ध होने के कारण, शरीर-सापेक्ष स्तुति व्यवहार-नय से होने के कारण, वे मिथ्या भी नहीं हैं तथा वास्तव में दोनों के मध्य पारमार्थिक पूर्णतया पृथक्ता होने से, वे आत्मा की वास्तविक स्तुति भी नहीं हैं - यह तथ्य सिद्ध हुआ।।२७।।

अब, (आत्मा और देह सम्बन्धी) एकत्व के निराकरण का उपसंहार करते हैं—

मालिनी : **यों तत्त्वविदों ने जीव तन एकता को,**
नयों की युक्ति से सर्वथा नष्ट करके।
दर्शाया तब फिर आत्मरस वेग विलसित,
बोध इक न प्रगटे, बोध में आज किसके?।।२८।।

टीकार्थ : अद्य=आज, इस समय; **एव**=ही, निश्चय से; **कस्य**=किस व्यक्ति के **बोधः**=भेद-विज्ञान; **बोधं**=बोधित है, जानता है - ऐसा बोध आत्मा, अथवा गुण में गुणी का उपचार किया गया है, उसे; **न अवतरति**=प्रगट नहीं होता है? अपितु होता ही है। वह कैसा है? **स्वरसरभसकृष्टः**=स्व=आत्मा की, रस=विशेष ज्ञान-शक्ति, उसका रभस=वेग, उससे कृष्ट=आकृष्ट, विशदता/निर्मलता को प्राप्त - ऐसा अर्थ है। और वह कैसा है? **प्रस्फुटन्**=विशेषरूप से निर्मल होता हुआ अथवा प्रगट होता हुआ; **एक एव**=एक ही है; अन्य नहीं है, ज्ञान के विना आत्मा को प्रगट करने में कोई दूसरा समर्थ नहीं है - ऐसा अर्थ है।

ज्ञानशक्तिविशेषः, तस्य रभसः वेगः, तेन कृष्टः आकृष्टः, विशदीकृत इत्यर्थः। भूयः किम्भूतः ? ***प्रस्फुटन्*** प्रकर्षेण निर्मलीभवन् प्रकटीभवन्वा; ***एक एव*** नान्यः, बोधं विना आत्मानं प्रत्यवतरयितुं न कश्चित्क्रमः इत्यर्थः। क्व सत्यां ***आत्मकायैकतायां*** आत्मा च कायश्च आत्माकायौ तयोरेकता ऐक्यं, तस्यां; ***अत्यन्तं उच्छादितायां*** निराकृतायां सत्यां, कया? ***नयविभजनयुक्त्या*** नयस्य निश्चयव्यवहारलक्षणस्य विभजनं विभागः, तस्य युक्तिः दर्शनोपन्यासः, तया; कैः ? ***इति*** पूर्वोक्तप्रकारेण ***परिचितं तत्त्वैः*** परिचयीकृतं तत्त्वं शुद्धचिद्रूपलक्षणं यैस्ते, इति परिचिततत्त्वास्तैः ॥ २८ ॥

अथ यावत्पर्यन्तं परभावाभावस्तावत्स्वानुभव इति सन्तन्यते—

मालिनी : **अवतरति न यावद् वृत्ति-मत्यन्तवेगा-**
दनवमपरभाव-त्यागदृष्टान्तदृष्टिः।

किसके होने पर कोई समर्थ नहीं है? **आत्मकायैकतायां**=आत्मा और काय, आत्मा-काय, उन दोनों की एकता, ऐक्य/एकपना होने पर, उसका; **अत्यन्तं उच्छादितायां**= अत्यन्त निराकरण करने में कौन समर्थ है? किससे ऐसा करना है? **नयविभजनयुक्त्या**= निश्चय-व्यवहार लक्षणवाले नय का, विभजन=विभाग/भेद, उसकी युक्ति=देखने का कथन, उससे ऐसा करना है। किन्हें ऐसा करना है? **इति**=पूर्वोक्त प्रकार से; **परिचिततत्त्वैः**= परिचय किया गया है शुद्ध-चिद्रूप लक्षण तत्त्व जिनके द्वारा वे, इस प्रकार तत्त्व से परिचितों को ऐसा करना है।

अर्थात्, शुद्ध-चिद्रूप लक्षण तत्त्व से परिचित जीवों द्वारा, पूर्वोक्त प्रकार से आत्मा और शरीर संबंधी एकता का निश्चय-व्यवहाररूप नयों के विभाग की पद्धति द्वारा अत्यन्त पूर्णतया निराकरण कर देने पर, अपने आत्मा की विशिष्ट ज्ञान-शक्तिरूपी रस के वेग से आकृष्ट/निर्मलता को प्राप्त, विशेषरूप से व्यक्त हुआ एक अद्वितीय बोध/भेद-विज्ञान, अब किसके बोध/किस आत्मा को प्राप्त नहीं होता है? अर्थात्, सभी को प्राप्त होता ही है।।२८।।

अब, जब तक पर-भावों का अभाव है, तब तक स्वानुभव है - ऐसा निरूपित करते हैं—

मालिनी : **प्रगटे न जब तक वृत्ति अति तीक्ष्ण सत्य,**
अपरभाव छूटे इसकि दृष्टान्त दृष्टि।

झटिति सकलभावैरन्यदीयैर्विमुक्ता,
स्वयमियमनुभूतिस्तावदाविर्बभूव ॥२९ ॥

टीका : ***यावत्*** यावत्पर्यन्तं; ***अनवं*** सत्यं यथा भवति तथा; ***अत्यन्तवेगात्*** अतिशीघ्रं; ***अपरभावत्यागदृष्टान्तदृष्टिः*** अपरे च ते भावाश्च अपरभावाः अन्यपदार्थाः, तेषां त्यागः त्यजनं, तदुल्लेखाय यो दृष्टान्तः, तत्र दृष्टिः; यथाहि कश्चिन्नरः, रजकात् परकीयमम्बरमादाय सम्भ्रान्त्यात्मीयप्रतिपत्त्या परिधाय शयानः स्वयमज्ञानी सन्, अन्येन तद्वस्त्र-स्वामिना तदञ्चलमालंब्य बलान्नग्नीक्रियमाणो मंक्षु प्रतिबुद्ध्यस्व, अर्पय परिवर्तितमेतद्वस्त्रं मामिकमिति असकृद्वचः शृण्वन्, अखिलैश्चिह्नैः सुपरीक्ष्य परकीयमिति निश्चित्याचिरात्, ज्ञानी सन् मुञ्चति तथा ज्ञातापि परभावान् सम्भ्रान्त्या स्वप्रतिपत्यात्म-सात्कुर्वन् शयानः स्वयमज्ञानी सन् गुरुणा परभावे विवेकं कृत्वैकीक्रियमाणो मंक्षु प्रतिबुध्यस्व, एकः खल्वयमात्मा, इत्यसकृत् श्रुतिं श्रौतीं शृण्वन् अखिलैश्चिह्नैः सुपरीक्ष्य सर्वान्

तब तक तो प्रगटे सर्व परभाव मुक्त,
अति शीघ्र स्वयं ही ज्ञान आत्मानुभूति।।२९।।

टीकार्थ : यावत्=जब तक; **अनवं**=नया नहीं, सत्य जैसा है, उस प्रकार; **अत्यन्तवेगात्**=अत्यन्त वेग से, अति शीघ्र; **अपरभावत्यागदृष्टान्तदृष्टिः**=अपर और वे भाव अपर-भाव, अन्य पदार्थ, उनका त्याग, त्यजन, उन्हें छोड़ना, उसके उल्लेख के लिए जो दृष्टान्त दिया है, उस पर जानेवाली दृष्टि; जैसे, कोई पुरुष संभ्रान्ति से/भ्रान्ति-वश अपना मानकर स्वयं अज्ञानी होता हुआ, धोबी से दूसरों का वस्त्र लाकर, उसे पहिन कर सो रहा है। वस्त्र के स्वामी उस दूसरे पुरुष ने, उसका अंचल/एक छोर/किनारा पकड़कर बल पूर्वक उघाड़कर कहा कि तुम जागो, सावधान हो, यह परिवर्तित वस्त्र मेरा है, मुझे दे दो। इस प्रकार अनेक बार कहे गए उसके वचनों को सुनता हुआ, सभी चिह्नों से भली-भाँति परीक्षा कर, 'यह दूसरों का है' - ऐसा शीघ्र ही निश्चित कर, ज्ञानी होता हुआ छोड़ देता है/वह वस्त्र उसके स्वामी को दे देता है।

उसी प्रकार ज्ञाता/जाननेवाला आत्मा भी, संभ्रान्ति से अपना मानकर, पर-भावों को आत्मसात् करता हुआ, स्वयं अज्ञानी होकर सो रहा है/उनमें ही लीन है। गुरु ने पर-भाव में/पर-भावों के साथ विवेक/भेद-विज्ञान कर, इसे एकरूप बताते हुए कहा कि तुम जागो,

परभावान्निश्चित्य ज्ञानी सन् मुञ्चति परभावानिति दृष्टान्तदृष्टि:; ***वृत्तिं*** परभाव-प्रवृत्तिं प्रति ***न अवतरति*** अवतरणं न करोति ***तावत्*** पर्यन्तं ***इयमनुभूतिः*** आत्मानुभवज्ञानं; ***स्वयं*** स्वत:, ***आविर्बभूव*** प्रकटीबभूव; ***झटिति*** शीघ्रं। किम्भूता? ***विमुक्ता*** त्यक्ता; कै:? ***अन्यदीयैः*** परकीयै: ***सकलभावैः*** सकलचेतनाचेतनपदार्थै: ॥२९॥

अथ स्वरसं रसामीति रचयति—

स्वागता : **सर्वतः स्व-रस निर्भर-भावं चेतये स्वयमहं स्वमिहैकम्।**
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि॥ ३०॥

सावधान हो, वास्तव में यह आत्मा एक है। इस प्रकार अनेक बार श्रुति/आगम वाक्य को कानों से सुनकर, सभी चिह्नों से भली-भाँति परीक्षाकर, सभी पर-भावों का निश्चय कर, ज्ञानी होता हुआ पर-भावों को छोड़ देता है।

इस प्रकार दृष्टान्त की दृष्टि; **वृत्तिं**=पर-भाव में प्रवृत्ति की ओर; **न अवतरति**= अवतरण नहीं करती है/नहीं जाती है; **तावत्**=तब तक **इयमनुभूतिः**=यह आत्मानुभवमय ज्ञान; **स्वयं**=स्वत:; **आविर्बभूव**=प्रगट हो जाता है; **झटिति**=शीघ्र; कैसा प्रगट होता है? **विमुक्ता**=छोड़ता हुआ प्रगट होता है। किन्हें छोड़ता हुआ प्रगट होता है? **अन्यदीयैः**= परकीय/स्वयं से भिन्न दूसरे; **सकलभावैः**=सभी चेतन-अचेतन पदार्थों को छोड़ता हुआ प्रगट होता है।

अर्थात्, जैसे कोई सज्जन व्यक्ति, भ्रम-वश किसी दूसरे की वस्तु को अपनी मान लेता है; परन्तु जब उसे गुरुओं द्वारा बारम्बार चिह्न बताते हुए यह समझाया जाता है कि यह वस्तु तुम्हारी नहीं है; तुम्हारी तो यह है और वह भी भली-भाँति परीक्षा कर यह समझ लेता है कि यह वस्तु मेरी नहीं है; तब वह उसे तत्क्षण छोड़ देता है। उसी प्रकार अनादि से अज्ञानी बना यह ज्ञाता जीव, भ्रम-वश पर-भावों को अपना मान रहा है। गुरुओं द्वारा बारम्बार समझाए जाने पर, भली-भाँति परीक्षा कर जब यह समझ लेता है कि वास्तव में ये चेतन-अचेतनमय सभी पर-भाव मेरे नहीं हैं; मैं तो एक आत्मा ही हूँ, तब वह शीघ्र ही आत्मानुभव के बल पर, उन सभी को छोड़ देता है।।२९।।

अब, (मैं) अपने रस का आस्वाद लेता हूँ - ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

स्वागता : **सर्वतः स्वरस भरचक भाव, वेदता मैं स्वयं से स्वयं ही।**
शुद्ध चिद्घन महानिधि मैं हूँ एक मेरा न यह मोह कुछ भी।।३०।।

टीका : ***इह*** जगति; ***अहं*** आत्मा; ***स्वयं*** आत्मना; ***स्वं*** आत्मानं ***चेतये*** अनुभवामि उपलभे जानामीत्यर्थः। किम्भूतमात्मानं? ***सर्वतः*** सामस्त्येन; ***स्वरसनिर्भरभावं*** स्वस्य आत्मनः, रसः रुचिः अनुभवनमिति यावत्, तेन निर्भरो भावः स्वभावो यस्य तम्। ***एकं*** अद्वितीयं; ***मम*** आत्मनः ***कश्चन*** कोऽपि शरीरादौ ***मोहः*** ममत्वं ***नास्ति-नास्ति*** पुनः पुनर्न विद्यते। ***अस्मि*** भवाम्यहं। कीदृशः? ***शुद्धचिद्घनमहोनिधिः*** शुद्धा निर्मला कर्मकलङ्कराहित्यात् सा चासौ चित् चेतना तस्याः घनो निविडः स चासौ, महोदधिः महासमुद्रश्च, घनरसानामिव निःशेषगुणानामाधारत्वात्॥३०॥

अथात्मपरद्रव्ययोर्विवेकं तन्तन्यते—

मालिनी : **इति सति सह सर्वैरन्यभावैर्विवेके,**
स्वयमयमुपयोगो विभ्रदात्मानमेकम्।

टीकार्थ : इह=इस जगत में; **अहं**=मैं आत्मा; **स्वयं**=अपने द्वारा; **स्वं**=आत्मा का; **चेतये**=अनुभव करता हूँ, प्राप्त करके जानता हूँ - ऐसा अर्थ है। कैसे आत्मा का अनुभव करता हूँ? **सर्वतः**=सर्व ओर से/पूर्णरूप से; **स्वरसनिर्भरभावं**=अपने आत्मा का, रस=रुचि, अनुभव है जब तक, उससे भरा हुआ है भाव, स्वभाव जिसका, उसका अनुभव करता हूँ। **एकं**=एक, अद्वितीय; **मम**=मुझ आत्मा का; **कश्चन**=कुछ भी/किसी भी शरीर आदि में; **मोहः**=ममत्व; **नास्ति-नास्ति**=नहीं है-नहीं है; बारम्बार (विचार करता हूँ कि यह मेरा) नहीं है। **अस्मि**=मैं हूँ। मैं कैसा हूँ? **शुद्धचिद्घनमहोनिधिः**=कर्मरूपी कलंक से रहित होने के कारण, शुद्ध, निर्मल, वह और वह चित् चेतना, उसका घन-निविड/ठोस/अगाध, वह और वह महोदधि, महा-सागर, घन रसों के समान, सभी गुणों का आधार होने के कारण।

अर्थात्, मैं कर्मरूपी कलंक से रहित होने के कारण और सभी गुणों का आधार होने से, शुद्ध चैतन्य घनमय महा-निधि महा-सागर हूँ। इस जगत में मैं सर्वांग अपने रस/आत्मानुभव से परिपूर्ण स्वभाववाले इस एक/अद्वितीय स्वयं का, स्वयं से अनुभव करता हूँ। शरीर आदि के प्रति होनेवाला यह ममत्वरूप मोह, मेरा कुछ भी नहीं है! नहीं है!!॥३०॥

अब, आत्मा और पर-द्रव्य के विवेक/भेद-विज्ञान का विस्तार करते हैं—

मालिनी : **यों सब परभावों से पृथक् एक स्व को,**
धारण कर खुद ही चेतनारूप आत्मा।

प्रकटितपरमार्थैर्दर्शनज्ञानवृत्तैः,
कृतपरिणतिरात्माराम एव प्रवृत्तः ॥ ३१ ॥

टीका : ***अयं उपयोगः*** ज्ञानदर्शनोपयोगः; ***स्वयं*** स्वरूपेण; ***आत्मा*** चिद्रूप एव; ***प्रवृत्तः*** प्रवृत्तिं प्राप्तः। क्व सति ? ***इति*** पूर्वोक्तप्रकारेण; ***सर्वैः*** समस्तैः; ***अन्यभावैः*** धर्माधर्मादिलक्षणैः परपदार्थैः; ***सह*** साकं; ***विवेके*** पृथग्भावे जाते सति। किम्भूतः आत्मा ? ***विभ्रद्*** दधद्; कं ? ***एकं*** अद्वितीयं; ***आत्मानं*** स्वस्वरूपम्। भूयः किम्भूतः ? ***कृतपरिणतिः*** कृता परिणतिः परिणमनं एकता, यस्य सः; कैः सह ? ***दर्शनज्ञानवृत्तैः*** तच्छ्रद्धानबोधचरित्रैः, आत्मनस्तन्मयत्वात्; कीदृक्षैस्तैः ? ***प्रकटितपरमार्थैः*** परमः उत्कृष्टः, सर्वप्रकाशकत्वात् स चासौ अर्थश्च परमात्मलक्षणोऽर्थ इति यावत्। प्रकटितः प्रकाशं नीतः परमार्थो येन स तथोक्तः। भूयः किम्भूतः ? ***रामः*** रमणीयः मनोज्ञः, जगच्छ्रेष्ठत्वात् ॥३१ ॥

प्रगटे परमार्थ दर्शन-ज्ञान-वृत्ति,
को कर एकत्व आत्माराम वर्ता।।३१।।

टीकार्थ : अयं उपयोगः=यह ज्ञान-दर्शनमय उपयोग; **स्वयं**=निजरूप से; **आत्मा**=आत्मा के चैतन्यरूप में ही; **प्रवृत्तः**=प्रवृत्ति को प्राप्त है। किसके होने पर वह ऐसा है? **इति**=पूर्वोक्त प्रकार से; **सर्वैः**=समस्त; **अन्यभावैः**=धर्म, अधर्म आदि लक्षणवाले पर-पदार्थों के; **सह**=साथ; **विवेके**=पृथक् भाव प्रगट होने पर/भेद-विज्ञान होने पर, वह ऐसा है। वह आत्मा कैसा है? **विभ्रद्**=धारण करता हुआ। किसे धारण करता हुआ? **एकं**= एक, अद्वितीय; **आत्मानं**=अपने स्वरूप को धारण करता हुआ। वह और कैसा है? **कृतपरिणतिः**=किया है परिणति, एकतारूप परिणमन जिसका, वह; किसके साथ ऐसा किया है? **दर्शनज्ञानवृत्तैः**=उस श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र के साथ आत्मा की तन्मयता होने के कारण, उनके साथ ऐसा किया है। वे कैसे हैं? **प्रकटितपरमार्थैः**=सभी का प्रकाशक होने से परम, उत्कृष्ट, वह और वह अर्थ, परमात्म लक्षण अर्थ - ऐसा अर्थ है; प्रकटित किया=प्रकाश में लाया; प्रकाशित किया गया है परमार्थ जिसके द्वारा, वह, उस प्रकार कहा गया। वह और कैसा है? **रामः**=लोक में श्रेष्ठ होने के कारण, रमणीय, मनोज्ञ है।

अर्थात्, पूर्वोक्त पद्धति से सभी पर-भावों के साथ पृथक्ता का ज्ञान हो जाने पर, एक आत्मा को धारण करता हुआ, यह स्वयं ज्ञान-दर्शन उपयोग-स्वभावी, लोक में श्रेष्ठ होने के कारण, राममय आत्मा ही, स्व-पर प्रकाशक परमात्मामयी परमार्थ को प्रगट

अथ ज्ञानसमुद्रे मज्जनादिना जगदुद्युज्यते—

वसन्ततिलका : **मज्जन्तु निर्भरममी सममेव लोका,**
आलोकमुच्छलति शान्तरसे समस्ताः।
आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण,
प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिन्धुः॥३२॥

टीका : *प्रोन्मग्नः* उच्छलितः, प्रकटीभूत इति यावत्; कोऽसौ? ***एषः भगवान् अवबोधसिन्धुः*** अवबोधो ज्ञानं, स एव सिन्धुः, अनन्तगुणाधारत्वात्। किं कृत्वा? ***आप्लाव्य*** प्लावयित्वा, निराकृत्येत्यर्थः; कां? ***विभ्रमतिरस्करिणीं*** विभ्रमो ममेदमिति मोहः, मद्यवद्भ्रमकारत्वात्, स एव तिरस्करिणी यवनिका तां कण्टकादिभिर्दुःस्पर्शत्वेन,

करनेवाले, दर्शन, ज्ञान, चारित्र के साथ कृत-परिणति/एकत्वरूप से परिणमित हो प्रवृत्ति करता है।।३१।।

अब, मज्जन आदि द्वारा ज्ञानरूपी समुद्र में मग्न रहने के लिए, जगत को उत्साहित करते हैं—

वसन्ततिलका : **अति वेग से उछलते आलोक व्यापी,**
इस शान्त रसमयी सागर में सभी जन।
मज्जन करो प्रगट यह अवबोध जलधी,
भगवान विभ्रम तिरस्करिणी डुबोकर।।३२।।

टीकार्थ : प्रोन्मग्नः=उछलता हुआ, प्रगट होता हुआ, इस प्रकार; वह कौन है? **एषः भगवान् अवबोधसिन्धुः**=यह भगवान, अवबोध=ज्ञान, अनन्त गुणों का आधार होने से, वही है सिन्धु/समुद्र है। वह क्या करके प्रगट हो रहा है? **आप्लाव्य**=डुबोकर, निराकरण करके वह प्रगट हो रहा है - ऐसा अर्थ है। ऐसा किसे करके? **विभ्रमतिरस्करिणीं**= 'यह मेरा है' - ऐसा मोह, मदिरा के समान भ्रमित करनेवाला होने से विभ्रम है, वही है तिरस्करिणी, यवनिका/परदा, उसे, कंटक (काँटे) आदि द्वारा दुःस्पर्शता के कारण; उपमान और उपमेय दोनों में समानता के कारण। जैसे जल द्वारा, जल-मध्यवर्ती धान्य, विनाश-योग्य होने से, विनष्ट हो जाता है; कंटक आदि द्वारा दुष्टता से स्पर्शित परदा, विनष्ट हो जाता है; उसी प्रकार ज्ञान-सिन्धु से विभ्रम, विनष्ट हो जाता है। उससे वह कैसे नष्ट हो जाता है? **भरेण**=अतिशयरूप से/अधिकता के साथ नष्ट हो जाता है। **मज्जन्तु**=वह

उभयोरुपमानोपमेययो: सादृश्यत्वात् जलेन सस्यविनाश्यत्वात्; कथं ? ***भरेण*** अतिशयेन; ***मज्जन्तु*** मज्जनं कुर्वन्तु, कर्ममलक्षालनहेतुत्वात् तस्य। के ? ***अमी समस्ता:*** सर्वे लोका: भव्यजना:; कथं ? ***निर्भरं*** अत्यर्थं; ***सममेव*** युगपदेव; क्व ? ***शान्तरसे*** शान्त: उपशमत्वं, स एव रस: पानीयं, शाम्यस्य पापप्रक्षालनशीलत्वात्। ***आलोकं*** त्रिलोकशिखरपर्यन्तं; ***उच्छलति*** ऊर्ध्वगमनं कुर्वति सति आलोकं व्याप्ते सति, इत्यर्थ:। अन्यवारिधिजलस्योच्छलनशीलत्वात् ॥३२॥

इति समयसारवृत्तिः अस्याः परमाध्यात्म-तरङ्गिण्यपरनामधेयाया व्याख्यायामात्मख्यातौ पूर्वरङ्गः समाप्तः॥

कर्मरूपी मल को धोने का कारण होने से, उसमें मज्जन करो/डूब जाओ। कौन डूबें? **अमी समस्ता**:=ये सभी लोग, भव्य-जन उसमें डूब जाएं/लीन हो जाएं। कैसे लीन हो जाएं। **निर्भरं**=अति/अधिकता से लीन हो जाएं; **सममेव**=एक साथ ही; किसमें लीन हो जाएं? **शान्तरसे**=शान्त उपशमत्व, वही है रस, पापों को प्रक्षालित करने के स्वभाववाला होने से वही है, शाम्य का जल, उसमें लीन हो जाएं। **आलोकं**=तीन लोक के शिखर पर्यन्त; **उच्छलति**=ऊर्ध्व गमन करता हुआ, सम्पूर्ण लोक में व्याप्त होने पर - ऐसा अर्थ है। अन्य सागरों के जल का स्वभाव भी उछलना होने के कारण, वही रूपक यहाँ दिया है।

अर्थात्, ज्ञानादि अनन्त गुणों का आधारभूत यह भगवान ज्ञानरूपी सागर, मदिरा के समान भ्रमित करनेवाले, 'यह पर-पदार्थ मेरा है' - इसरूप मोहमय विभ्रमरूपी परदे को पूर्णतया नष्ट कर, उछलता हुआ प्रगट हो रहा है। जगत के सभी जीवो, हे भव्य-जनो! तीन लोक के शिखर पर्यन्त उछलते हुए, पापों को प्रक्षालित करने के स्वभाववाले, इसके शान्त रस में सभी एक साथ, अधिकता पूर्वक कर्मरूपी मल को धोने-हेतु मज्जन करो/लीन हो जाओ।।३२।।

इस प्रकार परम-अध्यात्म-तरङ्गिणी अपर नामवाली इस समयसारवृत्ति की आत्मख्याति नामक व्याख्या में, पूर्वरङ्ग समाप्त हुआ।।

जीवाजीवाधिकारः

अथ प्रथमोऽङ्कः प्रारम्भते।

अथ ज्ञानविलासमाख्याति—

शार्दूलविक्रीडित : **जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा प्रत्याय्य यत्पार्षदा-**
नासंसारनिबद्धबन्धनविधिध्वंसाद्विशुद्धं स्फुटत्।
आत्माराम-मनन्त-धाम-महसाध्यक्षेण नित्योदितं,
धीरोदात्तमनाकुलं विलसति ज्ञानं मनोल्हादयत्॥ ३३॥

टीका : *ज्ञानं* शुद्धात्मबोधः; ***विलसति*** विलासं कुरुते; तदित्याध्याहारः। ***यत्*** ज्ञानं ***विशुद्धं*** निर्मलं; कुतः ? ***आसंसारनिबद्धबन्धनविधिध्वंसात्*** आसंसारं पञ्चसंसार-मभिव्याप्येत्यासंसारं, निबद्धानि बन्धनं प्राप्तानि, तानि च तानि बन्धनानि च प्रकृतिस्थित्यनु-भागप्रदेशलक्षणानि, तेषां विधिः विधानं तस्य ध्वंसः विनाशः, तस्मात्। पुनः किम्भूतं ?

अब, प्रथम अंक प्रारम्भ होता है।

अब, ज्ञान के विलास को प्रसिद्ध करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **जीवाजीव विवेक विस्तृत दृशी से पार्षदों को दिखा,**
आसंसार निबद्ध बंधन विधि विध्वंस से शुद्धता।
प्रगटा आतम राम नन्त तेजोमय तेज प्रत्यक्षतः,
धीरोदात्त अनाकुली नित उदित मनहर सुज्ञान शोभता।।३३।।

टीकार्थ : ज्ञानं=शुद्ध आत्मा का ज्ञान; **विलसति**=विलास करता है; 'तद्/वह' पद अध्याहार है (स्वयं लगा लेना)। **यत्**=जो ज्ञान; **विशुद्धं**=निर्मल है। वह निर्मल कैसे है? **आसंसारनिबद्धबन्धनविधिध्वंसात्**=पाँच प्रकार के संसार (परावर्तनों) में व्याप्त - ऐसा आसंसार, निबद्ध=बन्धन को प्राप्त; वे और वे प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश लक्षणवाले बन्धन; उनकी विधि=विधान/पद्धति, उसका ध्वंस=विनाश, उससे वह निर्मल है। वह और

स्फुटत् प्रादुर्भवत्; किं कृत्य ? ***प्रत्याय्य*** प्रतीतिगोचरान्कृत्वा। कान् ? ***पार्षदान्*** सभापतीन्; कया ? ***जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा*** जीवश्चाजीवश्च जीवाजीवौ तयोर्विवेकः पृथक्करणं, स एव पुष्कला विस्तीर्णा, दृक् दृष्टिस्तया। किम्भूतं ? ***आत्मारामं*** आत्मा चिद्रूपः, स एव आरामः क्रीडावनं निवासस्थानं, यस्य तत्। पुनः किम्भूतं ? ***अनन्तधाम*** अनन्तं अन्तातीतं, धाम तेजः, यस्य तत्। ***नित्योदितं*** नित्यं निरन्तरं, उदितं उदय-प्राप्तं। केन ***अध्यक्षेण*** सकलकेवलालोकप्रत्यक्षेण; ***महसा*** तेजसा, लोकातिक्रान्तप्रकाशेन। ***धीरोदात्तं*** धीरं निष्कम्पं धैर्यादिगुणयुक्तत्वात् तच्च तदुदात्तं च उत्कटं, धीरोदात्तं; ***अनाकुलं*** आकुलता-रहितं; ***मनः*** भव्यचित्तं, ***ल्हादयत्*** हर्षोद्रेकं कुर्वत्॥ ३३ ॥

कैसा है? **स्फुटत्**=प्रगट होता हुआ; क्या करके? **प्रत्याय्य**=प्रतीति-गोचर करके; किन्हें ऐसा कर? **पार्षदान्**=सभापतिओं को। ऐसा किससे करके? **जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा**= जीव और अजीव, जीवाजीव, उनमें विवेक, उन्हें पृथक् करना, वही है पुष्कल=विस्तीर्ण, दृक्=दृष्टि, उससे ऐसा करके। किसे ऐसा कर? **आत्मारामं**=चैतन्यरूप आत्मा, वही है आराम=क्रीड़ावन, निवास-स्थान जिसका, उसे ऐसा करके। वह और कैसा है? **अनन्तधाम**= अनन्त=अन्त से रहित, धाम=तेज जिसका, उसे। **नित्योदितं**=नित्य=निरन्तर, उदित=उदय को प्राप्त। किससे उदय को प्राप्त? **अध्यक्षेण**=केवलज्ञानमय सम्पूर्ण प्रकाशरूप प्रत्यक्ष से; **महसा**=तेज द्वारा, लोक को अतिक्रान्त करने/सम्पूर्ण लोक को जाननेवाले प्रकाश द्वारा। **धीरोदात्तं**=धैर्य आदि गुणों से युक्त होने के कारण, धीर, निष्कंप, वह और वह उदात्त, उत्कट/उत्तम, धीरोदात्त; **अनाकुलं**=आकुलता से रहित; **मनः**=भव्य-जीव के मन को; **ल्हादयत्**=अत्यन्त हर्षित करता हुआ।

अर्थात्, पंच परावर्तनरूप संसार में बँधे हुए प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेशमय भेदवाले बन्धन की विधि को नष्ट कर देने से निर्मल; जीव और अजीव को पृथक्-पृथक् जाननेवाली विस्तृत दृष्टि से पार्षदों/सभापतिओं को प्रतीति-गोचर कर प्रगट होता हुआ; चैतन्यरूपी आत्मा के आराम/क्रीड़ा-वन/निवास-स्थान स्वरूप, अनन्त तेजवान, सम्पूर्ण लोकालोक को प्रकाशित करनेवाले केवलज्ञानरूपी प्रत्यक्ष तेज से नित्य उदित, धैर्य आदि गुणों से युक्त होने के कारण, धीर/निष्कम्प, उत्तम, आकुलता-रहित; भव्य-जीव के मन को अत्यन्त हर्षित करता हुआ, ज्ञान विलसित हो रहा है।।३३।।

अथ परविवेकेनोत्साहयति—

मालिनी : **विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन,**
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम्।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो,
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किञ्चोपलब्धिः ॥३४॥

टीका : *ननु* शब्दोऽत्र आमन्त्रणे। ***विरम*** विरक्तो भव संसारदुखादेः, परादवचो-व्यापाराच्च। ***अपरेण*** परकीयेन; ***अकार्यकोलाहलेन*** कार्यादन्योऽकार्यः —

तदभावे निषिद्धे च स्वरूपार्थेऽप्यतिक्रमे। ईषदर्थे च सादृश्यात्तद्विरुद्धतदन्ययोः ॥

इति नञ्शब्दस्य तदन्यवाचित्वात्, अकार्यश्चासौ कोलाहलश्च स, तेन। तथाहि- नैसर्गिकरागद्वेषकर्मकल्माषितं अध्यवसानमेव जीवः, तथाविधाध्यवसानादङ्गारस्येव

अब, अन्य के साथ या उत्कृष्ट विवेक द्वारा उत्साहित करते हैं—

मालिनी : **रुको! क्या पाया है व्यर्थ कोलाहलों से,**
खुद ही निश्चल हो मात्र छह मास देखो।
पृथक् पुद्गलों से ज्ञानमय आत्मा को,
हृदय सर में भासे प्राप्ति अप्राप्ति या हो।।३४।।

टीकार्थ : ननु=यह शब्द यहाँ आमन्त्रण/बुलाने के अर्थ में है। **विरम**=संसार के दुःखों से, पर से और वचन व्यापार/बोलने/चर्चा करने से विरक्त हो। **अपरेण**=दूसरों सम्बन्धी; **अकार्यकोलाहलेन**=कार्य से भिन्न अकार्य - ''उसके अभाव में, निषिद्ध में, स्वरूपार्थ के अतिक्रमण में, ईषद् अर्थ में, सादृश्य से विरुद्ध में, उससे अन्य अर्थ में इत्यादि में 'नञ्' शब्द का प्रयोग होता है।''

उनमें से यहाँ नञ् शब्द 'उससे अन्य' का वाचक होने के कारण, कार्य से अन्य अकार्य - ऐसा अर्थ किया है। अकार्य और वह कोलाहल, उससे। वह इस प्रकार -

१. जैसे सम्पूर्णतया कालेपन से पृथक्, कोई कोयला दिखाई नहीं देता है; उसी प्रकार उस प्रकार के अध्यवसान से पृथक्, अन्य कोई जीव दिखाई नहीं देता है; अतः नैसर्गिक/स्वयं से ही उत्पन्न हुए/स्वाभाविक राग-द्वेषरूपी कर्म से कल्माषित/मलिन अध्यवसान ही जीव है - ऐसा कोई कहते हैं।

कात्स्न्यात्तदतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वात् इति केचित्॥ १ ॥ अनाद्यनन्तपूर्वापरीभूतावयवैकसंसरणक्रियारूपेण क्रीडन् कर्मैव जीवः, कर्मणातिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वात् इति केचित्॥ २ ॥ तीव्रमन्दानुभवभिद्यमानदुरन्तरागरसनिर्भराध्यवसानसन्तान एव जीवस्ततोऽतिरिक्तस्यान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्॥ ३ ॥ नवपुराणावस्थादिभावेन वर्तमानं नोकर्मैव जीवः शरीरादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्॥ ४ ॥ विश्वमपि पुण्यपाप-रूपेणाक्रामन् कर्मविपाक एव जीवः शुभाशुभभावादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्॥ ५ ॥ सातासातरूपेणाभिव्याप्तसमस्ततीव्रमन्दगुणाभ्यां भिद्यमान कर्मानुभव एव जीवः सुखदुखातिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्॥ ६ ॥ मज्जितावदुभयात्मकत्वादात्मकर्मोभयमेव जीवः कात्स्न्यतः कर्मणोऽतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्॥ ७ ॥ अर्थक्रियासमर्थः कर्मसंयोग एव जीवः, कर्मसंयोगात्

---

२. कर्म से पृथक्रूप में अन्य कोई जीव प्राप्त नहीं होता है; अतः अनादि जिसका पूर्व अवयव है और अनन्त जिसका अपर/आगामी अवयव है – ऐसी एक संसरण क्रियारूप से क्रीड़ा करता हुआ, कर्म ही जीव है – ऐसा कोई कहते हैं।

३. उनसे पृथक् अन्य कोई जीव प्राप्त नहीं होता है; अतः तीव्र-मन्द अनुभव से भेदरूप होते हुए, दुरन्त (जिनका अन्त कठिनता से होता है – ऐसे) रागरूपी रस से भरे हुए अध्यवसानों की सन्तान/परम्परा ही जीव है – ऐसा कोई कहते हैं।

४. शरीर से पृथक् अन्य कोई जीव प्राप्त नहीं होता है; अतः नई-पुरानी अवस्था आदि भाव से वर्तता हुआ, नोकर्म (शरीर) ही जीव है – ऐसा कोई कहते हैं।

५. शुभाशुभ-भाव से पृथक् अन्य कोई जीव प्राप्त नहीं होता है; अतः सम्पूर्ण विश्व को ही पुण्य-पापरूप से आक्रान्त/व्याप्त करता हुआ, कर्म का विपाक ही जीव है – ऐसा कोई कहते हैं।

६. सुख-दुःख से पृथक् अन्य कोई जीव प्राप्त नहीं होता है; अतः साता-असातारूप से व्याप्त, समस्त तीव्र-मन्द गुणों से भेदरूप होनेवाला कर्म का अनुभव ही जीव है – ऐसा कोई कहते हैं।

७. सम्पूर्ण/सभी कर्मों से पृथक् अन्य कोई जीव प्राप्त नहीं होता है; अतः मिले हुए के समान उभयात्मकता होने के कारण, आत्मा और कर्म – दोनों ही जीव हैं – ऐसा कोई कहते हैं।

खट्वाया इव काष्ठसंयोगादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्॥ ८॥ एवमेवं प्रकारेण कोलाहलेन ***किं ?*** न किमपि। तर्हि किं कर्तव्यं ? ***एकं षण्मासं*** षण्मासपर्यन्तं; ***पश्य*** अवलोकय। किम्भूतः सन् ? ***स्वयमपि*** स्वत एव परनिरपेक्षो भूत्वा; ***निभृतः सन्*** निश्चलः सन् समस्तव्यापार-तन्वादिचिन्तां विहाय। क्व ? ***हृदयसरसि*** हृदयं चित्तमेव, सरः सरोवरं, तस्मिन्। ***पुंसः*** आत्मनः; तदा ***अनुपलब्धिः*** अप्राप्तिः; ***किं भाति*** प्रतिभासते ? ***च*** पुनः, पक्षान्तरे ***उपलब्धिः*** प्राप्तिः, ***किं*** भाति, निश्चलं स्वात्मस्वरूपेऽवलोकिते सति षण्मासाभ्यन्तरे आत्मनः, अनुपलब्धिः उपलब्धिर्वा भवति इत्यर्थः। किम्भूतस्य पुंसः ? ***पुद्गलात्*** परमाण्वादिद्रव्यात्; ***भिन्नधाम्नः*** भिन्नं अतिरिक्तं, धाम तेजो यस्य तत्॥ ३४॥

८. जैसे काष्ठ के संयोग से पृथक् कोई खाट/पलंग दिखाई नहीं देता है; उसी प्रकार कर्म के संयोग से पृथक् अन्य कोई जीव प्राप्त नहीं होता है; अतः अर्थ-क्रिया (प्रयोजनभूत क्रिया) करने में समर्थ कर्म का संयोग ही जीव है - ऐसा कोई कहते हैं।

इस-इस प्रकार के कोलाहल से **किं**=क्या (लाभ है)? कुछ भी नहीं है। तब क्या करना चाहिए? **एकं षण्मासं**=मात्र छह महिने पर्यन्त; **पश्य**=देखो। कैसे होकर देखें? **स्वयमपि**=स्वयं ही पर से निरपेक्ष होकर; **निभृतः सन्**=निश्चल होकर, व्यापार, शरीर आदि की सभी चिन्ताओं को छोड़कर। कहाँ देखें? **हृदयसरसि**=हृदय=चित्त ही है सर= सरोवर/तालाब, उसमें देखो। **पुंसः**=आत्मा की; तब/उस समय **अनुपलब्धिः**=अप्राप्ति; **किं भाति**=क्या प्रतिभासित होती है? **च**=और, अन्य पक्ष में; **उपलब्धिः**=प्राप्ति; **किं**= क्या प्रतिभासित होती है? निश्चल होकर स्वात्म-स्वरूप का अवलोकन करने पर, छह माह के अन्दर आत्मा की अनुपलब्धि या उपलब्धि होती है (इसका निर्णय स्वयं हो जाता है) - ऐसा अर्थ है। कैसे आत्मा का ऐसा होता है? **पुद्गलात्**=परमाणु आदि पुद्गल-द्रव्य से; **भिन्नधाम्नः**=भिन्न, अतिरिक्त/पृथक्, धाम=तेज है जिसका, उसका ऐसा होता है।

अर्थात्, हे जीवो! संसार के दुःखों से, पर से, वचन-व्यापार आदिरूप चर्चा-वार्ता से, दूसरों सम्बन्धी अकार्य कोलाहल से क्या लाभ है? अतः विरक्त हो जाओ और स्वयं ही पर से पूर्ण निरपेक्ष हो; व्यापार, शरीर आदि की सभी चिन्ताओं को छोड़कर, निश्चल होकर, मात्र छह महिने पर्यन्त, परमाणु आदि पुद्गल-द्रव्यों से पृथक् ज्ञान तेजमय आत्मा को अपने हृदयरूपी तालाब में देखो। निश्चल होकर स्वात्म-स्वरूप का अवलोकन करने

अथ सकलद्रव्यव्यतिरिक्तमात्मद्रव्यं विचकास्ति—

मालिनी : **सकलमपि विहायाह्वाय चिच्छक्तिरिक्तं**
स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रम्।
इममुपरि चरन्तं चारु विश्वस्य साक्षात्
कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनन्तम्॥३५॥

टीका : ***कलयतु*** ध्यायतु पश्यतु जानातु वा कलिवलिकामधेनुरिति वचनात्। कः ? ***आत्मा*** चिद्रूपः; कं ? ***इमं*** प्रत्यक्षीभूतं स्वानुभवादिभिः; ***आत्मानं*** स्वस्वरूपं; क्व ? ***आत्मनि*** स्वस्वरूपे; किभूतं ? ***साक्षात्*** प्रत्यक्षं; ***चारु*** प्रतिष्ठितं; **विश्वस्य** जगतः; ***उपरि चरन्तं*** अग्रिमभागे परिस्फुरन्तं लोकातिशायिमाहात्म्यं, लोकालोकपरिच्छेदकं वा चरधातोर्ज्ञानार्थवाचकत्वात्। ***परं*** उत्कृष्टं; ***अनन्तं*** अन्तातीतं; किं कृत्वा ? ***स्वं*** आत्मानं

पर उसकी अनुपलब्धि होती है या उपलब्धि - यह स्वयं ही ज्ञात हो जाता है; अर्थात्, इस प्रकार प्रयास करने पर भव्य को तो आत्मोपलब्धि होती ही है।।३४।।

अब, सभी द्रव्यों से पृथक्, आत्म-द्रव्य को प्रकाशित करते हैं—

मालिनी : **चित् शक्ति शून्य सर्व को शीघ्र छोड़ो,**
चित् शक्तिमात्र व्यक्त साक्षात् नित जो।
उत्तम सब ज्ञाता सुप्रतिष्ठित सभी से,
स्व का अनुभवकर इस स्वयं को हि ध्याओ।।३५।।

टीकार्थ : कलयतु=ध्याओ, देखो या जानो; 'कल् और बल् धातु, कामधेनु के समान अनेक अर्थों की वाचक है' - ऐसा वचन होने से। कौन ध्याए? **आत्मा**=चिद्रूप आत्मा ध्याए। वह किसे ध्याए? **इमं**=स्वानुभव आदि से प्रत्यक्ष होनेवाले इस; **आत्मानं**= अपने स्वरूप को ध्याए। इसे कहाँ ध्याए? **आत्मनि**=अपने स्वरूप में ध्याए। वह कैसा है? **साक्षात्**=प्रत्यक्ष; **चारु**=प्रतिष्ठित; **विश्वस्य**=जगत के; **उपरि चरन्तं**=अग्रिम भाग में/ ऊपर शिखर पर स्फुरायमान, लोकातिशायि/लोकोत्तर महिमावाला है अथवा चर् धातु में ज्ञानार्थ की वाचकता होने से (चर् का एक अर्थ, ज्ञान भी है) लोकालोक का परिच्छेदक है/उसे जानता है। **परं**=उत्कृष्ट है; **अनन्तं**=अन्तातीत/अन्त से रहित है। क्या करके ध्याएँ? **स्वं**=अपना/आत्मा का; **अवगाह्य**=अनुभव करके ध्याओ। वह स्व कैसा है?

अवगाह्य अनुभूय; किम्भूतं स्वं ? ***चिच्छक्तिमात्रं*** ज्ञानशक्तिमात्रं; ***स्फुटतरं*** अतिव्यक्तं ***च*** पुनः किम्कृत्य ? ***विहाय*** त्यक्त्वा ***सकलमपि*** समस्तमपि परद्रव्यं नत्वेकदेशेनेत्यपि-शब्दार्थः। किम्भूतं तत् ? ***चिच्छक्तिरिक्तं*** ज्ञानशक्तिमुक्तं अचेतनमिति यावत्। ***अह्नाय*** शीघ्रं, शीघ्रवाच्यमव्ययं स्रग्झगित्यञ्जसाह्नाय इत्यमरः ॥ ३५ ॥

अथ चेतनाचेतने विभजति—

अनुष्टुप् : **चिच्छक्ति-व्याप्त-सर्वस्व-सारो जीव इयानयम्।**
अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि भावाः पौद्गलिका अमी ॥३६ ॥

टीका : ***अयं जीवः*** आत्मा; ***इयान्*** एतावन्मात्रः; **चिच्छक्तिव्याप्त-सर्वस्वसारः** चिच्छक्त्या ज्ञानाविभागप्रतिच्छेदेन, व्याप्तं सर्वस्वसारं सर्वतः सामस्त्येन, सारं अन्तर्भागो यस्य स; ***अमी*** प्रत्यक्षाः शरीरादयः; ***सर्वेऽपि*** समस्ता अपि; ***भावाः*** पदार्थाः; ***पौद्गलिकाः***

चिच्छक्तिमात्रं=ज्ञान-शक्तिमात्र है; **स्फुटतरं**=अति व्यक्त है; **च**=और। क्या करके ध्याएँ? **विहाय**=छोड़कर; **सकलमपि**=सभी पर-द्रव्यों को पूर्णतया; एकदेश से नहीं - ऐसा 'अपि' शब्द का अर्थ है। वे कैसे हैं? **चिच्छक्तिरिक्तं**=ज्ञान-शक्ति से रहित, अचेतन हैं - ऐसा अर्थ है। **अह्नाय**=शीघ्र; ''स्रक्, झगिति, अंजसा, अह्नाय - इन अव्ययों का वाच्य/अर्थ, शीघ्र है।'' - ऐसा अमरकोश (में वर्णित है)।

अर्थात्, हे जीवो! चित्शक्ति से पृथक् सभी पर-पदार्थों को पूर्णतया छोड़कर; अति व्यक्त, ज्ञान-शक्तिमात्र अपने आत्मा का अनुभव करो! प्रत्यक्ष, प्रतिष्ठित, लोकोत्तर महिमा-सम्पन्न, सम्पूर्ण लोकालोक को जाननेवाले, उत्कृष्ट, अविनाशी, स्वानुभव आदि से प्रत्यक्ष होनेवाले इस आत्मा/अपने स्वरूप को, अपने स्वरूप में शीघ्र ध्याओ।।३५।।

अब, चेतन और अचेतन में विभाग/भेद-ज्ञान करते हैं—

अनुष्टुप् : **चित् शक्ति व्याप्त सर्वस्व, सारमय यह जीव बस।**
मात्र इतना अतः भिन्न, ये सभी भाव पौद्गलिक।।३६।।

टीकार्थ : अयं जीवः=यह आत्मा; **इयान्**=इतना मात्र; **चिच्छक्तिव्याप्त-सर्वस्वसारः**=चित्शक्ति से, ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद से व्याप्त सर्वस्वसार, सर्वतः, सम्पूर्णरूप से, सार=अन्तर्भाग है जिसका, वह; **अमी**=ये शरीर आदि प्रत्यक्ष; **सर्वेऽपि**=सभी; **भावाः**=पदार्थ; **पौद्गलिकाः**=पुद्गल में होनेवाले, पौद्गलिक; **अतः**=इस कारण चैतन्य से; **अतिरिक्ताः**=भिन्न, ज्ञान से रहित हैं - ऐसा अर्थ है।

पुद्गले भवाः पौद्गलिकाः; ***अतः*** एतस्मात् चैतन्यात्; ***अतिरिक्ताः*** भिन्नाः ज्ञानशून्या इत्यर्थः ॥३६ ॥

अथ वर्णादीनां विविक्तं बम्भण्यते—

शालिनी :

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा,
भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः ।
तेनैवान्तस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी नो,
दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् ॥ ३७ ॥

टीका : ***अस्य*** प्रत्यक्षस्य; ***पुंसः*** आत्मनः; ***वर्णाद्या*** वर्णगन्धरसस्पर्श-रूपशरीरसंस्थानसंहननादयो बहिर्भावाः; ***वा*** पुनः; ***रागमोहादयः*** रागद्वेषमोहप्रत्ययकर्म-नोकर्मवर्गवर्गणास्पर्धकाध्यात्मस्थानानुभागस्थानयोगस्थानबन्धस्थानोदयस्थानमार्गणास्थान-स्थितिबन्धस्थानसंक्लेशस्थानविशुद्धिस्थानसंयमलब्धिस्थानजीवस्थानगुणस्थानादयः; ***सर्वे*** समस्ताः; ***एव*** निश्चयेन, ***भावाः*** पदार्थाः; ***भिन्ना*** अतिरिक्ताः, आत्मातिरिक्ता इत्यर्थः ।

अर्थात्, ज्ञान के अविभाग-प्रतिच्छेदरूप चित्शक्ति से व्याप्त सर्वस्व सारमय यह आत्मा इतना मात्र ही है। ये दृष्टि-गोचर शरीर आदि सभी पदार्थ, पौद्गलिक हैं; अतः मुझ चैतन्य से पूर्णतया पृथक्, चेतना-शून्य हैं।।३६।।

अब, वर्णादि की पृथक्ता का प्ररूपण करते हैं—

शालिनी :

वर्णादि या राग मोहादि सब ही,
पृथक् ये पदार्थ नित्य इस आत्मा से।
इससे अन्दर ही तत्त्वतः देखते जो,
उन्हें एक उत्तम दिखे ये न दिखते।।३७।।

टीकार्थ : अस्य=इस प्रत्यक्ष; **पुंसः**=आत्मा के; **वर्णाद्या**=वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान, संहनन आदि बहिर्भाव; **वा**=और; **रागमोहादयः**=राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बन्धस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबन्धस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, संयम-लब्धिस्थान, जीवस्थान, गुणस्थान आदि; **सर्वे**=समस्त; **एव**=ही, निश्चय से; **भावाः**=पदार्थाः; **भिन्नाः**=पृथक्, आत्मा से अतिरिक्त/अलग हैं - ऐसा अर्थ है। वर्णादि

तेनैव वर्णादीनां भिन्नत्वकारणेनैव; ***तत्त्वतः*** परमार्थतः; ***अन्तः*** अभ्यन्तरे स्वस्वरूपे; ***पश्यतः*** अवलोकयतः स्वध्यानं कुर्वत इति भावः। ***अमी*** वर्णरागादयः; ***नो दृष्टाः*** नावलोकिताः; ***स्युः*** भवेयुः। अन्तोऽवलोकने सति किं दृष्टं? ***एकं*** अद्वितीयं; ***परं*** उत्कृष्टं परमात्मानमित्यर्थः; ***दृष्टं*** अवलोकितं; ***अन्तः पश्यतः*** पुंसः; ***स्यात्*** भवेत्॥ ३७॥

अथ पुद्गलेन निर्वृत्तस्य पौद्गलिकत्वं पिपर्ति—

उपजाति : **निर्वर्त्यते येन यदत्र किञ्चित्तदेव तत्स्यान्न कथञ्चनान्यत्।**
रुक्मेण निर्वृत्तमिहासिकोशं पश्यन्ति रुक्मं न कथञ्चनासिम्॥ ३८॥

टीका : ***अत्र*** जगति; ***यत्*** शरीरादिः; ***किञ्चित्*** किमपि; ***येन*** पुद्गलादिना; ***निर्वर्त्यते*** निष्पाद्यते; ***तत्*** शरीरादिः; ***तदेव*** पौद्गलिकमेव, ***स्यात्*** भवेत्। ***कथञ्चन***

का उसी भिन्नतारूप कारण से ही; **तत्त्वतः**=परमार्थ से/वास्तव में; **अन्तः**=अभ्यन्तर अपने स्वरूप में; **पश्यतः**=देखनेवाले, अवलोकन करनेवाले, अपना ध्यान करनेवाले को - ऐसा भाव है। **अमी**=ये वर्णादि और रागादि; **नो दृष्टाः**=अवलोकित नहीं; **स्युः**=होते हैं/दिखाई नहीं देते हैं। अन्दर देखने पर क्या दिखाई देता है? **एकं**=एक, अद्वितीय; **परं**=उत्कृष्ट परमात्मा का - ऐसा अर्थ है; **दृष्टं**=अवलोकन; **अन्तःपश्यतः**=अन्दर देखनेवाले पुरुष को; **स्यात्**=होता है।

अर्थात्, वर्ण, गन्ध आदि बहिर्भाव और राग, मोह आदि ये भाव, वास्तव में इस प्रत्यक्ष आत्मा से पूर्णतया पृथक् ही हैं; अतः परमार्थ से अपने स्वरूप को अन्दर देखनेवाले, इसका ध्यान करनेवाले जीवों को ये सभी वर्णादि या रागादि भाव, दिखाई नहीं देते हैं। अन्दर देखनेवाले जीवों को मात्र एक, अद्वितीय, उत्कृष्ट परमात्मा ही दिखाई देता है।।३७।।

अब, पुद्गल से बने हुए का पौद्गलिकत्व प्ररूपित करते हैं—

उपजाति : **बना जो जिससे वह है उसीमय,**
न अन्यमय हो सकता कभी भी।
ज्यों स्वर्ण निर्मित असिकोश स्वर्ण,
न हो सके स्वर्ण खड्ग कभी भी।।३८।।

टीकार्थ : अत्र=यहाँ जगत में, **यत्**=जो शरीरादि; **किञ्चित्**=कुछ भी; **येन**=जिस पुद्गल आदि से; **निर्वर्त्यते**=रचा/निष्पन्न होता है; **तत्**=वह शरीरादि; **तदेव**=वही पौद्गलिक

केनापि प्रकारेण संस्कारादिना; ***अन्यत्*** पुद्गलातिरिक्तं न भवेत् अथवा अन्यत् आत्मादिद्रव्यं केनापि प्रकारेण पौद्गलिकं न हि। इममर्थं दृष्टान्तयति – ***इह*** जगति; ***रुक्मेण*** कार्तस्वरेण; ***निर्वृत्तं*** निष्पन्नं; ***असिकोशं*** कनकपत्रनिष्पन्नं खड्गपेटारकं; ***रुक्मं*** सौवर्णं; ***पश्यन्ति*** अवलोकयन्ति सर्वे व्यवहारिणः। ***कथञ्चन*** केनापि प्रकारेणाधाराधेयादिना; ***असिं*** खडगं न सौवर्णं पश्यन्ति॥ ३८॥

अर्थ वर्णादीनां पौद्गलिकत्वं पूरयति—

उपजाति : **वर्णादिसामग्र्यमिदं विदन्तु निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य।**
ततस्त्विदं पुद्गल एव नात्मा यतः स विज्ञानघनस्ततोऽन्यः॥ ३९॥

ही; **स्यात्**=होता है। **कथञ्चन**=किसी भी प्रकार से, संस्कारादि द्वारा भी; **अन्यत्**=पुद्गलादि से पृथक्, अन्य रूप नहीं होता है; अथवा अन्य आत्मादि द्रव्य, किसी भी प्रकार पौद्गलिक नहीं होते हैं। इस अर्थ को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं – **इह**=यहाँ जगत में; **रुक्मेण**=स्वर्ण से; **निर्वृत्तं**=निष्पन्न/बना; **असिकोशं**=स्वर्ण के पत्र से बने खड़ग-पेटारक/पिटारा/म्यान को; **रुक्मं**=सौवर्ण/स्वर्णरूप; **पश्यन्ति**=अवलोकन करते हैं/देखते हैं सभी व्यवहारी-जन। **कथञ्चन**=किसी भी प्रकार से, आधार-आधेय आदि की अपेक्षा भी; **असिं**=खड़ग को स्वर्ण रूप नहीं देखते हैं।

अर्थात्, लोक में स्वर्ण-पत्र से बनी हुई म्यान को सभी व्यवहारी-जन, स्वर्णरूप ही देखते हैं; आधार-आधेय सम्बन्ध की अपेक्षा भी उसमें रखी तलवार को स्वर्णरूप नहीं देखते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो जिससे बना होता है, वह उसी रूप होता है; संस्कारादि द्वारा भी अन्य रूप नहीं होता है। इस प्रकार पुद्गल से बने शरीरादि, पौद्गलिक ही हैं; आत्मा आदि नहीं हैं। आत्मा भी पौद्गलिक आदि नहीं है।।३८।।

अब, वर्णादि की पुद्गलता पुष्ट करते हैं—

उपजाति : **वर्णादि सब ही हैं एकमात्र,**
पुद्गल कि रचना यों पौद्गलिक ही।
जानों सदा ही विज्ञानघनमय,
आतम अतः उनसे अन्य नित ही।।३९।।

टीकार्थ : विदन्तु=जानें, दक्ष/वस्तु-स्वरूप को जानने में निपुण – ऐसा अध्याहार्य

टीका : ***विदन्तु*** जानन्तु, दक्षाः इत्याध्याहार्यम्। ***इदं*** प्रत्यक्षं; ***वर्णादिसामग्र्यं*** वर्णादीनि वर्णगन्धरसस्पर्शशरीरसंस्थानसंहननादीनि तेषां सामग्र्यं समग्रस्य भावः सामग्र्यं; ***निर्माणं एकस्य*** धर्मादिपञ्चद्रव्यनिरपेक्षस्य ***पुद्गलस्य*** पुद्गल-परमाणुद्रव्यस्य; ***हि*** इति निश्चितं; नान्यन्निष्पादितं; ***ततः*** तस्मात् कारणात् वर्णादिनिर्माणस्य पुद्गलत्वसाधनात्; ***इदं तु*** वर्णादि-पुद्गल एव वर्णादिनामप्रकृतिनिष्पादितत्वात्; ***नात्मा*** चिद्रूपो नहि। वर्णादि चिद्रूपः कुतो न? ***यतः*** यस्माद्धेतोः; ***सः*** आत्मा, ***विज्ञानघनः*** विशिष्टेन ज्ञानेन बोधेन, घनो निविड़ः, विज्ञानस्य घनो यत्र स तथोक्तः। ***ततः*** वर्णादीनां विज्ञानाभावात्; ***अन्यः*** वर्णादेर्भिन्न एव॥ ३९॥

अथ जीवानां वर्णादिप्रतिपादनं मिथ्येति मथ्नाति—

है। **इदं**=यह प्रत्यक्ष; **वर्णादिसामग्र्यं**=वर्णादि=वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शरीर, संस्थान, संहनन आदि, उनका सामग्र्य/समूह, समग्र का भाव सामग्र्य; **निर्माणं एकस्य**=धर्मादि पाँच द्रव्यों से निरपेक्ष, **पुद्गलस्य**=परमाणुमय एक पुद्गल की रचना है। **हि**=यह निश्चित है कि ये किसी दूसरे से निष्पादित नहीं हैं। **ततः**=उस कारण, वर्णादि के निर्माण का साधन पुद्गल होने से; **इदं तु**=वर्ण आदि नाम-कर्म की प्रकृतिओं से निष्पादित होने के कारण ये वर्णादि, पुद्गल ही हैं; **नात्मा**=चिद्रूप आत्मा नहीं हैं। वर्णादि, चिद्रूप क्यों नहीं हैं? **यतः**=जिस कारण; **सः**=वह आत्मा; **विज्ञानघनः**=विशिष्ट ज्ञान, बोध से, घन=निविड़, विज्ञान का घन जहाँ है वह, उस प्रकार का कहा हुआ। **ततः**=इसलिए वर्णादि के विज्ञान का अभाव होने से; **अन्यः**=आत्मा वर्णादि से भिन्न ही है।

अर्थात्, वर्णादि सभी भावों की रचना; धर्म, अधर्म, आकाश, काल; जीव से पूर्णतया निरपेक्ष एकमात्र पुद्गल की ही है; इस कारण वे सभी पुद्गल ही हैं। विज्ञान-घन-स्वभावी यह आत्मा, उनसे पूर्णतया पृथक् ही है। वर्णादि में विज्ञान का अभाव होने के कारण, वे आत्मा से पूर्णतया पृथक् ही हैं।।३९।।

अब, 'जीवों के वर्णादि हैं' - ऐसा प्रतिपादन मिथ्या है; इसे विशेष स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुप् : **घी का घड़ा कहें तो भी, घड़ा घीमय न हो कभी।**
वर्णादिवान है आतम कहें पर हो न उन मयी।।४०।।

अनुष्टुप् : **घृतकुम्भाभिधानेऽपि कुम्भो घृतमयो न चेत्।**
जीवो वर्णादिमज्जीवजल्पनेऽपि न तन्मयः ॥ ४० ॥

टीका : *चेत्* यदि; ***कुम्भः*** कलशः; ***घृतमयः*** घृतेन आज्येन; निर्वृत्तः घृतमयः; ***न*** भवेत्; ***घृतकुम्भाभिधाने*** घृतस्य कुम्भ इत्यभिधाने; ***अपि*** न केवलं, अनभिधानेऽपि इत्यपि शब्दार्थः। तर्हि ***जीवः*** आत्मा; ***तन्मयः*** वर्णादिमयो ***न*** हि; क्व सति? ***वर्णादिमज्जीवजल्पनेऽपि*** मुग्धं प्रति वर्णादिमानयं जीवः — इति सूत्रे लोकव्यवहारे च जल्पनेऽपि।

यथैव हि कस्यचिदाजन्मप्रसिद्धैकघृतकुम्भस्य तदन्यमृण्मयकुम्भानभिज्ञस्य प्रबोधनाय योऽयं घृतकुम्भः स मृण्मयो न घृतमय इति तथा कुम्भे घृतकुम्भ इति व्यवहारः; तथाऽस्याज्ञानिनो लोकस्यासंसारप्रसिद्धाशुद्धजीवस्य शुद्धजीवानभिज्ञस्य प्रबोधनाय योऽयं वर्णादिमान् जीवः स ज्ञानमयो, न वर्णादिमय इति तत्प्रसिद्ध्या जीवे वर्णादिमद् व्यवहारः ॥ ४० ॥

टीकार्थ : चेत्=यदि; **कुम्भः**=कलश; **घृतमयः**=घृत, आज्य/घी से निर्वृत्त/रचा हुआ, घृतमय; **न**=नहीं है; **घृतकुम्भाभिधाने**=घृत का कलश - ऐसा कहने पर; **अपि**=न केवल कहने पर, अपितु नहीं कहने पर भी - ऐसा 'अपि' शब्द का अर्थ है। तब **जीवः**= आत्मा; **तन्मयः**=वर्णादिमय, **न**=नहीं है। क्या होने पर भी नहीं है? **वर्णादिमज्जीव-जल्पनेऽपि**=अज्ञानी के प्रति - 'यह जीव, वर्णादिवान है' - ऐसा सूत्र और लोक-व्यवहार में कहा जाने पर भी।

जन्म से ही घी के घड़ेरूप में ज्ञात घड़ेवाले और घड़ा मिट्टीमय है, इससे अजानकार किसी को समझाने के लिए, जैसे जो यह घी का घड़ा है, वह मिट्टीमय है; घीमय नहीं है, घड़े में घी रखा होने के कारण उसे घी का घड़ा कहा जाता है - ऐसा व्यवहार है; उसी प्रकार अनादि से ही अशुद्ध जीव के जानकार और शुद्ध जीव को नहीं जाननेवाले इस अज्ञानी लोक को समझाने के लिए, जो यह वर्णादिवान जीव है, वह ज्ञानमय है; वर्णादिमय नहीं है; इस प्रकार उसे प्रसिद्ध होने से/पहले से ज्ञात होने के कारण, जीव में वर्णादिवान का व्यवहार कर दिया जाता है; (परन्तु इतने मात्र से जीव, वर्णादिवाला नहीं हो जाता है; वह तो ज्ञानमय ही है - ऐसा स्वीकार करना चाहिए)।।४०।।

ननु वर्णादीनां रागादीनां च जीवत्वाभावे को जीवः इति वावच्यते—

अनुष्टुप् : **अनाद्यनन्तमचलं स्वसम्वेद्यमिदं स्फुटम्।**
जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते॥ ४१॥

टीका : ***इदं*** प्रत्यक्षं ***चैतन्यं*** चेतनत्वं; ***स्वयं*** स्वतः पुद्गलाद्यनपेक्षत्वेन; ***तु*** इति निश्चितं; ***जीवः*** आत्मा; चैतन्यमन्तरेण अन्यस्यानुपलभ्यमानत्वात्; ***उच्चैः*** सकल-श्रेष्ठत्वात्; ***चकचकायते*** चाकचक्यतया शोभते; किं भूतं? ***अनादिः*** कदाचिदपि तस्योत्पत्तेरभावात्; ***अनन्तं*** अन्तातिक्रान्तं विनाशरहितत्वात्। अनादिनिधनत्वे तर्हि कीदृशं? ***अचलं*** विनाशरहितत्वात्। तर्ह्यस्तीति कथं ज्ञायते? ***स्वसम्वेद्यं*** अहं सुखी, दुःख्यहमित्यादि-रूपस्वसम्वेदनप्रत्यक्षं; ***स्फुटं*** व्यक्तं, धर्मादिद्रव्याणामचेतनत्वेनास्फुटत्वात्॥ ४१॥

जीवत्व में वर्णादि और रागादि का अभाव होने पर अथवा वर्णादि और रागादि के जीवत्व का अभाव होने पर, जीव कौन है? – ऐसा प्रश्न होने पर उसके उत्तररूप में विवेचन करते हैं—

अनुष्टुप् : **अनाद्यनन्त निष्कम्प, स्वसम्वेद्य स्वयं प्रगट।**
उत्कृष्ट जीव चैतन्य जगमगाता सुशोभित।।४१।।

टीकार्थ : **इदं**=यह प्रत्यक्ष; **चैतन्यं**=चेतनता; **स्वयं**=स्वतः पुद्गल आदि से निरपेक्षरूप में; **तु**=इस प्रकार निश्चित/यह निर्णय वाचक अव्यय है; **जीवः**=आत्मा, चैतन्य के विना अन्य की (अपनेरूप में) उपलब्धि नहीं होने के कारण, मैं स्वयं; **उच्चैः**=सभी में श्रेष्ठ होने के कारण, उत्कृष्टरूप में; **चकचकायते**=चाकचक्यरूप से/जगमगाता हुआ/प्रकाशित होता हुआ सुशोभित हो रहा है। वह कैसा है? **अनादिः**=कभी भी/सदैव उसकी उत्पत्ति का अभाव होने के कारण, सदा से है; **अनन्तं**=विनाश से रहित होने के कारण, अन्त से अतिक्रान्त, सदा रहेगा। अनादि अनन्त होने पर वह कैसा है? **अचलं**=विनाश से रहित होने के कारण, अचल/निष्कम्प है। तब फिर 'वह है' – ऐसा कैसे ज्ञात होता है? **स्वसम्वेद्यं**=मैं सुखी, मैं दुखी इत्यादिरूप स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से 'वह है' – यह ज्ञात हो जाता है। **स्फुटं**=व्यक्त है; धर्मादि द्रव्यों के अचेतनता होने से स्फुटता नहीं होने के कारण (वे व्यक्त नहीं हैं)।

अर्थात्, पुद्गल आदि से पूर्ण निरपेक्ष स्वयं, उत्पत्ति से पूर्णतया रहित होने के कारण अनादि और विनाश से पूर्णतया रहित होने के कारण, अनन्त-अचल; मैं सुखी, मैं दुखी

अथाजीवभेदं विकाश्य जीवतत्त्वमालम्बते—

शार्दूलविक्रीडित : **वर्णाद्यैः सहितस्तथा विरहितो द्वेधास्त्यजीवो यतो,**
नामूर्तत्वमुपास्य पश्यति जगज्जीवस्य तत्त्वं ततः।
इत्यालोच्य विवेचकैः समुचितं नाव्याप्यतिव्यापि वा,
व्यक्तं व्यञ्जितजीवतत्त्वमचलं चैतन्यमालम्ब्यताम्॥ ४२॥

टीका : ततः तस्मात् कारणात्; ***जगत्*** गच्छति जानातीति जगत्, द्युतिगमोऽर्थे च इति क्विप्; ज्ञानवत्प्राणिसमूहः। ***अमूर्तत्वं*** मूर्तत्वरहितं; ***उपास्य*** आश्रित्य; ***जीवस्य*** आत्मनः; ***तत्त्वं*** स्वरूपं; ***पश्यति*** अवलोकयति; न हि यद्‌यदमूर्तं तत्तज्जीवतत्त्वमिति जीवेनामूर्तत्वस्य व्याप्त्यभावात्। कुतः ? ***यतः*** यस्मात् कारणात् ***अजीवः*** अजीवपदार्थः; ***द्वेधा*** द्विप्रकारः; ***अस्ति*** वर्तते। एको भेदः ***वर्णाद्यैः*** रूपगन्धरसस्पर्शाद्यैः; ***सहितः*** युक्तः; परमाण्वादिपुद्गलपिण्डानां वर्णात्मकत्वेन मूर्तत्वात्। ***तथा*** तेनैव प्रकारेण; द्वितीयो भेदः

इत्यादिरूप में स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष से सदा ज्ञात; चेतनता के कारण नित्य व्यक्त; चेतना-स्वभावी यह जीव, सभी में श्रेष्ठ होने के कारण, उत्कृष्टरूप में जगमगाता हुआ सुशोभित है।।४१।।

अब, अजीव के भेदों को प्रकाशित कर, जीव-तत्त्व का आलम्बन लेते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **वर्णादि से सहित और विरहित अज्जीव दो भेद यों।**
तात्त्विक जीव अमूर्त यों न मानो न देखना प्राणिओ।।
अव्याप्ति अतिव्याप्ति दोष विरहित समुचित अचल व्यक्त जो।
बतलाता जीवत्व को चिन्मयी चैतन्य अवलम्ब लो।।४२।।

टीकार्थ : ततः=उस कारण; **जगत्**=जो जाता है, जानता है, वह जगत है, 'द्युति और गमन अर्थ में क्विप् प्रत्यय हो जाता है' - इस सूत्र से जगत शब्द बन गया है; जिसका अर्थ है ज्ञानवान प्राणिओं का समूह। **अमूर्तत्वं**=मूर्तता से रहित; **उपास्य**=आश्रय कर; **जीवस्य**=आत्मा के; **तत्त्वं**=स्वरूप का; **पश्यति**=अवलोकन करता है; **न**=परन्तु ऐसा नहीं है; क्योंकि; **अजीवः**=अजीव पदार्थ; **द्वेधा**=दो भेदवाला; **अस्ति**=है। एक भेद **वर्णाद्यैः**=रूप, गन्ध, रस, स्पर्श आदि से; **सहितः**=युक्त, परमाणु आदिरूप पुद्‌गल पिण्डों के वर्णात्मकता होने के कारण मूर्तता होने से, वे इनसे सहित हैं। **तथा**=उसी प्रकार से दूसरा

तैर्विरहितः धर्माधर्माकाशकालानां वर्णादिरहितत्वेनामूर्तत्वात्।

इति अमुना प्रकारेण; ***अमूर्तत्वं*** जीवस्वरूपं न; ***आलोच्य*** निश्चित्य; कैः ? ***विवेचकैः*** भेदविज्ञानयुक्तपुम्भिः ***आलम्ब्यतां*** सेव्यतां; किं ? ***चैतन्यं*** चेतनत्वं; ***व्यञ्जित -जीवतत्त्वं*** व्यञ्जितं जीवस्य स्वरूपं येन तत् तत्त्वं; ***अचलं*** परलक्ष्येऽभावाच्चञ्चलता-रहितं; ***समुचितं*** सम्यक् प्रकारेण तत्रोचितं युक्तम्। लक्षणस्य त्रीणि दूषणानि-अव्याप्त्यतिव्याप्त्यसम्भवरूपाणि तत्राव्यापि नैतल्लक्षणं स्वलक्ष्ये जीवे सर्वत्र विद्यमानत्वात्। गोः शावलेयत्ववद***व्यापि न च। वा*** पुनः; ***अतिव्यापि न*** च स्वलक्ष्यं जीवलक्षणं विहायान्यत्र गोः पशुत्ववद्विद्यमानत्वाभावात्। पुनः गव्येकशफत्ववदसम्भवं न च यतः, ***व्यक्तं*** तत्रैव तत्र सर्वत्रैव विद्यमानत्वात्। अथवा समुचितपदेनासम्भवपरिहारः॥ ४२॥

भेद **तैर्विरहितः**=धर्म, अधर्म, आकाश, काल के वर्णादि से रहितपना होने के कारण अमूर्तता होने से, वे इनसे रहित हैं।

इति=इस प्रकार; **अमूर्तत्वं**=अमूर्तता, जीव का स्वरूप नहीं है; **आलोच्य**=ऐसा निश्चित कर; किनके द्वारा निश्चित कर? **विवेचकैः**=भेद-विज्ञान से युक्त पुरुषों द्वारा निश्चित कर; **आलम्बतां**=अवलम्बन लो, सेवन करो। क्या/किसका सेवन करें? **चैतन्यं**=चेतनता का सेवन करें। **व्यंजितजीवतत्त्वं**=जीव का स्वरूप जिसके द्वारा प्रगट किया गया है, वह तत्त्व; **अचलं**=पर-लक्ष्य में अभाव होने से अथवा जीव में पर-लक्ष्यी भावों का अभाव होने से, चंचलता-रहित है। **समुचितं**=सम्यक् प्रकार से वहाँ उचित, युक्त है। लक्षण के अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असम्भवरूप तीन दोष हैं, उनमें से **अव्यापि**=स्व लक्ष्यभूत जीव में सर्वत्र विद्यमान होने के कारण, इस चेतनतारूप लक्षण में, गाय के चितकबरेपन के समान अव्याप्ति-दोष **न च**=नहीं है। **वा**=और; **अतिव्यापि न**='गाय के पशुत्व के समान', जीव का यह चेतनता लक्षण, अपने लक्ष्यभूत जीव को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी नहीं रहता है; अतः इसमें अतिव्याप्ति-दोष भी नहीं है। इसमें 'गाय में एक शफत्व/ चन्द्रमा, वृक्ष की जड़ के समान' असम्भव-दोष भी नहीं है; क्योंकि **व्यक्तं**=पद्य में आए इस 'व्यक्त' पद से यह सिद्ध है कि वह सभी जीवों में, सर्वत्र, सदा विद्यमान है। अथवा 'समुचित' पद से भी असम्भव-दोष का परिहार हो जाता है।

अर्थात्, यद्यपि लोग अमूर्तता का आश्रय लेकर जीव को देखते हैं; परन्तु रूप,

अथ जीवाजीवयोर्भिन्नत्वमनुभवति—

वसन्ततिलका : **जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्नं,**
ज्ञानी जनोऽनुभवति स्वयमुल्लसंतम्।
अज्ञानिनो निरवधि प्रविजृम्भितोऽयं,
मोहस्तु तत्कथमहो वत नानटीति॥ ४३॥

टीका : *इति* चेतनत्वाचेतनत्वयोर्भिन्नत्वकथनेन; ***अनुभवति*** निश्चिनोति, अनुभवविषयं करोतीत्यर्थः। कः ? ***ज्ञानी*** भेदविज्ञानयुक्तः; ***जनः*** भव्यलोकः; ***लक्षणतः*** असाधारणधर्मतः; ***जीवात्*** आत्मनः; ***अजीवं*** धर्मादिद्रव्यं; ***विभिन्नं*** अतिरिक्तम्।

गन्ध, रस, स्पर्श से सहित परमाणु आदि मूर्त पुद्गल और इनसे रहित अमूर्त धर्म, अधर्म, आकाश, काल – इस प्रकार अजीव पदार्थ दो प्रकार के हैं; अतः जगत के हे ज्ञानवान प्राणिओ! अमूर्तता का आश्रय लेकर आत्मा के वास्तविक स्वरूप का अवलोकन नहीं करो। 'जीव अमूर्तिक है' – इस रूप में जीव का लक्षण अमूर्तता बनाने पर, वह लक्षण अतिव्याप्ति-दोष से दूषित सिद्ध होता है। ऐसा निश्चित कर भेद-विज्ञानी जीवों को अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असम्भवि – इन तीन दोषों से रहित समुचित, व्यक्त, अचल, जीव का वास्तविक स्वरूप प्रगट करनेवाले, चैतन्य लक्षण का अवलम्बन लेना चाहिए। चैतन्य लक्षण से जीव-तत्त्व की पहिचान कर, इसका ही सेवन करें, इसमें ही स्थिर रहें।।४२।।

अब, जीव और अजीव की भिन्नता का अनुभव करते हैं—

वसन्ततिलका : **लक्षण विभिन्नता से अज्जीव भिन्न,**
निज जीव से स्वयं व्यक्त सुज्ञानि वेदें।
अज्ञानिओं में विस्तृत बिन सीम मोह,
है खेद विस्मय बड़ा ये नचे कैसे?।।४३।।

टीकार्थ : इति=इस प्रकार चेतनत्व और अचेतनत्व की भिन्नता के कथन द्वारा; **अनुभवति**=निश्चय करता है, अनुभव का विषय करता है – ऐसा अर्थ है। कौन ऐसा करता है? **ज्ञानी**=भेद-विज्ञान से युक्त; **जन**=भव्य लोग; **लक्षणत**ः=असाधारण धर्मरूप लक्षण द्वारा; **जीवात्**=आत्मा से; **अजीवं**=धर्मादि द्रव्य को; **विभिन्नं**=अतिरिक्त/पृथक् देखते हैं। कैसे अजीव को पृथक् देखते है? **स्वयं**=अचैतन्य/ज्ञान से रहित स्वरूप द्वारा; **उल्लसन्तं**=ऊपर विलास करते हुए/स्पष्ट प्रतीति में आते हुए, अजीव को स्वयं से पृथक्

कीदृशं अजीवं ? ***स्वयं*** अचैतन्यस्वरूपेण; ***उल्लसन्तं*** ऊर्ध्वं विलसन्तं। ***वत*** इति खेदे; ***तत्*** तस्मात्; जीवाजीवयोः परस्परं भिन्नत्वात्; ***अयं मोहः*** पुद्गलात्मकं मोहनीयं रागद्वेषात्मकं च कर्म; ***अहो*** इति आश्चर्ये, ***कथं ?*** केन प्रकारेण ? ***नानटीति*** अत्यर्थं नाटयति न कथमपि, तयोः परस्परभिन्नत्वसाधनात्। किम्भूतो मोहः ? ***अज्ञानिनः*** भेदज्ञानरहितस्य मूढप्राणिनः; ***निरवधिप्रविजृम्भितः*** मर्यादारहितत्वेन व्याप्तः, अज्ञानिनस्तन्मयत्वात्॥ ४३॥

अथाविवेकनाट्ये नटनपटुतां प्रकटयति—

देखते हैं। **वत**=परन्तु खेद है कि; **तत्**=इस प्रकार जीव और अजीव की परस्पर भिन्नता होने पर भी; **अयं मोहः**=पुद्गलात्मक, मोहनीय और राग-द्वेषात्मक कर्म/मोहनीयरूप द्रव्यकर्म और राग-द्वेषरूप भावकर्म; **अहो**=आश्चर्य है कि; **कथं**=किस प्रकार से? **नानटीति**= अधिकता से नाचता है; किसी भी रूप में नहीं नाचता है; क्योंकि दोनों में परस्पर भिन्नता सिद्ध है। मोह कैसा है? **अज्ञानिनः**=भेद-ज्ञान से रहित मूढ़ प्राणिओं का; **निरवधि-प्रविजृम्भितः**=मर्यादा से रहित/अमर्यादरूप में व्याप्त, अज्ञानी की उसमें तन्मयता होने के कारण, वह उसमें विस्तृत है।

अर्थात्, इस प्रकार चेतन और अचेतन की पृथक्ता को समझकर, अचेतनरूप में स्वयं प्रतीति में आते हुए धर्मादि अजीव द्रव्यों को, अपने असाधारण लक्षण द्वारा अपने जीव/आत्मा से पृथक् देखते हुए, भेद-विज्ञान-सम्पन्न ज्ञानी भव्य-जन अपना अनुभव करते हैं। इसमें खेद-युक्त आश्चर्य है कि जीव और अजीव की पारस्परिक पूर्ण पृथक्ता सिद्ध हो जाने पर भी, भेद-ज्ञान से रहित, मूढ़ अज्ञानी प्राणिओं का यह मोह कैसे नाचता रहता है? यह मोह मोहनीयरूप द्रव्य-कर्ममय और राग-द्वेषरूप भाव-कर्ममय पौद्गलिक, अमर्यादित है और अज्ञानी उससे तन्मय होने के कारण, उनमें व्याप्त/विस्तृत है। जीव-अजीव की पृथक्ता समझ में आ जाने पर, वास्तव में मोह को नाचने के लिए/व्यक्त रहने का अवसर ही शेष नहीं रह जाता है।।४३।।

अब, अविवेकपूर्ण नाट्य में नटन-पटुता/नाचने में प्रवीण/पुद्गल को प्रगट करते हैं/इसमें मात्र पुद्गल ही नाचता है, यह बताते हैं—

वसन्ततिलका : **अविवेक नृत्य सुविशाल अनादि इसमें,**
वर्णादि युक्त पुद्गल ही नित्य नाचे।

वसन्ततिलका : **अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये,**
वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्यः।
रागादिपुद्गलविकार-विरुद्धशुद्ध-
चैतन्यधातुमय-मूर्तिरयं च जीवः ॥ ४४॥

टीका : *नटति* नृत्यं करोति, नारकादिपर्यायसूक्ष्मस्थूलादिरूपं भवतीत्यर्थः। कः? ***पुद्गलः*** वर्गवर्गणास्पर्धकगुणहान्यादिरूपः। ***एव*** निश्चयेन। किम्भूतः? ***वर्णादिमान्*** वर्णो रूपं, स एव आदिर्यस्य स्पर्शरसगन्धादेः, स वर्णादिः विद्यते यस्य सः ***''स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः''***卐 इति वचनात्। क्व? ***अस्मिन्*** जगत्प्रसिद्धे; ***अविवेकनाट्ये*** ममेदं अहमस्येति लक्षणोऽविवेकः। तथा चोक्तं - ***''चिदचित्त्वे परतत्त्वे विवेकस्तद्विवेचनमिति''*** तद्विपरीतोऽविवेकः, स एव नाट्यं-लास्यं, तस्मिन्। किम्भूते?

रागादि पुद्गल विकार विहीन शुद्ध,
चैतन्य धातुमय जीव कभी न नाचे।।४४।।

टीकार्थ : नटति=नृत्य करता है, सूक्ष्म-स्थूल आदिरूप नारक आदि पर्यायमय होता है - ऐसा अर्थ है। कौन नाचता है? **पुद्गलः**=वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, गुणहानि आदिरूप पुद्गल; **एव**=ही, वास्तव में नाचता है। वह पुद्गल कैसा है? **वर्णादिमान्**= वर्ण=रूप, वह ही है आदि जिसका; स्पर्श, रस, गन्ध आदि में, वह वर्णादि जिसके विद्यमान है, वह *'स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णवाले पुद्गल हैं'* - ऐसा वचन होने से। वह कहाँ नाचता है? **अस्मिन्**=इस जगत में प्रसिद्ध; **अविवेक-नाट्ये**=अविवेकमय नाट्य में, यह मेरा है, मैं इसका हूँ - ऐसे लक्षणवाला अविवेक है। वैसा ही कहा भी है - *'चेतन और अचेतनरूप परतत्त्व - इन दोनों का विवेचन करना/दोनों को पृथक्-पृथक् जानना आदि विवेक है।'* उससे विपरीत अविवेक, वही है नाट्य=लास्य/नाचना, उसमें नाचता है। वह कैसा है? **अनादिनि**=आदि/प्रारम्भ से रहित है; वह और कैसा है? **महति**=अनादि कालीन संसार से जीव में व्याप्त होने के कारण बहुत बड़ा है। **'च**=और' - यह अव्यय यहाँ भिन्न प्रक्रम/मार्ग का वाचक है। **अन्यः**=अजीव से भिन्न; **अयं जीवः**=यह जीव/आत्मा; **न नटति**=नहीं नाचता है। यह कैसे नहीं नाचता है? हेतु-गर्भित विशेषण द्वारा इसे दिखाते

卐 तत्त्वार्थसूत्र, पंचमोऽध्यायः, सूत्र-२३ : आचार्य उमास्वामी।

अनादिनि आदिरहिते; पुनः किम्भूते? ***महति*** आसंसारजीवव्याप्तत्वात्। ***च*** इति भिन्नप्रक्रमे। ***अन्यः*** अजीवाद्भिन्नः; ***अयं जीवः*** आत्मा; ***न नटति।*** कुतः? हेतुगर्भितविशेषणं दर्शयति—***रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्धचैतन्यधातुमयमूर्तिः*** रागो रतिः, आदि-शब्दात् द्वेषमोहाध्यवसायादयः, ते च ते पुद्गलानां विकाराश्च विकृतयः; तेभ्यो विरुद्धं विपरीतस्वरूपत्वाद्भिन्नं, तच्च तत् शुद्धं द्रव्यभावनोकर्मरहितं चैतन्यं च, तदेव धातुः द्रव्यविशेषः, अथवा दधाति स्वगुणपर्यायानिति धातुः ज्ञानशक्तिः, तेन निर्वृत्ता मूर्तिर्लक्षणया स्वरूपं यस्य सः॥ ४४॥

अथोपसंहारमाजोह्रीयते—

मन्दाक्रान्ता : **इत्थं ज्ञान-क्रकच-कलना-पाटनं नाटयित्वा,**
जीवाजीवौ स्फुट-विघटनं नैव यावत्प्रयातः।

हैं - **रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्धचैतन्यधातु-मयमूर्तिः**=राग=रति; आदि शब्द से द्वेष, मोह, अध्यवसाय आदि ग्रहण करना हैं; वे और वे पुद्गलों के विकार=विकृतिआँ, उनसे विरुद्ध, विपरीत स्वरूपता होने के कारण उनसे भिन्न, वह और वह शुद्ध; द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित चैतन्य, वही है धातु=द्रव्य विशेष/विशिष्ट द्रव्य, अथवा अपने गुण-पर्यायों को जो धारण करती है, वह धातु=ज्ञान-शक्ति, उससे निर्वृत्त=रचित है मूर्ति, लक्षणा शक्ति से स्वरूप जिसका, वह।

अर्थात्, अनादि काल से जीव में व्याप्त होने के कारण बहुत बड़े प्रारम्भ से रहित, जगत में प्रसिद्ध, 'यह मेरा है, मैं इसका हूँ' इत्यादिरूप में अभिव्यक्त, इस अविवेक-पूर्ण नाच/संसार-परिभ्रमण में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदि गुण-सम्पन्न, मात्र पुद्गल ही नाचता है/सूक्ष्म, स्थूल आदिरूप; नारक आदि पर्यायमय होता है। उससे/उस अजीव पुद्गल से पूर्णतया पृथक्; राग, द्वेष, मोह, अध्यवसाय आदि पौद्गलिक विकारों से विपरीत/भिन्न; द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से रहित शुद्ध, अपने गुण-पर्यायों को धारण करनेवाली ज्ञान-शक्ति-सम्पन्न चैतन्य धातुमय विशिष्ट द्रव्य, चेतना लक्षणमय मूर्ति/स्वरूप-सम्पन्न यह जीव, उसमें नहीं नाचता है/उनरूप परिणमित नहीं होता है।।४४।।

अब, इसका उपसंहार करते हैं—

मन्दाक्रान्ता : **यों ही भेदज्ञान करवत ले नचा दक्षता से,**
जब तक जीवाजीव बिल्कुल पूर्णता भिन्न न हो।

विश्वं व्याप्य प्रसभविकसद् व्यक्तचिन्मात्रशक्त्या,
ज्ञातृ-द्रव्यं स्वय-मति-रसात्ताव-दुच्चैश्चकाशे ॥ ४५ ॥

टीका : ***तावत्*** तावत्कालपर्यन्तं; ***ज्ञातृद्रव्यं*** ज्ञायकद्रव्यं, आत्मद्रव्यमित्यर्थः। ***स्वयं*** स्वभावादेव; ***अतिरसात्*** रसातिशयतः; ***उच्चैः*** ऊर्ध्वं; ***चकाशे*** शुशुभे। किम्भूतं? ***प्रसभविकसत्*** अत्यर्थं विकासं गच्छत्; कया? ***व्यक्तचिन्मात्रशक्त्या*** चिन्मात्रस्य ज्ञानमात्रस्य, शक्तिः अविभाग-प्रतिच्छेदसमूहः, व्यक्ता चासौ चिन्मात्रशक्तिश्च तया। किं कृत्वा? ***विश्वं*** जगत्; ***व्याप्य*** परिच्छेद्येत्यर्थः; ***यावत्*** यावत्पर्यन्तं; ***नैव प्रयातः*** निश्चयेन न प्राप्नुतः। किं? ***स्फुटविघटनं*** स्फुटं व्यक्तं, विघटनं पृथग्भवनं; कौ? ***जीवाजीवौ*** जीवः आत्मा चेतनः, अजीवः अचेतनः कर्मपुद्गलादिः, द्वन्द्वः, तौ। किं कृत्वा? ***इत्थं*** पूर्वोक्तप्रकारेण, पुद्गलस्यैव नार्तनादिकथनलक्षणेन; ***नाटयित्वा*** नृत्यविषयं कृत्वा, इतस्ततश्चालयित्वेति यावत्। किं? ***ज्ञानक्रकचकलनापाटनं*** ज्ञानं शुद्धात्मज्ञानं, तदेव

तब तक तो यह सर्व ज्ञाता व्यक्त चिन्मात्र बल से,
अति विकसित रस स्वयं अतिशय से सुशोभित महत हो।।४५।।

टीकार्थ : तावत्=उस काल पर्यन्त/तब तक; **ज्ञातृद्रव्यं**=ज्ञायक द्रव्य, आत्मा नामक द्रव्य - ऐसा अर्थ है। **स्वयं**=स्वभाव से ही; **अतिरसात्**=रस के अतिशय/रस की अधिकता से; **उच्चैः**=ऊर्ध्व/ऊपर सर्वोत्कृष्टरूप में; **चकाशे**=सुशोभित हो रहा है। वह कैसा है? **प्रसभविकसत्**=अत्यधिक विकास को प्राप्त होता हुआ; वह किससे ऐसा है? **व्यक्तचिन्मात्रशक्त्या**=चिन्मात्र=ज्ञान मात्र की, शक्ति=अविभाग प्रतिच्छेदों का समूह, व्यक्त और वह चिन्मात्र शक्ति, उससे ऐसा है। **यावत्**=जब तक; **नैव प्रयातः**=निश्चय से प्राप्त नहीं होता है। क्या प्राप्त नहीं होता है? **स्फुटविघटनं**=स्फुट=व्यक्त, विघटन=पृथक् होना नहीं होता है। किनका ऐसा नहीं होता? **जीवाजीवौ**=जीव=चेतन आत्मा, अजीव=अचेतन कर्म पुद्गलादि, इनका द्वन्द्व समास हुआ, उन दोनों का ऐसा नहीं होता है। क्या करके ऐसा नहीं होता है? **इत्थं**=पहले कहे अनुसार, पुद्गल के ही नार्तन आदि कथन-लक्षण से/पुद्गल ही नृत्य कर रहा है; जीव नहीं इत्यादि कथन द्वारा; **नाटयित्वा**=नृत्य को विषय कर, यहाँ-वहाँ चलाकर, जब तक। क्या? **ज्ञानक्रकचकलनापाटनं**=ज्ञान=शुद्धात्मा का ज्ञान, वही है क्रकच करपत्र/करोंत; *'क्रकच, अस्त्री, करपत्र - ये एकार्थवाची हैं -*

क्रकचः करपत्रं ***'क्रकचोऽस्त्रीकरपत्रं स्यात्'*** इत्यमरः; तस्य कलना ग्रहणं, तस्याः पाटनं पटुत्वं तत्पटुत्वं जीवाजीवयोर्मध्ये कृत्वेत्यर्थः। ***तावत् ज्ञातृद्रव्यं*** समयं समयं प्रति अधिकतया अचकात्; यावन्निश्शेषबन्धध्वन्सो न ***याति*** तस्मिन्कृते अधिकतया प्रतिभासनाभावात्तस्य स्वरूपेऽवस्थानात् कृतकृत्यत्वादिति तात्पर्यम्॥ ४५॥

आर्या : **व्याख्यानमिदं जयतादात्मविकाशिप्रकृष्टनिजमानम्।**
शुभचन्द्र-यति-व्यक्तं शुद्धार्थं समयसार-पद्यस्य॥

इति समयसारपद्यस्य परमाध्यात्मतरंगिणीनामधेयस्य व्याख्यायां प्रथमोऽङ्कः॥ १॥

ऐसा अमरकोश में कहा है'; उसका कलना=ग्रहण, उसकी पाटन=पटुता/प्रवीणता, उस पटुता को जीव और अजीव के मध्य करके – ऐसा अर्थ है/चतुराई से जीव और अजीव के मध्य भेद-विज्ञान कर। **तावत् ज्ञातृद्रव्यं**=तब तक ज्ञाता-द्रव्य समय-समय प्रति/प्रति समय अधिकता से सुशोभित होता रहता है; **यावत्**=जब तक बन्ध का पूर्णतया विनाश नहीं हो जाता है, **याति**=उसके बाद उनका स्वरूप में अवस्थान हो जाने से, कृतकृत्य हो जाने के कारण, उत्तरोत्तर अधिकता से प्रतिभासन का अभाव हो जाता है – यह तात्पर्य है।

अर्थात्, इस अविवेक के नाटक में पुद्गल ही नाचता है; जीव नहीं – पहले बताए गए इसके अनुसार शुद्धात्मा के ज्ञानमय भेद-विज्ञानरूपी करोंत को ग्रहण करने की कुशलता द्वारा चेतनात्मक जीव और अचेतनात्मक कर्म, पुद्गलादि के मध्य नचाकर जब तक वे दोनों व्यक्तरूप में पृथक् नहीं होते हैं; तब तक यह ज्ञायक-द्रव्य आत्मा अत्यधिक विकास को प्राप्त होता हुआ, अविभाग प्रतिच्छेदों के समूहरूप व्यक्त चिन्मात्र शक्ति के द्वारा विश्व को जानता हुआ, स्वयं रस की अधिकता से सर्वोत्कृष्टरूप में सुशोभित हो जाता है। अपने स्वरूप में परिपूर्ण स्थिरता से कृतकृत्य हो जाने के कारण, सभी कर्मों का पूर्णतया अभाव हो गया है और सम्पूर्ण गुणों का पूर्ण विकसित परिणमन प्रगट हो गया है। अब और वृद्धि के लिए अवसर नहीं है; अतः यह दशा सर्वोपरि है।।४५।।

टीकाकारकृत अन्त्य-मंगल का अर्थ : शुभचन्द्र मुनि द्वारा व्यक्त किया गया, आत्मा के विकास से उत्कृष्ट अपने ज्ञान से शुद्ध/निर्दोष अर्थवाला, समयसार के पद्य का यह व्याख्यान सदा जयवन्त वर्ते।

इस प्रकार समयसार पद्य की परम-अध्यात्म-तरङ्गिणी नामक व्याख्या में पहला अंक समाप्त हुआ।।१।।

कर्तृकर्म-अधिकारः

अथ द्वितीयोऽङ्कः प्रारभ्यते।

अथ जीवाजीवौ कर्तृकर्मभावेन बाभाति—

मन्दाक्रान्ता : **एकः कर्ता चिदहमिह मे कर्म कोपादयोऽमी,**
इत्यज्ञानां शमय-दभितः कर्तृ-कर्म-प्रवृत्तिम्।
ज्ञानज्योतिः स्फुरति परमोदात्त-मत्यन्त-धीरं,
साक्षात्कुर्वन्निरुपधि पृथग्द्रव्यनिर्भासि विश्वम्॥१॥४६॥

टीका : ***स्फुरति*** द्योतते; किं? ***ज्ञानज्योतिः*** बोधतेजः; ***पृथक्*** समस्तद्रव्येभ्यो भिन्नम्। किभूतं? ***परमोदात्तं*** परमं उत्कृष्टं, सर्वद्रव्यविकाशकत्वात् अथवा परा उत्कृष्टा, मा लक्ष्मीः, अनन्तचतुष्टयलक्षणा यस्य तत्परमं, तच्च तदुदात्तं उत्कृष्टं च तत्। पुनः ***अत्यन्तधीरं*** अतिशयेन धीरं निष्कम्पं; धीर्धारणा तां जगद् ग्रहणाय राति आदत्ते इति

अब, दूसरा अंक प्रारम्भ होता है।

अब, जीव और अजीव, कर्ता और कर्म-भाव से/रूप में प्रगट होते हैं —

मन्दाक्रान्ता : **इक चित कर्ता क्रोध आदिक ये सभी कर्म मेरे,**
यों अज्ञानज कर्तृकर्मप्रवृत्ति सब शमित कर।
विश्व ज्ञायक निरुपधि बहुत धीर भिन्न सभी से,
परमोदात्त प्रगटित यही ज्ञान ज्योति प्रकाशित।।४६।।

टीकार्थ : स्फुरति=प्रकाशित होता है। क्या/कौन प्रकाशित होता है? **ज्ञानज्योतिः**=बोध/ज्ञानरूपी तेज/प्रकाश; **पृथक्**=सभी द्रव्यों से भिन्न प्रकाशित होता है। वह कैसा है? **परमोदात्तं**=सभी द्रव्यों को जानता होने से परम=उत्कृष्ट, अथवा परा=उत्कृष्ट, मा=अनन्त चतुष्टयरूप लक्ष्मी है जिसकी, वह परम, वह और वह उदात्त और उत्कृष्ट, वह। और **अत्यन्तधीरं**=अधिकता-युक्त धीर=निष्कम्प; अथवा धी=जगत को जानने के लिए धारणा/ज्ञान, उसे लाता है, ग्रहण करता है, वह धीर है। **निरुपधि**=बाह्य-अभ्यन्तर/बहिरङ्ग-

धीरमिति वा। ***निरुपधि*** बाह्याभ्यन्तर-द्रव्य-भावकर्मण उपाधेर्निष्क्रान्तो निरुपधि; ***''निरादयो निर्गमनाद्यर्थे पञ्चम्या:'',*** इति पञ्चमीतत्पुरुष:, नत्वव्ययीभाव:। ***द्रव्यनिर्भासि*** समस्तगुणपर्याय-नयोपनयप्रकाशकं नयोपनयमन्तरेणान्यस्य द्रव्यस्याभावात्। तथा चोक्तमष्टसहस्र्यां (आप्तमीमांसायां) -

नयोपनयैकान्तानां त्रिकालानां समुच्चय:।
अविभ्राद्-भावसम्बन्धो द्रव्यमेकमनेकधा ॥१०७॥

विश्वं षड्द्रव्यसमुदायसप्तरज्जुघनत्रिलोकं उपलक्षणादलोकं च; ***साक्षात्कुर्वत्*** प्रत्यक्षीकुर्वत् इति पूर्वार्धोक्तप्रकारेण; ***कर्तृकर्मप्रवृत्तिं*** तदत्र क्रोधादौ योऽयमात्मा स्वयमज्ञानभावेन ज्ञानभवनमात्रसहजोदासीनावस्थात्यागेन व्याप्रियमाण: प्रतिभाति स कर्ता; यत्तु अज्ञानभवनव्याप्रियमाणत्वेनान्तरुत्प्लवमानं प्रतिभाति क्रोधादि तत्कर्म; एवमियमनादि-रज्ञानजा कर्तृकर्मप्रवृत्ति:, कर्ता आत्मा, कर्म ज्ञानावरणादि:, द्वन्द्व:, तयो: प्रवृत्ति: प्रवर्तनं,

---

अन्तरङ्ग द्रव्य-भावकर्म की उपाधि से पूर्णतया रहित/उपाधि से रहित; *'नि: आदि उपसर्ग, निर्गमन आदि अर्थ में पंचमी विभक्ति में प्रयुक्त होते हैं'* - इस सूत्र के अनुसार 'निरुपधि' शब्द, पंचमी तत्पुरुषमय समास शब्द है; अव्ययीभाव समासवाला शब्द नहीं है। **द्रव्यनिर्भासि**=सभी गुण-पर्यायें, नय और उपनय की प्रकाशक हैं; क्योंकि नय और उपनय के विना/से पृथक्, अन्य द्रव्य का अभाव है। उसी प्रकार अष्टसहस्री (आप्तमीमांसा) में कहा है—

'त्रिकालवर्ती नयों और उपनयों के एकान्तों/पर्यय-विशेषों का अपृथक् स्वभावमय/ तादात्म्य संबंधरूप समूह, द्रव्य है और वह एक, अनेक भेदरूप है।'

विश्वं=सात राजू के घन-प्रमाण, छह द्रव्यों के समूहरूप तीन लोक और उपलक्षण से अलोक को; **साक्षात्कुर्वत्**=प्रत्यक्ष करता हुआ - इस प्रकार पूर्वार्ध में कहे अनुसार; **कर्तृकर्मप्रवृत्तिं**=उसमें से यहाँ जो यह आत्मा, स्वयं ज्ञान-भवन मात्र सहज उदासीन अवस्था के त्यागरूप अज्ञान-भाव से क्रोधादि में व्यापार करता/लगा हुआ प्रतिभासित होता/लगता है, वह कर्ता है और जो अज्ञानभवन व्यापार के कारण, अन्तरंग में प्रगट हुए के समान लगनेवाले क्रोधादि हैं, वे कर्म हैं - इस प्रकार यह अनादि-कालीन अज्ञान से उत्पन्न हुई कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति है; कर्ता आत्मा, कर्म ज्ञानावरणादि - इन दोनों का द्वन्द्व

ताम्। ***अभितः*** साकल्येन; ***शमयत्*** उपशमं शान्ततां नयत्। किं भूतां तां? ***अज्ञानां*** न विद्यते ज्ञानं यस्यां सा तां; क्व? ***इह*** जगति; ***एकः अहं चित्*** आत्मा, चिच्छब्दोऽत्र पुल्लिङ्गे; ***कर्ता*** करोतीत्येवं शीलः कर्ता; ***कोपादयः*** क्रोधादयो द्रव्यभावरूपाः; ***मे*** ममात्मनः कर्तृतापन्नस्य; ***कर्म*** क्रियमाणं कार्यम्॥ १ ॥

ननु ज्ञाने कथं न कर्तृकर्मप्रवृत्तिरिति चेत्—

समास किया, उनकी प्रवृत्ति=प्रवर्तन, उसको। **अभितः**=सब ओर से/पूर्णरूप से; **शमयत्**= उपशम, शान्तता को लाते हुए/शान्त करते हुए। वह कैसी है? **अज्ञानां**=नहीं है ज्ञान जिसमें/ज्ञान-रहित वह, उसे। वह कहाँ है? **इह**=इस जगत में; **एकः अहं चित्**=एक मैं चैतन्यमय आत्मा; 'चित्' शब्द यहाँ पुल्लिंग में है। **कर्ता**=करता है - इस प्रकार के स्वभाववाला कर्ता; **कोपादयः**=द्रव्य-भावरूप क्रोध आदि; **मे**=कर्तापने को प्राप्त मुझ आत्मा के; **कर्म**=किए जानेवाले कार्य, कर्म हैं।

अर्थात्, यह आत्मा स्वयं ज्ञान-भवन मात्र सहज उदासीन अवस्था के त्यागरूप अज्ञान-भाव से क्रोधादि को अपना मानता हुआ, स्वयं ही उन रूप ही प्रतीति करता हुआ, अज्ञान-भवन व्यापार के कारण, अन्तरंग में प्रगट हुए के समान लगनेवाले क्रोधादि के सम्बन्ध में - 'मैं यह एक चैतन्यमयी आत्मा इनका कर्ता हूँ और द्रव्य-भावरूप क्रोधादि-ज्ञानावरणादि मेरे कर्म हैं' - इस प्रकार की अज्ञानमय कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति में यहाँ अनादि से प्रवर्तन कर रहा है। इस अज्ञानमय अनादि-कालीन कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति को सब ओर से पूर्णरूप से शमित करती हुई, सभी द्रव्यों से पूर्णतया पृथक्, अपनी उत्कृष्ट अनन्त चतुष्टयरूपी लक्ष्मी से सम्पन्न हो, सभी को जानने के कारण, परम उदात्त, अत्यन्त धीर, निष्कम्प अथवा सम्पूर्ण विश्व को जाननेवाले ज्ञान को लानेवाली, बहिरङ्ग-अन्तरङ्ग द्रव्य-भाव कर्म की उपाधि से पूर्णतया रहित, द्रव्यों के वास्तविक स्वरूप को प्रकाशित करनेवाली, सात राजू के घन/तीन सौ तेतालीस घन राजू प्रमाण, जाति-अपेक्षा से छह द्रव्यों के समूहमय तीन लोक और अलोकरूप विश्व को प्रत्यक्ष जानती हुई, ज्ञानरूपी ज्योति प्रकाशित होती है।।४६।।

ज्ञान में कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति कैसे नहीं होती है? ऐसा प्रश्न होने पर (उत्तररूप में पद्य कहते हैं) —

मालिनी : **परपरिणतिमुज्झत् खण्डयद्भेदवादा-**
निदमुदितमखण्डं ज्ञानमुच्चण्डमुच्चैः।
ननु कथमवकाशः कर्तृकर्मप्रवृत्ते-
रिह भवति कथं वा पौद्गलः कर्मबन्धः ॥२॥४७॥

टीका : ***इदं*** प्रत्यक्षं; ***ज्ञानं*** बोधः; ***उच्चैः*** अतिशयेन; ***उदितं*** उदयं प्राप्तम्। किम्भूतं? ***उज्झत्*** त्यजत्। ***परपरिणतिं*** परेषु क्रोधादिषु, परिणतिं परिणामम्। पुनः कीदृशं? ***खण्डयत्*** निराकुर्वत्; कान्? ***भेदवादान्*** भेदानां कर्तृकर्मकरणादिरूपाणां, वादाः कथनानि, तान्। ***अखण्डं*** न खण्ड्यते केनापि तदखण्डं परिपूर्णं; ***उच्चण्डं*** उत्कटं, द्रव्यास्रवनिराकरणहेतुत्वात्। ***ननु*** इति वितर्के; ***इह*** ज्ञानात्मनि; ***अवकाशः*** स्थानं; ***कथं?*** न केनापि प्रकारेण। कस्याः? ***कर्तृकर्मप्रवृत्तेः*** कर्ता च कर्म च कर्तृकर्मणी, तयोः प्रवृत्तिः प्रवर्तनं, आत्मा कर्ता क्रोधादि कर्म ईदृग्विधविकल्परूपा, तस्याः भावकर्मणां नावकाश इति

मालिनी : **परपरिणति छूटी भेद के वाद टूटे,**
उत्कट उच्चण्ड ज्ञान प्रगटे अखण्ड।
तब फिर कैसे हो कर्तृ-कर्म-प्रवृत्ति,
इसमें कैसे हो पौद्गलिक कर्मबन्ध?।।४७।।

टीकार्थ : इदं=यह प्रत्यक्ष; **ज्ञानं**=बोध; **उच्चैः**=अतिशय पूर्वक; **उदितं**=उदय को प्राप्त हुआ है। वह कैसा है? **उज्झत्**=छोड़ता हुआ; **परपरिणतिं**=क्रोधादि पर में, परिणति=परिणाम को। वह और कैसा है? **खण्डयत्**=निराकरण करता हुआ; किनका? **भेदवादान्**=कर्ता, कर्म, करण आदिरूप भेदों के, वाद=कथन, उनका निराकरण करता हुआ। **अखण्डं**=किसी के द्वारा भी खण्डित नहीं किया जा सकता है, वह अखण्ड, परिपूर्ण। **उच्चण्डं**=द्रव्यास्रवों के निराकरण का हेतु होने से उत्कट/अत्यधिक शक्तिशाली। **ननु**=यह वितर्क के अर्थ में अव्यय है; **इह**=इस ज्ञानमयी आत्मा में; **अवकाशः**=स्थान; **कथं**=कैसे हो सकता है? किसी भी रूप में नहीं हो सकता है। किसका नहीं हो सकता है? **कर्तृकर्मप्रवृत्तेः**=कर्ता और कर्म, अथवा कर्ता-कर्म, उनकी प्रवृत्ति कि 'आत्मा कर्ता है, क्रोधादि कर्म हैं' - इस प्रकार के विकल्परूप प्रवर्तन, उन भाव-कर्मों को स्थान नहीं है - ऐसा भाव है। **वा**=अथवा; **भवति**=उत्पन्न होता है; *'प्रादुर्भाव और गति अर्थ में भू धातु*

यावत्। ***वा*** अथवा; ***भवति*** जायते, ***'प्रादुर्भावे गतौ च भू'*** इत्यभिधानात्। ***कथं?*** न केनापि प्रकारेण; ***पौद्गलः*** पुद्गलेभ्यः त्रयोविंशतिवर्गणानामन्यतमाभ्यो वर्गणाभ्यस्तदुचिताभ्यो भवः पौद्गलः। ***कर्मबन्धः*** कर्मणां ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मणां बन्धः। द्रव्यकर्मबन्धो निरस्तः ॥२ ॥

अथ चेतनश्चकास्तीति प्रकाशते—

शार्दूलविक्रीडित : **इत्येवं विरचय्य सम्प्रति परद्रव्यान्निवृत्तिं परां,**
स्वं विज्ञानघनस्वभावमभयादास्तिघ्नुवानः परम्।
अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनाक्लेशान्निवृत्तः स्वयं,
ज्ञानीभूत इतश्चकास्ति जगतः साक्षी पुराणः पुमान्॥३ ॥४८ ॥

का प्रयोग होता है' - ऐसा कथन होने से। **कथं**=कैसे? किसी भी प्रकार से नहीं; **पौद्गलः**=पुद्गलों की तेईस वर्गणाओं में से उसके योग्य किसी वर्गणा में जो होता है, वह पौद्गल है। **कर्मबन्धः**=ज्ञानावरणादि द्रव्य-कर्मों का बन्ध; इस प्रकार द्रव्य-कर्म-बन्ध का निराकरण हो गया।

अर्थात्, क्रोधादि पर में परिणमन को छोड़ता हुआ; कर्ता, कर्म, करण आदिरूप भेदों के कथनों का निराकरण करता हुआ, अखण्ड, द्रव्यास्रवों के निराकरण का हेतु होने से, अत्यधिक शक्तिशाली प्रचण्ड यह प्रत्यक्ष ज्ञान अतिशयरूप में व्यक्त हुआ है। अब, इस ज्ञानी आत्मा में, 'मैं आत्मा कर्ता हूँ और क्रोधादि मेरे कर्म हैं' इत्यादि विकल्परूप भाव-कर्ममय कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति कैसे स्थान पा सकती है और ज्ञानावरणादि पौद्गलिक द्रव्य-कर्मों का बन्ध भी कैसे हो सकता है? अब ये दोनों ही दशाएँ किसी भी रूप में नहीं हो सकती हैं।।४७।।

अब, चेतन सुशोभित होता है; यह प्रकाशित करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **यों सब ही पर द्रव्य से पृथक् हो उत्कृष्ट विज्ञानघन,**
स्व भावी अब पूर्ण निर्भय हुआ सब घेर कर स्वयं स्व।
अज्ञानोत्थित कर्तृकर्म वृत्तिमय क्लेश को छोड़ अब,
जग साक्षी हो ज्ञानमय प्रकाशित आतम पुराण उत्तम।।४८।।

टीका : ***इतः*** ज्ञानस्य माहात्म्यकथनादनन्तरं; ***चकास्ति*** द्योतते। कः ? ***पुराणः*** जीर्णः अनादिरित्यर्थः; ***पुमान्*** आत्मा। किम्भूतः ? ***जगतः*** त्रिलोकस्य; ***साक्षी*** अक्षति संघातीकरोति पूर्वोत्तरपर्यायानित्येवं शीलः अक्षी, अथवा अक्ष्णोति व्याप्नोति परिच्छिनत्ति, सर्वगुणपर्यायानित्येवंशीलः अक्षी ज्ञायकः, तेन सह वर्तत इति साक्षी, अथवा जगतः साक्षी साक्षिकः जगत्स्वभावज्ञायकत्वात्। ***स्वयं*** परस्वरूपमन्तरेण; ***ज्ञानीभूतः*** संसारदशायामज्ञानं प्रतिबुद्धावस्थायां ज्ञानं भूयते स्मेति ज्ञानीभूतः। ***निवृत्तः*** विनिवृत्तिं प्राप्तः। कुतः ? ***अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनाक्लेशात्*** अज्ञाना स्वयं चैतन्याभावलक्षणा, उत्थिता प्रादुर्भूता, कर्तृकर्मणोः कलनाप्रवृत्तिर्विकल्पो वा सैव क्लेशः दुःखदायित्वात्, तस्मात्। पुनः किम्भूतः ? ***आस्तिघ्नुवानः*** ष्टिवु आस्कन्दने अस्य धातोः प्रयोगात्; ***परं*** केवलं; स्वं स्वरूपम्। कुतः ? ***अभयात्*** निर्भयत्वमाश्रित्य। किं भूतं स्वं ? ***विज्ञानघनस्वभावं*** विज्ञानस्य

टीकार्थ : इतः=ज्ञान की महिमा कहने के बाद; **चकास्ति**=प्रकाशमान है। कौन ऐसा है? **पुराणः**=प्राचीन, अनादि - ऐसा अर्थ है; **पुमान्**=आत्मा। वह कैसा है? **जगतः**=तीन लोक का; **साक्षी**=पूर्व और उत्तर पर्यायों को अक्ष/संघात/इकट्ठा करता है - इस प्रकार के स्वभाववाला अक्षी है; अथवा जो सभी गुण-पर्यायों में व्याप्त है, उन्हें जानता है, वह इस प्रकार के स्वभाववाला ज्ञायक अक्षी है, उसके साथ है/जो उससे सहित है, वह साक्षी है; अथवा जगत के स्वभाव को जाननेवाला होने से जगत का साक्षी, साक्षिक/साक्षीदार है। **स्वयं**=अन्य के स्वरूप के विना; **ज्ञानीभूतः**=संसार/मिथ्यात्व-दशावाला अज्ञान, प्रतिबुद्ध अवस्था में ज्ञान हो गया है - इस प्रकार ज्ञानीभूत/ज्ञानी हो; **निवृत्तः**=विनिवृत्त/विशेषरूप में पृथक्ता को प्राप्त हो। ऐसा किससे हुआ? **अज्ञानोत्थित-कर्तृकर्मकलनाक्लेशात्**=चैतन्य से रहित लक्षणमय अज्ञान से उत्थित प्रगट हुई कर्ता-कर्म की कलना, प्रवृत्ति अथवा विकल्प; दुःख-दायी होने के कारण वही क्लेश है, उससे पूर्णतया पृथक् हो। वह कैसा है? **आस्तिघ्नुवानः**=आस्कन्दनार्थक 'ष्टिवु' इस धातु का प्रयोग होने से, अर्थ हुआ सब ओर से घेरता हुआ/सर्वांग व्याप्त होकर; **परं**=केवल/मात्र; **स्वं**=अपने स्वरूप को। इसे कैसे घेरता हुआ? **अभयात्**=निर्भयता का आश्रय कर/निर्भय होकर। अपना स्वरूप कैसा है? **विज्ञानघनस्वभावं**=विज्ञान=विशिष्ट निर्मल ज्ञान का, घन=निरन्तर बना रहना, वही है स्वभाव जिसका, वह। **इति**=इस प्रकार - यहाँ यह अव्यय

विशिष्टनिर्मलज्ञानस्य घनो निरन्तरं स एव स्वभावो यस्य तत्। ***इति*** हेतोः आत्मप्रकाशन –स्वभावात्। ***एवं*** पूर्वोक्तप्रकारेण, कर्तृकर्मावकाशाभावे सति; ***विरचय्य*** रचयित्वा। कां? ***परां*** उत्कृष्टां; ***निवृत्तिं*** परावृत्तिं; ***सम्प्रति*** इदानीं; कुतः? ***परद्रव्यात्*** पुद्गलादि- परद्रव्यत्वात्॥३॥

अथात्मनः कर्तृत्वशून्यत्वं संसूचयति—

शार्दूलविक्रीडित : **व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवातदात्मन्यपि,**
व्याप्यव्यापकभावसम्भवमृते का कर्तृकर्मस्थितिः।

हेतु-वाचक होने से अर्थ हुआ, आत्मा का प्रकाशन-स्वभाव होने के कारण। **एवं**=इस प्रकार, पहले कहे अनुसार कर्ता-कर्म के अवकाश का/उसकी विद्यमानता का अभाव हो जाने पर; **विरचय्य**=रचकर; किसे रचकर? **परां**=उत्कृष्ट; **निवृत्तिं**=परावृत्ति/प्रकृष्टरूप में पृथक्ता को रचकर; **सम्प्रति**=इस समय/अब; किससे निवृत्त हो? **परद्रव्यात्**=पुद्गल आदि पर-द्रव्यों से निवृत्त हो।

अर्थात्, आत्मा का प्रकाशन-स्वभाव होने के कारण, पहले कहे अनुसार कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति का पूर्णतया अभाव हो जाने पर, अब पुद्गल आदि पर-द्रव्यों से पूर्णतया सर्वोत्कृष्ट पृथक्ता को प्राप्त कर, अपने विशिष्ट निर्मल विज्ञान-घन स्वभाव को परिपूर्ण निर्भयता पूर्वक सब ओर से प्राप्त करता हुआ; चेतना-शून्य अज्ञान से प्रगट हुई, दुःख-दायी होने से क्लेशरूप, कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति से पूर्णतया निवृत्त हो; मिथ्यात्व-दशावाला अज्ञान, इस प्रतिबुद्ध/सम्यक्त्व-दशा में स्वयं ही ज्ञानमय हो; पूर्वोत्तर सभी पर्यायों को जाननेवाला, सभी गुण-पर्यायों को जाननेवाला, जगत के स्वभाव को भली-भाँति जाननेवाला, जगत का साक्षी, यह अनादि-कालीन पुराण आत्मा, अब इस ज्ञान की महिमा के बाद प्रकाशमान है।।४८।।

अब, आत्मा की कर्तृत्व से शून्यता को भली-भाँति सूचित करते हैं (आत्मा, पर का रंचमात्र भी कर्ता नहीं है, यह न्याय से बतलाते हैं)—

शार्दूलविक्रीडित : **व्याप्य व्यापकता तदात्मक दशा में ही बने, अन्य ना,**
व्याप्य व्यापक भाव बिन नहिं बने कर्ता करम की दशा।

इत्युद्दाम-विवेकघस्मरमहो-भारेण भिन्दन्स्तमो,
ज्ञानीभूय तदा स एष लसितः कर्तृत्वशून्यः पुमान्।।४।।४९।।

टीका : ***तदा*** कर्तृत्वशून्यत्वसूचनसमये; ***स एष*** प्रत्यक्षीभूत:; ***पुमान्*** चिद्रूप:; ***लसित:*** उल्लासं प्राप्त: परमप्रकर्षत्वं प्राप्त: इत्यर्थ:। किं कृत्वा? ***ज्ञानीभूय*** अज्ञानं ज्ञानं भूत्वा संसारदशात इति ज्ञानीभूय ''समासे भाविन्यनञ: स्कौ यप्'' इति कौमार-सूत्रेण यप्, ''डाच्चूर्याद्यनुकरणं चेत्'' इति चिन्तामणीयसूत्रेण निष्पादनाच्च। तदा लसित:, यदेत्यध्याहार:। ***कर्तृत्वशून्य:*** यदाहमात्मा कर्ता, कर्मनोकर्मपरिणामरूपकर्मणामिति विकल्पेन शून्य: रहित:। किं कुर्वन्? ***तम:*** अज्ञानं, ज्ञानदृष्टिनिवारकत्वात्; ***भिन्दन्*** छिन्दन्, निवारयन्निति यावत्। केन? ***इति*** पूर्वार्धोक्तयुक्त्या। ***उद्दामविवेकघस्मरमह:भारेण*** उद्दाम: उत्कृष्ट:, स चासौ विवेकश्च, चेतनाचेतनभिन्नत्वकरणलक्षण:, तथा चोक्तं - ***''चिदचित्त्वे***

यो उद्दाम विवेक मोह-नाशक चैतन्य बल से मिटा,
तम इससे कर्तृत्व-शून्य आतम ज्ञानी हुआ शोभता।।४९।।

टीकार्थ : तदा=तब, कर्तृत्व से रहितपने की सूचना के समय में; **स एष**=वह यह प्रत्यक्षीभूत; **पुमान्**=चिद्रूप आत्मा; **लसित:**=उल्लास को प्राप्त है, परम प्रकर्षता को प्राप्त है - ऐसा अर्थ है। वह क्या करके ऐसा है? **ज्ञानीभूय**=संसार-दशावाले अज्ञान से, ज्ञानी होकर (अज्ञान-पर्याय का व्यय हो, ज्ञान-पर्याय प्रगट हो गई है) *'समास में भाविन्यनञ स्क् में यप् हो जाता है'* - इस प्रकार कौमारसूत्र से 'यप्' प्रत्यय का प्रयोग हो *'यदि डाच्चूर्यादि अनुकरण हो तो'* इस चिन्तामणिसूत्र से - इन दो सूत्रों द्वारा 'भूय' शब्द का निष्पादन हुआ है। तब उल्लसित है, इससे 'यदा/जब' - यह अध्याहार है। **कर्तृत्वशून्य:**=जब 'मैं आत्मारूपी कर्ता, कर्म-नोकर्म परिणामरूप कर्मों को करता हूँ' इस प्रकार के विकल्प से, शून्य=रहित। क्या करता हुआ? **तम:**=ज्ञानरूपी दृष्टि का निवारक/अवरोधक होने से अज्ञानरूपी अन्धकार को; **भिन्दन्**=छेदता हुआ, दूर करता हुआ। किससे दूर करता हुआ? **इति**=इस प्रकार पूर्वार्ध द्वारा कही गई युक्ति से दूर करता हुआ। **उद्दामविवेकघस्मरमह: भारेण**= उद्दाम=उत्कृष्ट, वह और वह चेतन-अचेतन की भिन्नता करने के लक्षणवाला विवेक; उसी प्रकार कहा भी है - *'चेतन और अचेतनमय पर तत्त्व को पृथक्-पृथक् करनेवाला विवेक*

परतत्त्वे विवेकस्तद्विवेचनमिति'' स एव घस्मरं जगदज्ञानग्रसकं, महः तेजः, अथवा विवेकेनोपलक्षितं घस्मरमहः जगदन्तः कारकं ज्ञानं तस्य भारस्तेन। इति किं? ***तदात्मनि*** तावेव स्वभावस्वभाविभावावेव आत्मा स्वरूपं यस्य स तदात्मा तस्मिन्; ***भवेत्*** स्यात्। का? ***व्याप्यव्यापकता*** व्याप्यतेऽनेनेति व्याप्यं कार्यं, व्याप्नोति स्वकार्यमिति व्यापकः; धूमधूमध्वजयोः, घटमृत्तिकयोर्वा व्याप्यव्यापकभावसद्भावात्, पुद्गलद्रव्येण कर्त्रा स्वतन्त्रव्यापकेन कर्मत्वेन क्रियमाणं कर्म व्याप्यं तयोस्तद्भावत्वव्यवस्थानात् कुम्भमृदोरिव।

अपि पुनः; ***अतदात्मनि*** अतत्स्वरूपे ***नैव*** व्याप्यव्यापकता कुम्भकारकुम्भयोरिव, अन्यथा पर्वतधूमध्वजयोरपि तत्प्रसङ्गात्, स्वभावस्वभाविनोः कार्यकारणयोश्च शिंशपावृक्षत्वयोर्धूमधूमध्वजयोश्च यथा व्याप्यव्यापकता न चान्यत्र; तथा ज्ञानात्मनोः

है', वही है जगत के अज्ञान को नष्ट करनेवाला घस्मर/सब कुछ निगल जानेवाला, महस्=तेज; अथवा विवेक से उपलक्षित/सहित, घस्मरमय तेज; जगत को प्रत्यक्ष करनेवाला ज्ञान है, उसका भार, उससे दूर करता हुआ।

ऐसा क्या है? **तदात्मनि**=उस रूप में, स्वभाव और स्वभावी - वे दोनों भाव ही, आत्मा=स्वरूप है जिसका, वह तदात्मा, उसमें; **भवेत्**=हो। उसमें क्या हो? **व्याप्य-व्यापकता**=जिसके द्वारा व्याप्त किया जाता है, वह कार्य व्याप्य है और जो अपने कार्य को व्याप्त करता है, वह व्यापक है; धूम और अग्नि में अथवा घड़े और मिट्टी में व्याप्य-व्यापक भाव का सद्भाव होने से; स्वतन्त्ररूप से व्यापक पुद्गल-द्रव्यरूप कर्ता के द्वारा, कर्मरूप से किया गया कर्म, व्याप्य है; क्योंकि घड़े और मिट्टी के समान उन दोनों में उस भावत्व/व्याप्य-व्यापक भाव की व्यवस्था है।

अपि=और; **अतदात्मनि**=अतत्स्वरूप में कुम्भकार और कुम्भ के समान व्याप्य-व्यापकता; **नैव**=नहीं है; यदि ऐसा नहीं माना जाए तो पर्वत और अग्नि में भी उसका प्रसंग आएगा/उन दोनों में भी व्याप्य-व्यापकता स्वीकार करनी पड़ेगी। स्वभाव-स्वभावी में, कार्य-कारण में, शिंशपा-वृक्षत्व में, धूम-अग्नि में जैसी व्याप्य-व्यापकता है; उस प्रकार अन्यत्र नहीं है; उसी प्रकार ज्ञान और आत्मा में, पुद्गल और कर्म में ही व्याप्य-व्यापकता है; पुद्गल-परिणाम और आत्मा में, कुम्भ और उसे करने/बनानेवाले कुम्भकार के समान व्याप्य-व्यापकता नहीं है।

पुद्गलकर्मणोरेव व्याप्यव्यापकता; न च पुद्गलपरिणामात्मनोः कुम्भतत्कारकयोरिवास्ति।

व्याप्यव्यापकभावसम्भवं व्याप्यं च व्यापकं च व्याप्यव्यापके तयोर्भावस्तस्य सम्भवस्तं; ***ऋते*** विना, "ऋते योगे द्वितीयापि भवति; पञ्चमीचर्तेः" द्वितीया च शब्दात् इति शाकटायनात्। ***का कर्तृकर्मस्थितिः*** कर्मात्मनोः कर्तृकर्मावस्थानं कापि, न कापि भवतीति ॥४॥

व्याप्यव्यापकभावसम्भवं=व्याप्य और व्यापक - व्याप्य-व्यापक, उन दोनों का भाव, उसका सम्भव=उत्पन्न/प्रगट होना, उसके; **ऋते**=विना; *'ऋत के योग में द्वितीया भी होती है; ऋत के योग में पंचमी और'* - इसमें 'च/और' शब्द से द्वितीया का ग्रहण है - ऐसा शाकटायन व्याकरण से ज्ञात होता है। **का कर्तृकर्मस्थितिः**=आत्मा और कर्म में कर्ता-कर्म की अवस्था कैसे हो सकती है? किसी भी रूप में नहीं होती है।

अर्थात्, जो अपने कार्य में फैलता है, वह द्रव्य, व्यापक कहलाता है; उसका वह कार्य, व्याप्य कहलाता है। इस प्रकार गुणों का अखण्ड पिण्ड द्रव्य, व्यापक और उसकी पर्यायें, व्याप्य होती हैं; जैसे मिट्टी, सम्पूर्ण घड़े में फैली है, अतः मिट्टी व्यापक और घड़ा व्याप्य है। यह व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध, तदात्मकता में होता है। 'उसरूप होना' तदात्मक है; जैसे घड़ेरूप परिणमित मिट्टी, घड़ेरूप ही है, घड़ा मिट्टीरूप ही है। इसे तादात्म्यसिद्ध-सम्बन्ध भी कहते हैं। इस सम्बन्ध में ही कर्ता-कर्म की वास्तविक स्थिति बनती है। कुम्भकार और कुम्भ में तादात्म्य नहीं है, व्यापक-व्याप्यता नहीं है; अतः वास्तविक कर्ता-कर्म भी नहीं है। यहाँ इसे ही आत्मा और कर्म पर घटितकर, कर्तृ-कर्मत्व का निषेध किया जा रहा है; जो इस प्रकार है—

व्याप्य और व्यापकता, तदात्म/उसरूपमय स्वभाव और स्वभाववान के होती है, अतत्-स्वरूपवालों में नहीं होती है। व्याप्य-व्यापक भाव की प्रगटता के विना, कर्म-कर्ता की वास्तविक स्थिति किसी भी रूप में सम्भव नहीं है - इस प्रकार के उत्कृष्ट भेद-विज्ञान से जगत-व्यापी अज्ञान को पूर्णतया नष्ट कर, जगत के वास्तविक स्वरूप को प्रत्यक्ष जाननेवाले ज्ञानरूपी तेज की अधिकता से, अज्ञानरूपी अन्धकार का पूर्णतया भेदन करता हुआ, ज्ञानी होता हुआ, कर्तृत्व से सर्वथा रहित यह प्रत्यक्ष आत्मा, उस समय परम प्रकर्षता से उल्लसित होता है/सुशोभित है।।४९।।

अथानयोर्व्याप्यव्यापकत्वं पुनः रुणद्धि—

स्रग्धरा : **ज्ञानी जानन्नपीमां स्वपरपरिणतिं पुद्गलश्चाप्यजानन्,**
व्याप्तृव्याप्यत्वमन्तः कलयितुमसहौ नित्यमत्यन्तभेदात्।
अज्ञानात्कर्तृ-कर्म-भ्रम-मति-रनयोर्भाति तावन्न यावत्,
विज्ञानार्चिश्चकास्ति क्रकचवददयं भेदमुत्पाद्य सद्यः ॥५॥५०॥

टीका : *ज्ञानी* आत्मा; ***च*** पुनः; ***पुद्गलः*** परमाण्वादिपुद्गलद्रव्यं व्याप्यव्यापकत्वं 'प्राप्यं विकार्यं निर्वृत्यं च व्याप्यलक्षणं' तत्र प्राप्यं कर्मपर्यायं प्राप्तुं योग्यं, यथा स्वभाविनि वह्नावुष्णत्वं; पूर्वावस्थापरित्यागेन चावस्थान्तरप्राप्तिः तद्विकार्यं, यथा मृत्पिण्डस्य घटः; पर्यायस्वरूपेण निर्वर्तयितुं निष्पादितुं योग्यं निर्वर्त्यं, मृदः स्थासकोशकुशूलघटादिवत्; व्यापकत्वं उष्णत्वे वह्नित्वं, घटे मृत्पिण्डत्वं, स्थासादौ मृत्त्वं, पुद्गलकर्मपरिणामयोः, आत्माज्ञानपरिणामयोर्व्याप्यव्यापकत्वं, नत्वात्मकर्मणोः, अत्यन्तं विलक्षणत्वात्।

अब, इन दोनों अर्थात् आत्मा और पुद्गल में व्याप्य-व्यापकता के निषेध को और भी स्पष्ट करते हैं—

स्रग्धरा : **ज्ञानी जानें तथापि स्व पर परिणति पर न जाने ये पुद्गल,**
तो भी अत्यन्त भिन्न नित हि अतः व्याप्य व्यापक न किंचित्।
इससे तब ही रहे यह दो में कर्ता कर्म भ्रम बुद्धि अज्ञ,
जब तक अर-सम सुभेदन कर नहिं शोभे शीघ्र सुज्ञान तेज।।५०।।

टीकार्थ : ज्ञानी=ज्ञानमय आत्मा; **च**=और; **पुद्गलः**=परमाणु आदि पुद्गल-द्रव्य, व्याप्य-व्यापकता; उनमें से *'व्याप्य का लक्षण प्राप्य, विकार्य और निर्वृत्यरूप होना है'* वहाँ प्राप्त होने-योग्य कर्म-पर्याय, प्राप्य है; जैसे स्वभाववान अग्नि में उष्णता। पूर्व अवस्था के परित्याग/व्यय पूर्वक उत्तर/दूसरी अवस्था की प्राप्ति होना, वह विकार्य है; जैसे मिट्टी के पिण्ड का घड़ा बन जाना। पर्याय स्वरूप से निर्वर्तन, निष्पादन/बनने के योग्य, निर्वर्त्य है; जैसे मिट्टी की स्थास, कोश, कुशूल, घड़ा आदि पर्यायें। व्यापकता - उष्णता में अग्निपना; घड़े में मिट्टी का पिण्डपना; स्थास आदि में मिट्टीपना, कर्म-परिणाम में पुद्गल, ज्ञान-परिणाम में आत्मा, व्यापक है; अत्यन्त विलक्षणता/पूर्णतया पृथक्-पृथक् लक्षणवाले होने से, कर्म और आत्मा में ऐसी व्याप्य-व्यापकता नहीं है।

अन्तः अभ्यन्तरे; बहिस्तयोर्व्याप्य-व्यापकत्वे दृश्यमानेऽपि; ***कलयितुं*** स्वीकर्तुं; ***असहौ*** असमर्थौ, अत्यन्तविलक्षणत्वमुद्घाटयति तयोः। किम्भूतः सन्नात्मा? ***जानन्नपि*** परिच्छिदन्नपि, अपि शब्दात् लब्ध्यपर्याप्तादौ साकल्येनाजानन्; कां? ***इमां*** प्रत्यक्षां; ***स्वपरपरिणतिं*** स्वपरयोः आत्मपुद्गलयोः परिणतिः परिणामः पर्यायः, ज्ञानकर्मलक्षणस्तां; पुनः ***पुद्गलः*** तां; ***अजानन्*** अपरिच्छिदन् अज्ञानस्वभावत्वात्। असहौ कुतः? ***नित्यं*** सदैव; ***अत्यन्तभेदात्*** चेतनाचेतनस्वभावेनात्यन्तं विलक्षणत्वात्।

यावत् विज्ञानार्चिः ज्ञानज्योतिः; ***न चकास्ति*** न द्योतते। किं कृत्वा? ***सद्यः*** तत्कालं; ***उत्पाद्य*** निष्पाद्य; कं? ***भेदं*** आत्मकर्मणोर्भिन्नत्वम्। कथं? ***अदयं*** ध्यानादिना निष्ठुरत्वं यथा भवति तथा। क इव? ***क्रकचवत्*** यथा क्रकचः करपत्रं काष्ठयोर्भेदमुत्पादयति; ***तावत्*** कालं; ***भाति*** शोभते। का? ***कर्तृकर्मभ्रममतिः*** कर्तृकर्मणोर्भ्रमस्तेनोपलक्षिता

अन्तः=अभ्यन्तर/अन्दर/वास्तव में; बाह्य में/स्थूल दृष्टि से उनमें व्याप्य-व्यापकता दिखाई देने पर भी; **कलयितुं**=स्वीकार करने के लिए; **असहौ**=असमर्थ हैं; उन दोनों में अत्यन्त विलक्षणता/पूर्णतया पृथक्ता उत्कृष्टरूप में प्रगट है। कैसा होता हुआ आत्मा ऐसा है? **जानन्नपि**=पृथक्-पृथक् जानता हुआ भी; लब्ध्यपर्याप्तक आदि दशाओं में पूर्णरूप से नहीं जानता हुआ भी - ऐसा अर्थ भी 'अपि/भी' शब्द का प्रयोग होने से समझ लेना चाहिए। किन्हें जानता हुआ? **इमां**=इन प्रत्यक्ष; **स्वपरपरिणतिं**=स्व=अपनी=आत्मा की, पर=दूसरों की=पुद्गल की, परिणति=परिणाम=पर्याय, ज्ञान और कर्म लक्षणवाली पर्यायें, उन्हें जानता हुआ; और **पुद्गलः**=पुद्गल, उन्हें; **अजानन्**=अज्ञान-स्वभावी होने के कारण, नहीं जानता हुआ। वे दोनों असमर्थ कैसे हैं? **नित्यं**=सदैव; **अत्यन्तभेदात्**=चेतन और अचेतन स्वभाव के कारण, अत्यन्त पृथक्ता होने से वे असमर्थ हैं।

यावत् विज्ञानार्चिः=जब तक ज्ञान-ज्योति; **न चकास्ति**=प्रकाशित नहीं होती है। क्या करके? **सद्यः**=तत्काल; **उत्पाद्य**=उत्पन्न कर; किसे उत्पन्न कर? **भेदं**=भेद को, आत्मा और कर्म की भिन्नता को प्रगट कर। इसे कैसे प्रगट कर? **अदयं**=दया-रहित हो, ध्यानादि द्वारा निष्ठुरता जैसे होती है, उस प्रकार इस भेद को प्रगट कर। किसके समान? **क्रकचवत्**=करोंत के समान, जैसे करोंत, काष्ठ में भेद करती है/लकड़ी को फाड़ देती है; उसी प्रकार; **तावत्**=तब तक उस समय; **भाति**=सुशोभित होता है। वह कौन है?

मतिः बुद्धिः। कयोः ? ***अनयोः*** जीवपुद्गलयोः; कुतः ? ***अज्ञानात्*** ज्ञानावरणादिकर्माच्छादित-चैतन्यात्॥ ५॥

कर्तृकर्मभ्रममतिः=कर्ता और कर्म का भ्रम, उससे सहित मति=बुद्धि है। किनमें? **अनयोः**=उन जीव-पुद्गल में; किससे? **अज्ञानात्**=अज्ञान से, चैतन्य, ज्ञानावरण आदि कर्मों से आच्छादित होने के कारण।

अर्थात्, व्याप्यरूप पर्याय तीन प्रकार से द्रव्य में व्याप्त होती है - प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य। प्राप्त होने-योग्य पर्याय, प्राप्य है; अर्थात्, जब किसी पर्याय को तत्समय की योग्यतारूप क्षणिक उपादान-कारण की ओर से देखते हैं, तो वह प्राप्य कहलाती है। पूर्व अवस्था के व्यय पूर्वक, अगली अवस्था का उत्पाद होना, विकार्य है; अर्थात्, जब किसी पर्याय को, अनन्तर पूर्व क्षणवर्ती पर्याय विशिष्ट द्रव्यमय क्षणिक उपादान-कारण की ओर से देखते हैं, तो वह विकार्य कहलाती है। किसी पर्यायरूप से निष्पन्न होना, बनना, निर्वर्त्य है; अर्थात्, जब किसी पर्याय को त्रिकाली उपादान-कारण की ओर से देखते हैं, तो वह निर्वर्त्य कहलाती है। द्रव्य, इन सभी में व्याप्त होने के कारण, वह व्यापक है। इस प्रकार व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध एक ही वस्तु में घटित होता है। जानने और नहीं जानने के कारण, इस पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है। प्रस्तुत पद्य में इसी तथ्य को स्पष्ट कर रहे हैं -

स्व-पर की पर्यायों सम्बन्धी पूर्ण पृथक्ता का ज्ञाता ज्ञानी अथवा पूर्णरूप में नहीं जाननेवाले लब्ध्यपर्याप्तक आदि अज्ञानी और ज्ञान से पूर्णतया रहित जड़-स्वभावी होने के कारण, इन्हें रंचमात्र भी नहीं जाननेवाला पुद्गल - इन दोनों द्रव्यों में परस्पर पूर्ण पृथक्ता/अत्यन्ताभाव होने से, वे परस्पर में वास्तविक व्याप्य-व्यापकता को धारण करने में रंचमात्र समर्थ नहीं हैं। अनादि काल से ज्ञानावरणादि कर्मों से आच्छादित चेतनामय यह जीव, अपनी अज्ञानता के कारण स्थूल दृष्टि से दिखाई देनेवाले उन दोनों के व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध को भ्रम से वास्तविक मानकर, यद्यपि उनमें कर्ता-कर्म के भ्रममय बुद्धि से सम्पन्न है; तथापि वह भ्रम तब तक ही विद्यमान रह पाता है, जब तक अत्यन्त तीक्ष्ण करोंत के समान, आत्म-ध्यानादि द्वारा तत्काल ही आत्मा और कर्म की परिपूर्ण पृथक्ता को व्यक्त करनेवाली, भेद-विज्ञानरूपी जाज्वल्यमान ज्योति प्रकाशित नहीं हो जाती है। इस भेद-विज्ञान ज्योति के प्रकाशित होते ही, वह भ्रम-बुद्धि पूर्णतया समाप्त हो जाती है। इस प्रकार स्व-पर सम्बन्धी वास्तविक भेद-विज्ञान से ही कर्ता-कर्म की भ्रान्ति नष्ट होती है।।५०।।

अथ कर्तृकर्मादित्रयं पृथगुपदिशति पद्यचतुष्टयेन अनेकत्वेऽपि एकत्वमिति स्फुटयति—

आर्या : **यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।**
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया॥६॥५१॥
एकः परिणमति सदा परिणामो जायते सदैकस्य।
एकस्य परिणतिः स्यादनेकमप्येकमेव यतः॥७॥५२॥
नोभौ परिणमतः खलु परिणामो नोभयोः प्रजायेत।
उभयोर्न परिणतिः स्याद्यदनेकमनेकमेव सदा॥८॥५३॥
नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणी न चैकस्य।
नैकस्य च क्रिये द्वे एकमनेकं यतो न स्यात्॥९॥५४॥

टीका : ***यः*** आत्मा, पुद्गलो वा; ***परिणमति*** स्वपर्यायान् प्रति परिणामं प्राप्नोति; ***स कर्ता*** यथोत्तरङ्गनिस्तरङ्गावस्थयोः समीरसञ्चरणासञ्चरणयोरपि समीरसमुद्रयोः,

---

अब, कर्ता, कर्म आदि तीनों का पृथक् उपदेश देते हुए, अनेकत्व में भी एकत्व है; इसे चार पद्यों द्वारा स्पष्ट करते हैं—

आर्या : **जो परिणमता वह कर्ता, परिणाम हुआ है जो वही कर्म।**
जो परिणति क्रिया वह, वस्तु दृष्टि न त्रय भिन्न।।५१।।
परिणमता नित एकहि, प्रगटे परिणाम सदा एक का ही।
परिणति एक की ही, क्योंकि इक ही अनेक होने पर भी।।५२।।
परिणमें नहीं दो मिलकर, न हो दोनों का एक परिणाम।
न दोनों की परिणति इक क्योंकि अनेक हैं सदा नेक।।५३।।
इक पर्यय के दो कर्ता, न हों दो कर्म एक कर्ता के।
न हों इक कर्ता की, दो परिणति एक अनेक नहिं है।।५४।।

टीकार्थ : यः=जो आत्मा या पुद्‌गल; **परिणमति**=अपनी पर्यायों के प्रति, परिणाम प्राप्त करता है; **स कर्ता**=वह कर्ता/कार्य को करनेवाला है। जैसे, समुद्र में उत्तरंग/लहरों के उठनेरूप और निस्तरंग/लहरों के नहीं उठनेरूप अवस्था होने पर भी, (तथा उसी समय) वायु का बहना/चलना और नहीं बहना होने पर भी, (दोनों में) कर्ता-कर्मपने का

कर्तृकर्मत्वाभावात् पारावार एवादिमध्यान्तेषूत्तरङ्गनिस्तरङ्गावस्थे व्याप्य उत्तरङ्गनिस्तरङ्गत्वात्मानं कुर्वन् कर्ता तथा संसारनिस्संसारयोः पुद्गलकर्मविपाकसम्भवासम्भवनिमित्तयोरपि कर्तृकर्मत्वाभावात् जीव एवादिमध्यान्तेषु ते अवस्थे व्याप्य, उभयस्वरूपमात्मानं कुर्वन् कर्ता। एवं पुद्गलेऽपि योज्यम्।

तु पुनः; ***यः परिणामो भवेत् तत्कर्म*** यथा तस्यैवोत्तरङ्गनिस्तरङ्गत्वात्मानमनुभवतः स एव परिणामः कर्म तथा तस्य संसारं निस्संसारं त्वनुभवतः स एव परिणामः कर्म। ***या परिणतिः*** स्वपरिणामे परिणमनं; ***सा क्रिया। वस्तुतया*** वस्तुरूपेण ऐक्यात्; ***त्रयमपि*** कर्तृकर्मपरिणतिरूपं ***भिन्नं*** अन्यत् ***न भवेत्।*** क्रिया हि तावदखिलापि परिणामलक्षणतया न नाम परिणामतोऽस्ति भिन्ना। परिणामोऽपि परिणामपरिणामिनोरभिन्नवस्तुत्वात्परिणामिनो न भिन्नः। परिणाम्यपि क्रियापरिणामयोरभिन्नत्वात्परिणामतोऽभिन्नः ॥६ ॥

अभाव होने से; समुद्र ही आदि, मध्य, अन्त में उत्तरङ्ग और निस्तरङ्ग अवस्था को व्याप्त कर, उत्तरङ्ग और निस्तरङ्गरूप स्वयं को करता हुआ, कर्ता है; उसी प्रकार संसार और निःसंसार/सिद्ध-दशा में, पुद्गल-कर्म के विपाक/फल-दानरूप उदयादि के होने और नहीं होनेरूप निमित्त के होने पर भी, (दोनों में) कर्ता-कर्मपने का अभाव होने से, जीव ही आदि, मध्य, अन्त में दोनों दशाओं को व्याप्त कर, उन दोनों स्वरूप स्वयं को करता हुआ, कर्ता है। इसी प्रकार पुद्गल में भी घटित कर लेना चाहिए।

तु=और; **यः परिणामो भवेत् तत्कर्म**=जो परिणाम हुआ है, वह कर्म है। जैसे, उत्तरङ्ग और निस्तरङ्गपनेरूप स्वयं का अनुभव करते/उसरूप परिणमित हुए, उसी समुद्र का वही परिणाम, कर्म है; उसी प्रकार संसार और निःसंसार का अनुभव करते हुए, उस जीव का वही परिणाम, कर्म है। **या परिणतिः**=अपने परिणाम में जो परिणमन है; **सा क्रिया**=वह क्रिया है। **वस्तुतया**=वस्तुरूप से एकता होने के कारण; **त्रयमपि**=कर्ता, कर्म, क्रिया/परिणतिरूप तीन होने पर भी; **भिन्नं**=अन्य/पृथक्; **न भवेत्**=नहीं हैं। सम्पूर्ण ही क्रिया, परिणाम लक्षणवाली होने के कारण, परिणाम से पृथक् नहीं है। परिणाम और परिणामी के अभिन्न वस्तुपना होने के कारण, परिणाम भी परिणामी से पृथक् नहीं है। क्रिया और परिणाम में अभिन्नपना होने के कारण, परिणामी भी परिणाम से अभिन्न है।।५१।।

एकः आत्मा; ***सदा*** नित्यं; ***परिणमति*** परिणामयुक्तो भवति। ***सदा*** निरन्तरं; ***एकस्य*** आत्मनः; ***परिणामः*** शुभाशुभलक्षणः; ***जायते*** उत्पद्यते। ***एकस्य*** आत्मनः; ***परिणतिः*** परिणमनलक्षणा क्रिया; ***स्यात्।*** यथा किल कुलालः कलशसम्भवानुकूल-मात्मव्यापारपरिणाममात्मनोऽव्यतिरिक्तमात्मनोऽव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभाति, न पुनः घटादिरूपं मृत्तिकया क्रियमाणं प्रति अभिन्नतामनुभवति तथा आत्मापि पुद्गलपरिणामानुकूलमज्ञानादात्मपरिणाममात्मनोऽव्यतिरिक्तमात्मनोऽव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभाति, न पुनः पुद्गलक्रियया क्रियमाणं कर्म प्रत्यभिन्नतामनुभवति; ***यतः*** अभिन्नत्वं तेषां त्रयाणां। ***अनेकमपि*** कर्तृकर्म-क्रियारूपेणानेकमपि; ***एकमेव*** वस्तुतस्तेषामभिन्नत्वेनैक्यम् ॥७॥

उभौ जीवपुद्गलौ; ***खलु*** इति निश्चितं; ***परिणमतः*** परिणामं गच्छतः; ***न*** नहि।

एकः=एक आत्मा; **सदा**=नित्य; **परिणमति**=परिणाम से युक्त होता है। **सदा**=निरन्तर; **एकस्य**=एक आत्मा का; **परिणाम**ः=शुभ-अशुभ लक्षण परिणाम; **जायते**=उत्पन्न होता है। **एकस्य**=एक आत्मा की; **परिणति**ः=परिणमन लक्षण क्रिया; **स्यात्**=होती है। जैसे, कलश बनने के अनुकूल, अपने/स्वयं से अभिन्न अपने व्यापाररूप परिणाम को, स्वयं से अभिन्न परिणतिमात्र क्रिया द्वारा किया जाता हुआ कुम्भकार, करता हुआ प्रतिभासित होता है; परन्तु मिट्टी द्वारा किए जाते हुए घटादिरूप कार्य के प्रति, अभिन्नता का अनुभव नहीं करता है। उसी प्रकार पुद्गल-परिणाम के अनुकूल, स्वयं से अभिन्न अज्ञान से, अपने परिणाम को स्वयं से अभिन्न परिणतिमात्र क्रिया द्वारा किया जाता हुआ आत्मा भी, करता हुआ प्रतिभासित होता है; परन्तु पुद्गल की क्रिया से किए जाते हुए कर्म के प्रति अभिन्नता का अनुभव नहीं करता है; **यत**ः=क्योंकि उन तीनों के अभिन्नता है। **अनेकमपि**=कर्ता, कर्म, क्रियारूप से अनेक होने पर भी; **एकमेव**=वस्तु से/वस्तु की अपेक्षा उनके अभिन्नता होने से उनमें एकता है, वे एक ही हैं।।५२।।

उभौ=जीव और पुद्गल - दोनों; **खलु**=यह निश्चित अर्थ का वाचक अव्यय है; **परिणमत**ः=परिणाम को जाते/परिणमित होते हुए; **न**=नहीं; एक ही परिणमित होता है। जैसे कुम्भकार घड़े को बनाने सम्बन्धी अभिमानमय परिणामरूप परिणमित होता है; परन्तु घड़ा होने/बनने की क्रियारूप परिणमित नहीं होता है; उसी प्रकार जीव, कर्म के निष्पादन/

एक एव हि परिणमति। यथा कुलालः घटनिष्पादनाभिमानपरिणामं प्रति परिणमति न तु घटभवनक्रियायां, तथा जीवः कर्मनिष्पादनाभिमानपरिणामं प्रति परिणमति, न पुद्गलद्रव्य-निष्पादितकर्मक्रियां प्रति। ***उभयोः*** जीवपुद्गलयोः; ***परिणामः*** परिणतिः; ***न प्रजायेत*** नोत्पद्यते, परस्परं भिन्नस्वभावत्वात्। ***उभयोः*** परात्मनोः; ***परिणतिः*** परिणमनलक्षणा क्रिया; ***न स्यात्*** न भवेत्, परस्परं स्वस्वभावे भिन्नपरिणतिसद्भावात्। ***यत्*** यस्मात् कारणात्; ***अनेकं*** न एकं अनेकं जीवपुद्गलौ; ***सदा*** नित्यं; ***अनेकमेव*** भिन्नमेव॥८॥

एकस्य परिणामस्य चेतनालक्षणस्य कर्मलक्षणस्य वा; ***हि*** इति निश्चितं; ***द्वौ*** जीवपुद्गलौ; ***कर्तारौ*** कारकौ; ***न स्तः*** न भवतः, चेतनाया जीव एव कर्ता, कर्मणः पुद्गल एव कर्ता; ***च*** इति भिन्न प्रक्रमे। ***एकस्य*** जीवस्य पुद्गलस्य वा ***द्वे कर्मणी*** चेतनाकर्मलक्षणो ***न*** स्तः; ***च*** पुनः; ***एकस्य*** कर्तुः जीवस्य पुद्गलस्य वा; ***द्वे क्रिये*** परिणती द्वे; ***न*** स्तः; जीवस्य चेतनाक्रियां प्रति परिणतत्वात्, पुद्गलस्य कर्मक्रियां प्रति परिणतत्वात् यथा कुलालः

कर्म को करने सम्बन्धी अभिमानमय परिणामरूप परिणमित होता है; परन्तु पुद्गल-द्रव्य से बने कर्म की क्रियारूप परिणमित नहीं होता है। **उभयोः**=जीव और पुद्गल - दोनों का मिलकर; **परिणामः**=एक परिणमन; **न प्रजायेत**=उत्पन्न नहीं होता है; क्योंकि दोनों का परस्पर में पृथक्-पृथक् स्वभाव है। **उभयोः**=दूसरे और आत्मा - दोनों की मिलकर; **परिणतिः**=परिणमन लक्षणमय एक क्रिया; **न स्यात्**=नहीं होती है; क्योंकि परस्पर अपने-अपने स्वभाव में अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न परिणति विद्यमान है। **यत्**=जिस कारण; **अनेकं**=एक नहीं, जीव और पुद्गलरूप अनेक; **सदा**=नित्य; **अनेकमेव**=भिन्न ही हैं।।५३।।

एकस्य=चेतना-लक्षण या कर्म-लक्षणमय एक परिणाम का; **हि**=यह निश्चित अर्थ का वाचक अव्यय है। **द्वौ**=जीव और पुद्गल - दो; **कर्तारौ**=कर्ता=करनेवाले; **न स्तः**=नहीं होते हैं; चेतना का कर्ता जीव ही है, कर्म का कर्ता पुद्गल ही है; **च**=और - यह अव्यय क्रमशः दोनों की पृथक्ता का सूचक है। **एकस्य**=एक जीव या पुद्गल के; **द्वे कर्मणी**=चेतना और कर्म लक्षणवाले दो कर्म; **न**=नहीं होते हैं; **च**=और; **एकस्य**=जीव या पुद्गलरूप एक कर्ता की; **द्वे क्रिये**=दो क्रिया, परिणति; **न**=नहीं होती हैं; जीव का चेतना-क्रिया के प्रति और पुद्गल का कर्म-क्रिया के प्रति, परिणतपना होने से (एक की दो क्रिया नहीं होती हैं)। जैसे अपनी परिणतिरूप क्रिया के प्रति कुम्भकार परिणत है;

स्वपरिणतिक्रियां प्रति परिणतः, मृद्द्रव्यं तु कलशक्रियां प्रति परिणतं, अन्यत् मृद्द्रव्यं वस्त्रक्रियां प्रति हेतुर्न स्यात्। ***यतः*** पूर्वोक्तकारणात्; ***एकं*** अखण्डं द्रव्यं जीवादि; ***अनेकं*** परपरिणामकर्तृक्रियाभावात् अनेकरूपं; ***न स्यात्*** न भवेत्; अथवा ***एकं*** जीवादि; ***अनेकं*** स्वकर्तृकर्मक्रियारूपं; ***यतः*** कुतो; ***न स्यात्*** न भवेत्; अपि तु भवेदेव॥ ९ ॥

कलश-क्रिया के प्रति मिट्टी परिणत है; मिट्टी-द्रव्य अपने से पृथक् वस्त्ररूप क्रिया के प्रति कारण नहीं होता है।

यत:=इस प्रकार पूर्वोक्त कारण से; **एकं**=एक अखण्ड जीवादि द्रव्य; **अनेकं**=अन्य संबंधी परिणाम, कर्ता और क्रिया का अभाव होने से अनेकरूप; **न स्यात्**=नहीं होता है; अथवा **एकं**=एक जीवादि; **अनेकं**=अपने कर्ता, कर्म, क्रियारूप अनेक; **यत**:=कैसे; **न स्यात्**=नहीं हो; अपितु होता ही है।।५४।।

अर्थात्, यद्यपि द्रव्यों के परिणमन में पारस्परिक निमित्त-नैमित्तिक-सम्बन्ध सहज बन जाता है; परन्तु उतने मात्र से उनमें कर्ता, कर्म, क्रिया सम्बन्धी किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं बन पाता है; क्योंकि प्रत्येक द्रव्य में ये तीनों अपने-अपने ही होते हैं; दूसरे द्रव्य के नहीं होते हैं। यह अनादि-अनन्त सत्य तथ्य इन चार पद्यों द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया गया है —

जो परिणमित होता है, वह कर्ता है; जो परिणाम है, वह उसका कर्म है; जो परिणति है, वह क्रिया है। वस्तु की अपेक्षा वास्तव में ये तीनों पृथक् नहीं हैं; वरन् अपृथक्/एक ही हैं। प्रत्येक द्रव्य अपनी सामर्थ्य से स्वतन्त्रता पूर्वक अपनी योग्यतानुसार परिणमित होता है। वह परिणाम और परिणमन-क्रिया सदा उस एक द्रव्य की ही होती है; क्योंकि वह द्रव्य, इन तीन रूप होने पर भी, एक ही है।

कभी भी दो द्रव्य मिलकर परिणमित नहीं होते हैं, वरन् पृथक्-पृथक् ही परिणमित होते हैं। इसी प्रकार दो द्रव्यों का मिलकर एक परिणाम और दो द्रव्यों की मिलकर एक परिणति नहीं होती है। प्रत्येक द्रव्य, अन्य द्रव्य से पूर्णतया पृथक्, निरपेक्ष रहकर ही अपना कार्य करता है। यही कारण है कि कभी भी एक कार्य के दो कर्ता नहीं होते हैं; एक कर्ता के दो कार्य नहीं होते हैं; एक कर्ता की दो क्रियाएँ नहीं होती हैं। सभी अपनी-अपनी सीमा में सीमित रहकर, अपना-अपना कार्य कर रहे हैं; एक-दूसरे का कुछ भी कार्य करने-हेतु कहीं भी, किसी भी प्रकार से, किसी भी रूप में कुछ भी अवसर नहीं है।।५१-५४।।

अथाज्ञानमाहात्म्यं निरूपयति—

शार्दूलविक्रीडित : **आसंसारत एव धावति परं कुर्वेऽहमित्युच्चकै-**
दुर्वारं ननु मोहिनामिह महाहङ्काररूपं तमः।
तद् भूतार्थपरिग्रहेण विलयं यद्येकवारं व्रजेत्,
तत् किं ज्ञानघनस्य बन्धनमहो भूयो भवेदात्मनः ॥१०॥५५॥

टीका : ***ननु*** इति वितर्के; ***इह*** जगति; ***इति*** अमुना प्रकारेण; ***धावति*** अत्यर्थं प्रसर्पति व्याप्नोतीति यावत्। किं? ***महाहङ्काररूपं*** महान् सकलप्राण्यतिशायी स चासौ अहङ्कारश्च मयेदं कृतमित्यादिरूपो गर्वः, स एव रूपं स्वरूपं यस्य तत्। ***तमः*** अज्ञानं; केषां? ***मोहिनां*** मोहग्राहग्रस्तानां देहिनाम्। किम्भूतं? ***उच्चकैः*** अत्यर्थं; ***दुर्वारं*** वारयितुमशक्यं; कियत्पर्यन्तं धावति? ***आसंसारत एव*** यावत्पर्यन्तं पञ्चपरिवर्तनरूपसंसार-स्तावत्पर्यन्तं प्रसर्पत्येव। इति किं? ***कुर्वे*** निष्पादयामि करिष्ये वा 'वर्तमानसामीप्ये

अब, अज्ञान की महिमा का निरूपण करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **मैं कर्ता पर द्रव्य का यह महा अभिमान दुर्वार तम,**
मोही के अति वेग से अनादि से चल रहा अभी तक।
अब भूतार्थ परिग्रहण से सभी यदि एकदा नष्ट हो,
तब फिर होगा बन्ध क्या अब पुनः इस ज्ञान-घन जीव को।।५५।।

टीकार्थ : ननु=यह 'वितर्क' अर्थ का वाचक अव्यय है। **इह**=इस जगत में; **इति**=इस प्रकार से; **धावति**=अत्यधिक फैल रहा है, व्याप्त हो रहा है। वह क्या है? **महाहंकाररूपं**=महान=सभी प्राणिओं में अधिकता से विद्यमान, वह और वह अहंकार, 'मैंने यह किया' इत्यादिरूप गर्व, वही है रूप=स्वरूप जिसका, वह। **तमः**=अज्ञानरूपी अन्धकार। वह किनका है? **मोहिनां**=मोहरूपी ग्राह/पिशाच से ग्रस्त, शरीरधारिओं का है। वह कैसा है? **उच्चकैः**=अत्यधिक/तीव्र है; **दुर्वारं**=निवारण के लिए अशक्य है/सरलता से नष्ट नहीं होता है। कब से फैल रहा है? **आसंसारत एव**=जब से पञ्च-परिवर्तनरूप संसार है, तब से ही फैल रहा है/अनादि से व्याप्त है। ऐसा क्या? **कुर्वे**=करता हूँ अथवा करूँगा; *'वर्तमान की निकटतावाले काल में, वर्तमान के समान ही व्यवहार होता है'* - इस सूत्र से

वर्तमानवदिति' सूत्राद्भविष्यदर्थे वर्तमानात्। ***अहं*** कर्तृभूतः; किं? ***परं*** परद्रव्यं गृहपुत्र-विवाहशरीरकर्मादिरूपम्। ***यदि*** यदा; ***व्रजेत्*** गच्छेत्; ***विलयं*** विनाशं; ***तत् तमः*** कर्तृ; ***एकवारं*** सकृद्वारं; केन? ***भूतार्थपरिग्रहेण*** शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन; ***तत्*** तर्हि ***किं?*** तावत् किं स्यात्? अपि तु न स्यादित्यर्थः। ***भूयः*** पुनः; ***अहो*** किं? ***बन्धनं*** कर्माश्लेषणं; कस्य? ***आत्मनः*** चिद्रूपस्य; किम्भूतस्य? ***ज्ञानघनस्य*** बोधनिरतस्य ॥१०॥

अथात्मपरभावं बाभज्यते—

अनुष्टुप् : **आत्मभावान् करोत्यात्मा परभावान् सदा परः।**
आत्मैव ह्यात्मनो भावाः परस्य पर एव ते॥११॥५६॥

भविष्य काल के अर्थ में, वर्तमान का प्रयोग हुआ है। **अहं**=कर्ताभूत मैं; किसे कर्ता हूँ? **परं**=घर, पुत्र, विवाह, शरीर, कर्म आदिरूप पर का कर्ता हूँ। **यदि**=जब यदि; **व्रजेत्**=हो जाए; **विलयं**=विनष्ट; **तत् तमः**=कर्तामय वह अज्ञानरूपी अन्धकार; **एकवारं**=एक बार। कैसे नष्ट हो? **भूतार्थपरिग्रहेण**=शुद्ध द्रव्यार्थिक-नय के विषयभूत भूतार्थ के परिग्रहण से नष्ट हो जाए; **तत्**=तब; **किं**=क्या, तब क्या वह होगा? अपितु नहीं होगा - ऐसा अर्थ है। **भूयः**=फिर से; **अहो**=आश्चर्य है! क्या आश्चर्य है? **बन्धनं**=कर्मों का आश्लेषण/एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध; किसके? **आत्मनः**=चैतन्यरूप आत्मा के; कैसे आत्मा के? **ज्ञानघनस्य**=बोध-निरत/ज्ञान-स्वभावी आत्मा के।

अर्थात्, मैं घर, पुत्र, विवाह, शरीर, कर्म आदिरूप पर-पदार्थों का कर्ता हूँ - इत्यादि रूप में अनादि-काल से ही इस जगत में सभी मोह-ग्रसित शरीरधारिओं के 'मैंने यह किया' - इस रूप में अभिमान-युक्त यह दुर्वार, तीव्र महा-मोहरूपी अन्धकार अति वेग से फैल रहा है। शुद्ध द्रव्यार्थिक-नय के विषयभूत भूतार्थ स्व शुद्धात्मा के परिग्रहण द्वारा/इसे अपनत्वरूप से जानकर, मानकर, इसमें ही स्थिरता द्वारा यदि यह कर्तृत्वरूप अज्ञानमय अन्धकार एक बार विनष्ट हो जाए, तब क्या पुनः इस ज्ञान-घन चिद्रूप आत्मा को एक क्षेत्रावगाहरूप संबंध वाले कर्मों का बन्ध होगा? कभी भी नहीं होगा।।५५।।

अब, अपने और पर-भावों का विभाजन करते हैं—

अनुष्टुप् : **आत्मभाव करे आतम, परभावों को पर सदा।**
आतम के भाव आतम ही, वे पर के पर ही सदा।।५६।।

टीका : ***आत्मा*** चेतनः; ***करोति*** विदधाति वेदयते वा। कान्? ***आत्मभावान्*** मतिश्रुतावधिप्रमुखविभावपर्यायान्, केवलज्ञानदर्शनसुखवीर्यरूपशुद्धपर्यायांश्च। ***परः*** पुद्गलपदार्थः; ***परभावान्*** ज्ञानादन्यान् स्वभावविभावपर्यायान्, करोतीति सम्बन्धः। कुतः ? ***हि*** इति यतः; ***आत्मनो भावा*** पर्यायाः; ***आत्मैव*** द्रव्यादेशात् पर्यायाणामात्मस्वभावत्वात् अत एव न ते परपर्यायाः। ***परस्य*** पुद्गलस्य; ***ते*** भावाः; ***पर एव*** पुद्गल एव ततोऽव्यतिरिक्तत्वात्। इति ये स्वभावास्ते तदीयाः, न परकीया इति विभागः स्फुटः॥ ११॥

अथ ज्ञानरागयोर्युगपद्दार्ष्टान्तयति—

टीकार्थ : आत्मा=चेतन-द्रव्य; **करोति**=करता है या वेदता है। किन्हें? **आत्मभावान्**=मति, श्रुत, अवधि प्रमुख विभाव-पर्यायों को और केवलज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यरूप शुद्ध-पर्यायों को करता है। **परः**=दूसरा, पुद्गल-पदार्थ; **परभावान्**=ज्ञान से भिन्न, स्वभाव-विभाव पर्यायोंमय अन्य भावों को, करता है - ऐसा सम्बन्ध है। कैसे करता है? **हि**=इस प्रकार क्योंकि; **आत्मनो भावा**=आत्मा की पर्यायें; **आत्मैव**=पर्यायों के आत्म-स्वभावत्व होने के कारण, द्रव्य-आदेश से/द्रव्यार्थिक-नय की अपेक्षा, वे आत्मा ही हैं; पर पर्यायें नहीं हैं। **परस्य**=पुद्गल के; **ते**=वे भाव; **पर एव**=उस पुद्गल से अभिन्न होने के कारण, वे पुद्गल ही हैं। इस प्रकार जो जिसके स्वभाव हैं, वे उसी के हैं; अन्य के नहीं हैं - ऐसा विभाग स्पष्ट हुआ।

अर्थात्, मति, श्रुत, अवधि आदि विभाव-पर्यायों और केवलज्ञान, केवलदर्शन, सुख, वीर्य आदि शुद्ध-पर्यायोंरूप अपने भावों को आत्मा सदा ही करता है। द्रव्यार्थिक-नय की अपेक्षा इनसे अभिन्न होने के कारण, आत्मा के ये भाव, आत्मा ही हैं। इसी प्रकार ज्ञानादि से रहित, अपने स्वभाव-विभावमय पौद्गलिक भावों को पुद्गल ही करता है। उसके वे सभी भाव उस पुद्गल से अभिन्न होने के कारण, पुद्गल ही हैं। इससे सिद्ध हुआ कि अपने भाव ही अपने होते हैं; किसी अन्य के भाव वास्तव में अपने नहीं होते हैं; वे सदा उस अन्य के ही हैं।।५६।।

अब, ज्ञान और राग की एक साथ स्थिति को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—

वसन्ततिलका : **अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यवहारकारी,**
ज्ञानं स्वयं किल भवन्नपि रज्यते यः।
पीत्वा दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृद्धया,
गां दोग्धि दुग्धमिव नूनमसौ रसालम्॥१२॥५७॥

टीका : ***तु*** पुनः; ***यः*** आजन्माभ्यस्तसुतत्त्वशास्त्रः पुमान्; ***रज्यते*** बाह्य-लाभादिकारणकलापाद्रागं गच्छति। कुतः ? ***अज्ञानतः*** भेदविज्ञानविलक्षणबोधाद्धेतोः। किं कुर्वन्? ***स्वयं*** स्वतः; ***ज्ञानं*** शुद्धात्मज्ञानं; ***भवन्नपि*** चिन्तयन्नपि, अनुभवन्नपि वा, तान् भवन् वा। ***किल*** इत्यागमोक्तौ, स पुमान्। ***सतृणाभ्यवहारकारी*** तृणेन सह वर्तमानः सतृणः, अभ्यवहारः उत्तमाहारः पायसशर्कराज्यादिरूपः, सतृणश्चासावभ्यवहारश्च तं करोतीत्येवं शीलः स तथोक्तः तृणसहितोत्तमाहारभोजीत्यर्थः। यथा तृणादिकमनिष्टं पायसाहार

वसन्ततिलका : **जो ज्ञानमय स्वयं है पर राग करता,**
अज्ञान से वह सतृण मिष्ठान्न खाता।
सम पी रसाल मधुराम्लरसातिसक्ती,
से गाय दूध दुहने तैयार सम ही।।५७।।

टीकार्थ : तु=और; **यः**=जन्म से ही सुतत्त्व-प्रतिपादक शास्त्रों का अभ्यस्त जो पुरुष; **रज्यते**=बाह्य में लाभ आदि के कारण/प्रसङ्ग समूह में राग करता है। वह राग कैसे/क्यों करता है? **अज्ञानतः**=भेद-विज्ञान से विपरीत ज्ञान/अज्ञान से राग करता है। क्या करता हुआ वह ऐसा करता है? **स्वयं**=स्वतः अपने आप; **ज्ञानं**=शुद्धात्मा के ज्ञान का; **भवन्नपि**=चिन्तन या अनुभव करता हुआ भी अथवा उसरूप होता हुआ भी; **किल**=इस प्रकार आगम में कहे अनुसार ऐसा करता हुआ भी वह पुरुष। **सतृणाभ्यवहारकारी**=तृण के साथ वर्तनेवाला सतृण, अभ्यवहार=दूध, शक्कर, घी आदिरूप उत्तम आहार, सतृण और वह अभ्यवहार, उसे करता है - ऐसे स्वभाववाला, वह उस प्रकार का कहा गया, तृण-सहित उत्तम आहार का भोजन करता है - ऐसा अर्थ है। जैसे, तृण आदि अनिष्ट आहार है, दूध आदि इष्ट आहार है। उन दोनों के एकत्र आस्वाद से/उनका भक्षण एक साथ करने से किसी पुरुष को शुभाशुभ/अच्छा-बुरा स्वाद आता है; उसी प्रकार तृण की स्थानीयता होने

इष्टः; तयोरेकत्रास्वादेन कस्यचित्पुंसः शुभाशुभं, तथा रागस्य तृणस्थानीयत्वात् अशुभत्वं, ज्ञानानुभवस्य शुभाहारस्थानीयत्वात् शुभत्वम्।

नूनं निश्चितं; ***असौ*** ज्ञानरागयोरेकत्वानुभावकः पुमान्; ***गां*** धेनुं; ***दुग्धं*** क्षीरं; ***दोग्धीव*** प्ररूपयति यथा। कया? ***दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृद्ध्या*** दधिदुग्धविकारमाम्ल-रसोपेतं, इक्षुः मधुररसोपेतः इक्षुदण्डः, द्वन्द्वः तयोः मधुराम्लरसस्तयोरतिगृद्धिः अत्यासक्तिः, तया। किंकृत्वा? ***पीत्वा*** पानं कृत्वा; कां? ***रसालं*** रसनाविषयासक्तजनाः वस्त्रगालितदधि-शर्करां मृष्ट्वा कमपि रसान्तरं प्राप्य रसालमिति भणन्ति शिखरिणीति देशभाषायाम्। यथा कश्चित् रसालामास्वाद्य तद्भेदमजानन् गोर्दोहनक्रियायां मधुराम्लरसातिगृद्ध्या प्रवर्तते तथा परात्मभेदमजानन् क्रोधादौ कर्तृत्वेन प्रवर्तत इति तात्पर्यम्॥ १२॥

से, (उदाहरणवाले तृण के स्थान पर) राग के अशुभपना है और शुभ आहार की स्थानीयता होने से, ज्ञानरूप अनुभव के शुभपना है।

नूनं=निश्चित; **असौ**=ज्ञान और राग में एकत्व का अनुभव करनेवाला एक पुरुष; जैसे '**गां**=गाय के; **दुग्धं**=दूध का; **दोग्धीव**=दोहन कर रहा हूँ - के समान' प्ररूपित करता है। वह ऐसा किससे करता है? **दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृद्ध्या**=दूध के विकारमय आम्ल-रस से सहित दधि/दही, मधुर-रस से सहित इक्षु-दण्डमय इक्षु/गन्ने का रस, इन दोनों का द्वन्द्व समास होकर मधुराम्लरस हो गया; उन दोनों की अतिगृद्धि=अत्यधिक आसक्ति, उससे। उसका क्या कर ऐसा करता है? **पीत्वा**=उसका पान कर ऐसा करता है। किसे? **रसालं**=वस्त्र-गालित दही में शक्कर को मिलाकर, किसी अन्य रस को प्राप्त कर, उसे रसना के विषय में आसक्त-जन रसाल कहते हैं; देश-भाषा में उसे शिखरिणी कहते हैं। जैसे कोई व्यक्ति, रसाल का आस्वाद लेकर, उसके भेद/रहस्य को नहीं जानता हुआ, मीठे और खट्टे रस की अति आसक्ति-वश, गाय को दुहने की क्रिया में प्रवृत्ति करता है; उसी प्रकार यह जीव, पर और आत्मा के भेद को नहीं जानता हुआ, कर्तृत्वरूप से क्रोधादि में प्रवृत्ति करता है - यह तात्पर्य है।

अर्थात्, जीवन पर्यन्त सुतत्त्व-प्रतिपादक शास्त्रों का भली-भाँति अभ्यास करनेवाला जो जीव, स्वयं ज्ञानमय होता हुआ भी, यदि स्व-पर के भेद-विज्ञान से विपरीत अज्ञान-वश, बाह्य लाभादि में राग करता है, तो वह तृण के साथ मिष्ठान्न खानेवाले के समान,

अथाज्ञानविलासं विजृम्भते—

शार्दूलविक्रीडित : **अज्ञानान्मृगतृष्णिकां जलधिया धावन्ति पातुं मृगा,**
अज्ञानात्तमसि द्रवन्ति भुजगाध्यासेन रज्जौ जनाः।
अज्ञानाच्च विकल्प-चक्रकरणाद्वातोत्तरङ्गाब्धिवत्,
शुद्धज्ञानमया अपि स्वयममी कर्त्रीभवन्त्याकुलाः ॥१३॥५८॥

टीका : *अमी* एते लोकाः; ***स्वयं*** स्वत एव; ***कर्त्रीभवन्ति*** मया कर्म कृतमिति कर्मणां कर्तारो भवन्ति। कीदृशा अपि? ***शुद्धज्ञानमया अपि*** निर्मलभेदबोधप्राचुर्याः, अभेदज्ञानिनः कथं कर्मकर्तारो न स्युरित्यपि शब्दार्थः। ***आकुलाः*** सन्तः। कुतः? ***अज्ञानात्*** भेदज्ञानाभावात्। कथम्भूतादज्ञानात्? ***विकल्पचक्रकरणात्*** विकल्पानां चक्रं समूहः,

रागात्मक ज्ञान का ही अनुभव करता है। शिखरिणी/श्रीखण्ड को पीकर, दही के खट्टे और इक्षुरस के मीठे स्वाद में अत्यधिक आसक्त होने के कारण, श्रीखण्ड के रहस्य को नहीं जाननेवाला कोई व्यक्ति, उस रस को पाने के लिए जैसे गाय के दूध का दोहन/पान करता है; उसी प्रकार आत्मा और पर-पदार्थों में पृथक्ता को नहीं जाननेवाला वह जीव, सुखी होने के लिए कर्तृत्वरूप से क्रोधादि में ही प्रवृत्ति करता रहता है।।५७।।

अब, अज्ञान के विलास का विस्तार बताते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **मृग दौड़े मृगतृष्णिका जल समझ पीने को अज्ञान से,**
जन भागें रस्सी में सर्प भ्रम से तम में हि अज्ञान से।
शुद्धज्ञानमयी स्वयं हैं फिर भी कर्ता हों अज्ञान से,
वायु से चंचल समुद्र सम ये व्याकुल सभी विकल्प से।।५८।।

टीकार्थ : अमी=ये लोग; **स्वयं**=अपने आप ही; **कर्त्रीभवन्ति**='मैंने कर्म किया' - इस प्रकार कर्मों के कर्ता होते हैं। कैसे होने पर भी वे कर्ता होते हैं? **शुद्धज्ञानमया अपि**=निर्मल भेद-ज्ञान की प्रचुरता होने पर भी, अभेद-ज्ञानी, कर्म के कर्ता कैसे नहीं होंगे (वे तो होंगे ही) - यह अपि/भी शब्द का अर्थ है। **आकुलाः**=आकुल/दुःखी होते हुए। किससे दुःखी होते हुए? **अज्ञानात्**=भेद-ज्ञान का अभाव होने से दुःखी होते हुए; कैसे अज्ञान से? **विकल्पचक्रकरणात्**=विकल्पों का चक्र=समूह, उसे करने से, किए गए होने से। यहाँ ही अर्थान्तरन्यास अलंकार/किसी दूसरे पदार्थ को दृष्टान्तरूप में उपस्थित कर कहते हैं—

तस्य करणाच्च कृताच्च हेतोः। अत्रैवार्थान्तरन्यासमाह –

वातोत्तरङ्गाब्धिवत् वातेन वायुना, उत्तरङ्गः ऊर्ध्वोर्मिमयः, स चासावब्धिश्च तद्वत्; यथोत्तरङ्गरहितोऽब्धिर्वातेनोत्तरङ्गीयते तथा शुद्धज्ञानोऽपि अज्ञानात्कर्ता भवतीत्यर्थः। लौकिक-निदर्शनेनाज्ञानस्य माहात्म्यमाह–***मृगाः*** हरिणाः; ***धावन्ति*** प्रसर्पन्ति। किमर्थं? ***पातुं*** पानार्थं; कां? ***मृगतृष्णिकां*** मरीचिकां; कया? ***जलधिया*** पानीयाभावेऽपि पानीयबुद्ध्या; ***अज्ञानात्*** ज्ञानाभावमाश्रित्य, ज्ञानिनश्चेत्तर्हि तत्र कथं धावन्ति? तथाऽज्ञानिनो भोगसुखे शरीरादौ च सुखधिया ममत्वधिया च वर्तन्ते इति भावार्थः। पुनः ***द्रवन्ति*** पलायनं कुर्वन्ति। क्व? ***तमसि*** तिमिस्रे। के? ***जनाः*** पुरुषाः। केन? ***रज्जौ*** वराटके ***'शुल्वो वराटकः स्त्री तु रज्जुः स्त्रीषु वटी गुणः'*** इत्यमरः। ***भुजगाध्यासेन*** भुजगोऽय-

---

वातोत्तरंगाब्धिवत्=वायु के द्वारा, उत्तरङ्ग=ऊपर उठती हुई लहरोंमय, वह और वह समुद्र, उसके समान; जैसे उठती हुई लहरों से रहित समुद्र, वायु द्वारा उठती हुई लहरोंवाला हो जाता है; उसी प्रकार शुद्ध-ज्ञान भी, अज्ञान से कर्ता हो जाता है – ऐसा अर्थ है। लौकिक निदर्शन से/लोक में प्रचलित प्रसंगों द्वारा अज्ञान की महिमा कहते हैं–

मृगाः=हरिण; **धावन्ति**=दौड़ते हैं। किसलिए दौड़ते हैं? **पातुं**=पीने के लिए दौड़ते हैं। किसे पीने के लिए? **मृगतृष्णिकां**=मृग-मरीचिका को पीने के लिए दौड़ते हैं। वे किस कारण/क्यों ऐसा करते हैं? **जलधिया**=पानी का अभाव होने पर भी, पानी की बुद्धि से; **अज्ञानात्**=ज्ञान के अभाव/अज्ञान का आश्रय कर/अज्ञान के कारण दौड़ते हैं; यदि ज्ञानी हैं तो वहाँ कैसे/क्यों दौड़ते हैं? उसी प्रकार अज्ञानी, भोग-सुख में और शरीर आदि में सुख की बुद्धि और ममत्व की बुद्धि से वर्तते हैं – ऐसा भावार्थ है।

और (दूसरा उदाहरण देते हैं) **द्रवन्ति**=पलायन करते/भागना प्रारम्भ करते हैं। ऐसा कहाँ करते हैं? **तमसि**=अन्धकार में करते हैं। कौन करते हैं? **जनाः**=पुरुष करते हैं। वे ऐसा किस कारण करते हैं? **रज्जौ**=वराटक/रस्सी में; *'शुल्व, वराटक पुल्लिंग में; रज्जु, स्त्रीलिंग में; वटी और गुण, स्त्रीलिंगी बहुवचन में रस्सी के पर्यायवाची हैं'* – ऐसा अमरकोश में उल्लेख है। **भुजगाध्यासेन**=यह सर्प है – ऐसी आरोप/विपरीत बुद्धि से ऐसा करते हैं। ऐसा कैसे हो जाता है? **अज्ञानात्**=अज्ञान का आश्रय लेकर जैसे रस्सी में सर्प है – ऐसा मानकर प्रवृत्ति करते हैं; उसी प्रकार अज्ञानी अपने में, पर की और पर शरीर आदि में, अपनी/

मित्यारोपबुद्ध्या; कुतः ? ***अज्ञानात्*** अज्ञानमाश्रित्य यथा रज्जौ भुजग इति कृत्वा वर्तन्ते तथा स्वे परकीयं परशरीरादौ स्वमिति कृत्वा वर्तते अज्ञानिनः ॥ १३ ॥

अथ ज्ञानविलासमाविष्करोति—

वसन्ततिलका : **ज्ञानाद्विवेचकतया तु परात्मनोर्यो,**
जानाति हंस इव वाः पयसोर्विशेषम्।
चैतन्यधातुमचलं स सदाधिरूढो,
जानीत एव हि करोति न किञ्चनापि ॥१४॥५९ ॥

अपनत्वरूप बुद्धि कर प्रवृत्ति करते हैं।

अर्थात्, जैसे मृग-मरीचिका में जल का अभाव होने पर भी, अज्ञानता के कारण 'वहाँ जल है' - ऐसा मानकर मृग/हरिण उसे पीने के लिए दौड़ते हैं। यदि उन्हें यह ज्ञान होता कि 'वहाँ जल नहीं है', तो वे वहाँ क्यों दौड़ते? उसी प्रकार अज्ञानी पञ्चेंद्रिय विषय-भोग-जन्य सुख/दुःख को सुख और शरीरादि को अपना मानकर, उनमें प्रवृत्ति करते हैं।

जैसे, सर्प का अभाव होने पर भी अज्ञानता के कारण, अन्धकार में रस्सी को देखकर 'यह सर्प है' - ऐसा मानकर व्यक्ति वहाँ से भागना प्रारम्भ करते हैं; उसी प्रकार स्वयं, पर और पर, अपना नहीं होने पर भी अज्ञानता-वश यह अज्ञानी स्वयं/अपने में, परत्व और शरीर आदि पर में, अपनत्व की बुद्धि कर प्रवृत्ति करते हैं।

इस प्रकार स्व-पर का भेद नहीं जाननेवाले अज्ञानी तो पर के कर्ता बनते ही हैं; शुद्ध-ज्ञानमय/निर्मल भेद-ज्ञान की प्रचुरता होने पर भी, भेद-विज्ञान का अभाव होने से, अज्ञान-वश 'मैंने यह कार्य किया' - इत्यादिरूप में कर्ता होते हुए/स्वयं को, पर का कर्ता मानते हुए; जैसे, निस्तब्ध/शान्त समुद्र भी वायु के वेग से ऊपर उठती हुई लहरोंवाला चंचल हो जाता है; उसी प्रकार विकल्पों के समूह में उलझकर, ये आकुलित होते हैं।।५८।।

अब, ज्ञान के विलास को विशेषरूप में व्यक्त करते हैं—

वसन्ततिलका : **जल दूध भेदक मराल समान जो भी,**
पर आत्म भेदक विवेचक ज्ञान से ही।
चैतन्य धातु अधिरूढ़ सदा अचल को,
जाने वो मात्र जाने न करे करम को।।५९।।

टीका : ***तु*** पुनः, अज्ञानविजृम्भणविकचानन्तरं; ***जानाति*** वेत्ति। कं? ***विशेषं*** भेदं; कयोः? ***परात्मनोः*** पुद्गलकर्मजीवयोः; ***ज्ञानात्*** भेदबोधमाश्रित्य। कया? ***विवेचकतया*** ज्ञानात्मनो र्भेदकस्वरूपतया। इममर्थं निर्दर्शयति— ***हंस इव*** यथा मरालः; ***वाःपयसोः*** नीरक्षीरयोः, भेदं वेत्ति तथा ज्ञानी पुद्गलजीवयोः; ***स*** पुमान्; ***जानीत एव*** वेत्त्येव। कं? ***चैतन्यधातुं*** चेतनास्वरूपधातुं आत्मानं वेत्यर्थः। किम्भूतं? ***अचलं*** स्वस्वभावान्न चलतीत्यचलं; ***सदा*** नित्यं; ***अधिरूढः सन्*** गुणसमूहमाश्रितः सन्; ***हि*** इति निश्चितं; ***किञ्चनापि*** किमपि; ***न करोति*** कर्तृकर्मक्रियां न विदधाति॥ १४॥

टीकार्थ : तु=फिर, अज्ञान के विस्तार को फैलाने के तत्काल बाद; **जानाति**=जानता है। किसे जानता है? **विशेषं**=भेद को जानता है। किनमें भेद को जानता है? **परात्मनोः**= पुद्गल-कर्मरूप पर और स्वयं जीव में भेद को जानता है; **ज्ञानात्**=ज्ञान से, भेद-ज्ञान का आश्रय लेकर। किससे जानता है? **विवेचकतया**=ज्ञान-स्वभावी आत्मा, भेद करनेवाला स्वरूप होने से जानता है। इस अर्थ को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं - **हंस इव**=हंस के समान, जैसे मराल/हंस; **वाः पयसोः**=नीर-क्षीर/जल और दूध के भेद को जानता है; उसी प्रकार ज्ञानी, पुद्गल और जीव के भेद को जानता है; **स**=वह पुरुष; **जानीत एव**=जानता ही है। वह किसे जानता है? **चैतन्यधातुं**=चेतना-स्वरूप धातु को अथवा आत्मा को जानता है - ऐसा अर्थ है। वह कैसा है? **अचलं**=अपने स्वभाव से चलित नहीं होता है - ऐसा अचल है; **सदा**=नित्य; **अधिरूढः**=अधिरूढ़ हो, गुणों के समूह का आश्रय कर/उन्हें प्राप्त होकर; **हि**=यह निश्चित; **किंचनापि**=कुछ भी; **न करोति**=कर्ता होकर, कर्मरूप क्रिया को नहीं करता है।

अर्थात्, अज्ञान से होनेवाले दुःख बताने के बाद अब, ज्ञान की महिमा बताते हुए कहते हैं कि जैसे हंस, जल और दूध के भेद को जानकर, दूध ग्रहण कर लेता है और जल छोड़ देता है; उसी प्रकार ज्ञान-स्वभावी आत्मा के भेदक-स्वभाव द्वारा भेद-विज्ञान से, स्वयं आत्मा और पुद्गल-कर्म आदि पर के विशेष/भेद को जो जान लेता है, वह ज्ञानी अचल, नित्य, गुणों के समूहमय चैतन्य-धातु को नियम से जानता ही है; कर्ता होकर किसी भी प्रकार की कर्मरूप क्रिया को रंचमात्र भी नहीं करता है।।५९।।

अब, ज्ञान से ही भेद को विस्तृत/पृथक्-पृथक् करते हैं —

अथ ज्ञानादेव भेदमुज्जृम्भते—

मन्दाक्रान्ता : **ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्था,**
ज्ञानादेवोल्लसति लवण-स्वाद-भेदव्युदासः।
ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः,
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिन्दती कर्तृभावम्॥१५॥६०॥

टीका : *प्रभवति* जायते; ***भिदा*** भेदः। कस्य? ***स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः*** स्वस्य आत्मनः, रसः अनुभवः, तेन विकसन् विकासं गच्छन्, स चासौ नित्यः शाश्वतः, चैतन्यधातुश्च चेतनलक्षणो धातुस्तस्य। ***क्रोधादेश्च*** कोप-मान-माया-लोभ-मोह-राग-द्वेष-कर्म-नोकर्म-मनो-वचन-काय-श्रोत्र-चक्षुर्घ्राण-रसन-स्पर्शनादेश्च परस्परम्। कुतः? ***ज्ञानादेव*** शुद्धात्मपरिज्ञानात्, नान्यत् एव। किम्भूता भिदा? ***भिन्दती*** विदारयन्ती। कं? ***कर्तृभावं*** आत्मनः कर्मणां कर्तृत्वस्वभावम्।

मन्दाक्रान्ता : **अग्नि जल की उष्ण शीतल स्थिति ज्ञान से ही,**
जानें जानें क्षार व्यंजन स्वाद उस ज्ञान से ही।
अपने रस से प्रगट नित ही चेतना धातु भिन्न,
क्रोधादि से व्यक्त जानें ज्ञान कर्तृत्व-भेदक।।६०।।

टीकार्थ : प्रभवति=उत्पन्न/प्रगट होता है; **भिदा**=भेद से। भेद से प्रगट किसके होता है? **स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः**=अपने आत्मा का रस=अनुभव, उससे विकास को प्राप्त/विकसित हुआ, वह और वह नित्य=शाश्वत और चैतन्य-धातु=चेतन लक्षणवाली धातु, उसका; **क्रोधादेश्च**=और क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, राग, द्वेष, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, कर्ण, नेत्र, नासिका, रसन, स्पर्शन आदि का पारस्परिक भेद प्रगट होता है। किससे प्रगट होता है? **ज्ञानादेव**=ज्ञान=शुद्धात्मा के परिज्ञान से ही प्रगट होता है; अन्य किसी माध्यम से प्रगट नहीं होता है। वह भेद कैसा है? **भिन्दती**=विदारण/पूर्णतया सब ओर से पृथक् करनेवाला है। किसे? **कर्तृभावं**=कर्ता भाव को, कर्मों का कर्तृत्व आत्मा का स्वभाव है - इस प्रकार की मान्यता आदि को पूर्णतया नष्ट करनेवाला है।

लोक में भी ज्ञान से ही सब कुछ यथार्थ प्रकाशित होता है। **औष्ण्यशैत्यव्यवस्था**=उष्ण और शीतल की विशेष स्थिति होती है। किनमें होती है? **ज्वलनपयसोः**=अग्नि और गर्म

लौकिकज्ञानादेव सर्वमिति प्रकाशयति। ***औष्ण्यशैत्यव्यवस्था*** शीतोष्णयोर्व्यव-स्थितिः भवति। कयोः ? ***ज्वलनपयसोः*** वह्नितप्तनीरयोः; कुतः ? ***ज्ञानादेव*** बोधादेव, यथा कश्चिल्लौकिकव्यवहारज्ञः, एकत्रीभूतयोः पावकपयसोर्भेदं निश्चिनोति, अभेदज्ञस्तयो-रभेदमेव तथा ज्ञानी एकत्रीभूतयोः परात्मनोर्भेदं निश्चिनोति, नाज्ञानी। तथा ***उल्लसति*** उल्लासं गच्छति। कः ? ***लवणस्वादभेदव्युदासः*** लवणस्वादस्य क्षारलवणस्य कटुकाम्ल-व्यञ्जनस्वादात् भेदः विशेषः, तस्य व्युदासः ज्ञानं; कुतः ? ***ज्ञानादेव*** यथा कश्चिद्भोजन-भेदज्ञो व्यञ्जनलवणयोर्भेदं व्यक्तं वेत्ति, अभेदज्ञः इदं क्षारस्वादं व्यञ्जनमेव तथा ज्ञानी क्रोधादिज्ञानयोरेकत्रीभूतयोः पृथक् स्वभावं परिच्छिनत्ति, अज्ञानी तु क्रोध्ययमात्मैवेति वेत्ति इति तात्पर्यम्। प्रतिवस्तूपमालङ्कारोऽयं; यदाह वाग्भट्टः —

'अनुपात्तविवादानां वस्तुनः प्रतिवस्तुना।
यत्र प्रतीयते साम्यं प्रतिवस्तूपमा तु सा॥'१५॥

हुए जल में होती है। किससे होती है? **ज्ञानादेव**=ज्ञान से ही; जैसे लौकिक व्यवहार को जाननेवाला कोई, एकत्रित हुए अग्नि और जल के भेद का निश्चय करता है; उन दोनों के भेद को नहीं जाननेवाला उन्हें अभेद ही मान लेता है; उसी प्रकार एकत्र हुए/एकक्षेत्रावगाह संबंधवाले पर और आत्मा के भेद का निश्चय, ज्ञानी तो कर लेता है; परन्तु अज्ञानी यह नहीं कर पाता है; उसी प्रकार **उल्लसति**=उल्लास को प्राप्त होता है/उत्कृष्टरूप में व्यक्त होता है। कौन व्यक्त होता है? **लवणस्वादभेदव्युदास**ः=लवण के स्वाद का=नमक के खारेपन का, व्यंजन के कड़वे-खट्टे स्वाद से, भेद=विशेष/अन्तर, उसका व्युदास=ज्ञान व्यक्त होता है। यह कैसे व्यक्त होता है? **ज्ञानादेव**=ज्ञान से ही; जैसे भोजन के भेद को जाननेवाला कोई, व्यंजन और लवण के भेद को स्पष्ट जान लेता है; परन्तु इस भेद को नहीं जाननेवाला, यह खारा स्वाद व्यंजन का ही है - ऐसा जानता है; उसी प्रकार एक साथ होनेवाले क्रोधादि और ज्ञान के पृथक् स्वभाव को, ज्ञानी भली-भाँति जान लेता है; परन्तु अज्ञानी, यह आत्मा ही क्रोधी है - ऐसा जानता है, यह तात्पर्य है।

यह प्रतिवस्तुरूप उपमा अलंकार है, इसका लक्षण, वाग्भट्ट ने इस प्रकार कहा है —

'जहाँ वस्तु के अनुपात्त-विवादों की अन्य वस्तु के साथ समानता प्रतीत होती है, वह प्रतिवस्तुरूप उपमा अलंकार है।'

अथात्मनः स्वपरभावयोः कर्तृत्वं निवेद्यते —

अनुष्टुप् : **अज्ञानं ज्ञान-मप्येवं कुर्वन्नात्मान-मञ्जसा।**
स्यात्कर्तात्मात्मभावस्य परभावस्य न क्वचित्॥१६॥६१॥

टीका : ***आत्मा*** चिद्रूपः; ***आत्मभावस्य*** स्वस्वरूपस्य; ***कर्ता स्यात्*** भवेत्।

अर्थात्, अपने आत्मा के अनुभवरूपी रस से विकसित, शाश्वत, चैतन्य-धातु का और क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, राग, द्वेष, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, कर्ण, नेत्र, नासिका, रसन, स्पर्शन आदि का पारस्परिक भेद/अन्तर, कर्तृत्व-भाव को पूर्णतया नष्ट कर देनेवाले, शुद्धात्मा के परिज्ञानमय भेद-विज्ञान से ही प्रगट होता है – इस तथ्य को प्रतिवस्तूपमा अलंकारमय दो दृष्टान्तों से स्पष्ट करते हैं —

जैसे, अग्नि से गर्म हुए जल में उष्णता, अग्नि की ही है; जल तो अभी भी स्वभाव से शीतल ही है – इस प्रकार का अग्नि और जल के स्वभाव का भेद-ज्ञान, उसे जाननेवाले ज्ञान से ही होता है; उसी प्रकार एक-क्षेत्रावगाह सम्बन्धवाले पुद्गल आदि पर-पदार्थ और आत्मा की परिपूर्ण पृथक्ता का परिज्ञान, इनके स्वभाव को जाननेवाले भेद-विज्ञान से ही होता है। उनके पृथक्-पृथक् स्वभाव को नहीं जाननेवाला अज्ञानी, जैसे जल को ही गर्म जान लेता है; उसी प्रकार एक-क्षेत्रावगाही शरीर आदि पुद्गल और ज्ञान-स्वभावी आत्मा को पृथक्-पृथक् नहीं जाननेवाला अज्ञानी, शरीरादि पुद्गलरूप ही स्वयं को जान लेता है।

जैसे, एक साथ मिले हुए व्यंजन के कड़वे-खट्टे आदि स्वाद का और नमक के खारेपन का ज्ञान, उनके पृथक्-पृथक् स्वाद को जाननेवाले ज्ञान से ही होता है; उसी प्रकार एक साथ होनेवाले ज्ञान और क्रोधादि का पृथक्-पृथक् ज्ञान तो एक-मात्र इनके स्वभाव को जाननेवाले ज्ञान से ही होता है। उनके पृथक्-पृथक् स्वाद को नहीं जाननेवाला अज्ञानी, जैसे व्यंजन को ही खारा जान लेता है; उसी प्रकार ज्ञान और क्रोधादि के स्वभाव को पृथक्-पृथक् नहीं जाननेवाला अज्ञानी, ज्ञान-स्वभावी आत्मा को ही क्रोधादिमय मान लेता है।।६०।।

अब, स्व और पर-भावों के संबंध में आत्मा के कर्तृत्व को स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुप् : **ज्ञान या अज्ञानमय हों, अपने भावों का सदा।**
आत्मा कर्ता परन्तु, कभी न परभाव का।।६१।।

टीकार्थ : आत्मा=चिद्रूप आत्मा; **आत्मभावस्य**=अपने स्वरूप का; **कर्ता स्यात्**=

किंकुर्वन्? ***अञ्जसा*** परमार्थतः; ***आत्मानं*** स्वस्वरूपं; ***ज्ञानं*** बोधं; ***अपि*** पुनः; ***एव*** निश्चयेन; ***अज्ञानं*** बोधविपर्ययं; ***कुर्वन्*** निष्पादयन् यत्किल क्रोधोऽहमित्यादिवत्, वा मोहोऽहमित्यादिवच्च परद्रव्याण्यात्मीकरोति, आत्मानमपि परद्रव्यं करोत्येवमात्मा तदायमज्ञानकर्ता। ***क्वचित्*** कदाचित्; ***परभावस्य*** पुद्गलपर्यायस्य; ***न*** कर्ता, स्यात्॥ १६ ॥

अथात्मनो व्यवहारिणां कर्तृत्वमतिं व्युपदिशति—

अनुष्टुप् : **आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम्।**
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम्॥१७॥६२॥

टीका : ***आत्मा*** चिद्रूपः; ***ज्ञानं*** बोधं; ***करोति*** विदधाति; ***स्वयं ज्ञानं*** ज्ञानमेवात्मा, आत्मज्ञानयोर्द्रव्यादेशादेकत्वात्। ***ज्ञानात्*** बोधं विहाय; ***अन्यत्*** घटपट–मुकुटलकुटशकटादि;

कर्ता हो। वह क्या करता हुआ कर्ता हो? **अंजसा**=परमार्थ से/वास्तव में; **आत्मानं**=अपने स्वरूप के; **ज्ञानं**=बोध को; **अपि**=भी; **एव**=निश्चय से वास्तव में; **अज्ञानं**=ज्ञान को विपरीत; **कुर्वन्**=करता हुआ, 'मैं क्रोध हूँ' इत्यादि के समान अथवा 'मैं मोह हूँ' इत्यादि के समान जब पर–द्रव्य को आत्मरूप करता है, आत्मा/स्वयं को भी पर–द्रव्यरूप करता है, तब यह अज्ञान का कर्ता है। **क्वचित्**=कभी भी; **परभावस्य**=पुद्गल–पर्याय का; **न**=कर्ता नहीं होता है।

अर्थात्, यह चिद्रूप आत्मा, वास्तव में अपने स्वरूप का ज्ञान करते हुए भी और ज्ञान की विपरीतता में 'मैं क्रोध हूँ या मैं मोह हूँ' इत्यादि के समान, पर–द्रव्य को आत्मरूप और स्वयं को पर–द्रव्यरूप करता हुआ मानते हुए भी, अपने इन ज्ञान या अज्ञानरूप भावों का ही कर्ता होता है; पुद्गल की पर्याय आदि पर–भावों का कर्ता वह कभी भी नहीं होता है।।६१।।

अब, व्यवहारिओं की आत्मा सम्बन्धी कर्तृत्व–बुद्धि को दिखाते हैं—

अनुष्टुप् : **आत्मा ज्ञान हि स्वयं ज्ञान हि, करे क्या अन्य ज्ञान से?**
जीव परभाव का कर्ता, मोह व्यवहारिओं का ये।।६२।।

टीकार्थ : आत्मा=चिद्रूप आत्मा; **ज्ञानं**=बोध को; **करोति**=करता है; **स्वयं ज्ञानं**=द्रव्य की अपेक्षा आत्मा और ज्ञान में एकत्व होने के कारण ज्ञान ही आत्मा है। **ज्ञानात्**=बोध को छोड़कर; **अन्यत्**=अन्य घड़ा, कपड़ा, मुकुट, लाठी, गाड़ी आदि को;

किं करोति ? अपि तु न विदधात्येव। नन्वात्मनोऽकर्तृत्वे गृहमिदमात्मना कृतमित्यादि-व्यवहारः कथमिति चेत् ? न, आत्मनः परभावस्याकर्तृत्वात्। ***आत्मा*** जीवः; ***परभावस्य*** परपर्यायस्य घटादेः ***कर्ता***; ***व्यवहारिणां*** व्यावहारिकपुरुषाणाम्। ***अयं*** आत्मा कर्तेत्यादि लक्षणः; ***मोहः*** विभ्रमः। ये खलु पुद्गलद्रव्याणां परिणामाः गोरसव्याप्तदधिदुग्धमधुराम्लवत् पुद्गलद्रव्यव्याप्तत्वेन भवन्तो ज्ञानावरणादीनि भवन्ति तानि तटस्थगोरसाध्यक्ष इव न नाम करोति ज्ञानी॥ ७॥

अथ साक्षेपं जीवस्य पुद्गलकर्तृत्वं प्रतिबध्नाति—

किं करोति=क्या करता है? अपितु नहीं करता है। आत्मा का अकर्तृत्व होने पर 'यह घर आत्मा ने/मैंने किया' इत्यादि व्यवहार कैसे होता है? यदि ऐसा प्रश्न हो तो (उत्तर देते हुए कहते हैं) पर-भावों का आत्मा के अकर्तृत्व होने के कारण ऐसा नहीं है। **आत्मा**=जीव; **परभावस्य**=घड़े आदि पर-पर्याय का; **कर्ता**=कर्ता है; **व्यवहारिणां**=व्यावहारिक पुरुषों का। **अयं**=यह आत्मा का कर्ता इत्यादि लक्षण; **मोहः**=विभ्रम है। गो-रस से व्याप्त दही के खट्टेपन और दूध के मीठेपन के समान, पुद्गल द्रव्य से व्याप्त होने के कारण होते हुए वास्तव में पुद्गल द्रव्य के जो परिणाम ज्ञानावरणादि रूप होते हैं; उन्हें तटस्थ रहकर गोरस को प्रत्यक्ष जाननेवाले के समान, ज्ञानी नहीं करता है।

अर्थात्, द्रव्य की अपेक्षा आत्मा और ज्ञान में एकत्व होने के कारण चिद्रूप आत्मा स्वयं ज्ञान ही है; आत्मा स्वयं ज्ञान को ही करता है। ज्ञान के अतिरिक्त अन्य घट, पट, मुकुट, लकुट, शकट आदि पर-पदार्थों को नहीं करता है। आत्मा, पर-भावों का पूर्णतया अकर्ता होने पर भी 'मैंने घर बनाया' इत्यादि जो यह कहा जाता है, वह व्यवहारी जीवों का मोहरूप भ्रम है।

वास्तव में तो जैसे दही के खट्टेपन, दूध के मीठेपन इत्यादि में गो-रस व्याप्त होने के कारण, गो-रस ने ही उन दही आदि को किया है; आत्मा ने तो तटस्थ-भाव-पूर्वक उन्हें मात्र जाना है; उसी प्रकार ज्ञानावरणादिरूप पुद्गल की पर्यायों में पुद्गल-द्रव्य ही व्याप्त होने के कारण, उन पुद्गलों ने ही उन्हें किया है; आत्मा तो उन्हें मात्र जानता ही है।।६२।।

अब, जीव के पुद्गल का कर्तृत्व है, इसे कोई आक्षेप-पूर्वक सिद्ध करता है —

वसन्ततिलका : **जीवः करोति यदि पुद्‌गलकर्म नैव,**
कस्तर्हि तत्कुरुत इत्यभिशङ्कयैव।
एतर्हि तीव्र-रय-मोह-निवर्हणाय,
सङ्कीर्त्यते शृणुत पुद्‌गलकर्मकर्तृ॥१८॥६३॥

टीका : *यदि* ननु, जैनं प्रत्याक्षिपति कश्चित्। ***जीवः*** आत्मा, ***पुद्गलकर्म*** पुद्गलमयज्ञानावरणादि कर्म; ***नैव करोति*** न निर्मापयति। ***तर्हि*** तत् पुद्गलकर्म; ***कः*** कर्ता कुरुते? पुद्गलानां स्वयमचेतनत्वात्कर्तृत्वानुपपत्तेः, अतएव आत्मैव कर्ता लक्ष्यते दक्षैः। ***इति*** अमुना प्रकारेण; ***अभिशङ्कया*** पूर्वपक्षाशङ्कया; ***एव*** निश्चयेन; ***एतर्हि*** इदानीं; ***सङ्कीर्त्यते*** निरूप्यते। किमर्थं? ***तीव्ररयमोहनिवर्हणाय*** तीव्ररयः तीव्रतीव्रतरानुभागः स चासौ मोहश्च विभ्रमः, तस्य निवर्हणं विनाशनं तस्मै। ***शृणुत*** आकर्णयत। ***पुद्गलकर्म*** पुद्गलात्मकं कर्म, द्रव्यभावरूपं; ***कर्तृ*** पुद्गलपर्यायाणां कर्तृ निष्पादकं, आत्मा तु नैमित्तिको

वसन्ततिलका : **यदि जीव पुद्‌गल करम का नहीं कर्ता,**
तो कौन कर्म कर्ता यह व्यक्त शंका।
इस तीव्र वेगमय मोह विनाशने अब,
पुद्‌गल करम का कर्ता कहते सुनो सब।।६३।।

टीकार्थ : यदि=प्रश्न-वाचक, जैन के प्रति कोई आक्षेप करता है। **जीवः**=आत्मा; **पुद्‌गलकर्म**=पुद्‌गलमय ज्ञानावरणादि कर्म को; **नैव करोति**=नहीं करता है। **तर्हि**=तब उस पुद्‌गल-कर्म को; **कः**=कर्तारूप कौन करता है? स्वयं अचेतन होने से, पुद्‌गलों के कर्तापने की असिद्धि होने के कारण, अचेतन/ज्ञान नहीं होने के कारण, पुद्‌गल कार्य करने में समर्थ नहीं है; इसलिए आत्मा ही उनका कर्ता है – ऐसा चतुर व्यक्तिओं को लगता है। **इति**=इस प्रकार से; **अभिशंकया**=पूर्व-पक्ष के रूप में आशंका द्वारा; **एव**=निश्चय से/वास्तव में; **एतर्हि**=इस समय; **संकीर्त्यते**=निरूपण करते हैं। इसका निरूपण किसलिए करते हैं? **तीव्ररयमोहनिवर्हणाय**=तीव्ररय=तीव्र से तीव्रतर अनुभाग, वह और वह विभ्रमरूप मोह, उसके निवर्हण=विनाश के लिए। **शृणुत**=उसे सुनो। **पुद्‌गलकर्म**=द्रव्य-भावरूप पुद्‌गलात्मक कर्म का; **कर्तृ**=पुद्‌गल-पर्यायों का कर्ता=निष्पादक/रचनेवाला; आत्मा तो उनका नैमित्तिकरूप हेतु/कारण हो। देश में गुण-दोष राजा ने किए इत्यादि के समान,

हेतुरस्तु। आत्मना कृतमिति तु व्यवहारः राज्ञा देशे गुणदोषौ कृतावित्यादिवत् योधैर्युद्धे कृते राज्ञा कृतमित्यादिवद्वा॥ १८॥

अथ पुद्गलपरिणामित्वं पूर्वपक्षक्षेपेण साक्षेपमाक्षिपति—

उपजाति : **स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्‌गलस्य, स्वभावभूता परिणामशक्तिः।**
तस्यां स्थितायां स करोति भावं, यमात्मनस्तस्य स एव कर्ता॥१९॥६४॥

अथवा योद्धाओं द्वारा युद्ध किए जाने पर भी, राजा ने युद्ध किया इत्यादि कथन के समान; आत्मा ने पौद्‌गलिक कर्म किए - ऐसा व्यवहार है।

अर्थात्, पुद्‌गलमय पर-भावों का कर्ता आत्मा नहीं है - ऐसा प्रतिपादन पिछले पद्यों द्वारा किया गया था। इस पर कोई, ऐसा कहनेवालों के प्रति आशंका उपस्थित करता है कि पुद्‌गल तो ज्ञान से पूर्णतया रहित होने के कारण, कुछ भी कार्य नहीं कर सकता है और आत्मा पुद्‌गलमय ज्ञानावरणादि कर्मों को करता नहीं है, तब फिर इनका कर्ता कौन है? इस प्रकार की आशंका का निराकरण करते हुए, तीव्रातितीव्र अनुभागवाले विभ्रमरूप मोह को नष्ट करने के लिए, द्रव्य-भावरूप पुद्‌गल-कर्मों का कर्ता, अगले पद्य द्वारा बताते हैं; उसे सुनो।

यद्यपि व्यक्ति, स्वयं ही गुण या दोषरूप परिणमित होता है; तथापि प्रजा के गुण या दोषरूप परिणमित होने पर, राजा ने उसे गुणी या दोषवान बनाया अथवा योद्धाओं द्वारा युद्ध किए जाने पर भी, राजा ने युद्ध किया इत्यादि प्रकार का लोक-व्यवहार प्रसिद्ध है; क्योंकि इनमें राजा के अनुशासन या आज्ञा आदि की निमित्तता होती है; अतः ऐसा व्यवहार प्रचलित हो जाता है; उसी प्रकार पौद्‌गलिक कर्मरूप परिणमन में, आत्मा के भावों की निमित्तता होने से 'उसने कर्म किए' - ऐसा व्यवहार से कह दिया जाता है। वास्तविकता अगले पद्य द्वारा बता रहे हैं।।६३।।

अब, पूर्व-पक्ष के क्षेप पूर्वक साक्षेप/अपेक्षा-सहित पुद्‌गल के परिणामित्व को भली-भाँति स्पष्ट करते हैं—

उपजाति : **निश्चित हुई, विघ्नरहित स्वभावी, परिणाम शक्ति सब पुद्‌गलों की।**
उससे सदा ही कर्ता स्वयं के, सब भाव का जो करता स्वयं के।।६४।।

टीका : ***खलु इति*** वितर्के इति पूर्वपक्षप्रकारेण। ननु पुद्गलद्रव्यं स्वयमबद्धं सज्जीवे कर्मभावेन न परिणमते तस्य सर्वथैकस्वभावत्वात् इति चेन्न, अपरिणामिनो नित्यस्यार्थक्रियाकारित्वविरोधात्। अर्थक्रिया च क्रमयौगपद्याभ्यां व्याप्ता, ते च नित्यान्नि-वर्तमाने स्वव्याप्यामर्थक्रियामादायापि निवर्तेते। सापि स्वव्याप्यं सत्त्वमादाय निवर्तते जीवस्याबन्धे च संसाराभावात्, इति युक्त्या सांख्यादिना कूटस्थनित्यवादिना विघ्नं कर्तुं न शक्यते वस्तुस्वभावस्य निषेद्धुमशक्यत्वात् ज्वलनौष्ण्यवत्।

नन्वात्मा पुद्गलद्रव्यं कर्मत्वेन परिणमयति ततो न संसाराभावः, इति चेत् तर्ह्यात्मा स्वयमपरिणममानं परिणममानं वा तत्परिणामयेत्? न तावत्प्राक्तनः पक्षः कक्षीकर्तव्यः प्रेक्षादक्षैः, अपरिणममानस्य तस्य परेण परिणामयितुमशक्यत्वात्, नहि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते। अथोत्तरः पक्षः, तदा तस्य स्वयमेव परिणमनात् परापेक्षणायोगाच्च।

टीकार्थ : खलु इति=यह वितर्क-वाचक अव्यय है, यहाँ इसका अर्थ है पूर्व-पक्ष के अनुसार। उस पुद्गल-द्रव्य के सर्वथा एक स्वभावपना होने के कारण, स्वयं अबद्ध रहता हुआ वह पुद्गल, जीव में कर्म-भाव से परिणमित नहीं होता है - यदि ऐसा प्रश्न हो तो (उत्तर देते हुए कहते हैं कि) ऐसा नहीं है; क्योंकि अपरिणामी नित्य के अर्थ-क्रिया-कारित्व का विरोध है/सर्वथा नित्य में कोई भी कार्य नहीं हो सकता है। अर्थ-क्रिया, क्रम और युगपत् के साथ व्याप्त होती है और वे नित्य से दूर होने पर, अपने में व्याप्य अर्थ-क्रिया को लेकर ही दूर होते हैं। वह अर्थ-क्रिया भी अपने से व्याप्य सत्त्व को लेकर ही दूर होती है और जीव का बन्ध नहीं होने पर, संसार का ही अभाव होगा - इस युक्ति से कूटस्थ नित्य-वादी सांख्य आदि विघ्न करने में समर्थ नहीं हैं; क्योंकि अग्नि की उष्णता के समान, वस्तु के स्वभाव का निषेध करने के लिए कोई भी समर्थ नहीं है।

यहाँ यदि कोई ऐसा कहे कि आत्मा, पुद्गल-द्रव्य को कर्मरूप से परिणमित कराता है; अतः संसार का अभाव नहीं होगा, तब उससे पूछते हैं कि स्वयं परिणमन नहीं करते हुए पुद्गलों को आत्मा, कर्मरूप से परिणमाता है या परिणमन करते हुए को परिणमाता है। विचार करने में चतुर व्यक्तियों द्वारा पहला पक्ष तो स्वीकार किया नहीं जा सकता है; क्योंकि उस परिणमन नहीं करनेवाले को दूसरों द्वारा परिणमित कराना सम्भव नहीं है; स्वयं में जो शक्ति नहीं है, वह दूसरों द्वारा प्रगट करना सम्भव नहीं है। अब यदि दूसरा पक्ष स्वीकार करते

तस्यां परिणामशक्तौ; ***स्थितायां*** व्यवस्थितायां; ***सः*** सोऽयं पुद्गलः, ***आत्मनः*** स्वरूपस्य; ***भावं*** परिणामं; ***करोति*** निष्पादयति। ***तस्य*** भावस्य; ***स एव*** पुद्गल एव ***कर्ता*** कारकः, नान्यः ॥ १९ ॥

हैं तो उसके स्वयं ही परिणमित होने से और पर की अपेक्षा का योग नहीं होने से, वह स्वयं ही कर्मरूप परिणमित हो रहा है। **तस्यां**=उस परिणाम-शक्ति की; **स्थितायां**=स्थिति सिद्ध हो जाने पर; **सः**=वह यह पुद्गल; **आत्मनः**=अपने स्वरूप के; **भावं**=परिणाम को; **करोति**=निष्पन्न करता है। **तस्य**=उस भाव का; **स एव**=वह पुद्गल ही; **कर्ता**=करनेवाला है; कोई अन्य उसका कर्ता नहीं है।

अर्थात्, सर्वथा अपरिणमन-शील, नित्य, कूटस्थ वस्तु में किसी भी प्रकार का परिणमन सम्भव नहीं है; कथंचित् नित्यानित्यात्मक वस्तु में ही परिणमन होता है। पुद्गल स्वयं एक नित्यानित्यात्मक वस्तु है। स्थायीत्व के साथ परिणमन करनेवाली 'परिणाम' नामक उसकी स्वभावभूत-शक्ति सदैव उसमें विद्यमान है। उससे वह स्वयं परिणमन करता रहता है। सर्वथा नित्य माननेवाले सांख्य आदि के कुतर्कों द्वारा यह शक्ति खण्डित नहीं होती है।

यदि पुद्गल की स्वयं परिणाम-शक्ति स्वीकार न कर, ऐसा माना जाए कि जीव उसे परिणमाता है, तब इस पर दो पक्षों द्वारा विचार किया जा सकता है - १. स्वयं परिणमन नहीं करते हुए पुद्गल को जीव परिणमाता है; २. स्वयं परिणमन करते हुए पुद्गल को जीव परिणमाता है। यहाँ क्रमशः इन पर विचार करते हैं—

१. स्वयं में जो शक्ति नहीं होती है, उसे कोई दूसरा प्रगट नहीं कर सकता है। यदि पुद्गल में स्वयं ही परिणमन करने की शक्ति नहीं है, तो जीव उसे कैसे परिणमित करा सकता है? नहीं करा सकता है।

२. स्वयं में जो शक्ति होती है, उसे अपना कार्य करने के लिए अन्य की आवश्यकता नहीं होती है। यदि पुद्गल स्वयं परिणमन-शील है, तो वह सदा परिणमन कर ही रहा है, उसमें जीव की आवश्यकता क्या है? कुछ भी नहीं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान से पूर्णतया रहित होने पर भी, पुद्गल में स्वभावभूत परिणाम-शक्ति शाश्वत विद्यमान है; जिससे वह सदा स्थायी रहकर परिणमन करता रहता है। उसे परिणमित होने के लिए, जीव की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है।।६४।।

अथ सांख्यवादिनं प्रति जीवस्य नित्यत्वं निरस्यति—

उपजाति : **स्थितेति जीवस्य निरन्तराया, स्वभावभूता परिणामशक्तिः।**
तस्यां स्थितायां स करोति भावं, यं स्वस्य तस्यैव भवेत्स कर्ता॥२०॥६५॥

टीका : नन्वपरिणामी जीवस्तदा कूटस्थत्वादकारकः स्यात् यदि सोऽस्त्वकारके विक्रियश्चेति चेन्न, प्रमाणादीनामकर्तृकत्वात्तत्फलाभावप्रसङ्गात्। न ह्यकारकः कश्चित् प्रमाता, प्रमातृत्वाभावादात्मनोऽप्यभावः, गुणाभावे हि गुणिनोऽप्यभावात्। ननु स्वयमबद्धः सन् क्रोधादिभावेन न परिणमते, इति कश्चित्सांख्यः। सोऽपि न विपश्चिद्दक्षः, तदपरिणामित्वे संसाराभावप्रसङ्गात्। यदि क्रोधादिसंयोगभावेन परिणमत्यसौ जपाजातरक्तसंयुक्त-स्फटिकवदिति न संसाराभावः, इति चेत्तर्हि क्रोधादिः स्वयमपरिणममानं परिणममानं वा परिणामयेत्? न तावदाद्यः पक्षो लक्ष्यो विपक्षैः, स्वयमपरिणममानस्य परैः कारणान्तर-

---

अब, सांख्य-वादिओं के प्रति जीव की (सर्वथा) नित्यता का निराकरण करते हैं—

उपजाति : **निश्चित हुई विघ्नरहित स्वभावी, परिणाम शक्ति इस जीव की भी।**
इससे सदा ही कर्ता स्वयं के, सब भाव का जो करता स्वयं के।।६५।।

टीकार्थ : यहाँ कोई प्रश्न करता है कि जीव, अपरिणामी है, तब फिर कूटस्थ होने के कारण अकारक हो; अकारक होने पर वह विक्रिया/क्रिया से रहित हो। (इसका उत्तर देते हुए यहाँ कहते हैं कि) ऐसा नहीं है, क्योंकि प्रमाणादि का कर्तापना नहीं होने पर, उनके फल के अभाव का प्रसंग उपस्थित होगा। कोई भी अकारक प्रमाता नहीं हो सकता है तथा गुण के अभाव में गुणी का भी अभाव हो जाने के कारण, प्रमाता का अभाव हो जाने से आत्मा का भी अभाव सिद्ध होगा।

यहाँ कोई सांख्य कहते हैं कि स्वयं अबद्ध होता हुआ/कर्मों से बँधा नहीं होने के कारण, क्रोधादि भाव से परिणमित नहीं होता है। उनसे आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहनेवाला वह भी, विचार करनेवाला चतुर नहीं है; क्योंकि उस आत्मा के अपरिणामीपने में संसार के अभाव का प्रसङ्ग आएगा।

यदि कोई ऐसा कहे कि रक्त-वर्णी जपा-कुसुम से संयुक्त स्फटिक के समान, क्रोधादि के संयोग-भाव से वह परिणमित होता है; अतः संसार का अभाव नहीं होता है, तब (फिर हम उससे पूछते हैं कि) क्रोधादि स्वयं परिणमन नहीं करनेवाले को परिणमाते हैं

सहस्त्रैर्वज्रावगाहवत्परिणामयितुमशक्यत्वात्। अथोत्तरस्तर्हि सिद्धं नः समीहितम्।

इत्युक्तयुक्त्या ***जीवस्य*** आत्मनः, ***या परिणामशक्तिः*** ज्ञानावरणादिपरिणमन - सामर्थ्यं ***सा स्थिता।*** किम्भूता? ***निरन्तराया*** निर्विघ्ना विघ्नवर्जिता। पुनः कीदृशा? ***स्वभावभूता*** पारमार्थिकी परानपेक्षत्वात्। तथा चोक्तमष्टसहस्र्यां **'कारणस्य कार्यात्मनो भवतः क्षेपायोगात् स्वभावान्तरानपेक्षणात्'** इति।

तस्यां स्वभावभूतायां परिणामशक्तौ; ***स्थितायां*** सत्यां; ***सः*** जीवः; ***यं*** ज्ञानादि-लक्षणं; ***स्वस्य*** आत्मनः; ***भावं*** स्वभावं; ***करोति*** स्त्रजति; ***स*** जीवः; ***तस्यैव*** ज्ञानादि-लक्षणस्य भावस्य न पुनरन्यस्य; ***कर्ता*** कारकः, ***भवेत्*** स्यात्॥२०॥

या परिणमन करनेवाले को परिणमाते हैं? विपक्ष के द्वारा पहला पक्ष तो स्वीकार किया नहीं जा सकता है; क्योंकि स्वयं परिणमन नहीं करनेवाले को, वज्र में अवगाहन के समान, अन्य दूसरे हजारों कारण मिलने पर भी, परिणमित कराना असम्भव है। अब यदि दूसरा पक्ष स्वीकार करते हैं, तब उसके द्वारा तो हमारी मान्यता ही सिद्ध होती है।

इस प्रकार कही गई युक्ति द्वारा **जीवस्य**=आत्मा की; **या परिणामशक्तिः**=ज्ञानावरण आदिरूप परिणमन करने की सामर्थ्यमय जो परिणाम-शक्ति है; **सा स्थिता**=वह सिद्ध हुई। वह कैसी है? **निरन्तराया**=निर्विघ्न=विघ्नों से रहित है। वह और कैसी है? **स्वभावभूता**= वास्तव में पर से पूर्णतया निरपेक्ष होने के कारण, स्वभावभूत पारमार्थिक है। उसी प्रकार अष्टसहस्री में कहा है - *'स्वयं ही कार्यरूप से परिणमित होते हुए कारण को, अन्य स्वभावों के सहयोग की अपेक्षा नहीं होती है।'*

तस्यां=स्वभावभूत उस परिणाम-शक्ति के; **स्थितायां**=विद्यमान होने पर; **सः**=वह जीव; **यं**=ज्ञानादि लक्षणमय जिस; **स्वस्य**=अपने; **भावं**=स्वभाव को; **करोति**=करता है; **सः**=वह जीव; **तस्यैव**=अन्य भाव का नहीं, वरन् ज्ञानादि लक्षणमय उसी भाव का ही; **कर्ता**=करनेवाला; **भवेत्**=हो।

अर्थात्, सर्वथा अपरिणमन-शील, नित्य कूटस्थ वस्तु में किसी भी प्रकार का परिणमन सम्भव नहीं है; कथंचित् नित्यानित्यात्मक वस्तु में ही परिणमन होता है। जीव स्वयं स्व-पर को जानता है - इससे ही उसकी नित्यानित्यात्मकता सिद्ध हो जाती है।

नित्य कूटस्थ माननेवाले सांख्य यदि ऐसा कहें कि जीव तो अपरिणामी ही है;

अथ ज्ञानाज्ञानयोर्ज्ञानाज्ञानत्वं कुतः ? इति पद्यद्वयेनाभिलपति—

आर्या : **ज्ञानमय एव भावः कुतो भवेत् ज्ञानिनो न पुनरन्यः।**
अज्ञानमयः सर्वः कुतोऽयमज्ञानिनो नान्यः॥२१॥६६॥

अनुष्टुप् : **ज्ञानिनो ज्ञान-निर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि।**
सर्वेऽप्यज्ञान-निर्वृत्ता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते॥२२॥६७॥

क्रोधादि के संयोग से परिणमित हो जाता है, तो इस कथन पर दो पक्षों द्वारा विचार किया जा सकता है – १. स्वयं परिणमन नहीं करता हुआ जीव, क्रोधादि के संयोग द्वारा परिणमित किया जाता है; २. स्वयं परिणमन करता हुआ जीव, उनसे परिणमित किया जाता है।

यहाँ क्रमशः इन पर विचार करते हैं—

१. जैसे, वज्र में अवगाहन करना/डूबना सम्भव नहीं है; उसी प्रकार यदि परिणमन करने की शक्ति स्वयं में नहीं है, तो अन्य हजारों कारण मिलकर भी, उसमें परिणमन की शक्ति प्रगट नहीं कर सकते हैं; अतः पहला पक्ष/स्वयं परिणमन नहीं करनेवाला जीव, क्रोधादि के संयोग द्वारा परिणमित होता है – तो किसी भी विचारक द्वारा मान्य हो ही नहीं सकता है।

२. स्वयं परिणमित जीव, उन क्रोधादिरूप परिणमित हो, ज्ञान के आवरण आदिमय परिणमन करता है – यह दूसरा पक्ष तो हमें स्वीकार ही है; क्योंकि इससे जीव का कथंचित् नित्यानित्यात्मक स्वभाव सिद्ध होता है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि पर से पूर्ण निरपेक्ष, सभी विघ्नों से रहित, परिणाम नामक पारमार्थिक एक शक्ति आत्मा में सदा विद्यमान है। स्वभावभूत उस शक्ति के कारण, आत्मा ज्ञानादिरूप अपने जिन भावों को करता है, वह उन्हीं भावों का कर्ता होता है; अन्य द्रव्यों के भावों का कर्ता वह कभी भी नहीं होता है।।६५।।

अब, ज्ञान और अज्ञान में ज्ञानपना और अज्ञानपना कैसे है? – इसे दो पद्यों द्वारा स्पष्ट करते हैं—

आर्या : **ज्ञानमयी ही पर्यय, क्यों हो ज्ञानी के अन्य क्यों न हो।**
अज्ञानमयी सब ही, क्यों हों अज्ञानि के हि अन्य न हों।।६६।।

अनुष्टुप् : **ज्ञानी के ज्ञान से निर्मित, सभी भाव सदा रहें।**
सभी अज्ञान से निर्मित, भाव अज्ञानि के रहें।।६७।।

टीका : ***ज्ञानिनः*** पुंसः; ***ज्ञानमय एव*** बोधनिर्वृत्त एव; ***कुतः*** कस्माद्धेतोः? ***भवेत्*** स्यात्; ***पुनः अन्यः*** भावः कुतो ***न*** स्यात्। ***अज्ञानिनः*** ज्ञानत्यक्तस्य तु अयं प्रसिद्धो ममत्वादिलक्षणः; ***सर्वः*** समस्तः; ***अज्ञानमयः*** अज्ञाननिर्वृत्तो भावः; ***कुतो*** हेतोर्भवेत्; ***न*** पुनः ***अन्यः*** ज्ञानादिलक्षणः ॥ २१ ॥

हि इति यस्मात् कारणात्; ***ज्ञानिनः*** पुंसः; ***सर्वे*** निखिलाः; ***भावाः*** परिणामाः; ***ज्ञाननिर्वृत्ताः*** ज्ञाननिष्पन्नाः; ***भवन्ति*** जायन्ते। ज्ञानाद् ज्ञाननिर्वृत्ता एव भावा, यथा जाम्बूनदजातितो जाम्बूनदपात्रकुण्डलादयः। ***तु*** पुनः; ***अज्ञानिनः*** पुंसः; ***ते*** प्रसिद्धाः अहङ्कारादयः; ***सर्वेऽपि*** समस्ता अपि; ***अज्ञाननिर्वृत्ता*** ये अज्ञानमया एव ***भवन्ति*** जायन्ते। यथा कालायसमयाद्भावात् कालायसपात्रवलयादयः, ततोऽज्ञानतस्तु अज्ञाननिर्वृत्ता एव भावाः। तथा चोक्तं—

'द्वैताद् द्वैतमद्वैतादद्वैतं खलु जायते।
लोहाल्लोहमयं पात्रं हेम्नो हेममयं यथा॥' इति॥२२॥

टीकार्थ : ज्ञानिनः=ज्ञानी आत्मा के; **ज्ञानमय एव**=ज्ञान से बने हुए ही; **कुतः**=किस कारण से; **भवेत्**=होते हैं? **पुनः अन्यः**=और दूसरे भाव कैसे **न**=नहीं होते हैं? **अज्ञानिनः**=ज्ञान से रहित के ममत्व आदि लक्षण, ये प्रसिद्ध; **सर्वः**=सभी; **अज्ञानमयः**=अज्ञान से बने हुए भाव; **कुतो**=किस कारण होते हैं? **न**=नहीं; और **अन्यः**=ज्ञानादि लक्षणमय अन्य भाव।

हि=ऐसा जिस कारण से; **ज्ञानिनः**=ज्ञानी आत्मा के; **सर्वे**=निखिल/सभी; **भावाः**=परिणाम; **ज्ञाननिर्वृत्ताः**=ज्ञान से बने; **भवन्ति**=होते हैं। जैसे, स्वर्ण से बने पात्र, कुण्डल आदि स्वर्णमय होते हैं; उसी प्रकार ज्ञान से बने भाव, ज्ञानमय ही होते हैं। **तु**=और; **अज्ञानिनः**=अज्ञानी आत्मा के; **ते**=अहंकार आदि वे प्रसिद्ध; **सर्वेऽपि**=सभी; **अज्ञान-निर्वृत्ताः**=जो अज्ञान से बने हुए हैं, वे अज्ञानमय ही; **भवन्ति**=होते हैं। जैसे, लोहे से बने पात्र, कड़ा आदि लोहमय होते हैं; उसी प्रकार अज्ञान से बने भाव, अज्ञानमय ही होते हैं। उसी प्रकार कहा भी गया है—

'जैसे, लोहा से लोहमय और स्वर्ण से स्वर्णमय पात्र होते हैं; उसी प्रकार वास्तव में द्वैत से द्वैत और अद्वैत से अद्वैत उत्पन्न होता है।'

अथाज्ञानत एव कर्मणां बन्धमिति प्रतिजानीते—

अनुष्टुप् : **अज्ञानमयभावानामज्ञानी व्याप्य भूमिकाम्।**
द्रव्यकर्मनिमित्तानां भावानामेति हेतुताम्॥२३॥६८॥

टीका : ***अज्ञानी*** ज्ञानच्युतः पुमान्; ***एति*** प्राप्नोति। कां? ***हेतुतां*** कारणतां; केषां? ***द्रव्यकर्मनिमित्तानां*** द्रव्यकर्मणां ज्ञानावरणादीनां निमित्तानि कारणानि, तेषाम्। ***भावानां*** पर्यायाणां मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगप्रमादादिरूपाणां। किं कृत्वा? ***व्याप्य*** प्राप्य; कां? ***भूमिकां*** स्थानं, केषां? ***अज्ञानमयभावानां*** मिथ्यात्वाविरतिकषाययोग-लक्षणानाम्॥२३॥

अर्थात्, यदि कोई प्रश्न करे कि ज्ञानी आत्मा के सभी भाव ज्ञानमय और अज्ञानी आत्मा के सभी भाव अज्ञानमय कैसे हैं? तो उसका उत्तर दृष्टान्त पूर्वक देते हुए यहाँ बताते हैं कि जैसे, स्वर्ण से बने बर्तन, आभूषण आदि सभी स्वर्णमय और लोहा से बने बर्तन, बेड़ी आदि सभी लोहमय ही होते हैं; उसी प्रकार ज्ञानी के सभी भाव, ज्ञान से बने हुए हैं; अतः ज्ञानमय ही हैं और अज्ञानी के ममत्व, अहंकार आदि सभी भाव, अज्ञान से बने हुए हैं; अतः अज्ञानमय ही हैं।।६६-६७।।

अब, अज्ञान से ही कर्मों का बन्ध होता है, ऐसा ज्ञान कराते हैं—

अनुष्टुप् : **अज्ञानमय भावों की, भूमिका को प्राप्तकर।**
कारण द्रव्यकर्मों के, भाव पाता मूढ़जन।।६८।।

टीकार्थ : अज्ञानी=ज्ञान से च्युत आत्मा; **एति**=प्राप्त होता है। वह किसे प्राप्त होता है? **हेतुतां**=वह कारणता को प्राप्त होता है। किनकी? **द्रव्यकर्मनिमित्तानां**=ज्ञानावरणादि द्रव्य-कर्मों की निमित्त कारणता को प्राप्त होता है। **भावानां**=मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग, प्रमाद आदिरूप पर्यायों को। इन्हें क्या कर? **व्याप्य**=प्राप्त कर; किसे? **भूमिकां**=स्थान को; किनके स्थान को? **अज्ञानमयभावानां**=मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग लक्षणरूप अज्ञानमय भावों को।

अर्थात्, ज्ञान-स्वभाव का विराधक अज्ञानी, भूमिकानुसार मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग आदि अज्ञानमय भावों को व्याप्त कर, ज्ञानावरणादि द्रव्य-कर्मों के बन्ध में निमित्त कारणभूत, मिथ्यात्व आदि अज्ञानरूप भावोंमय हेतुता को प्राप्त करता है/ उसके इन भावों का निमित्त पाकर ज्ञानावरणादि कर्म बँध जाते हैं।।६८।।

अथानयपक्षपाते सुखमावेदयति —

उपेन्द्रवज्रा : **य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं, स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यम्।**
विकल्पजालच्युतशान्तचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति॥२४॥६९॥

टीका : *य एव* योगिनः; ***निवसन्ति*** तिष्ठन्ति; ***नित्यं*** निरन्तरं आजन्मपर्यन्तं; किम्भूताः सन्तः? ***स्वरूपगुप्ताः*** स्वरूपे निजचिद्रूपे गुप्तिर्गोपनं येषां ते; 'अभ्रादिभ्यः' इति जैनेन्द्रसूत्रेणास्त्यर्थे अः। किं कृत्वा? ***मुक्त्वा*** हित्वा; कं? ***नयपक्षपातं*** नयानां अपि कर्मबद्धमबद्धं चेत्यादिरूपाणां, नयेषु वा पक्षपातः ममत्वाभिनिवेशस्तम्। ***त एव*** पुरुषाः नयं मुक्त्वा ***पिबन्ति*** पानं कुर्वन्ति आस्वादयन्तीत्यर्थः। ***साक्षात्*** प्रत्यक्षं; किं? ***अमृतं*** न म्रियते येन परात्मध्यानेन तदमृतं परमात्मध्यातुर्मुक्तिनिवासित्वेन मरणनिवर्हकत्वात्। किम्भूताः सन्तः? ***विकल्पजालच्युतशान्तचित्ताः*** विकल्पानां जालं समूहः, तेन च्युतं रहितं, शान्तं उपशमं प्राप्तं, चित्तं मानसं येषां ते॥ २४॥

अब, नयों के पक्षपात से रहित होने में सुख है; यह निरूपण करते हैं—

उपेन्द्रवज्रा : **जो जन न होते नय पक्षपाती, स्वरूप में गुप्त रहें सदा ही।**
वे सब विकल्पों से शून्य शान्त, चित-मय पिएं नित प्रत्यक्ष अमृत।।६९।।

टीकार्थ : य एव=जो भी योगी; **निवसन्ति**=रहते हैं; **नित्यं**=निरन्तर=जीवन पर्यन्त। वे कैसे होते हुए रहते हैं? **स्वरूपगुप्ताः**=स्वरूप=अपने चिद्रूप में, गुप्ति=गोपन/गुप्त रहता है जिनका, वे; 'अभ्र आदि से' जैनेन्द्र व्याकरण के इस मूल-सूत्र से 'अस्ति=है' अर्थ में 'अ' प्रत्यय हो जाने से, गुप्ति का गुप्त हो गया है। क्या करके ऐसा करते हैं? **मुक्त्वा**= छोड़कर; किसे? **नयपक्षपातं**=कर्मों से बद्ध है, कर्मों से अबद्ध है इत्यादिरूप नयों के भी अथवा नयों में भी पक्षपात, ममत्व, अभिनिवेश/उस ओर का झुकाव, उसे छोड़कर। **त एव**=वे ही आत्मा, नय को छोड़कर **पिबन्ति**=पान करते हैं, आस्वाद लेते हैं - ऐसा अर्थ है; अर्थात्, अनुभव करते हैं। **साक्षात्**=प्रत्यक्ष; किसका अनुभव करते हैं? **अमृतं**=जिस उत्कृष्ट आत्मा के ध्यान से मरते नहीं हैं, वह अमृत है; क्योंकि परमात्मा का ध्यान करनेवाला मरण को पूर्णतया नष्ट कर, मुक्ति का निवासी हो जाता है। वे कैसे होते हुए यह करते हैं? **विकल्पजालच्युतशान्तचित्ताः**=विकल्पों का जाल=समूह, उससे च्युत=रहित, शान्त=उपशम को प्राप्त हो गया है, चित्त=मन जिनका, वे।

अथ बद्धमूढरक्तदुष्टकर्त्रितरादिनयविभागं जेगीयते—

उपजाति : **एकस्य बद्धो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।**
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥२५॥७०॥

टीका : *एकस्य* व्यावहारिकनयस्य पर्यायार्थिकसंज्ञकस्य नयस्याभिप्रायेणात्मा; ***बद्धः*** कर्मभिर्निबद्धः। ***तथा*** तेनैव प्रकारेण; ***परस्य*** निश्चयनयस्य द्रव्यार्थिकसंज्ञकस्य नयस्याभिप्रायेणात्मा ***न*** बद्धः कर्मभिः। ***इति*** अमुना प्रकारेण; ***चिति*** चिद्रूपे; ***द्वयोः*** उभयोर्नययोः द्रव्यपर्यायार्थिकयोः; ***द्वौ*** उभौ; ***पक्षपातौ*** अभिनिवेशौ स्तः। ***यः*** कश्चित्; ***तत्त्ववेदी*** परमार्थवेत्ता सन्; ***च्युतपक्षपातः*** बद्धेतरयोर्नययोः पक्षपातरहितः भवतीत्याध्याहार्यम्। ***तस्य*** तत्त्ववेदिनः, ***खलु*** इति नियमेन; ***नित्यं*** निरन्तरं; ***चित्*** चैतन्यं;

अर्थात्, मैं कर्मों से बँधा हूँ, मैं कर्मों से अबद्ध हूँ इत्यादि अनेक प्रकार के नयों सम्बन्धी अथवा नयों में पक्षपात को छोड़कर जो सदा अपने चिद्रूप आत्मा में गुप्त रहते हैं; विकल्प जालों से रहित हो शान्त मनवाले वे, मरण को पूर्णतया नष्ट कर, मोक्ष-दशा को प्रगट करने में समर्थ अपने भगवान आत्मा का साक्षात् अमृत पीते हैं/स्वानुभव-प्रत्यक्ष पूर्वक रसास्वादन करते हैं।।६९।।

अब, बद्ध, मूढ़, रक्त, दुष्ट, कर्ता, इतर/भोक्ता इत्यादि नय-विभाग को विशेषरूप से निरूपित करते हैं—

उपजाति : **इक बद्ध कहता वैसा न अन्य, आत्मा में दो के दो पक्षपात।**
जो तत्त्ववेदी नहिं पक्षपाती, उसके सदा चित् बस एक चित् ही।।७०।।

टीकार्थ : एकस्य=एक व्यावहारिक नय के, पर्यायार्थिक नामक नय के अभिप्राय से, आत्मा; **बद्धः**=कर्मों से निबद्ध है। **तथा**=उसी प्रकार से; **परस्य**=दूसरे निश्चय नय के, द्रव्यार्थिक नामक नय के अभिप्राय से, आत्मा; **न**=कर्मों से बँधा नहीं है। **इति**=इस प्रकार से; **चिति**=चिद्रूप में; **द्वयोः**=द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक - इन दो नयों के; **द्वौ**=दो प्रकार के; **पक्षपातौ**=अभिनिवेश हैं। **यः**=जो कोई; **तत्त्ववेदी**=परमार्थ का ज्ञाता होता हुआ; **च्युतपक्षपातः**=बद्ध और अबद्ध बतानेवाले दोनों नयों के पक्षपात से रहित होता है - यह अध्याहार्य है (वाक्य-पूर्ति के लिए अलग से लगा लेना)। **तस्य**=उस तत्त्व-वेदी के; **खलु**=नियम से/वास्तव में; **नित्यं**=निरन्तर; **चित्**=चैतन्य; **चिदेव**=ज्ञान-स्वरूप ही;

चिदेव ज्ञानस्वरूपमेव; ***अस्ति*** भवति, साक्षात्केवलज्ञानी भवतीति यावत्॥ २५॥

उपजाति : **एकस्य मूढो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।**
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥२६॥७१॥
एकस्य रक्तो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥ २७॥७२॥
एकस्य दुष्टो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥ २८॥७३॥
एकस्य कर्ता न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥ २९॥७४॥

अस्ति=है; इससे वह साक्षात् केवलज्ञानी हो जाता है।

अर्थात्, व्यवहार या पर्यायार्थिक नय कहता है कि आत्मा, कर्मों से बद्ध है और निश्चय या द्रव्यार्थिक नय कहता है कि आत्मा, कर्मों से बँधा नहीं है – इस प्रकार चिद्रूप आत्मा में इन दो नयों के ये दो पक्षपात हैं। परमार्थ तत्त्व को जाननेवाला जो कोई बद्ध और अबद्ध बतानेवाले दोनों नयों के पक्षपातों से रहित हो जाता है, उसके लिए चैतन्य, वास्तव में सदा चैतन्य ही रहता है। वह इसमें ही परिपूर्ण स्थिर हो साक्षात् केवलज्ञानी हो जाता है।।७०।।

उपजाति : **इक मूढ़ कहता वैसा न अन्य, आत्मा में दो के दो पक्षपात।**
जो तत्त्ववेदी नहिं पक्षपाती, उसके सदा चित् बस एक चित् ही।।७१।।
इक रक्त कहता वैसा न अन्य, आत्मा में दो के दो पक्षपात।
जो तत्त्ववेदी नहिं पक्षपाती, उसके सदा चित् बस एक चित् ही।।७२।।
इक दुष्ट कहता वैसा न अन्य, आत्मा में दो के दो पक्षपात।
जो तत्त्ववेदी नहिं पक्षपाती, उसके सदा चित् बस एक चित् ही।।७३।।
कर्ता कहे इक वैसा न अन्य, आत्मा में दो के दो पक्षपात।
जो तत्त्ववेदी नहिं पक्षपाती, उसके सदा चित् बस एक चित् ही।।७४।।
भोक्ता कहे इक वैसा न अन्य, आत्मा में दो के दो पक्षपात।
जो तत्त्ववेदी नहिं पक्षपाती, उसके सदा चित् बस एक चित् ही।।७५।।

एकस्य भोक्ता न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥ ३० ॥७५ ॥
एकस्य जीवो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥ ३१ ॥७६ ॥
एकस्य सूक्ष्मो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥ ३२ ॥७७ ॥
एकस्य हेतुर्न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥ ३३ ॥७८ ॥
एकस्य कार्यं न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥ ३४ ॥७९ ॥
एकस्य भावो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥ ३५ ॥८० ॥
एकस्य चैको न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥ ३६ ॥८१ ॥

इक जीव कहता वैसा न अन्य, आत्मा में दो के दो पक्षपात।
जो तत्त्ववेदी नहिं पक्षपाती, उसके सदा चित् बस एक चित् ही।।७६।।
इक सूक्ष्म कहता वैसा न अन्य, आत्मा में दो के दो पक्षपात।
जो तत्त्ववेदी नहिं पक्षपाती, उसके सदा चित् बस एक चित् ही।।७७।।
हेतु कहे इक वैसा न अन्य, आत्मा में दो के दो पक्षपात।
जो तत्त्ववेदी नहिं पक्षपाती, उसके सदा चित् बस एक चित् ही।।७८।।
इक कार्य कहता वैसा न अन्य, आत्मा में दो के दो पक्षपात।
जो तत्त्ववेदी नहिं पक्षपाती, उसके सदा चित् बस एक चित् ही।।७९।।
इक भाव कहता वैसा न अन्य, आत्मा में दो के दो पक्षपात।
जो तत्त्ववेदी नहिं पक्षपाती, उसके सदा चित् बस एक चित् ही।।८०।।
इक एक कहता वैसा न अन्य, आत्मा में दो के दो पक्षपात।
जो तत्त्ववेदी नहिं पक्षपाती, उसके सदा चित् बस एक चित् ही।।८१।।

एकस्य सान्तो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥ ३७॥८२॥
एकस्य नित्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥ ३८॥८३॥
एकस्य वाच्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥ ३९॥८४॥
एकस्य नाना न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥ ४०॥८५॥
एकस्य चेत्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥ ४१॥८६॥
एकस्य दृश्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥ ४२॥८७॥

इक सान्त कहता वैसा न अन्य, आत्मा में दो के दो पक्षपात।
जो तत्त्ववेदी नहिं पक्षपाती, उसके सदा चित् बस एक चित् ही।।८२।।
इक नित्य कहता वैसा न अन्य, आत्मा में दो के दो पक्षपात।
जो तत्त्ववेदी नहिं पक्षपाती, उसके सदा चित् बस एक चित् ही।।८३।।
इक वाच्य कहता वैसा न अन्य, आत्मा में दो के दो पक्षपात।
जो तत्त्ववेदी नहिं पक्षपाती, उसके सदा चित् बस एक चित् ही।।८४।।
नाना कहे इक वैसा न अन्य, आत्मा में दो के दो पक्षपात।
जो तत्त्ववेदी नहिं पक्षपाती, उसके सदा चित् बस एक चित् ही।।८५।।
इक चेत्य कहता वैसा न अन्य, आत्मा में दो के दो पक्षपात।
जो तत्त्ववेदी नहिं पक्षपाती, उसके सदा चित् बस एक चित् ही।।८६।।
इक दृश्य कहता वैसा न अन्य, आत्मा में दो के दो पक्षपात।
जो तत्त्ववेदी नहिं पक्षपाती, उसके सदा चित् बस एक चित् ही।।८७।।
इक वेद्य कहता वैसा न अन्य, आत्मा में दो के दो पक्षपात।
जो तत्त्ववेदी नहिं पक्षपाती, उसके सदा चित् बस एक चित् ही।।८८।।

एकस्य वेद्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥ ४३॥८८॥
एकस्य भातो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥ ४४॥८९॥

टीका : पूर्ववद् व्याख्येयानि मूढरक्तेतरादिपदपरिवर्तनेन॥ २६–४४॥

अथ नयातिक्रमेण स्वानुभूतिमुपदर्शयति—

वसन्ततिलका : **स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजाला-**
मेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्षकक्षाम्।

इक भात कहता वैसा न अन्य, आत्मा में दो के दो पक्षपात।
जो तत्त्ववेदी नहिं पक्षपाती, उसके सदा चित् बस एक चित् ही।।८९।।

टीकार्थ : एकमात्र बद्ध के स्थान पर, क्रमशः मूढ़, रक्त, दुष्ट इत्यादि पदों के परिवर्तन द्वारा पहले कहे गए ७०वें पद्य के समान ही इनका व्याख्यान कर लेना चाहिए।

अर्थात्, प्रत्येक वस्तु के समान, आत्मा भी अनन्त धर्मात्मक वस्तु है। एक-एक धर्म को एक-एक नय जानता है; अतः समग्र वस्तु को जानने के लिए अविवक्षित अन्य धर्मों को गौण कर, विवक्षित एक धर्म की मुख्यता पूर्वक वस्तु को जाना जाता है। छद्मस्थ जीव इसी विधि द्वारा वस्तु को यथार्थ जान पाते हैं। इस पद्धति द्वारा वस्तु को जानना, हमारी कमजोरी है। आत्मा में सभी धर्म, एक साथ, एक समान, शाश्वत होने के कारण, वहाँ वास्तव में इन नय-विकल्पों के लिए स्थान नहीं है। ये नय-विकल्प स्वयं में ही रागात्मक हैं। चिद्रूप आत्मा सदा अखण्ड होने के कारण, निर्विकल्प तत्त्व है। इसे अपनत्वरूप से स्वीकार कर, जो नयों का पक्षपात छोड़कर, मध्यस्थ होते हैं; वे ही सुखी हैं। उन्हें चैतन्यमय आत्मा, मात्र चैतन्यमय ही ज्ञात होता है।।७१–८९।।

अब, नयों के अतिक्रमण द्वारा/नय-पक्ष से रहित हो, स्वानुभूति/आत्मा की अनुभूति होती है; यह दिखाते हैं—

वसन्ततिलका : **स्वयमेव व्यक्त बहुजाल बहुत विकल्पों,**
मय नय के पक्ष सब छोड़ स्वभावमय जो।

अन्तर्बहिःसमरसैकरसस्वभावं,
स्वं भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रम्॥ ४५॥९०॥

टीका : ***एकं; स्वं*** आत्मीयं; ***भावं*** स्वभावं; ***अनुभूतिमात्रं*** अनुभवमेव; ***उपयाति*** प्राप्नोति। किम्भूतं स्वं? ***अन्तर्बहिःसमरसैकरसस्वभावं*** अन्तः अभ्यन्तरे, बहिः बाह्ये, यः समरसः साम्यरसः, स एव एकः अद्वितीयः, आस्वाद्यमानरसस्वभावः स्वरूपं यस्य तत्। किं कृत्वा? ***एवं*** उक्तविंशतिपद्योक्तनयप्रकारेण; ***नयपक्षकक्षां*** नयपक्षाङ्गीकारं; ***व्यतीत्य*** हित्वा; किम्भूतां? ***स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजालां*** स्वेच्छया समुच्छलन्तश्च तेऽनल्पविकल्पाश्च तेषां जालं समूहो यस्या सा तां। ***महतीं*** महाप्रसर-प्राप्ताम्॥४५॥

अथ विकल्पजालं धिक्कृत्य स्वरूपं तन्तन्यते—

अन्तर्बहिः समरसी अनुभूतिमात्र,
हो एक रस स्वभावी चिद्भाव प्राप्त।।९०।।

टीकार्थ : एकं=एक; **स्वं**=अपना; **भावं**=स्वभाव; **अनुभूतिमात्रं**=अनुभव को ही; **उपयाति**=प्राप्त करता है। यह स्व कैसा है? **अन्तर्बहिःसमरसैकरस-स्वभावं**= अन्तः=अन्दर में, बहिः=बाहर में, जो समरस=साम्य-रस, वह ही एक=अद्वितीय, स्वाद में आनेवाले रस का, स्वभाव=स्वरूप है जिसका, वह। क्या करके उसका अनुभव होता है? **एवं**=इस प्रकार पहले कहे गए बीस पद्यों में वर्णित नयों के अनुसार; **नयपक्षकक्षां**=स्वीकार किए गए नयों के पक्ष को; **व्यतीत्य**=छोड़कर; कैसी नय-पक्ष कक्षा को छोड़कर? **स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजालां**=स्वेच्छा/अपने आप उछलते हुए, वे और वे अत्यधिक विकल्प, उनका जाल=समूह जिसका है, वह, उसे छोड़कर। **महतीं**=अत्यधिक विस्तार को प्राप्त।

अर्थात्, ७० से ८९ पर्यन्त २० पद्यों द्वारा कहे गए, अपने आप उछलते हुए, अत्यधिक विस्तार को प्राप्त, अनेक विकल्पों के समूहमय, पहले स्वीकार किए गए नयों के पक्ष को छोड़कर, अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग में समता-रसरूप एक अद्वितीय, स्वाद में आनेवाले रस के स्वभाववाले, अनुभूतिमात्र, एक, अपने स्वभाव को प्राप्त करता है।।९०।।

अब, विकल्प-जाल को धिक्कारते हुए, स्वरूप का विस्तार करते हैं—

रथोद्धता : **इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत् पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः।**
यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षणं कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्महः॥ ४६ ॥९१ ॥

टीका : *यस्य* चिन्महसः; ***विस्फुरणमेव*** प्रकाशनमेव; ***इदं*** प्रसिद्धं, ममैतदस्याहमित्यादिरूपं; ***कृत्स्नं*** समस्तं; ***इन्द्रजालं*** महेन्द्रादिशास्त्रप्रणीतविद्यासादृश्यत्वा-दसद्रूपत्वाच्चेदं सर्वमिन्द्रजालं; ***तत्क्षणं*** उदयकालं; ***अस्यति*** निराकरोति। किम्भूतं? ***उच्छलत्*** अधिकं प्रापयत्। काभिः? ***पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः*** विकल्प-ममत्वादिरूपाः सङ्कल्पास्त एव वीचयः कल्लोलाः बहुलास्ताश्च ता उच्चलन्त्यः ऊर्ध्वं प्राप्नुवन्त्यश्च ता विकल्पवीचयस्ताभिः। ***तत्*** प्रसिद्धं; ***चिन्महः*** चित्स्वरूपं धाम; ***अस्मि*** भवामि॥ ४६ ॥

अथ समयसारचेतनामाचिंतयति—

रथोद्धता : **इन्द्रजालवत व्यक्त बहुत ही, विकल्पवीची सभी उछलती।**
जिसके आते तत्क्षण नष्ट, मैं वही सतत चिन्मयतेज।।९१।।

टीकार्थ : यस्य=जिस चिन्मय तेज का; **विस्फुरणमेव**=प्रकाशन ही; **इदं**=मेरा यह, मैं इसका इत्यादिरूप यह प्रसिद्ध; **कृत्स्नं**=समस्त; **इन्द्रजालं**=महेन्द्र आदि द्वारा रचित शास्त्रों में वर्णित एक विद्या के समान होने पर भी, असद्रूप/मिथ्या होने से इस सभी इन्द्रजाल को; **तत्क्षणं**=प्रगट होते ही, उसी समय; **अस्यति**=निराकरण कर देता है। वह इन्द्रजाल कैसा है? **उच्छलत्**=अधिकता को प्राप्त हुए। किनके द्वारा वह अधिकता को प्राप्त है? **पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः**=ममत्व आदिरूप विकल्प, संकल्प, वे ही हैं वीचि=लहरें, बहुल=अत्यधिक, वे और वे उछलती हुईं; ऊपर को उठती हुईं और वे विकल्प तरंगें, उनके द्वारा अधिकता को प्राप्त है। **तत्**=वह प्रसिद्ध; **चिन्महः**=चैतन्य-स्वरूप तेज; **अस्मि**=हूँ।

अर्थात्, यह मेरा है, मैं इसका हूँ इत्यादिरूप, मिथ्यात्वमय, ममत्व आदिरूप संकल्प-विकल्पमय अत्यधिक उछलती हुई लहरों के समान, इस सम्पूर्ण इन्द्रजाल को, जिस चैतन्य के तेज का प्रकाशन, तत्क्षण ही नष्ट कर देता है; वह प्रसिद्ध चैतन्यमय तेज ही मैं हूँ।।९१।।

अब, समयसार की चेतना का सर्वांगीण चिन्तन करते हैं—

स्वागता : **चित्स्वभावभरभावितभावाभावभावपरमार्थतयैकम्।**
बन्धपद्धतिमपास्य समस्तां चेतये समयसारमपारम्॥४७॥९२॥

टीका : *चेतये* चिन्तयामि ध्यानविषयीकरोमीत्यर्थः। कं? ***समयसारं*** सम्यक् अयन्ति गच्छन्ति निजगुणपर्यायानिति समयाः पदार्थाः, अथवा समयन्ति जानन्ति स्वरूपमिति आत्मनः, तेषां मध्ये सारः श्रेष्ठस्तम्। किम्भूतं? ***अपारं*** गुणपाररहितं; पुनः ***एकं*** अद्वितीयं; कया? ***चित्स्वभावभरभावितभावाभावभावपरमार्थतया*** चिदेव स्वभावो यस्य स चित्स्वभावः आत्मा, तस्य भरः अतिशयः प्रतिक्षणं त्रिलक्षणोपादानलक्षणः, तेन भाविताः निष्पादिताः, भावाभावभावाः भूयत इति भाव उत्पादः, अभावः पूर्वपर्यायः, भवनं भावः द्रव्यरूपेण ध्रौव्यं, द्वन्द्वः, तेषां परमार्थता सत्यता एकार्थता, तया। किं कृत्वा? ***अपास्य*** छित्त्वा; कां? ***बन्धपद्धतिं*** कर्मबन्धश्रेणीं; ***समस्तां*** निखिलां, प्रकृतिस्थित्यनुभाग-प्रदेशरूपाम्॥ ४७॥

स्वागता : **चित्स्वभाव से भरित सदा जो, ध्रौव्य व्यय जनन से सत् एक।**
अनुभवूँ समयसार अपार, बन्ध-पद्धति सब विनष्ट कर।।९२।।

टीकार्थ : चेतये=चिन्तन करता हूँ, ध्यान का विषय करता हूँ - ऐसा अर्थ है। किसे? **समयसारं**=जो अपने गुण और पर्यायों को भली-भाँति प्राप्त होते हैं, वे पदार्थ, समय हैं; अथवा जो आत्मा के स्वरूप को जानते हैं, वे समय हैं; उनके मध्य में/उनमें जो सार या श्रेष्ठ है, उसे ध्यान का विषय/उसका ध्यान करता हूँ। वह कैसा है? **अपारं**=गुणों के पार से रहित/अनन्त गुण-सम्पन्न है और **एकं**=एक अद्वितीय है। वह किस कारण एक है? **चित्स्वभावभरभावितभावाभावभावपरमार्थतया**=चैतन्य ही है स्वभाव जिसका वह चित्स्वभाव आत्मा, उसका भर=प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक तीन लक्षणमय अथवा त्रिकाली उपादान, अनन्तर पूर्व क्षणवर्ती पर्याय-युक्त द्रव्य, तत्समय की योग्यतारूप तीन प्रकार के उपादान लक्षण से अतिशय/विशेषता-सम्पन्न; उससे भावित=निष्पादित/बना हुआ; भावाभावभाव=जो होता है, वह भाव=उत्पाद; पूर्व पर्याय का अभाव=व्यय; होना/विद्यमानता मात्र भाव=द्रव्यरूप से ध्रुवता; इन तीनों में द्वन्द्व समास किया; उनकी परमार्थता, सत्यता, एकार्थता/अखण्डता; उस कारण एक है। क्या करके उसका ध्यान करता हूँ? **अपास्य**=छेद कर/समाप्त कर; किसे? **बन्धपद्धतिं**=कर्म-बन्ध की श्रेणीरूप बन्ध-पद्धति को; **समस्तां**=प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेशरूप निखिल/सम्पूर्ण।

अथ समयसारं पापठीति—

शार्दूलविक्रीडित : **आक्रामन्नविकल्पभावमचलं पक्षैर्नयानां विना**
सारो यः समयस्य भाति निभृतैरास्वाद्यमानः स्वयम्।
विज्ञानैकरसः स एष भगवान् पुण्यः पुराणः पुमान्
ज्ञानं दर्शनमप्ययं किमथवा यत्किञ्चनैकोऽप्ययम्॥४८॥९३॥

टीका : ***यः समयस्य*** पदार्थस्य मध्ये; ***सारः*** उत्कृष्टः आत्मेत्यर्थः। ***स्वयं*** परप्रकाशाद्यभावेन; ***भाति*** शोभते। ***नयानां*** बद्धमूढादीनां; ***पक्षैः*** अङ्गीकारैः; ***विना*** अन्तरेण; ***निभृतैः*** निश्चलैः एकाग्रता गतैर्योगिभिः; ***आस्वाद्यमानः*** ध्यानविषयीक्रियमाणः; ***अचलं*** निश्चलं यथा भवति तथा, अथवा अविकल्पभावस्य विशेषः। ***अविकल्पभावं*** विकल्परहितभावं; ***आक्रामन्*** स्वीकुर्वन्। पुनः किम्भूतः ? ***विज्ञानैकरसः*** विज्ञानस्य

अर्थात्, प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेशरूप सभी प्रकार की बन्ध-पद्धति को पूर्णतया नष्ट कर, मैं समयसार का ध्यान करता हूँ। अपने गुण-पर्यायों को भली-भाँति प्राप्त हुए पदार्थों में या अपने स्वरूप को जाननेवाले समयों में श्रेष्ठ यह समयसार, अनन्त गुण-सम्पन्न अपार है; शाश्वत चैतन्यमय स्वभाव की अधिकता से निष्पन्न; उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य की अखण्डता से एक/अद्वितीय है। मैं इस समयसार का ही संचेतन करता हूँ॥९२॥

अब, समयसार का शब्दशः पाठ करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **पाकर के अविकल्प भाव निश्चल नय पक्ष सबसे रहित,**
निभृतजन आस्वाद्य शोभित समय का सार है जो स्वयम्।
विज्ञानैकरसी पुराण पावन भगवान वह यह सदा,
दर्शन ज्ञान यही कहो व जो भी यह एक ही सर्वदा॥९३॥

टीकार्थ : यः समयस्य=पदार्थ के मध्य में जो; **सारः**=उत्कृष्ट, आत्मा – ऐसा अर्थ है। **स्वयं**=पर प्रकाश आदि अन्य के विना, स्वतः; **भाति**=सुशोभित हो रहा है। **नयानां**=बद्ध, मूढ़ आदि नयों के; **पक्षैः**=पक्षों को स्वीकार किए; **विना**=विना; **निभृतैः**=निश्चल, एकाग्रता को प्राप्त योगियों द्वारा; **आस्वाद्यमानः**=स्वाद लिया जा रहा है, ध्यान का विषय किया जा रहा है; **अचलं**=निश्चल जैसे होता है, उस प्रकार अथवा यह अविकल्प भाव का विशेषण है; **अविकल्पभावं**=विकल्प से रहित भाव को; **आक्रामन्**=स्वीकार करता हुआ। वह और कैसा है? **विज्ञानैकरसः**=विज्ञान=विशिष्ट बोध का, एक

विशिष्टबोधस्य, एकरसः, यः सः; ***पुमान्*** आत्मा; ***भगवान्*** ज्ञानी; ***पुण्यः*** प्रशस्तः पवित्रो वा; ***पुराणः*** चिरन्तनकालीनः पुरातन इत्यर्थः। ***अयं*** आत्मा; ***ज्ञानं*** बोधः, ज्ञानव्यतिरेकेण तस्यानुपलभ्यमानत्वात्; ***अपि*** पुनः ***अयं दर्शनं*** सत्तालोचनमात्रं, सम्यक्त्वं वा आत्मैव। ***अथवा किं*** बहुना विकल्पेन किं साध्यं ? न किमपि। ***यत्किञ्चन*** चारित्रं सौख्यं किञ्चित्; ***एकोऽप्ययं*** अद्वितीय आत्मैव आत्मव्यतिरेकेण तेषामनुपलभ्यमानत्वात् आत्मस्वरूपत्वाच्च स्वरूपस्वरूपिणोरेकत्वात्॥ ४८॥

अथात्मनो गतानुगततां साधयति—

रस जो है, वह; **पुमान्**=आत्मा; **भगवान**=ज्ञानी; **पुण्यः**=प्रशस्त या पवित्र; **पुराणः**= चिरन्तन-कालीन, इसका पुरातन ऐसा अर्थ है। **अयं**=यह आत्मा; **ज्ञानं**=ज्ञान के अतिरिक्त उसकी उपलब्धि नहीं होने के कारण ज्ञानमय; **अपि**=और; **अयं दर्शनं**=सत्तालोचनमात्र या सम्यक्त्वरूप यह दर्शन, आत्मा ही है। **अथवा किं**=बहुत विकल्प से क्या साध्य है? कुछ भी नहीं। **यत्किंचन**=चारित्र, सौख्य आदि जो कुछ है; **एकोऽप्ययं**=एक अद्वितीय यह आत्मा ही है; आत्मा के अतिरिक्त उनकी उपलब्धि नहीं होने से, उनकी आत्म-स्वरूपता होने से और स्वरूप-स्वरूपी के एकत्व/अभिन्नता होने से, वे सभी आत्मा ही हैं।

अर्थात्, बद्ध, मूढ़ आदि नयों के पक्षों को स्वीकार किए विना; निश्चल, निर्विकल्प-भाव को प्राप्त, एकाग्र-चित्तवाले योगियों द्वारा अनुभव किया जानेवाला समय का जो सार आत्मा सुशोभित हो रहा है; वह यह आत्मा, विज्ञान का एक रस/विशिष्ट ज्ञान का घन-पिण्ड, ज्ञान-स्वभावी भगवान, प्रशस्त/पवित्र/पुण्यरूप, अनादि-कालीन पुराणमय पुरुष है; यह एक ज्ञान ही है, सत्तालोचनमात्र या सम्यक्त्वरूप दर्शन भी यही है, अथवा अधिक कहने से क्या लाभ है? आत्मा को छोड़कर अन्यत्र नहीं होने से, आत्म-स्वरूप होने से और स्वरूप-स्वरूपी की अभिन्नता होने से, चारित्र, सुख आदि जो कुछ भी हैं, वे सभी यह एक ही है।।९३।।

अब, आत्मा की गतानुगतता/प्रवाह का अनुकरण करने की वृत्ति को सिद्ध करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **जल ढ़ालू भू पा निजौघ में ज्यों आता तथा आत्मा,**
विज्ञानैकरसी निजौघ-च्युत हो बहु विकल्पों में सदा।

शार्दूलविक्रीडित : **दूरं भूरिविकल्प-जाल-गहने भ्राम्यन्निजौघाच्च्युतो,**
दूरादेव विवेक-निम्न-गमनान्नीतो निजौघं बलात्।
विज्ञानैकरसस्तदेकरसिनामात्मानमात्माहरन्,
नात्मन्येव सदा गतानुगततामायात्ययं तोयवत्।।४९।।९४।।

टीका : ***तदेकरसिनां*** तस्मिन् आत्मनि, एकः अद्वितीयः, रसः, येषां योगिनां; ***अयं*** प्रसिद्धं; ***आत्मा*** चिद्रूपः; ***आत्मन्येव*** स्वस्वरूप एव गमनागमनतां; ***आयाति*** प्राप्नोति; ***सदा*** निरन्तरं; ***आत्मानं*** स्वस्वरूपं; ***आहरन्*** स्वीकुर्वन्; किम्भूतः ? ***विज्ञानैकरसः*** विशिष्टबोधैकरसास्वादकः; ***निजौघात्*** विज्ञानैकरससमूहात्; ***च्युतः*** परिच्युतः सन्; ***भूरिविकल्पजालगहने*** भूरिविकल्पानां जालं समूहस्तदेव गहनं वनं, अवगाहयितुम-शक्यत्वात्, तस्मिन्। ***दूरं*** आत्मस्वरूपादनिकटं यथा भवति तथा; ***भ्राम्यन्*** भ्रमणं कुर्वन्; ***दूरादेव*** स्वस्वरूपादसमीपत एव; ***बलात्*** हठात्; बहिर्द्रव्यममत्वादि-परित्यागरूपात्; ***निजौघं*** विज्ञानैकरससमूहं; ***नीतः*** प्राप्तः। कुतः ? ***विवेकनिम्नगमनात्*** विवेकः परात्मनोर्भेदेन विवेकत्वं, स एव निम्नं गभीरं, गमनं गतिः, तस्मात्; बहिर्भ्रमन् विकल्पे

फिरता अति गहरे स्वभाव दर्शक सुविवेक से भेद कर,
आत्मा में आता गतानुगत हो विज्ञानरस प्राप्त कर।।९४।।

टीकार्थ : तदेकरसिनां=उस आत्मा में एक अद्वितीय रस है, जिन योगियों के। **अयं**=यह प्रसिद्ध; **आत्मा**=चिद्रूप आत्मा; **आत्मन्येव**=अपने स्वरूप में ही गमनागमनता को; **आयाति**=प्राप्त होता है; **सदा**=निरन्तर; **आत्मानं**=अपने स्वरूप को; **आहरन्**=स्वीकार करता हुआ। वह आत्मा कैसा है? **विज्ञानैकरसः**=विशिष्ट बोधमय एक रस का आस्वाद लेनेवाला है। **निजौघात्**=अपने विज्ञानरूपी एक रस के समूह से; **च्युतः**=अति भ्रष्ट होता हुआ। **भूरिविकल्पजालगहने**=अनेक विकल्पों का जाल=समूह, अवगाहन करना अशक्य होने से, वही है गहन वन, उसमें। **दूरं**=अपने स्वरूप से दूर जैसे होता है, उस प्रकार; **भ्राम्यन्**=भ्रमण करता हुआ; **दूरादेव**=अपने स्वरूप से दूर से ही; **बलात्**=बाह्य द्रव्यों में ममत्व आदि के परित्यागरूप हठ पूर्वक; **निजौघं**=अपने विज्ञानरूपी एक रस के समूह को; **नीतः**=प्राप्त हुआ। उसे कैसे प्राप्त हुआ? **विवेकनिम्नगमनात्**=विवेक=पर और आत्मा के भेद द्वारा विवेकपना, वही है निम्न=गभीर/गहराई में, गमन=गति/जाना, उससे; विकल्प में

विवेकवशात् स्वस्वरूपे आयाति। किमिव ? ***तोयवत्*** यथा पानीयं स्वस्थाने; ***गतानुगततां*** करोति निजौघाच्च्युतं वने भ्राम्यत्, निम्नगमनविशेषनिजस्थानं प्राप्नोतीति, उक्तिलेशः ॥४९ ॥

अथ विकल्पस्वरूपं विकल्पयति—

अनुष्टुप् : **विकल्पकः परं कर्ता विकल्पः कर्म केवलम्।**
न जातु कर्तृकर्मत्वं सविकल्पस्य नश्यति ॥५० ॥९५ ॥

टीका : ***परं*** केवलं; ***विकल्पकः*** परद्रव्ये ममेदमिति, अभिनिवेशो विकल्पः स्वार्थे कप्रत्ययविधानात्। ***कर्ता*** कर्मणां कर्तृत्वेन प्रतिभवति। ***केवलं*** परं; ***विकल्पः***

बाहर घूमते हुए, भेद-विज्ञान पूर्वक अपने स्वरूप में आ जाता है। किसके समान आ जाता है? **तोयवत्**=जैसे, अपने समूह से च्युत हो वन में बहता हुआ जल, अपने स्थान में; **गतानुगततां**=प्रवाह का अनुसरण करता हुआ नीची भूमिवाले विशिष्ट अपने स्थान को प्राप्त हो जाता है; उसी प्रकार आत्मा भी अपने स्वरूप में आ जाता है - यह कथन का अभिप्राय है।

अर्थात्, जैसे अपने स्थान से निकलकर गहन वन में प्रवाहित जल, प्रवाह/ढ़ालवाले मार्ग पर बहता हुआ अपने स्थान पर आ जाता है; उसी प्रकार विशिष्ट ज्ञानरूपी एक रस का आस्वादी यह प्रसिद्ध आत्मा, अपने विज्ञानरूपी एक रस के समूह से अति भ्रष्ट हो, अपने स्वरूप से अति दूर, बाह्य द्रव्यों में ममत्व आदिरूप अनेक प्रकार के विकल्प जालमय गहन वन में उलझ रहा है। जब इसे स्व और पर सम्बन्धी भेद-विज्ञानमय गहरे मार्ग द्वारा, दूर से ही बाह्य द्रव्यों में ममत्व आदि के परित्यागरूप पुरुषार्थ पूर्वक विज्ञानरूपी एक रस के समूह में लाया जाता है; तब गतानुगतिक हो अपने स्वरूप को स्वीकार करता हुआ, अपने एक अद्वितीय रस का सेवन करनेवालों को सदा विज्ञानरूपी एक रसरूप में ही स्वाद में आनेवाला यह चिद्रूप आत्मा, अपने स्वरूप में ही स्थिर हो जाता है।।९४।।

अब, विकल्प का स्वरूप बताते हैं—

अनुष्टुप् : **विकल्पक मात्र कर्ता है, कर्म मात्र विकल्प ही।**
नहीं मिटती कभी कर्ता कर्म धी सविकल्प की।।९५।।

टीकार्थ : परं=केवल/मात्र; **विकल्पकः**=पर-द्रव्य में 'यह मेरा है' - इस प्रकार का अभिनिवेश, विकल्प है; स्वार्थ में (स्वार्थिक पदों में) 'क' प्रत्यय का विधान होने के

कर्म भावकर्मणां विकल्पस्वरूपत्वात् कर्महेतुत्वाद्वा विकल्पस्य कर्मत्वं कारणे कार्योपचारात्। ***जातु*** कदाचित्, ***सविकल्पस्य*** देहिनः; ***कर्तृकर्मत्वं न नश्यति*** न निरस्यति ॥ ५० ॥

अथ जीवपुद्गलयोः कर्तृवेत्तृत्वं भिनत्ति—

रथोद्धता :

यः करोति स करोति केवलं,
यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलम्।
यः करोति न हि वेत्ति स क्वचित्,
यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित्॥५१॥९६॥

टीका : ***यः*** पुद्गलः; ***करोति*** द्रव्यभावनोकर्म विदधाति; ***स*** पुद्गलः; ***केवलं*** परं, ***करोति*** कर्मादि स्रजत्येव। ***तु*** पुनः; ***यः*** आत्मा; ***वेत्ति*** स्वपरस्वरूपं परिच्छिनत्ति; ***सः*** आत्मा, ***केवलं*** परं; ***वेत्त्येव*** जानात्येव; ***तु*** शब्दः एवार्थे।

कारण विकल्प से विकल्पक बन गया है। **कर्ता**=कर्तृत्वरूप से कर्मों का कर्ता होता है। **केवलं**=पर/मात्र; **विकल्पः कर्म**=भाव-कर्मों के विकल्प-स्वरूपता होने से अथवा कर्म की हेतुता होने से, कारण में कार्य का उपचार हो जाने से, विकल्प के कर्मपना है। **जातु**=कभी भी; **सविकल्पस्य**=विकल्प करनेवाले प्राणियों का; **कर्तृकर्मत्वं**=कर्ता-कर्मपना; **न नश्यति**=नष्ट नहीं हो पाता है।

अर्थात्, पर-द्रव्यों के सम्बन्ध में 'यह मेरा है' - इत्यादिरूप अभिनिवेशमय विकल्प करनेवाला विकल्पक, कर्मों के कर्तृत्वरूप से कर्ता है और उन भाव-कर्मों का स्वरूप, विकल्पात्मक होने से या द्रव्य-कर्मों के बन्ध में निमित्त-कारण होने से; कार्य का उपचार, कारण में करके यह कहा गया है कि मात्र वे विकल्प ही उसके कर्म हैं। विकल्प करनेवालों का कर्तृ-कर्मपना कभी समाप्त नहीं होता है।।९५।।

अब, जीव और पुद्गल सम्बन्धी कर्ता-ज्ञातापने का भेद दिखाते हैं—

रथोद्धता : **जो करता वह केवल करता, जो ज्ञाता वह मात्र जानता।**
कुछ नहिं जाने वह जो करता, जो ज्ञाता वह कुछ नहीं करता।।९६।।

टीकार्थ : यः=जो पुद्गल; **करोति**=द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म को करता है; **सः**=वह पुद्गल; **केवलं**=मात्र; **करोति**=कर्मादि को करता ही है। **तु**=और; **यः**=जो आत्मा; **वेत्ति**=स्व और पर के स्वरूप को जानता है; **सः**=वह आत्मा; **केवलं**=मात्र;

ननु यत्प्रधानं महदादि करोति तदेव वेत्ति नत्वात्मा—

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्ततश्च गणः षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि॥

इति वचनात्, एकस्यैव कर्तृत्ववेत्तृत्वोपपत्तेः। नत्वात्मनः किञ्चिदुपपन्नं तस्य सकल–जगत्साक्षिकत्वात्? इति चेत्तन्न तस्याचेतनत्वान्मृदादिवत्। अन्यथा पुमान्निष्फलः स्यात्। चेतनेतरस्वभावत्वे तस्य चेतनेतरत्वविभागानुपपत्तिः; अत आत्मनश्चेतनत्वं तस्याचेतनत्वं; ***हि*** इति यस्मात् कारणात्। ***यः*** पुद्गलः; ***करोति*** कर्मादिकं; ***सः*** पुद्गलः; ***क्वचित्*** कदाचित्; ***न वेत्ति*** न जानाति तस्य सर्वथाऽचेतनत्वात्। ***तुः*** पुनः; ***यः*** आत्मा; ***वेत्ति; सः*** आत्मा; ***क्वचित्देशे*** कस्मिंश्चित्काले; ***न करोति*** कर्मादि, तस्य कर्माकर्तृत्वात्॥ ५१॥

वेत्त्येव=जानता ही है; **तु**=तु पद 'एव/ही' के अर्थ में है।

यहाँ प्रश्न है कि जो प्रधान है, वह महत् आदि को करता है और वही जानता है; आत्मा नहीं जानता है – *'प्रकृति से महान, उस महान से अहंकार, उस अहंकार से सोलह गण, उन सोलह से पाँच तन्मात्रा और उन पाँच से पाँच महाभूत होते हैं'* – ऐसा वचन होने के कारण, एक के ही कर्तापने और ज्ञातापने की सिद्धि हो जाती है। *'आत्मा के सकल जगत का साक्षिकपना होने के कारण, उस आत्मा से कुछ भी सिद्ध नहीं होता है।'* – सांख्यों की ओर से यदि ऐसा प्रश्न हो तो (उसका उत्तर देते हुए यहाँ कहते हैं कि), ऐसा नहीं है; मिट्टी आदि के समान उस प्रकृति के अचेतनता होने के कारण।

यदि ऐसा स्वीकार नहीं किया जाए तो पुमान/पुरुष/आत्मा को मानना निष्फल हो जाएगा। उसके/प्रकृति के चेतनेतर/चेतन और अचेतन स्वभाव होने पर, चेतन और अचेतनपने के विभाग/भेद की असिद्धि है; अतः आत्मा के चेतनता और उस प्रकृति/प्रधान के अचेतनता है; **हि**=ऐसा जिस कारण से। **यः**=जो पुद्गल; **करोति**=कर्मादि को करता है; **सः**=वह पुद्गल; **क्वचित्**=कभी; **न वेत्ति**=नहीं जानता है; उसके सर्वथा अचेतनता होने के कारण। **तु**=और; **यः**=जो आत्मा; **वेत्ति**=जानता है; **सः**=वह आत्मा; **क्वचित् देशे**=किसी भी देश में, किसी भी काल में; **न करोति**=कर्मादि नहीं करता है, उसके कर्मों का अकर्तृत्व होने के कारण।

अर्थात्, द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म आदि कर्मों को पुद्गल करता है; वह सर्वथा

अथ ज्ञप्तिकरोत्योर्भिन्नत्वमुद्भासते—

इन्द्रवज्रा : **ज्ञप्तिः करोतौ न हि भासतेऽन्तः ज्ञप्तौ करोतिश्च न भासतेऽन्तः।**
ज्ञप्तिः करोतिश्च ततो विभिन्ने ज्ञाता न कर्तेति ततः स्थितं च॥५२॥९७॥

टीका : ***हि*** इति स्फुटं; ***करोतौ*** कर्तृक्रियायां सत्यां; ***अन्तः*** मध्ये; ***ज्ञप्तिः*** ज्ञातृता; ***न भासते*** न प्रतिभासते। ***च*** पुनः; ***ज्ञप्तौ*** ज्ञातृतायां प्रतिभासमानायां; ***अन्तः*** अभ्यन्तरे; ***करोतिः*** आत्मनः कर्तृस्वभावः; ***न भासते*** न चकास्ति। ***ततः*** कारणात् परस्परपरिहारेण

अचेतन होने के कारण कुछ भी जानता नहीं है। स्व और पर के स्वरूप को भली-भाँति जाननेवाला आत्मा, इन्हें मात्र जानता ही है। यह सदा जाननेवाला होने के कारण, किसी भी देश (क्षेत्र) में, किसी भी काल में कर्मादि को करता नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो करता है, वह मात्र करता है; जानता कुछ भी नहीं है और जो जानता है, वह मात्र जानता है; करता कुछ भी नहीं है।

इस पर सांख्य-मत-वादी कहते हैं कि ऐसा कहना उचित नहीं है। प्रकृति करती भी है और जानती भी है; अतः करनेवाला भी जानता है – ऐसा कहना चाहिए। इसके उत्तर में यहाँ कहा गया है कि ऐसा कहना उचित नहीं है। प्रकृति, अचेतन होने के कारण, जानती नहीं है; जाननेवाला तो मात्र पुरुष है। यदि प्रकृति को ही चेतन और अचेतनरूप स्वीकार कर लेंगे तो आपके यहाँ मान्य पच्चीस तत्त्वों में चेतन और अचेतन का भेद कर पाना सम्भव नहीं हो सकेगा; अतः यह सत्य है कि जो करता है, वह जानता नहीं है और जो जानता है, वह करता नहीं है।।९६।।

अब, ज्ञान और कर्तृत्व में भिन्नता को स्पष्ट करते हैं—

इन्द्रवज्रा : **करने में ज्ञप्ति न हो प्रकाशित, ज्ञप्ति में करना न हो सुशोभित।**
ज्ञप्ति व करना हैं भिन्न भिन्न, इससे न ज्ञाता करता सुनिश्चित।।९७।।

टीकार्थ : **हि**=यहाँ इस अव्यय का अर्थ स्फुट/स्पष्ट है; **करोतौ**=कर्ता की करनेरूप क्रिया होने पर; **अन्तः**=मध्य/अन्तरङ्ग में; **ज्ञप्तिः**=ज्ञातृता/जानकारीरूप क्रिया; **न भासते**=प्रतिभासित नहीं होती है। **च**=और; **ज्ञप्तौ**=जानकारीरूप क्रिया प्रतिभासित होने पर; **अन्तः**=अभ्यन्तर में; **करोतिः**=आत्मा का कर्तारूप स्वभाव; **न भासते**=प्रकाशित नहीं होता है। **ततः**=उस कारण परस्पर परिहार/एक-दूसरे का निराकरण करने की व्यवस्था

व्यवस्थानात्; ***ज्ञप्तिः*** ज्ञातृता; ***च*** पुनः; ***करोतिः*** कर्तृता च; ***विभिन्ने*** पृथक्स्वभावे; ***ततः*** परस्परं भिन्न-स्वभावत्वात्; ***इति च स्थितं*** इति सुप्रतिष्ठं यो ज्ञाता चिद्रूपः स कर्ता न भवेदिति॥ ५२ ॥

अथ कर्तृकर्मणोः परस्परमैक्यं निराचेक्रीयते—

शार्दूलविक्रीडित : **कर्ता कर्मणि नास्ति नास्ति नियतं कर्मापि तत्कर्तरि,**
द्वन्द्वं विप्रतिषिध्यते यदि तदा का कर्तृकर्मस्थितिः।
ज्ञाता ज्ञातरि कर्म कर्मणि सदा व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
नैष्पथ्ये वत नानटीति रभसान्मोहस्तथाप्येष किम्॥५३॥९८॥

टीका : ***कर्मणि*** ज्ञानावरणादिकर्मरूपपरिणतपुद्गलपर्याये; ***कर्ता*** आत्मनः कर्तृत्वं; ***नास्ति*** न विद्यते। ***तत्*** तस्मात् कर्मणि कर्तृत्वाव्यवस्थानात्; ***नियतं*** निश्चितम्। यदि

होने से; **ज्ञप्तिः**=जानकारी; **च**=और; **करोतिः**=कर्तापना; **विभिन्ने**=पृथक् स्वभाववाले हैं; **ततः**=परस्पर भिन्न स्वभावपना होने के कारण; **इति च स्थितं**=इस प्रकार यह सुप्रतिष्ठित/भली-भाँति स्थित/निश्चित हुआ कि चिद्रूप जो ज्ञाता है, वह कर्ता नहीं है।

अर्थात्, यह तथ्य अत्यन्त स्पष्ट है कि जो जानने की/ज्ञान की क्रियारूप में अन्तरङ्ग में प्रकाशित होता है, वह करनेवाली क्रियारूप में अन्तरङ्ग में प्रतिभासित नहीं होता है और जो करनेवाली क्रियारूप में अन्तरङ्ग में प्रतिभासित होता है, वह जानने की/ज्ञान की क्रियारूप में अन्तरङ्ग में प्रतिभासित नहीं होता है; क्योंकि जानना और करना - ये दोनों पृथक्-पृथक् स्वभाववाले हैं; अतः एक दूसरे का परिहार करते हैं। इससे यह भली-भाँति निश्चित हो गया है कि जो जानता है, वह कर्ता नहीं है। चैतन्य-स्वभावी आत्मा, जानता है; अतः वह कर्मादि का कर्ता नहीं है।।९७।।

अब, कर्ता और कर्म में परस्पर एकता का निराकरण करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **कर्ता नहिं है कर्म में करम भी कर्ता में रहता नहीं,**
इक दूजे में न रहें तब बने क्यों कर्तृ कर्म स्थिति।
ज्ञाता ज्ञाता में करम करम में नित व्यक्त वस्तु स्थिति,
तो भी अनुचित मोह शीघ्र बल से नाचे दशा खेद की।।९८।।

टीकार्थ : कर्मणि=ज्ञानावरणादि कर्मरूप में परिणमित पुद्गल पर्याय में; **कर्ता**=आत्मा का कर्तृत्व; **नास्ति**=नहीं है। **तत्**=इस प्रकार कर्म में कर्तापने की व्यवस्था नहीं होने से;

कर्मणि कर्ता न तर्हि कर्तरि कर्म भविष्यति ? तन्निषेधार्थमाह- ***कर्मापि*** ज्ञानावरणादि-परिणतपुद्गलपर्यायः; ***कर्तरि*** आत्मनि; ***नास्ति*** न विद्यते। ***यदि*** चेत् ? ***विप्रतिषिध्यते*** निराक्रियते। किं ? ***द्वन्द्वं*** युग्मं कर्तृकर्मरूपं। ***तदा*** तर्हि ***कर्तृकर्मस्थितिः*** कर्तृकर्मणोः आत्मा कर्ता पुद्गलपर्यायः कर्म इति व्यवस्था; ***का*** नाम ? न कापि।

इति अमुना प्रकारेण; ***वस्तुस्थितिः*** वस्तुव्यवस्था; ***व्यक्ता*** स्पष्टा। ***इति*** किं ? ***ज्ञातरि*** आत्मनि; ***ज्ञाता*** ज्ञातृस्वभावः, नान्यत्र, न पुनः कर्तृस्वभावः; ***सदा*** निरन्तरं; ***कर्मणि*** कर्मपर्यायपरिणतपुद्गले; ***कर्म*** कर्मेति व्यपदेशः नान्यत्र ज्ञातरि। ***वत*** इति खेदे परस्परं तयोर्भिन्नत्वे वेदयत्याचार्यः। ***एष मोहः*** ममत्वकारकमोहनीयं कर्म; ***तथापि*** परस्परमात्मकर्मणोर्भिन्नत्वेऽपि; ***रभसात्*** शीघ्रं; ***नैष्पथ्ये*** निर्गतः पन्था मार्गो यत्र स्थाने तत् निष्पथं तस्य भावो नैष्पथ्यं तस्मिन् अमार्गस्थानत्वे इत्यर्थः। ***किं*** कथं ? ***नानटीति*** अतिशयेन

नियतं=निश्चित है। यदि कर्म में कर्ता नहीं है, तब फिर कर्ता में कर्म होगा? उसका निषेध करने के लिए कहते हैं - **कर्मापि**=ज्ञानावरण आदिरूप से परिणमित पुद्‌गल पर्याय भी; **कर्तरि**=कर्तारूप आत्मा में; **नास्ति**=नहीं है। **यदि**=यदि हो तो उसका; **विप्रतिषिध्यते**= निराकरण किया जाता है। किसका निषेध करते हैं? **द्वन्द्वं**=युग्म/एक साथ कर्ता-कर्मरूप का निषेध करते हैं। **तदा**=तब फिर; **कर्तृकर्मस्थितिः**=कर्ता और कर्म की; आत्मा, कर्ता और पुद्‌गल की पर्याय, कर्म - इस प्रकार की व्यवस्था; **का**=किस प्रकार हो सकती है? किसी भी प्रकार से नहीं हो सकती है।

इति=इस प्रकार से; **वस्तुस्थितिः**=वस्तु की व्यवस्था; **व्यक्ता**=स्पष्ट हुई। **इति**=इस प्रकार क्या? **ज्ञातरि**=जाननेवाले आत्मा में; **ज्ञाता**=जानने का स्वभाव है, यह अन्य में नहीं है और आत्मा में करने का स्वभाव नहीं है; **सदा**=निरन्तर। **कर्मणि**=कर्म-पर्यायरूप से परिणमित पुद्‌गल में; **कर्म**='कर्म' - ऐसा व्यवहार होता है; अन्यत्र ज्ञाता में ऐसा व्यवहार नहीं होता है। **वत**=यह 'खेद' अर्थ का सूचक अव्यय है, परस्पर दोनों में भिन्नता होने पर भी, कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति चल रही है - इस पर आचार्य खेद व्यक्त कर रहे हैं। **एष मोहः**= ममत्व करनेवाला यह मोहनीय-कर्म; **तथापि**=आत्मा और कर्म में परस्पर भिन्नता होने पर भी; **रभसात्**=शीघ्र; **नैष्पथ्ये**=जिस स्थान में मार्ग निकल गया है वह निष्पथ, उसका भाव नैष्पथ्य, उसमें, अमार्ग-स्थानत्व में/अयोग्य स्थान में - ऐसा अर्थ है। **किं**=क्या, कैसे है? **नानटीति**=अधिकता से/अति-वेग पूर्वक नाचता है, कर्म-कर्ता के विकल्पों को स्थान

नाटयति कर्मकर्तृविकल्पानवकाशे मोहः कथं कर्तृकर्मविकल्पान् कारयतीति यावत्॥ ५३ ॥

अथ ज्ञानज्योतिर्जाज्वलीति—

मन्दाक्रान्ता : **कर्ता कर्ता भवति न यथा कर्म कर्मापि नैव,**
ज्ञानं ज्ञानं भवति च यथा पुद्‌गलः पुद्‌गलोऽपि।
ज्ञानज्योतिर्ज्वलितमचलं व्यक्तमन्तस्तथोच्चै-
श्चिच्छक्तीनां निकरभरतोऽत्यन्तगम्भीरमेतत्॥ ५४॥९९॥

टीका : ***एतत्*** प्रत्यक्षं; ***ज्ञानज्योतिः*** बोधमहः; ***तथा*** तेनैव प्रकारेण; ***उच्चैः*** अतिशयेन; ***अन्तः*** अभ्यन्तरे, उपलक्षणाद्बाह्येऽपि; ***ज्वलितं*** देदीप्यमानं जातम्। कुतः ? ***चिच्छक्तीनां*** ज्ञानाविभागप्रतिच्छेदानां; ***निकरभरतोः*** निकरो द्विकवारानन्तभावः, तस्य

नहीं होने पर भी, यह मोह कर्ता-कर्म के विकल्पों को कैसे करता है?

अर्थात्, आत्मा, ज्ञानावरणादिरूप से परिणमित पुद्‌गल-पर्याय का कर्ता नहीं है और ज्ञानावरणादिरूप से परिणमित वह पुद्‌गल-पर्याय, आत्मा की कर्म नहीं है। इस प्रकार आत्मा और पुद्‌गल-पर्याय के बीच कर्ता और कर्म का विशेषरूप से निषेध किया जाता है; तब फिर इन दोनों में कर्ता-कर्म की व्यवस्था कैसे हो सकती है? किसी भी रूप में सम्भव नहीं है। इस प्रकार ज्ञाता आत्मा, अपने ज्ञान-स्वभाव में और कर्म, अपने कर्म-स्वभाव में ही सदा रहते हैं - यह वस्तु-स्थिति अत्यन्त स्पष्ट है। ऐसा होने पर भी, पर के साथ ममत्व करनेवाला यह मोह, अयोग्य स्थान में अति-वेग पूर्वक शीघ्रता से क्यों नाच रहा है/यह आत्मा, पर का कर्ता कैसे बनता रहता है? - इसका हमें आश्चर्य है।।९८।।

अब, ज्ञानज्योति उत्कृष्टरूप में प्रकाशित होती है—

मन्दाक्रान्ता : **व्यक्त उत्तम अचल अतिशय धीर गम्भीर चिन्मय,**
बहु शक्ति से सदा भरचक ज्ञान ज्योति प्रकाशित।
जिससे कर्ता नहीं कर्ता कर्म भी कर्म न है,
ज्ञाता ज्ञाता रहा पुद्‌गल पुद्‌गली रूप में है।।९९।।

टीकार्थ : एतत्=यह प्रत्यक्ष; **ज्ञानज्योतिः**=बोधरूपी तेज; **तथा**=उसी प्रकार से; **उच्चैः**=अधिकता से; **अन्तः**=अन्तरङ्ग में, उपलक्षण से बाह्य में भी; **ज्वलितं**=देदीप्यमान हो रहा है। वह किससे देदीप्यमान है? **चिच्छक्तीनां**=ज्ञान के अविभागी प्रतिच्छेदों के; **निकरभरतोः**=निकर=दो बार अनन्त भाव/अनन्तानन्त, उसका भार=अतिशय/उसकी

भरः अतिशयः, तस्मात्। किम्भूतं? ***अचलं*** न चाल्यते यच्छक्तिः परैः पुद्गलादिभिः, इत्यचलम्। पुनः कीदृशं? ***व्यक्तं*** स्पष्टं, समस्तवस्तुप्रकाशकत्वात्; पुनः ***अत्यन्तगम्भीरं*** अत्यर्थं अतलस्पर्शं, ज्ञानशक्तेरनन्तत्वात्। तथेति कथं?

यथा कर्ता पुद्गलः; ***कर्ता*** कर्मणां निष्पादकः; ***न भवति*** न जायते अशुद्धं ज्ञानं निमित्तीकृत्य पुद्गलः कर्मणां कर्ता अधुना ज्ञानज्वलनात्तच्छुद्धं जातं तथा–यथा पुद्गलस्य ***कर्म*** कर्तृत्वेन निमित्तत्वं निमित्ताभावे नैमित्तिकस्याप्यभावात्। ***अपि*** पुनः; ***कर्म*** ज्ञानावरणादिकर्म स्वरूपेण; ***नैव*** निश्चयेन न व्यवतिष्ठते समर्थे विनाशके विनाश्यस्या-व्यवस्थानात् प्रकाशे सति तमोवत्। ***च*** पुनः; ***यथा*** येन प्रकारेण ***ज्ञानं*** कर्मकलङ्ककलङ्कितं

अधिकता, उससे वह देदीप्यमान है। वह कैसा है? **अचलं**=जो शक्ति, अन्य पुद्गल आदि द्वारा चलित नहीं होती है – ऐसा अचल है। वह और कैसा है? **व्यक्तं**=सभी वस्तुओं का प्रकाशक होने से स्पष्ट है; और **अत्यन्तगम्भीरं**=ज्ञान-शक्ति की अनन्तता होने के कारण अत्यर्थ=अतलस्पर्श/अगाध है। उस प्रकार है – यह कैसे है?

यथा कर्ता=जैसे पुद्गलरूप कर्ता; **कर्ता**=कर्मों को बनानेवाला; **न भवति**=नहीं होता है; अशुद्ध-ज्ञान की निमित्तता पाकर, पुद्गल-कर्मों का कर्ता होता है, वह ज्ञान-ज्योति प्रगट हो जाने से वह अशुद्ध-ज्ञान, शुद्ध हो गया है, उसी प्रकार; जैसे पुद्गल की; **कर्म**=कर्म में कर्तृत्वरूप से निमित्तता है; निमित्त का अभाव हो जाने पर, नैमित्तिक का भी अभाव हो जाने से, वह कर्मों का कर्ता नहीं है। **अपि**=और; **कर्म**=ज्ञानावरणादि कर्म स्वरूप से; **नैव**=निश्चय से/वास्तव में नहीं रहता है; प्रकाश होने पर अन्धकार के नहीं रहने के समान, विनाश करनेवाला समर्थ होने पर, विनष्ट होने-योग्य वस्तु की व्यवस्था नहीं होने के कारण, कर्म भी नहीं रहते हैं। **च**=और; **यथा**=जिस प्रकार से; **ज्ञानं**=कर्मरूपी कलंक से कलंकित ज्ञान; **ज्ञानं**=निर्मल ज्ञान; **भवति**=हो जाता है। **अपि**=और; **पुद्गलः**=पुद्गल परमाणु; **पुद्गलः**=पुद्गल ही रहता है; कर्मरूप से परिणमित नहीं होता है।

अर्थात्, ज्ञान के अनन्तानन्त अविभागी प्रतिच्छेदों से सम्पन्न, पुद्गल आदि किसी से भी चलित नहीं होनेवाली अचल, सभी वस्तुओं की प्रकाशक होने से स्पष्ट, ज्ञान-शक्ति की अनन्तता होने से अत्यन्त गम्भीर/अगाध यह प्रत्यक्ष ज्ञान-ज्योति, उत्कृष्टता पूर्वक अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग में इस प्रकार से देदीप्यमान हो रही है, जिससे अब यह आत्मारूपी कर्ता, पुद्गल-कर्मों का कर्ता नहीं होता है/पहले ज्ञान की अशुद्धता के कारण, कर्मों का कर्ता

ज्ञानं; ***ज्ञानं*** निर्मलज्ञानं; ***भवति*** जायते। ***अपि*** पुनः; ***पुद्गलः*** पुद्गलपरमाणुः; ***पुद्गल*** एव भवति न कर्मरूपेण परिणमति॥ ५४॥

इतिश्री समयसारपद्यस्य परमाध्यात्म-तरंगिणी-नामधेयस्य व्याख्यायां कर्तृकर्मनिरूपकद्वितीयोऽङ्कः।

स्वयं को मानता था; अब स्वयं को उनका कर्ता नहीं मानता है।

जैसे, प्रकाश होने पर अन्धकार स्वत: समाप्त हो जाता है; उसी प्रकार अब कर्म भी कर्मरूप नहीं रहा/पहले आत्मा के विकारी भावों की निमित्तता में, पुद्गल ज्ञानावरणादिरूप से परिणमित होता था; अब उस निमित्त का अभाव हो जाने से नैमित्तिक कार्यरूप कर्म-बन्धन भी नहीं रहा। इस प्रकार कर्मरूपी कलंक से कलंकित ज्ञान, पूर्णतया पवित्र निर्मल ज्ञान हो जाता है और पुद्गल-परमाणु, पुद्गल ही रहता है; कर्मरूप से परिणमित नहीं होता है।।९९।।

इस प्रकार श्री समयसार पद्य की परम-अध्यात्म-तरङ्गिणी नामक व्याख्या में कर्ता और कर्म का निरूपण करनेवाला दूसरा अंक समाप्त हुआ।।२।।

पुण्यपापाधिकारः

अथ तृतीयोऽङ्कः प्रारभ्यते।

टीकाकारस्य मंगलाचरणं :

आर्या : जीयादमृतहिमांशु प्रणीतमध्यात्मविशदपद्यमिदम्।
शुभचन्द्र-देव विवृतं सुकृत-चयं कुन्दकुन्द-परम्॥

अथ एकमेव द्विपात्रीभूय पुण्यपापरूपेण प्रविशति—

द्रुतविलम्बित : **तदथ कर्म शुभाशुभभेदतो, द्वितयतां गतमैक्यमुपानयन्।**
ग्लपितनिर्भरमोहरजो अयं, स्वयमुदेत्यवबोधसुधाप्लवः॥१॥१००॥

टीका : ***अथ*** जीवाजीवयोः कर्तृकर्मत्वनिराकरणादनन्तरम्। ***अयं अवबोधसुधाप्लवः*** ज्ञानामृतपूरः; ***स्वयं*** स्वत एव कर्मनिरपेक्षत्वेन; ***उदेति*** उदयं प्राप्नोति। किंभूतः ? ***ग्लपितनिर्भरमोहरजः*** ग्लपितं विनाशितं, निर्भरं निर्विशेषं भुवनं बिभर्ति धारयतीति

अब, तीसरा अंक प्रारम्भ होता है।

टीकाकारकृत मङ्गलाचरणपरक पद्य का अर्थ : जिसके मूलकर्ता कुन्दकुन्दाचार्य हैं, जो सुकृत का समूह है, शुभचन्द्रदेव जिसकी व्याख्या लिख रहे हैं और जो अमृतचन्द्राचार्य द्वारा प्रणीत है, ऐसा यह अध्यात्म को स्पष्ट करनेवाला पद्य (ग्रन्थ) जयवन्त वर्तो।

अब, एक ही कर्म, दो पात्र होकर, पुण्य-पाप के रूप में प्रवेश करता है—

द्रुतविलम्बित : **अब शुभाशुभ कर्म के भेद से, द्वित्व वाले कर्म को एक कर।**
सर्व व्यापी मोह की धूल को, नष्ट कर अति ज्ञान सुधा प्रगट।।१००।।

टीकार्थ : अथ=अब जीव और अजीव में कर्ता और कर्मपने का निराकरण करने के बाद। **अयं अवबोधसुधाप्लवः**=ज्ञानरूपी अमृत का यह प्रवाह; **स्वयं**=कर्म से निरपेक्ष होने के कारण, स्वयं से ही/अपने आप; **उदेति**=उदय को प्राप्त होता है। वह कैसा है? **ग्लपितनिर्भरमोहरजः**=ग्लपित=विनष्ट कर दी गई है, निर्भर=समस्त जगत के मोह से

निर्भरं, समस्तमोहाक्रान्तत्वात् मोह एव रजो धूलिर्येन सः, अन्योऽपि सुधाप्लवः रेणुं ग्लपयति इत्युपमोपमेययोः साम्यम्। ***तत्*** प्रसिद्धं; ***कर्म ऐक्यं*** एकतां; ***उपानयन्*** कुर्वन्; किम्भूतं तत्? ***शुभाशुभभेदतः*** पुण्यप्रकृतिः शुभायुर्नामगोत्ररूपा, पापप्रकृतिः घातिचतुष्काशुभायुर्नाम-गोत्ररूपा तयोर्भेदतः प्रभेदात्; ***द्वितयतां*** द्विरूपतां; ***गतं*** प्राप्तं शुभाशुभभेदेन द्विधापि ज्ञाने भवतः, संसारदायकत्वात् सर्वं कर्मसदृशमित्येकमिति भावः ॥ १ ॥

आक्रान्त होने के कारण, सम्पूर्ण विश्व में लबालब भरी हुई, मोह ही रज=धूल, जिसके द्वारा वह; अन्य अमृत का प्रवाह भी धूल को नष्ट कर देता है – (ऐसा लोक में देखा जाता है) इस प्रकार यहाँ उपमा और उपमेय में समानता है।

तत्=वह प्रसिद्ध; **कर्म ऐक्यं**=कर्म की एकता को; **उपानयन्**=करता हुआ। वह कर्म कैसा है? **शुभाशुभभेदतः**=शुभ-आयु, शुभ-नाम, शुभ-गोत्र, (शुभ-वेदनीय) रूप पुण्य-प्रकृति और चार घाति-कर्म, अशुभ-आयु, अशुभ-नाम, अशुभ-गोत्र, (अशुभ-वेदनीय) रूप पाप-प्रकृति – इन दोनों के भेद से; **द्वितयतां**=दो रूपता को; **गतं**=प्राप्त, शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार का भी ज्ञात होता है; परन्तु संसार को देनेवाले होने से सभी कर्म समान हैं; अतः एक हैं – ऐसा भाव है।

अर्थात्, कर्ता-कर्म अधिकार में जीव, कर्ता है और पौद्गलिक-कर्म, उसका कर्म/कार्य है – इस प्रकार की मान्यता आदि का निराकरण किया था। अब, यहाँ पुण्य-कर्म को अच्छा और पाप-कर्म को बुरा मानने आदिरूप मान्यता आदि का निराकरण कर रहे हैं। इसमें सर्व प्रथम इन दोनों को एक करनेवाले ज्ञान का गुणगान कर रहे हैं; जो इस प्रकार है —

यद्यपि शुभ और अशुभ के भेद से कर्म दो प्रकार का भी ज्ञात होता है; तथापि शुभ-आयु आदि पुण्य-प्रकृतियों और अशुभ-आयु आदि पाप-प्रकृतियोंरूप – ये सभी कर्म, संसार-दायक होने से, एक समान ही हैं। इस प्रकार शुभ और अशुभ के भेद से दोपने को प्राप्त कर्म को एकरूप करता हुआ, सम्पूर्ण विश्व में व्यापक मोहरूपी रज को पूर्णतया समाप्त कर देनेवाला, पर से पूर्णतया निरपेक्ष यह ज्ञानरूपी अमृत का प्रवाह, अति वेग पूर्वक प्रगट हो गया है।।१००।।

अथ शुभाशुभकर्मणोर्दृष्टान्तेनैक्यमुररीकरोति पद्यद्वयेन—

मन्दाक्रान्ता : **एको दूरात्त्यजति मदिरां ब्राह्मणत्वाभिमाना-**
दन्यः शूद्रः स्वयमहमिति स्नाति नित्यं तयैव।
द्वावप्येतौ युगपदुदरान्निर्गतौ शूद्रिकायाः,
शूद्रौ साक्षादपि च चरतो जातिभेदभ्रमेण॥२॥१०१॥

उपजाति : **हेतु-स्वभावानुभवाश्रयाणां, सदाप्यभेदान्नहि कर्म-भेदः।**
तद् बन्धमार्गाश्रितमेकमिष्टं, स्वयं समस्तं खलु बन्धहेतुः॥३॥१०२॥

टीका : दृष्टान्तं तावद् वक्ति—यथा ***एकः*** कश्चित् सदाचरणः; ***मदिरां*** सुरां; ***दूरात्*** आरात्; ***त्यजति*** परिहरति। कुतः ? ***ब्राम्हणत्वाभिमानात्*** एवं 'वयं ब्राह्मणाः, ब्राह्मणैस्तु सुरा न पेया' ईदृग्विधाभिप्रायस्तस्मात्। ***अन्यः*** कश्चिदसदाचरणः; ***'अहं स्वयं शूद्रः'*** इति कृत्वा; ***तया*** मदिरया; ***एव*** निश्चयेन; ***नित्यं*** निरन्तरं; ***स्नाति*** स्नानं करोति

अब, दो पद्यों द्वारा शुभ और अशुभ-कर्मों की एकता को दृष्टान्त पूर्वक स्वीकार करते हैं—

मन्दाक्रान्ता : **मैं हूँ ब्राह्मण मान ऐसा एक बिल्कुल न छूता,**
दूजा खुद को मान शूद्र मद्य से ही नहाता।
दोनों युगपत् शूद्रिका के पेट से ही हैं जन्में,
इससे शूद्र जाति भ्रम से आचरण भिन्न करते।।१०१।।

उपजाति : **कर्मों के हेतु स्व भाव अनुभव, आश्रय सदा एक न कर्म भेद।**
हैं बन्ध मार्गाश्रित बन्ध हेतु, अतः सभी वे खुद नित्य एक।।१०२।।

टीकार्थ : सबसे पहले दृष्टान्त कहते हैं - जैसे **एकः**=कोई एक सदाचारी; **मदिरां**=शराब को; **दूरात्**=दूर से; **त्यजति**=छोड़ देता है। वह कैसे/क्यों छोड़ देता है? **ब्राह्मणत्वाभिमानात्**='हम ब्राह्मण हैं, ब्राह्मणों को शराब नहीं पीना चाहिए' - इस प्रकार का अभिप्राय, उससे छोड़ देता है। **अन्यः**=दूसरा कोई असदाचारी; **अहं स्वयं शूद्रः**='मैं स्वयं शूद्र हूँ' - ऐसा मानकर; **तया**=उस शराब से; **एव**=ही निश्चय से/वास्तव में; **नित्यं**=निरन्तर; **स्नाति**=पीने की तो क्या बात करें, स्नान करता है/सदा उसी में लीन रहता है -

पानस्य का वार्ता? अतिशयालङ्कारोऽयं। ***द्वावपि*** सदसच्चारिणौ; ***एतौ*** ब्राह्मणशूद्रौ; ***साक्षात्*** प्रत्यक्षं; ***शूद्रौ*** अवरवर्णौ; शूद्रत्वमेतयोः कथं? यतः ***युगपत्*** सकृत्; ***शूद्रिकायाः*** शूद्रभार्यायाः; ***उदरात्*** जठरात्; ***निर्गतौ*** निष्क्रान्तौ। अथ ***च*** अनु च पश्चादित्यर्थः। ***जातिभेदभ्रमेण*** जातेः सन्तानस्य भेदः, तस्य भ्रमः भ्रान्तिः, तेन, एको वेत्त्यहं द्विजः, एको वेत्त्यहं शूद्रः, इत्यभिप्रायतः; ***चरतः*** भिन्नाचारमाचरतः; तथा एकपुद्गलनिष्पन्ने शुभाशुभकर्मणी एकं शुभं स्वर्गादिदायि, अशुभमपरं नरकगत्यादिदायि पुनः उभे बन्धन-हेतुके॥ २॥

हि इति स्फुटं; ***कर्मभेदः*** शुभाशुभप्रकृत्योर्भेदो; ***नः*** कुतः ? ***हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां*** हेतुः कारणं, स्वभावः स्वरूपं, अनुभवः अनुभूतिः, आश्रयः, द्वन्द्वः तेषाम्। ***सदाप्यभेदात्*** शुभाशुभयोः केवलाज्ञानमयहेतुत्वादेकत्वं, केवलपुद्गलमयहेतुत्वात् तयोः

यह अतिशय अलंकार का प्रयोग है। **द्वावपि**=सदाचारी और असदाचारी - दोनों ही; **एतौ**=वे ब्राह्मण और शूद्र; **साक्षात्**=प्रत्यक्ष/वास्तव में; **शूद्रौ**=नीचे वर्णवाले शूद्र हैं। उन दोनों में शूद्रपना कैसे है? क्योंकि **युगपत्**=एक साथ; **शूद्रिकायाः**=शूद्र की पत्नी के; **उदरात्**=जठर/पेट से; **निर्गतौ**=निकले/जन्मे हैं। अब **च**=और; उसके बाद - ऐसा अर्थ है। **जातिभेदभ्रमेण**=जाति का/सन्तान का भेद, उसका भ्रम=भ्रान्ति उससे, एक जानता है कि मैं ब्राह्मण हूँ और दूसरा जानता है कि मैं शूद्र हूँ - इस प्रकार के अभिप्राय से; **चरतः**=भिन्न आचार का आचरण करते हैं; उसी प्रकार एक पुद्गल से बने हुए शुभ और अशुभ - इन दोनों कर्मों में से एक, शुभ स्वर्गादि को देता है और दूसरा, अशुभ नरक-गति आदि को देता है - (ऐसा भेद कर दिया जाता है); परन्तु वे दोनों बन्ध के ही कारण हैं।

हि=यह स्पष्ट; **कर्मभेदः**=शुभ और अशुभ-प्रकृतियों का भेद; **न**=नहीं है। भेद कैसे/क्यों नहीं है? **हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां**=हेतु=कारण, स्वभाव=स्वरूप, अनुभव= अनुभूति/वेदन, आश्रय/आधार, इन चारों का द्वन्द्व समास हो, संक्षिप्त वाक्य बन गया है। **सदाप्यभेदात्**=शुभ और अशुभ में मात्र अज्ञानमय हेतुपने से एकत्व है; मात्र पुद्गलमय हेतुपने से दोनों का स्वभाव अभेद है; शुभ या अशुभरूप फल का पाक, मात्र पुद्गलमय है - इस प्रकार दोनों का अनुभव/वेदन अभिन्न है; मात्र पुद्गलमय बन्ध-मार्ग का आश्रितपना होने से, दोनों में अभेद है - इन चार प्रकार के स्वभाव से अभेद होने के कारण, उन दोनों में एकता है।

स्वभावाभेदः, शुभाशुभो वा फलपाकः केवलपुद्गलमयः इत्यनुभवाभेदः, केवलपुद्गलमय-बन्धमार्गाश्रितत्वात् तयोरभेदः, इति चतुर्विधस्वभावाभेदादेक्यम्। ***तत्*** तस्मात् चतुर्भिः प्रकारैरेकत्वसम्भवात् ***एकं*** कर्म; ***इष्टं;*** पूर्वाचार्यैर्मतं कथितमित्यर्थः। ***स्वयं*** स्वतः; ***खलु*** इति निश्चितं; ***समस्तं*** शुभाशुभं कर्म; ***बन्धहेतुः*** चतुर्विधबन्धानां कारणं, हेतुगर्भित-विशेषणमिदम्। पुनः किंभूतं? ***बन्धमार्गाश्रितं*** मोक्षबन्धमार्गौ द्वौ तत्र बन्धनदशा-समाश्रितम्॥ ३॥

तत्=इन चार प्रकार से एकत्व घटित हो जाने के कारण; **एकं**=कर्म एक है; **इष्ट**= यह इष्ट है, पूर्वाचार्यों का ऐसा मत है, उन्होंने ऐसा कहा है - यह अर्थ है। **स्वयं**=स्वतः/ अपने-आप; **खलु**=निश्चित/वास्तव में; **समस्तं**=सभी प्रकार के शुभाशुभकर्म; **बन्धहेतुः**= चार प्रकार के बन्धों के कारण हैं, यह हेतु-गर्भित विशेषण है। **बन्धमार्गाश्रितं**=मोक्ष-मार्ग और बन्ध-मार्ग - ये दो मार्ग हैं; उनमें से कर्म, बन्धन-दशा के आश्रित हैं।

अर्थात्, शूद्र की पत्नी के गर्भ से एक साथ उत्पन्न हुए दो बालकों में से एक बालक ब्राह्मण ने ले लिया और दूसरा यहाँ शूद्र के घर ही रहा। यद्यपि दोनों के माता-पिता एक शूद्र-वर्णी ही हैं; तथापि इसका ज्ञान नहीं होने के कारण, जैसे ब्राह्मण के घर पलनेवाला सदाचारी 'हम ब्राह्मण हैं, ब्राह्मणों को शराब नहीं पीना चाहिए' - इस अभिप्राय-वश शराब को दूर से ही छोड़ देता है/उसका भूल से स्पर्श तक भी नहीं करता है और शूद्र के घर पलनेवाला दूसरा असदाचारी 'मैं स्वयं शूद्र हूँ' - इस अभिप्राय-वश सतत उस शराब में ही आसक्त रहता है। उसी प्रकार शुभ और अशुभ - ये दोनों कर्म, एक कर्म की जाति के और बन्ध के कारण होने पर भी, अज्ञानता-वश यह जीव, शुभ-कर्म स्वर्गादि देता है और अशुभ-कर्म नरकादि देता है - ऐसा मानकर, उन्हें पृथक्-पृथक् स्वीकार करता है।

वास्तव में हेतु, स्वभाव, अनुभव और आश्रय की अपेक्षा भी इन शुभ और अशुभ-कर्मों में भेद नहीं है; क्योंकि ये सदा ही अभिन्न हैं। दोनों ही प्रकार के कर्मों का हेतु, अज्ञान-भाव है; दोनों का स्वभाव, मात्र पुद्गलमय है; दोनों के फल में पौद्गलिक सामग्री प्राप्त होती है और मात्र आकुलता का ही वेदन होता है; दोनों से ही कर्मों का बन्ध ही होता है - इस प्रकार इन चार प्रकार से दोनों में एकत्व होने से, आचार्यों ने इन्हें एक ही माना और कहा है।

अथ सर्वस्यापि कर्मणो बन्धहेतुत्वमुशन्ति—

स्वागता : **कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद्बन्धसाधनमुशन्त्यविशेषात्।**
तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्धं ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः ॥४॥१०३॥

टीका : ***यत्*** यस्माद्धेतोः; ***उशंति*** वदंति, प्रतिपादयन्तीत्यर्थः। के? ***सर्वविदः*** सर्वज्ञ-भट्टारकाः जिनेन्द्रा इत्यर्थः। किं? ***सर्वमपि*** समस्तमपि; ***कर्म*** शुभाशुभं कर्म; ***बंधसाधनं*** चतुर्विधकर्मबन्धनकारणं। कुतः? ***अविशेषात्*** शुभाशुभयोः कर्मबन्धन-कारणत्वाभेदात् तेन कारणेन। ***तत्*** कर्म; ***सर्वमपि*** समस्तमपि शुभाशुभं; ***प्रतिषिद्धं*** निराकृतम्। तर्हि किमादृतं? ***ज्ञानमेव*** भेदबोध एव; ***शिवहेतुः*** शिवस्य मोक्षस्य, हेतुः कारणं; ***विहितं*** कथितं, परमागमकोविदैः ॥ ४॥

जीव के भावों से दो मार्ग प्रशस्त होते हैं – १. मोक्ष-मार्ग और २. बन्ध-मार्ग। ये सभी प्रकार के शुभाशुभ भाव चार प्रकार के कर्म-बन्ध के कारण हैं और बन्ध-मार्ग के आश्रित हैं, इनसे बन्ध-दशा ही प्राप्त होती है; अतः ये सभी एक ही हैं, मात्र कर्म ही हैं; मोक्ष-मार्ग इनसे पूर्णतया पृथक् है।।१०१-१०२।।

अब, सभी कर्मों के बन्ध का हेतुपना प्रसिद्ध करते हैं—

स्वागता : **कर्म सभी हैं बन्ध के कारण, समान रूप से सर्वज्ञ कहते।**
इससे सभी निषिद्ध, मोक्ष का कारण एक ज्ञान ही कहते।।१०३।।

टीकार्थ : यत्=जिस कारण से; **उशन्ति**=कहते हैं, प्रतिपादन करते हैं – ऐसा अर्थ है। ऐसा कौन कहते हैं? **सर्वविदः**=सर्वज्ञ भट्टारक जिनेन्द्र भगवान ऐसा कहते हैं – यह अर्थ है। वे क्या कहते हैं? **सर्वमपि**=सभी; **कर्म**=शुभ और अशुभ-कर्म; **बन्धसाधनं**=चार प्रकार के कर्म-बन्धन के कारण हैं। वे ऐसे कैसे हैं? **अविशेषात्**=शुभ और अशुभ में कर्म-बन्धन के कारणपने का अभेद होने से, वे समानरूप में बन्ध के साधन हैं। **तत्**=वे कर्म; **सर्वमपि**=शुभ और अशुभ – सभी; **प्रतिषिद्धं**=निषिद्ध/निराकरण किए गए हैं। तब फिर आदर किसका किया है? **ज्ञानमेव**=भेद-ज्ञान का आदर है; **शिवहेतुः**=शिव=मोक्ष का, हेतु=कारण; **विहितं**=कहा गया है परमागम को भली-भाँति जाननेवालों के द्वारा।

अर्थात्, शुभ और अशुभ समानरूप से अभेद रहकर, बन्ध के साधन हैं; अतः वे शुभ-अशुभ सभी कर्म, चार प्रकार के कर्म-बन्ध के कारण हैं – ऐसा सर्वज्ञ भगवान ने कहा

अथ कर्ममार्गनिराकरणे मोक्षावाप्तिं विचकयति—

शिखरिणी : **निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल,**
प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः सन्त्यशरणाः।
तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि शरणं,
स्वयं विन्दन्त्येते परमममृतं तत्र निरताः॥५॥१०४॥

टीका : ***किल*** इति आगमोक्तौ; ***खलु*** इति निश्चितं; ***मुनयः*** मननमात्रभावमात्रतया मुनयः यतीश्वराः; ***अशरणाः*** शरण्यपथवर्जिताः; ***न सन्ति*** न जायते। क्व सति? ***सर्वस्मिन्*** समस्ते; ***सुकृतदुरिते*** शुभाशुभे; ***कर्मणि*** प्रकृतौ; ***निषिद्धे*** निवृत्ते सति; पुनः ***नैष्कर्म्ये*** कर्मणः निष्क्रान्तं निष्कर्म, तस्य भावः नैष्कर्म्यं, तस्मिन् प्रवृत्ते कर्मातीते पथि विजृम्भिते सति; ***हि*** इति व्यक्तं; ***तदा*** कर्मरोधादिसमये; ***एषां*** योगिनां; ***ज्ञानं*** भेदबोध एव; ***शरणं***

है; इसीलिए मोक्ष-मार्ग में वे सभी कर्म निषिद्ध हैं। परमागम को भली-भाँति जाननेवालों ने भेद-ज्ञान को ही मोक्ष-मार्ग कहा है; अतः यही स्वीकार करने-योग्य है।।१०३।।

अब, कर्म-मार्ग के निराकरण में मोक्ष की प्राप्ति होती है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

शिखरिणी : **अशुभ शुभ सब कर्म निषिद्ध निष्कर्म में प्रवर्तित,**
मुनि न हैं अशरण शरण निज ज्ञान में नित प्रवर्तित।
ज्ञान हि उसमें स्वयं से निरत हैं नियम से प्राप्त करते,
परम अमृत सुखमय मोक्षश्री को वे इसी से।।१०४।।

टीकार्थ : किल=यह आगम में कहा गया है – (इस अर्थ का सूचक अव्यय है)। **खलु**=यह निश्चित/वास्तविक अर्थ का वाचक अव्यय है। **मुनयः**=मनन मात्र भाव से मुनि, यतीश्वर; **अशरणाः**=शरण लेने-योग्य मार्ग से रहित/विना सहारे के; **न सन्ति**=नहीं होते हैं। क्या होने पर भी वे ऐसे नहीं होते हैं? **सर्वस्मिन्**=सभी; **सुकृतदुरिते**=शुभ और अशुभ-कर्मरूप **कर्मणि**=प्रकृति के; **निषिद्धे**=निषिद्ध होने पर भी; वह और कैसा है? **नैष्कर्म्ये**=कर्मों का निकल जाना, निष्कर्म है, उसका भाव नैष्कर्म्य है, उसमें प्रवृत्त, कर्मातीत/कर्मों से रहित मार्ग में वृद्धिंगत है। **हि**=यह व्यक्त अर्थ का वाचक अव्यय है।

तदा=तब कर्म के निरोध आदि के समय में; **एषां**=इन योगियों को; **ज्ञानं**=भेद-ज्ञान ही **शरणं**=आश्रय है। वह ज्ञान कैसा है? **ज्ञाने**=चेतना-स्वभाव में; **प्रतिचरितं**=प्रवृत्त

आश्रयः, किम्भूतं ज्ञानं? ***ज्ञाने*** चेतनास्वभावे; ***प्रतिचरितं*** प्रवृत्तं व्यापृतमित्यर्थः। ***एते*** योगिनः; ***स्वयं*** प्रयासमन्तरेण; ***विन्दन्ति*** लभते। किं? ***परमं*** उत्कृष्टं, परा उत्कृष्टा, मा ज्ञानाद्यतिशयलक्षणा लक्ष्मीर्यत्र तत्परममिति वा। ***अमृतं*** अपवर्गं; किम्भूताः सन्तः? ***तत्र*** तस्मिन् ज्ञाते इति ज्ञाने इति पदमत्र ग्राह्यं वा; ***निरताः*** निश्शेषमासक्ताः सन्तः॥ ५॥

अथ ज्ञानस्य शिवहेतुत्वं विध्यापयति—

शिखरिणी : **यदेतज्ज्ञानात्मा ध्रुवमचलमाभाति भवनं,**
शिवस्यायं हेतुः स्वयमपि यतस्तच्छिव इति।
अतोऽन्यद्बन्धस्य स्वयमपि यतो बन्ध इति तत्,
ततो ज्ञानात्मत्वं भवनमनुभूतिर्हि विहितम्॥६॥१०५॥

है, विशेषरूप से निमग्न है - ऐसा अर्थ है। **एते**=ये योगी; **स्वयं**=प्रयास के विना/सहजरूप में; **विन्दन्ति**=प्राप्त करते हैं। वे क्या प्राप्त करते हैं? **परमं**=परम=उत्कृष्ट, परा=उत्कृष्ट, मा=ज्ञानादि अतिशय लक्षण-युक्त लक्ष्मी जहाँ है, वह परम, वही है। **अमृत**=अपवर्ग/मोक्ष। कैसे होते हुए उसे प्राप्त करते हैं? **तत्र**=वहाँ उस ज्ञान में, अथवा यहाँ 'ज्ञान' पद का ग्रहण करना चाहिए। **निरताः**=पूर्णरूप से आसक्त होते हुए उसे प्राप्त करते हैं।

अर्थात्, वास्तव में शुभ और अशुभ-कर्मरूप सभी प्रकृतियों का पूर्णतया निषेध करने पर, उस नैष्कर्म्य/कर्मों से रहित मार्ग में बड़नेवाले, मनन मात्र भावमय मुनि, अशरण/विना सहारे के नहीं हैं; उस समय उन्हें अपने चेतना-स्वभाव में प्रवृत्त भेद-ज्ञान शरणभूत है। उसमें प्रवृत्त, पूर्णरूप से आसक्त वे योगी, उससे स्वयं ही ज्ञानादि उत्कृष्ट वैभव-सम्पन्न अमृत/मोक्ष को प्राप्त करते हैं।।१०४।।

अब, ज्ञान का शिव-हेतुत्व स्थापित करते हैं/ज्ञान ही मोक्ष का कारण है, यह विधान करते हैं—

शिखरिणी : **अचल ध्रुव है ये जो स्वयं शिवहेतु शिवमयी,**
सदा ज्ञानात्मक ही भवन नित शोभे सुखमयी।
पृथक् इससे मोक्ष बन्ध हेतु स्वयं बन्धमय ही,
अतः ज्ञानात्मक ही भवन अनुभूति नित कही।।१०५।।

टीकार्थ : ध्रुवं=निश्चित; **यत्**=जिस कारण से; **एतत्**=यह प्रसिद्ध; **शिवस्य**=सर्व

टीका : ***ध्रुवं*** निश्चितं; ***यत्*** यस्मात्कारणात्; ***एतत्*** प्रसिद्धं; ***शिवस्य*** सर्वकल्याणरूपस्य मोक्षस्य; ***भवनं*** गृहं स्थानमिति यावत्। किम्भूतं? ***अचलं*** निश्चलं अनन्तकालस्थायित्वात्, स इत्यध्याहारः। ***ज्ञानात्मा*** ज्ञानमयात्मा; ***आभाति*** चकास्ति शोभते; ***अपि*** पुनः; ***यतः*** यस्माद्धेतोः; ***अयं*** ज्ञानात्मा; ***स्वयं*** स्वभावतः; ***हेतुः*** शिवस्य कारणं; ***तत्*** तस्मात्; ***स्वयं*** शिवात्मकत्वात्, शिवहेतुत्वाच्च ***शिव इति*** कीर्तितः। तथाऽज्ञानमभिधत्ते; ***यतः*** यस्माद्धेतोः; अतः ज्ञानात्मनः; ***अन्यत्*** भिन्नं अज्ञानात्मा; ***बन्धस्य*** कर्मबन्धस्य; ***भवनं*** आभाति। ***अपि*** पुनः; ***स्वयं*** स्वतः; बन्धस्य हेतुरपि भवतीदं; ***तत्*** तस्मात् बन्धात्मकत्वात् बन्धहेतुत्वाच्च ***बन्ध इति*** अज्ञानात्मा बन्ध इति कीर्तितः। ***हि*** इति स्फुटं; ***ततः*** तस्मात् कारणात्। ***स्वं*** स्वकीयं; ***भवनं*** प्रवर्तनं; ***ज्ञानात्मत्वं*** आत्मा ज्ञानस्वरूपं; ***विहितं*** प्रतिपादितं; परमार्थपण्डितैः। किं भूतं? ***अनुभूतिः*** स्वस्यानुभवनं अनुभूतिः; अजहल्लिङ्गवृत्तित्वात्पुल्लिङ्गे॥ ६॥

कल्याणरूप मोक्ष का; **भवनं**=भवन, गृह, स्थान/दशा है। वह स्थान कैसा है? **अचलं**=अनन्त काल पर्यन्त स्थायी होने के कारण, अचल है। 'स/वह' इसका अध्याहार कर लेना। **ज्ञानात्मा**=ज्ञानमय आत्मा; **आभाति**=प्रकाशमान है, सुशोभित है। **अपि**=और; **यतः**=जिस कारण; **अयं**=यह ज्ञानात्मा; **स्वयं**=स्वभाव से; **हेतुः**=मोक्ष का कारण है; **तत्**=उस कारण; **स्वयं**=स्वभाव से ही शिवात्मक होने से और शिव का कारण होने से; **शिव इति**=शिव है – ऐसा कहा गया है।

उसी प्रकार अज्ञान को बताते हैं – **यतः**=जिस कारण से; **अतो**=इस ज्ञानात्मा से; **अन्यत्**=भिन्न अज्ञानात्मा; **बन्धस्य**=कर्मों के बन्ध का; **भवनं**=स्थान प्रतिभासित होता है। **अपि**=और; **स्वयं**=स्वतः/अपने आप यह बन्ध का हेतु भी होता है; **तत्**=उस कारण बन्धात्मक होने से और बन्ध का हेतु होने से **बंध इति**=यह अज्ञानात्मा बन्ध है – ऐसा कहा गया है। **हि**=यह स्पष्ट अर्थ में अव्यय है। **ततः**=उस कारण से; **स्वं**=अपना अपनेरूप; **भवनं**=प्रवर्तन; **ज्ञानात्मत्वं**=ज्ञान-स्वरूप आत्मा को ज्ञान-स्वरूप; **विहितं**=कहा है, परमार्थ के पण्डितों ने। वह कैसा है? **अनुभूतिः**=अपने स्वरूप के अनुभवनरूप अनुभूतिमय है। अजहत् लिङ्गवृत्ति/जो शब्द जिस लिङ्गवाले हैं, उसे नहीं छोड़ते हैं; इस कारण पुल्लिङ्ग में प्रयोग हुआ है।

अथ ज्ञानस्य वृत्तत्वमनुवर्ण्यते—

अनुष्टुप् : **वृत्तं ज्ञान-स्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा।**
एकद्रव्य-स्वभावत्वान्मोक्ष-हेतुस्तदेव तत्॥७॥१०६॥

टीका : ***सदा*** निरन्तरं; ***वृत्तं*** चारित्रं; ***ज्ञानस्वभावेन*** रागादिपरिहरण-लक्षण-बोधस्वरूपेण; ***ज्ञानस्य*** भेदबोधस्य, आत्मनो वा; ***भवनं*** प्रवर्तनं, अवस्थानं वा, स्वात्मनि स्थिति: आत्मनि चारित्रमिति वचनात्। ननु ज्ञानचारित्रयोरेकत्वं कथं तयो: परस्परं भिन्नत्वात्? इति चेत्; सत्यं ***एकद्रव्यस्वभावत्वात्*** एकद्रव्यं आत्म-द्रव्यं, ज्ञानचारित्रयोस्तस्य स्वभावत्वात् ज्ञानभवनं, तत्स्वभावेन भवनात्, ज्ञानपूर्वकत्वाच्च तस्य, तत् तस्माद्धेतो:। ***तदेव*** निश्चयचारित्रमेव नान्यत् ***मोक्षहेतु:*** मोक्षकारणम्॥ ७॥

अर्थात्, जो यह प्रसिद्ध, सुनिश्चित, अनन्त काल पर्यन्त स्थायी रहने के कारण अचल, सर्व कल्याणरूप मोक्ष का स्थानभूत ज्ञानमय आत्मा, ज्ञान-स्वरूप से ही सुशोभित है, यह स्वभाव से ही मोक्ष-स्वरूप और मोक्ष का कारण होने से, शिव/मोक्ष ही कहा गया है।

इस ज्ञान-स्वरूप से भिन्न अन्य जो कुछ भी है, वह अज्ञानात्मा स्वयं बन्ध-स्वरूप और बन्ध का कारण होने से, बन्धमय ही है; अत: सुखी होने के लिए ज्ञान-स्वरूप आत्मा की ज्ञान-स्वरूप प्रवर्तनमय अनुभूति ही करने के लिए कही गयी है।।१०५।।

अब, ज्ञान के चारित्रपने का वर्णन करते हैं—

अनुष्टुप् : **ज्ञान स्वभाव से निज का, होना नित चारित्र है।**
एक द्रव्य स्वभावी ये, अत: ही मोक्ष हेतु ये।।१०६।।

टीकार्थ : सदा=निरन्तर; **वृत्तं**=चारित्र; **ज्ञानस्वभावेन**=रागादि के अभावमय ज्ञान-स्वरूप से; **ज्ञानस्य**=भेद-ज्ञान का, अथवा आत्मा का; **भवनं**=होना, प्रवर्तन अथवा अवस्थान; अपने आत्मा में स्थिति, चारित्र है - ऐसा वचन होने से। यहाँ कोई शंका करता है कि दोनों में परस्पर पृथक्ता होने से ज्ञान और चारित्र में एकता कैसे है? (यदि ऐसा प्रश्न हो तो उसके उत्तर-हेतु कहते हैं) - यह बात सत्य है/ज्ञान और चारित्र में परस्पर पृथक्ता है; परन्तु **एकद्रव्यस्वभावत्वात्**=एक द्रव्य=आत्म-द्रव्य, ज्ञान और चारित्र - ये दोनों उसके स्वभाव होने के कारण, ज्ञान का होना, उस चारित्र के स्वभाव से होने के कारण और चारित्र के ज्ञान पूर्वक होने के कारण, वे दोनों एक हैं। **तत्**=उस कारण से; **तदेव**=वह निश्चय-चारित्र ही; **मोक्षहेतु:**=मोक्ष का कारण है; अन्य कुछ भी मोक्ष का कारण नहीं है।

अथान्याभिमतक्रियाकाण्डस्य वृत्तत्वं निरुणद्धि —

अनुष्टुप् : **वृत्तं कर्म-स्वभावेन ज्ञानस्य भवनं नहि।**
द्रव्यान्तर-स्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत्॥८॥१०७॥

टीका : ***कर्मस्वभावेन*** व्रततपःप्रभृतिकर्म क्रियाकाण्डं तत्स्वभावेन; ***वृत्तं*** चारित्रं; ***ज्ञानस्य*** बोधस्य; ***भवनं*** प्रवर्तनं अनुचरणं; ***नहि*** न भवेत् ज्ञानभवनस्याभवनात्। कुतः ? ***द्रव्यांतरस्वभावत्वात्*** द्रव्यान्तरस्य आत्मद्रव्यादन्यद्रव्यस्य स्वभावः स्वरूपं, तस्य भावस्तत्त्वं, तस्मात्; ***तत्*** क्रियाकाण्डं ***कर्म*** आचरणं; ***मोक्षहेतुः*** मोक्षस्य हेतुः कारणं ***न*** न भवेत्॥८॥

अर्थात्, यद्यपि ज्ञान और चारित्र अलग-अलग हैं; तथापि दोनों एक द्रव्य के ही स्वभाव होने के कारण; भेद-ज्ञान का या आत्मा का रागादि के अभावमय ज्ञान-स्वरूप से सदा होना, प्रवर्तन या अवस्थित रहना ही चारित्र है। ज्ञान का होना, चारित्र के स्वभावरूप होने से और ज्ञान पूर्वक ही चारित्र होने से, वह निश्चय-चारित्र ही मोक्ष का कारण है। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी मोक्ष का कारण नहीं है।।१०६।।

अब, अन्य के द्वारा माने गए क्रिया-काण्ड के चारित्रपने का निराकरण करते हैं/ स्वरूप-स्थिरता के अतिरिक्त, अन्य कोई क्रिया-काण्ड चारित्र नहीं है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं —

अनुष्टुप् : **कर्म स्वभाव से होना, ज्ञान का चारित्र नहीं।**
भिन्न द्रव्य स्वभावी ये, अतः शिव हेतु ये नहीं।।१०७।।

टीकार्थ : कर्मस्वभावेन=व्रत, तप आदि कर्म=क्रिया-काण्ड, उनके स्वभाव से; **वृत्तं**=चारित्र; **ज्ञानस्य**=ज्ञान का; **भवनं**=होना, प्रवर्तन, अनुचरण; **नहि**=ज्ञान का होना नहीं होने से नहीं है। कैसे/क्यों नहीं है? **द्रव्यान्तरस्वभावत्वात्**=द्रव्यान्तर=आत्म-द्रव्य से पृथक् अन्य-द्रव्य का; स्वभाव-स्वरूप, उसका भाव-तत्त्व, इस कारण वह नहीं है। **तत्**= वह क्रिया-काण्डरूप; **कर्म**=आचरण; **मोक्षहेतुः**=मोक्ष का कारण; **न**=नहीं है।

अर्थात्, आत्मा से भिन्न अन्य-द्रव्य-स्वभावी होने के कारण, व्रत, तप आदि क्रिया-काण्डरूप कर्म-स्वभाव से ज्ञान का आचरण/आत्मा में स्थिरता नहीं होती है; अतः वह क्रिया-काण्डरूप कर्माचरण, मोक्ष का कारण नहीं है।।१०७।।

अथ क्रियाकाण्डस्य मोक्षहेतुत्वं कुतो नेति जञ्जल्प्यते—

अनुष्टुप् : **मोक्षहेतुतिरोधानाद्बन्धत्वात् स्वयमेव च।**
मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्तन्निषिध्यते ॥९ ॥१०८ ॥

टीका : ***तत्*** क्रियाकांडं; ***निषिध्यते*** निवार्यते। कुत: ? ***मोक्षहेतु-तिरोधानात्*** मोक्षस्य मुक्ते:, हेतु: कारणं स्वात्मध्यानादि; तस्य तिरोधानं अपवारणं, तस्मात् क्रियाकाण्ड-परिणतस्य ध्यानानवकाशात्; ***स्वयमेव*** स्वत एव; ***बन्धत्वात्*** कर्मबन्धस्वभावत्वात्; ***च*** पुन:; ***मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्*** मोक्षस्य हेतु: कारणं शुद्धध्यानादि:, तस्य तिरोभावं दधातीत्येवं शीलो भाव: स्वभावो यस्य, तस्य भावस्तत्त्वं, तस्मात् शुभकर्मकारक-परिणामाविर्भावात् ॥९ ॥

अब, क्रिया-काण्ड के मोक्ष की हेतुता कैसे/क्यों नहीं है; यह भली-भाँति बताते हैं—

अनुष्टुप् : **शिव-कारण निवारक है, स्वयं ही बन्धरूप भी।**
शिव-हेतु-तिरोधायी, भाव यों वह निषिद्ध ही।।१०८।।

टीकार्थ : तत्=उस क्रिया-काण्ड का; **निषिध्यते**=निषेध किया जाता है। उसका निषेध कैसे/क्यों किया जाता है? **मोक्षहेतुतिरोधानात्**=मोक्ष=मुक्ति का, हेतु=कारण, अपने आत्मा का ध्यान आदि, उसका तिरोधान=अपवारण/निवारण करता है, उस कारण उसका निषेध किया जाता है; क्योंकि क्रिया-काण्डरूप से परिणमित के ध्यान का अवकाश नहीं है। **स्वयमेव**=स्वयं ही बन्धरूप, कर्मों के बन्ध के स्वभावरूप होने से; **च**=और; **मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्**=मोक्ष का, हेतु=कारण, शुद्ध-ध्यान आदि, उसके तिरोभाव को धारण करता है - ऐसा है शील=भाव=स्वभाव जिसका, उसका भाव=तत्त्व, उस कारण उसका निषेध किया जाता है; क्योंकि वह शुभ-कर्मों को उत्पन्न करनेवाले परिणामों के रूप में प्रगट होता है।

अर्थात्, उस क्रिया-काण्डरूप से परिणमित के, मोक्ष के कारणभूत आत्म-ध्यान का अवकाश नहीं होने से, उस क्रिया-काण्ड से स्वयं ही कर्मों का बन्ध होने से और वह मोक्ष के कारणभूत शुद्ध-ध्यान आदि का तिरोभाव कर, शुभ-कर्मों को उत्पन्न करनेवाले भावों के रूप में प्रगट होता है; अत: उसका निषेध किया जाता है।।१०८।।

अथ समस्तामपि कर्मतितिक्षां संलक्षयति—

शार्दूलविक्रीडित : **संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना,**
संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा।
सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतुर्भवन्,
नैष्कर्म्यप्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति॥१०॥१०९॥

टीका : ***तदिदं*** प्रसिद्धं; ***समस्तमपि*** निखिलमपि; ***कर्म*** ज्ञानावरणादि-प्रकृतिः; ***संन्यस्तव्यं*** त्याज्यमेव निश्चयेन। केन? ***मोक्षार्थिना*** कर्मणां मोचनं मोक्षः, स एवार्थः प्रयोजनं पदार्थो वा यस्य स तेन। ***किल*** इत्यागमोक्तौ; ***पुण्यस्य*** शुभकर्मणः; ***का कथा*** का वार्ता? न कापि; ***वा*** अथवा; ***पापस्य*** अशुभकर्मणः का वार्ता? क्व सति? ***तत्र*** कर्मणि; ***संन्यस्ते सति*** त्यक्ते सति; पुनस्तथा सति, ***ज्ञानं*** भेदबोधः; ***स्वयं*** स्वतः; ***धावति*** शुद्ध्यति शुद्धं भवति, उल्लसति वा धावु गतिशुद्ध्योरेतस्य धातोः प्रयोगः।

अब, सभी कर्मों को छोड़ने का लक्ष्य बनाते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **ये सब ही हैं कर्म त्याज्य निश्चय मोक्षार्थि को हो गया,**
तब फिर उनमें पुण्य-पाप चर्चा करने का औचित्य क्या?
सम्यक्त्वादि निज स्वभाव परिणत हो मोक्ष हेतु हुआ,
कर्मातीत दशापने को उद्धत रसवान ज्ञान उल्लसा।।१०९।।

टीकार्थ : तत् इदं=वह यह प्रसिद्ध; **समस्तमपि**=सम्पूर्ण ही; **कर्म**=ज्ञानावरणादि प्रकृति; **संन्यस्तव्यं**=छोड़ने-योग्य ही है वास्तव में। किसके द्वारा छोड़ने-योग्य है? **मोक्षार्थिना**= कर्मों का छूट जाना, मोक्ष है, वह ही है अर्थ=प्रयोजन या पदार्थ जिसका, वह, उसके द्वारा छोड़ने-योग्य है। **किल**=यह आगम के अर्थ का वाचक अव्यय है; अर्थात्, आगम में ऐसा कहा है; **पुण्यस्य**=शुभ-कर्म की; **का कथा**=क्या वार्ता/बात? कुछ भी नहीं; **वा**=अथवा; **पापस्य**=अशुभ-कर्म की क्या बात? कहाँ होने पर उनकी वार्ता नहीं करनी? **तत्र**=वहाँ कर्म में; **संन्यस्ते सति**=छोड़ने का निर्णय हो जाने पर, उनकी वार्ता नहीं करनी। और उस प्रकार से होने पर, **ज्ञानं**=भेद-ज्ञान; **स्वयं**=स्वतः/अपने आप; **धावति**=दौड़ता है, शुद्ध हो जाता है या विकसित हो जाता है; 'धावु' इस धातु का प्रयोग गति और शुद्धि के अर्थ में होता है।

किम्भूतं ? ***उद्धतरसं*** उत्कटस्वभावं; पुनः ***नैष्कर्म्यप्रतिबद्धं*** नैष्कर्म्येण कर्मातीतत्वेन, प्रतिबद्धं सम्बद्धं; पुनः ***मोक्षस्य*** मुक्तेः; ***हेतुः*** कारणं; ***भवत्*** जायमानं। कुतः ? ***सम्यक्त्वादि-निजस्वभावभवनात्*** सम्यक्त्वं तत्त्वश्रद्धानं, आदिशब्दात् ज्ञानचारित्रादि, स एव निजस्वभावः आत्मस्वरूपं, तेन भवनं आत्मस्वरूपेण जायमानत्वमित्यर्थः, तस्मात् ॥१०॥

अथ कर्मणामभावे ज्ञानभावं इति प्ररूपयति—

शार्दूलविक्रीडित : **यावत्पाकमुपैतिकर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ्‌ न सा,**
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः ॥

वह ज्ञान कैसा है ? **उद्धतरसं**=उत्कट स्वभाववाला है। वह और कैसा है ? **नैष्कर्म्य-प्रतिबद्धं**=निष्कर्म से, कर्मों से रहितपने से, प्रतिबद्ध=संबद्ध है/कर्मों से पूर्णतया रहित है। वह और कैसा है ? **मोक्षस्य हेतुर्भवन्**=मोक्ष=मुक्ति का, हेतु=कारण, भवन्=होता हुआ। वह मोक्ष का कारण कैसे होता है ? **सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनात्**=सम्यक्त्व=तत्त्व-श्रद्धान; आदि शब्द से ज्ञान, चारित्र आदि का ग्रहण करना है; वह ही है अपना स्वभाव= आत्म-स्वरूप, उससे भवन्=आत्म-स्वरूप से उत्पन्न होनापना - ऐसा अर्थ है, उससे वह मोक्ष का कारण होता है।

अर्थात्, कर्मों से छूट जाने का प्रयोजन या मोक्ष पदार्थ प्रगट करने का लक्ष्य बनानेवाले मोक्षार्थी को वास्तव में ज्ञानावरणादि सभी कर्म-प्रकृतियाँ छोड़ने-योग्य ही हैं - इस प्रकार आगम के माध्यम से उन सभी को छोड़ने का संकल्प हो जाने पर, शुभ-कर्मरूप पुण्य और अशुभ-कर्मरूप पाप के सम्बन्ध में कुछ भी चर्चा करने के लिए अवकाश ही नहीं रहा है; अब तो ये सभी कर्म त्यागने-योग्य मात्र ही लगने लगे हैं।

ऐसा होने पर तत्त्व के श्रद्धान आदिरूप सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र आदि, अपने स्वभाव से ही प्रगट हो, मोक्ष का कारण होता हुआ, कर्मों से पूर्णतया रहित होने के लिए कटिबद्ध, उद्धत रस/अत्यन्त उत्साह-सम्पन्न वह ज्ञान/भेद-विज्ञान शुद्ध हो, स्वयं ही विकसित हो गया है।।१०९।।

अब, कर्मों का अभाव होने पर ज्ञान होता है, ऐसा प्ररूपित करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **जब तक पूर्णतया करम से विरति होती नहीं तब कही,**
युगपत् कर्म रु ज्ञान स्थिति रहे पर कर्म का क्षय नहीं।

किं त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बन्धाय तत्,
मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः ॥११ ॥११० ॥

टीका : ***यावत्*** यावत्पर्यन्तं; ***सा*** प्रसिद्धा; ***कर्मविरतिः*** कर्मणां विरतिः विरमणं; ***सम्यक्*** यथोक्तं; ***पाकं*** परिपूर्णतां; ***न उपैति*** न याति; ***तावत्*** पर्यन्तं; ***कर्मज्ञान-समुच्चयोऽपि*** कर्म च ज्ञानं च कर्मज्ञाने, तयोः समुच्चयः समुदायः, ***विहितः*** कथितः, ***अपि*** पुनः; ***तावत्*** ज्ञानकर्ममेलापकपर्यन्तं; ***न काचित् क्षतिः*** कर्मणां क्षयो न भवेत्; ***अपि*** पुनः, किमु विशेषोऽस्ति? ***अत्र*** कर्मज्ञानसमुच्चययोर्मध्ये; ***यत् कर्म तत्; अवशतः*** अवश्यम्भावात्; ***बन्धाय*** कर्मबन्धनकृते; ***समुल्लसति*** समुल्लासं गच्छति, विजृम्भत इति यावत्; पुनरत्रापि यदा ***एकमेव*** कर्मनिरपेक्षं केवलं; ***यत् ज्ञानं*** बोधः; ***तत् मोक्षाय*** मुक्तये; ***स्थितं*** प्रतिष्ठं; किम्भूतं? ***परमं*** उत्कृष्टं; ***स्वतः*** स्वभावेन; ***विमुक्तं*** विमुक्तः कर्मभिः ॥११ ॥

उसमें जितना कर्म है वह सदा करता करम-बन्ध ही,
उत्तम स्वतः विमुक्त ज्ञान केवल शिव-हेतु निश्चित यही।।११०।।

टीकार्थ : यावत्=जब तक; **सा**=वह प्रसिद्ध; **कर्मविरतिः**=कर्मों की विरति/कर्मों का त्याग; **सम्यक्**=जैसा कहा गया है, वैसा/वास्तविकरूप में; **पाकं**=परिपूर्णता को; **न उपैति**=प्राप्त नहीं होता है। **तावत्**=तब तक; **कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि**=कर्म और ज्ञान, कर्म-ज्ञान, उन दोनों का समुच्चय=समूह; **विहितः**=कहा गया है। **अपि**=और; **तावत्**=ज्ञान और कर्म के मेलापक/एक साथ रहने पर्यन्त; **न काचित् क्षतिः**=किसी कर्म का क्षय नहीं होता है। **अपि**=और; किन्तु क्या विशेषता है; **अत्र**=इस कर्म और ज्ञान के समुच्चय के मध्य में; **यत् कर्म**=जो कर्म है; **तत् अवशतः**=वह अवश से=अवश्यम्भावी/अवश्य ही; **बन्धाय**=बन्ध के लिए, कर्म-बन्धनरूप कार्य के लिए; **समुल्लसति**=समुल्लसित है, वृद्धि को प्राप्त है। फिर भी इस विषय में जब, **एकमेव**=एक ही, कर्मों से निरपेक्ष, मात्र; **यत् ज्ञानं**=जो बोध है, **तत्**=वह; **मोक्षाय**=मुक्ति के लिए; **स्थितं**=प्रतिष्ठित है। वह ज्ञान कैसा है? **परमं**=उत्कृष्ट है; **स्वतः**=स्वभाव से; **विमुक्तं**=कर्मों से रहित है।

अर्थात्, जब तक कर्मों के पूर्णतया त्यागरूप वह प्रसिद्ध वास्तविक विरति नहीं होती है, तब तक ज्ञान और कर्म के एक साथ रहने पर्यन्त, किसी कर्म का क्षय नहीं होता है;

अथ नयावलम्बितत्वमुपशाम्यति—

शार्दूलविक्रीडित : **मग्नाः कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञानं न जानन्ति ये,**
मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि सततं स्वच्छन्दमन्दोद्यमाः।
विश्वस्योपरि ते तरन्ति सततं ज्ञानं भवन्तः स्वयं,
ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं यान्ति प्रमादस्य च ॥१२॥१११॥

टीका : *मग्नाः* भवार्णवे निमग्नाः; के? ***कर्मनयावलम्बनपरा*** कर्म व्रततपश्चरणादिक्रियाकाण्डं, तदेव नयः पक्षः, कर्मणैव मोक्षसाध्यत्वात् इति पक्षः; तस्य अवलम्बनं अङ्गीकारं, तत्र परास्तत्पराः सावधानाः क्रियावादिन इत्यर्थः; तथा चोक्तं—

परन्तु इसमें इतना विशेष है कि जो कर्म है, वह तो नियम से कर्मों के बन्धनरूपी कार्य की ही वृद्धि करता है; स्वभाव से ही कर्मों से पूर्णतया-रहित, कर्मों से पूर्ण निरपेक्ष, एकमात्र उत्कृष्ट ज्ञान ही मोक्ष के लिए प्रतिष्ठित रहता है/एकमात्र ज्ञान से ही मोक्ष-दशा की प्राप्ति होती है।।११०।।

अब, नयों के अवलम्बितपने को उपशान्त करते हैं/नयों का अवलम्बन लेने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है; ज्ञानमात्र आत्मा का अनुभव करने से मोक्ष प्राप्त होता है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **नहिं जानें निज ज्ञान, कर्म तत्पर आलम्बि डूबें सदा,**
स्वच्छन्दी मन्दोद्यमी भि डूबें, ज्ञानेच्छु रहकर सदा।
जो करते नहिं कर्म हैं प्रमादी बिल्कुल नहीं स्वयं से,
वेदन करते आत्मज्ञान प्रतिक्षण वे पार हों विश्व से।।१११।।

टीकार्थ : मग्नाः=संसाररूपी सागर में डूबे हैं। कौन इसमें डूबे हैं? **कर्मनयाह्व वलम्बनपराः**=व्रत, तपश्चरण आदि क्रिया-काण्डरूप कर्म, वही है नयरूपी पक्ष; कर्म से ही मोक्षरूपी साध्य की सिद्धि होती है - ऐसी मान्यता होने से, वह पक्ष है; उसका आलम्बन लेना, उसे अङ्गीकार करना; उसमें पर=तत्पर=सावधान; वे क्रिया-वादी हैं - ऐसा अर्थ है। उसी प्रकार कहा भी है—

'क्रियावादी एक सौ अस्सी, अक्रियावादी चौरासी, अज्ञानवादी षड़षठ और विनय का आश्रय लेनेवाले विनयवादी बत्तीस हैं।' इस प्रकार।

क्रियाश्च शतधाशीतिश्चतस्रोऽशीतिरक्रियाः।
अज्ञानाः सप्तषष्टिश्च द्वात्रिंशद्विनयाश्रिताः॥ इति॥

कुतः ? ***यत्*** यस्माद्धेतोः; ***ये ज्ञानं*** भेदबोधं; ***न जानन्ति*** न विन्दन्ति; ***अपि*** पुनः; ***ज्ञाननयैषिणो*** ज्ञानं बोधस्तदेव नयः, ज्ञानव्यतिरिक्तं न किञ्चिदस्ति यथा इष्टं चरेत् तिष्ठेदित्यादिः ज्ञानाद्वैतवादिपक्षः, ज्ञाने सति साध्यसिद्धिर्न तु तत्र ध्यानमिति वा पक्षः, तमिच्छन्तीत्येवं शीलाः, ज्ञाननयैषिणः; ***मग्ना*** भवार्णवे; कुतः ? ***यत्*** यस्माद्धेतोः; ***सततं स्वच्छन्दमन्दोद्यमाः*** अति स्वच्छन्देन स्वेच्छाचारेण प्रमादमान्द्यकरणे मन्दः उद्यमः उद्योगो येषां ते, स्वं ज्ञात्वा ध्याने मन्दा इत्यर्थः; तर्हि के उन्मग्नाः ? ***ते*** पुरुषा; ***विश्वस्य*** जगतः; ***उपरि तरन्ति*** जगदतिशायिनो भवन्तीति तात्पर्यम्। ते के ? ***ये*** पुरुषाः; ***जातु*** कदाचित्; ***कर्म*** क्रियाकाण्डं; ***न कुर्वन्ति*** न विदधन्ति; किम्भूताः सन्तः ? ***स्वयं*** कालक्षेत्रादि-निरपेक्षत्वेन; ***सततं*** प्रतिक्षणं; ***ज्ञानं*** भेदविज्ञानं; ***भवन्तः*** अनुभवन्तः, बोधमयाः जायमाना

वे संसार में किस कारण डूबते हैं? **यत्**=जिस कारण; **ये ज्ञानं**=जो भेदज्ञान को; **न जानन्ति**=नहीं जानते हैं। **अपि**=और; **ज्ञाननयैषिणः**=ज्ञान=बोध, वही है नय=ज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जैसे इष्ट/स्वेच्छानुसार आचरण करो, बैठो इत्यादि ज्ञानाद्वैत-वादियों का पक्ष है। ज्ञान होने पर साध्य की सिद्धि होती है, वहाँ ध्यान नहीं है; अथवा ऐसा पक्ष है। उसे जो चाहते हैं - इस प्रकार के स्वभाववाले ज्ञान-नय के इच्छुक; **मग्नाः**=संसाररूपी सागर में डूबे हैं। वे कैसे डूबे हैं? **यत्**=जिस कारण से। **सततं स्वच्छन्दमन्दोद्यमाः**=स्वच्छन्द=स्वेच्छाचार से प्रमाद को कम करने में मन्द उद्यम=उद्योग/प्रयास है जिनका, वे; स्वयं को जानकर भी ध्यान में मन्द हैं/आत्म-ध्यान करने में पुरुषार्थ नहीं करते हैं - ऐसा अर्थ है। तब फिर पार कौन होते हैं? **ते**=वे पुरुष; **विश्वस्य**=जगत के; **उपरि तरन्ति**=ऊपर तैरते हैं, लोक का अतिक्रमण करते हैं - यह तात्पर्य है।

ऐसा करनेवाले वे कौन हैं? **ये**=जो पुरुष; **जातु**=कभी भी; **कर्म**=क्रिया-काण्ड को; **न कुर्वन्ति**=नहीं करते हैं। वे कैसे हैं? **स्वयं**=काल, क्षेत्र आदि से निरपेक्ष होने के कारण, स्वतः; कब? **सततं**=प्रतिक्षण; **ज्ञानं**=भेद-विज्ञान को; **भवन्तः**=अनुभव में लाते हैं अथवा ज्ञानरूप से प्रगट हुए हैं। **च**=और; **वशं**=अधीनता को; **न यान्ति**=प्राप्त नहीं होते

वा; ***च*** पुन:; ***वशं*** अधीनत्वं; ***न यान्ति*** न प्राप्नुवन्ति; कस्य ? ***प्रमादस्य*** सदा ज्ञानानुभवनं कर्मप्रमादपरिहरणं मोक्षार्थिन उक्तम् ॥१२ ॥

अथ ज्ञानज्योतिषो विजृम्भणं बम्भणीति—

मन्दाक्रान्ता : **भेदोन्मादं भ्रम-रस-भरान्नाटयत्पीत-मोहं,**
मूलोन्मूलं सकलमपि तत्कर्म कृत्वा बलेन।
हेलोन्मीलत्परम-कलया सार्ध-मारब्ध-केलि,
ज्ञानज्योतिः कवलिततमः प्रोज्जजृंभे भरेण ॥१३ ॥११२ ॥

टीका : ***भरेण*** अतिशयेन; ***ज्ञानज्योतिः*** समस्ताखण्डज्ञानज्योति:; ***प्रोज्जृम्भे***

हैं। किसके वश नहीं होते हैं? **प्रमादस्य**=प्रमाद के वश नहीं होते हैं; मोक्षार्थी को सदा, ज्ञान का अनुभवन और कर्मरूपी प्रमाद का परिहार करना चाहिए – ऐसा कहा गया है।

अर्थात्, व्रत, तपश्चरण आदि क्रिया-काण्डरूप कर्म से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है – ऐसा मानकर उन्हीं को अङ्गीकार करने में सावधान एक सौ अस्सी क्रियावादी आदि भेदज्ञान को नहीं जानते हैं; अत: संसाररूपी सागर में डूबते हैं। जानकारी मात्र से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है; आत्म-ध्यान की आवश्यकता नहीं है – ऐसा मानकर स्वच्छन्दता पूर्वक प्रवृत्ति करनेवाले, प्रमाद को कम करने में मन्द-पुरुषार्थी; ज्ञान के अतिरिक्त कुछ भी स्वीकार नहीं करनेवाले भी संसाररूपी सागर में ही डूबते हैं।

सम्पूर्ण विश्व से स्वयं का पृथक् अनुभव करते हुए जो कभी भी क्रिया-काण्ड को नहीं करते हैं और काल, क्षेत्र आदि से निरपेक्ष हो, स्वयं प्रतिक्षण भेद-विज्ञान का अनुभव करते हुए, प्रमाद के वशीभूत नहीं होते हैं; कर्मरूपी प्रमाद का परिहार करते हुए सदा अपने ज्ञान-स्वभाव का ही वेदन करते हैं, वे संसाररूपी सागर से पार हो मोक्ष-दशा प्राप्त करते हैं।।१११।।

अब, ज्ञान-ज्योति के विस्तार का वर्णन करते हैं—

मन्दाक्रान्ता : **मोही होकर भ्रम-वश सदा भेद से मत्त जग को,**
भटकाते जो मूल से ही नाश उन सब करम को।
लीला से ही प्रगट उत्तम कला से खेल करती,
बल पूर्वक तम-नाश ज्ञानज्योति विकसी अधिक ही।।११२।।

टीकार्थ : भरेण=अधिकता से; **ज्ञानज्योतिः**=ज्ञान का सम्पूर्ण अखण्ड तेज;

रूपकालङ्कारोऽयं। ***कवलिततमः;*** पुनः ***हेलोन्मीलत्*** हेलया लीलया, उन्मीलत् उत्प्रकटयत्; पुनः ***आरब्धकेलि*** आरब्धा प्रारम्भविषयीकृता, केलिः क्रीडा येन तत्; ***सार्धं*** समं; कया ? ***परमकलया*** परमा उत्कृष्टा चासौ कला च दर्शनाद्यंशः, मुक्तिकला वा तया, किं कृत्वा ? ***बलेन*** हठात्कारेण, ध्यानलक्षणेन; ***सकलमपि*** समस्तमपि, प्रकृत्यादि-चतुःस्वभावमपि, ***तत्*** प्रसिद्धं ***कर्म*** ज्ञानावरणादिप्रकृतिः; ***मूलोन्मूलं*** मूलेन उन्मूलं मूलतलनाशं कृत्वा; किम्भूतं ? ***भेदोन्मादं*** भेदेन पुण्यपापविशेषेण, उन्मादं उन्मत्तं; पुनः ***पीतमोहं*** पीतः पानविषयीकृतः मोहः मोहनीयं कर्म येन पुरुषेण तं प्राणिनं; ***नाटयत्*** भवरङ्गावनौ मनुष्यतिर्यगादिविशेषेण नृत्यं कारयत्। कुतः ? ***भ्रमरसभरात्***

प्रोज्जृम्भे=विशिष्टरूप में उदय को प्राप्त हुआ है - यह रूपक अलंकार है। **कवलिततमः**= मोहरूपी अन्धकार को नष्ट करता है। पुनः **हेलोन्मीलत्**=लीला मात्र से प्रगट होता हुआ; वह और कैसा है? **आरब्धकेलि**=प्रारम्भ की गयी है क्रीड़ा जिसके द्वारा, वह; **सार्धं**=साथ में; किसके साथ? **परमकलया**=परम=उत्कृष्ट और वही कला=दर्शनादि अंश अथवा मुक्ति कला, उसके साथ। क्या करके उसके साथ क्रीड़ा प्रारम्भ की है। **बलेन**=हठ पूर्वक, ध्यान लक्षण द्वारा **सकलमपि**=प्रकृति आदि चार स्वभाववाले सभी; **तत्**=उन प्रसिद्ध; **कर्म**=ज्ञानावरणादि प्रकृतिमय कर्म को; **मूलोन्मूलं**=मूल=बुध्न/तना/जड़-मूल से, उन्मूल= मूल-तल का नाश करके; वह मूल कैसा है? **भेदोन्मादं**=भेद=पुण्य-पाप के विशेष से, उन्माद=उन्मत्त है। वह और कैसा है? **पीतमोहं**=पिया है=पान का विषय किया है, मोह= मोहनीय-कर्म को जिस व्यक्ति ने; **नाटयत्**=उस प्राणी को नचाता हुआ=संसाररूपी रंगभूमि में मनुष्य, तिर्यंच आदि विशेष से नृत्य कराता हुआ है। वह नृत्य कैसे कराता है? **भ्रमरस-भरात्**=मेरा यह है, मैं इसका हूँ इत्यादि भ्रान्तिरूपी रस के वेग से नृत्य कराता है। अन्य नट भी भ्रमण आदि रस से दूसरों को नचाता है - उसी प्रकार यह कथन समझना चाहिए।

अर्थात्, जैसे लोक में नट आदि दूसरों को नचाते हैं; उसी प्रकार यह मेरा है, मैं इसका हूँ इत्यादि भ्रान्तिरूपी रस के वेग से मोहरूपी मदिरा को पिए हुए इस जीव को, पुण्य और पाप के भेद से उन्मत्त, संसाररूपी रंगभूमि में मनुष्य, तिर्यंच आदिरूप से नचाते हुए, उन प्रकृति आदि चार स्वभाववाले प्रसिद्ध सभी ज्ञानावरणादि प्रकृतिमय कर्म को मूल-तल से ही/पूर्णतया नष्ट करता हुआ, ज्ञान का सम्पूर्ण अखण्ड तेज, विशिष्टरूप में उदित हुआ है।

ममेदं, अहमस्येत्यादि भ्रान्तिरसवेगात्। अन्योऽपि नटः भ्रमणादिरसादपरं नाटयति इत्युक्तिलेशः ॥ १३ ॥

इति श्रीसमयसारपद्यस्य परमाध्यात्म-तरङ्गिणी-नामधेयस्य व्याख्यायां पुण्यपापैकत्वनिरूपकस्तृतीयोऽङ्कः।

अधिकता पूर्वक लीला मात्र से प्रगट हुए इस ज्ञान तेज ने, आत्म-ध्यानरूप उग्र पुरुषार्थ पूर्वक उत्कृष्ट दर्शन आदि अथवा मुक्तिरूपी कला के साथ क्रीड़ा प्रारम्भ की है; अर्थात्, अपने स्वरूप में परिपूर्ण स्थिरता द्वारा यह ज्ञान-तेज, सभी गुणों के परिपूर्ण विकासमय मोक्ष-दशा को प्राप्त हो जाता है।।११२।।

इस प्रकार श्री समयसार पद्य की परम-अध्यात्म-तरङ्गिणी नामक व्याख्या में पुण्य-पाप के एकत्व का निरूपक तीसरा अंक समाप्त हुआ।।३।।

आस्रवाऽधिकारः

अथ चतुर्थोऽङ्कः प्रारभ्यते।

टीकाकारस्य मङ्गलाचरणं :

आर्या : **शुभचन्द्रामृतचन्द्रो भिनत्ति यत्तामसं सुतत्त्वेषु।**
पुण्येतरेषु च तद्धि न भिद्यते दीपचन्द्रार्कैः॥

अथास्रवमाश्रयति —

द्रुतविलम्बित : **अथ महामद-निर्भर-मन्थरं, समर-रङ्ग-परागतमास्रवम्।**
अयमुदारगभीरमहोदयो, जयति दुर्जयबोधधनुर्धरः॥१॥११३॥

टीका : ***अथ*** पुण्यपापतत्त्वकथनानन्तरं; ***अयं*** प्रसिद्धः; ***दुर्जयबोध-धनुर्धरः*** दुःखेन जीयते इति दुर्जयः स चासौ बोधश्च ज्ञानं स एव धनुर्धरः धानुष्कः; ***जयति*** सर्वोत्कृष्टं वर्तत इत्यर्थः। कं? ***आस्रवं*** आस्रवति कर्म येन स आस्रवस्तं निराकरोतीत्यर्थः।

अब, चौथा अंक प्रारम्भ होता है।

टीकाकार कृत मङ्गलाचरणपरक पद्य का अर्थ : शुभ-कार्य के लिए चन्द्रमा के समान आह्लाद-दायक अमृतचन्द्र, पुण्य और पापरूप सुतत्त्वों के विषय में जिस अन्धकार को विनष्ट करते हैं, उस अज्ञानान्धकार को वास्तव में दीपक, चन्द्रमा, सूर्य भी नष्ट नहीं कर सकते हैं।

अब, आस्रव का आश्रय लेते हैं/आस्रव का वर्णन करते हैं—

द्रुतविलम्बित : **अब महामद उद्यत आसरव, फूल अति रणभू में आ उसे,**
ये उदार महोदय दुर्जयी, गहन बोधबली नित जीतते।।११३।।

टीकार्थ : अथ=अब, पुण्य और पाप-तत्त्व के कथन के बाद; **अयं**=यह प्रसिद्ध; **दुर्जयबोधधनुर्धरः**=दुः=दुःख से/अति कष्ट पूर्वक, जीयते=जीता जाता है - ऐसा दुर्जय, वह और वह बोध=ज्ञान, वही है धनुर्धर=धनुष धारण करनेवाला; **जयति**=जीतता है, सर्वोत्कृष्ट वर्तता है - ऐसा अर्थ है। वह किसे जीतता है? **आस्रवं**=वह आस्रव को जीतता

किम्भूत: ? ***उदारगभीरमहोदय:*** उदार: उत्कट: स चासौ गभीरश्च अलब्धमध्य: महानुदयो यस्य स:। किम्भूतं तं ? ***महामदनिर्भरमन्थरं*** महांश्चासौ मदश्च अहङ्कारस्तस्य निर्भर: अतिशय:, तेन मन्थर: मेदुर: तम्। पुन: कीदृशं ? ***समररङ्गपरागतं*** समर: संग्रामस्तस्य रङ्ग: अङ्गणं, तत्र आगत: समुपस्थित: तं, ज्ञानपराभवार्थमुद्युक्तमित्यर्थ: ॥१ ॥

अथ ज्ञाननिर्वृत्तं भावं समुत्साहयति—

शालिनी : **भावो राग-द्वेष-मोहैर्विना यो,**
जीवस्य स्याज्ज्ञान-निर्वृत्त एव।

है, जिससे कर्म आता है, वह आस्रव है, उसका निराकरण करता है - ऐसा अर्थ है। वह ज्ञान कैसा है? **उदारगभीरमहोदय**:=उदार=उत्कट, वह और वह गभीर=जिसका मध्य प्राप्त नहीं होता है/अत्यन्त गहरे रहस्यमय, महान उदय है जिसका, वह। उस कैसे आस्रव को जीतता है? **महामदनिर्भरमन्थरं**=महान और वह मद=अहंकार, उसका निर्भर=आधिक्य, उससे मन्थर-मेदुर/फूला हुआ है, उसे जीतता है। वह और कैसा है? **समररङ्गपरागतं**=समर= संग्राम/युद्ध, उसका रङ्ग=अङ्गन/स्थान, वहाँ आया, भली-भाँति उपस्थित हुआ है, उसे, ज्ञान का पराभव करने के लिए जो प्रयत्न-शील है, उसे जीतता है - ऐसा अर्थ है।

अर्थात्, पुण्य और पाप-तत्त्व का निरूपण करने के बाद, अब आस्रव-तत्त्व का निरूपण करते हैं। वहाँ सर्व प्रथम, आस्रव को जीतनेवाले ज्ञान का गुणगान करते हैं, जो इस प्रकार है—

'मेरा सब पर अधिकार है' - इस रूप में अत्यधिक अहंकार की अधिकता से फूले हुए, ज्ञान का पराभव करने के लिए युद्ध-भूमि में उपस्थित, कर्मों के आनेरूप आस्रव को; उदार, अत्यन्त गम्भीर/रहस्यमयी, महान उदय-सम्पन्न ज्ञानरूपी दुर्जय/महा-बलशाली धनुर्धर/महा-योद्धा जीत लेता है/आस्रवों को समाप्त कर देता है।।११३।।

अब, ज्ञान से रचित भाव को भली-भाँति उत्साहित करते हैं—

शालिनी : **भाव हि राग द्वेष मोहादि विरहित,**
आतम का जो पूर्णत: ज्ञान-निर्वृत्त।

रुन्धन् सर्वान् द्रव्यकर्मास्त्रवौघान्,
एषोऽभावः सर्वभावास्त्रवाणाम्॥२॥११४॥

टीका : ***एषः*** कथ्यमानः; ***अभावः; स्याद्*** भवेत्; केषां? ***सर्वभावास्त्रवाणां*** सर्वे च ते भावास्रवाश्च रागद्वेषमोहाद्याः तेषाम्। एष कः? ***यः; एव*** निश्चयेन; ***जीवस्य*** प्राणिनः; ***ज्ञाननिर्वृत्तः*** ज्ञानमयः; ***भावः*** चित्परिणामः; ***रागद्वेषमोहैः*** रागः रतिः, द्वेषः अरतिः, मोहः ममत्वं, द्वन्द्वः, तैः ***विना*** अन्तरेण; किं कुर्वन्? ***रुन्धन्*** निवारयन्; कान्? ***सर्वान्*** समस्तान्; ***द्रव्यकर्मास्त्रवौघान्*** द्रव्यकर्मणां ज्ञानावरणादिप्रकृतीनां, आस्त्रवौघान् मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगसमूहान्। रागद्वेषमोहानामिह स्वपरिणामनिमित्तत्वात् अजड़त्वे सति चिदाभासत्वात् भावास्रवत्वं, मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगानां पुद्गलपरिणामानां ज्ञानावरणादिपुद्गलकर्मास्त्रवणनिमित्तत्वाद् द्रव्यास्त्रवत्वम्॥२॥

सब द्रव्यास्रवमय कर्म रोकता यह,
सब भावास्रव से सदा पूर्ण विरहित।।११४।।

टीकार्थ : एषः=यह कहा जानेवाला; **अभाव**ः=अभाव; **स्यात्**=हो। वह किनका हो? **सर्वभावास्रवाणां**=सभी और वे राग, द्वेष, मोह आदि भावास्रव, उनका हो। यह कौन है? **य**ः=जो; **एव**=ही, निश्चय से; **जीवस्य**=प्राणी का; **ज्ञाननिर्वृत्त**ः=ज्ञान से बना, ज्ञानमय; **भाव**ः=भाव, चेतन का परिणाम; **रागद्वेषमोहै**ः=राग=रति, द्वेष=अरति, मोह=ममत्व – इन तीनों का द्वन्द्व समास हो गया, उनके; **विना**=अभाव से। क्या करता हुआ यह है? **रुन्धन्**=निवारण करता हुआ; किनका? **सर्वान्**=सभी; **द्रव्यकर्मास्रवौघान्**=ज्ञानावरणादि प्रकृतिरूप द्रव्य-कर्मों के आस्रव में कारणभूत, मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग के समूह का निवारण करता हुआ है। यहाँ राग, द्वेष, मोह के भावास्रवपना है; क्योंकि अपने परिणामों की निमित्तता और चिदाभासपना होने के कारण, उनमें जड़पना नहीं है। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योगरूप पुद्गल-परिणामों के द्रव्यास्रवपना है; क्योंकि वे ज्ञानावरणादि पुद्गल-कर्मों के आने में निमित्त हैं।

अर्थात्, रतिरूप राग, अरतिरूप द्वेष, ममत्वरूप मोह से पूर्णतया रहित जीव का जो चेतनात्मक परिणाम, ज्ञान से रचित/पूर्णतया ज्ञानमय ही है, यह ज्ञानावरणादि प्रकृतिरूप द्रव्य-कर्मों के आस्रव में कारणभूत सभी प्रकार के मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग के

अथ ज्ञानिनो निरास्रवत्वं श्रद्दधीति—

उपजाति : **भावास्रवाभावमयं प्रपन्नो द्रव्यास्रवेभ्यः स्वत एव भिन्नः।**
ज्ञानी सदा ज्ञानमयैकभावो निरास्रवो ज्ञायक एक एव॥३॥११५॥

टीका : *अयं ज्ञानी* भेदज्ञः; ***निरास्रव एव*** द्रव्यभावास्रवेभ्यो निवृत्त एव; ***एकः*** अद्वितीयः; ज्ञायकः; किम्भूतः ? ***सदा*** नित्यं; ***ज्ञानमयैकभावः*** ज्ञानेन निर्वृत्तः ज्ञानमयः स एव एको भावः स्वभावो यस्य सः; किम्भूतः ? ***भावास्रवाभावं*** भावास्रवाणां रागद्वेषादीनां, अभावं; ***प्रपन्नः*** प्राप्तः; यावत्पर्यन्तं रागद्वेषास्तावन्न ज्ञायकत्वं अतः ज्ञायकत्वे सति रागद्वेषलक्षणभावास्रवाभावः; ***पुनः स्वत एव*** स्वभावत एव; ***द्रव्यास्रवेभ्यः*** मिथ्यात्वादिभ्यो; ***भिन्नः*** पृथग्भूतः, ये पूर्वमज्ञानेन मिथ्यात्वादयो द्रव्यास्रवा बद्धास्ते ज्ञानिनो

समूह का निवारण करता हुआ; राग, द्वेष, मोह आदि सभी भावास्रवों के अभावरूप है।

इस आस्रव के प्रकरण में; अपने परिणामों की निमित्तता और चिदाभास होने के कारण, जड़त्व से रहित राग, द्वेष, मोहरूप परिणामों को भावास्रव और ज्ञानावरणादि पुद्गल-कर्मों के आने में निमित्तभूत मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग रूप पुद्गल-परिणामों को द्रव्यास्रव कहा गया है।।११४।।

अब, ज्ञानी के निरास्रव/आस्रव से पूर्णतया रहितपने की श्रद्धा होती है; यह व्यक्त करते हैं—

उपजाति : **भावास्रवों से विरहित हुआ यह, स्वयमेव भिन्न द्रव्यास्रवों से।**
अतः सदा एक स्वभाव ज्ञायक, ज्ञानी निरास्रव इक ज्ञानमय है।।११५।।

टीकार्थ : अयं ज्ञानी=यह भेद को जाननेवाला ज्ञानी; **निरास्रव एव**=द्रव्य और भाव आस्रवों से रहित ही है। **एकः**=एक अद्वितीय; **ज्ञायकः**=जाननेवाला है। वह कैसा है? **सदा**=नित्य; **ज्ञानमयैकभावो**=ज्ञान से रचा हुआ=ज्ञानमय है, वही है एक भाव=स्वभाव जिसका, वह; वह और कैसा है? **भावास्रवाभावं**=राग, द्वेष आदि भावास्रवों के अभाव को; **प्रपन्नः**=प्राप्त है; जब तक राग, द्वेष हैं; तब तक ज्ञायकता नहीं है; अतः ज्ञायकता होने पर राग, द्वेष लक्षण भावास्रवों का अभाव है; और **स्वतः एव**=स्वभाव से ही; **द्रव्यास्रवेभ्यः**= मिथ्यात्व आदि द्रव्यास्रवों से; **भिन्नः**=पृथग्भूत है।

पहले अज्ञान द्वारा जो मिथ्यात्वादि द्रव्यास्रव बँध गए थे, वे अचेतन पुद्गल के

द्रव्यान्तरभूता अचेतनपुद्गलपरिणामत्वात् पृथ्वीसमा अचेतनास्ते तु स्वत: कार्मणशरीरेणैव सम्बद्धा नत्वात्मना, अत: सिद्ध: स्वभावतो ज्ञानिनो द्रव्यास्रवाभाव:, बुद्धिपूर्वकरागद्वेषमोह-रूपास्रवभावाभावान्निरास्रव एव ॥३ ॥

अथ ज्ञानिनो निरास्रवत्वं नियम्यते—

शार्दूलविक्रीडित : **संन्यस्यन्निज-बुद्धिपूर्व-मनिशं रागं समग्रं स्वयं,**
बारम्बारमबुद्धिपूर्वमपि तं जेतुं स्वशक्तिं स्पृशन्।

परिणाम होने के कारण, ज्ञानी से अत्यन्त पृथक् द्रव्य हैं। पृथ्वी के समान अचेतन वे स्वयं कार्मण-शरीर के साथ सम्बद्ध/भली-भाँति बँधे हैं; आत्मा के साथ नहीं बँधे हैं; अत: ज्ञानी के द्रव्यास्रवों का अभाव तो स्वभाव से ही सिद्ध है तथा बुद्धि-पूर्वक के राग, द्वेष, मोहरूप आस्रवमय भावों का भी अभाव होने से, वह निरास्रव ही है।

अर्थात्, स्व और पर के भेद-विज्ञान को जाननेवाला यह एक, अद्वितीय, ज्ञायक, ज्ञान से रचित/ज्ञानमय एक स्वभाववाला ज्ञानी, द्रव्य और भावरूप आस्रवों से पूर्णतया रहित/निरास्रव ही है। जब तक राग, द्वेष आदि भावास्रव होते हैं, तब तक ज्ञायकता नहीं होती है; ज्ञायकता होने पर राग, द्वेष आदिरूप उन भावास्रवों का अभाव नियम से हो जाता है; अत: ज्ञानी, भावास्रवों से पूर्णतया रहित है। उसे बुद्धि पूर्वक के रागादि रंचमात्र नहीं हैं; भूमिकानुसार शेष रहे रागादि को यहाँ गौण किया गया है।

इसी प्रकार पहले अज्ञानावस्था में जो मिथ्यात्व आदि द्रव्यास्रव बँध गए थे, वे वास्तव में अचेतन पृथ्वी-पिण्ड के समान, पूर्णतया अचेतन पुद्गल के परिणाम होने से, स्वयं कार्मण-शरीर के साथ ही बँधे थे। आत्मा से पूर्णतया पृथक् पदार्थ होने के कारण, वे वास्तव में इस आत्मा के साथ बँधे ही नहीं थे; अत: इनसे तो स्वभावत: ही सदा पृथक्, सभी जीव नित्य ही हैं।

इस प्रकार ज्ञानी पूर्णतया निरास्रव ही है।।११५।।

अब, ज्ञानी के निरास्रवपने का नियम बताते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **अपने बुद्धि पूर्वक स्वयं सब रागादि को छोड़ते,**
पुन-पुन वेदे आत्म-शक्ति पूर्वक वह अबुद्धि जीतने।

उच्छिन्दन् परवृत्तिमेव सकलां ज्ञानस्य पूर्णो भवन्,
नात्मानित्यनिरास्रवो भवति हि ज्ञानी यदा स्यात्तदा ॥४॥११६॥

टीका : हि इति व्यक्तं; ***आत्मा*** चिद्रूप:; ***यदा*** यस्मिन् काले; ***नित्यं निरास्रवः*** निरन्तरमास्रवभावातीत:; ***भवति*** जायते; ***तदा*** तस्मिन् समये; ***ज्ञानी*** सकलवस्तु-परिच्छेदकज्ञानयुक्त:; ***स्यात्*** भवेत्। ननु संसारदशायां कथं निरास्रवत्वमिति चेत्? ***अनिशं*** नित्यं; ***स्वयं*** कर्तृत्वेन; ***समग्रं*** समस्तं ***रागं*** रागद्वेषमोहग्रामं भावास्रवं; ***संन्यस्यन्*** त्यजन् परिहरन्; ***निजबुद्धिपूर्वं*** स्वबुद्धिपूर्वकं स्वाभिप्रायपूर्वकं; त्यजन्नित्यर्थ:। ***अपि*** पुन:; ***तं*** द्रव्यरूपमिथ्यात्वाद्यास्रवं; ***अबुद्धिपूर्वं*** पूर्वनिबद्धाचेतनास्रवं स्वाभिप्रायातिरिक्तं; सूक्ष्मं अज्ञानस्वरूपं, अकषायिणामास्रवसदृशं वा अबुद्धिपूर्वम्। ***बारं बारं*** पुन: पुन:; ***जेतुं*** जयार्थं नाशार्थमित्यर्थ:। ***स्वशक्तिं*** स्वस्य आत्मन: शक्तिं सामर्थ्यं; ***स्पृशन्*** स्वसात्कुर्वन्। पुन: किं कुर्वन्? ***उच्छिन्दन्*** उद्भिन्दन्, समूलं कर्षन्नित्यर्थ:। कां? ***सकलां*** समस्तां; ***एव***

पर-वृत्ति सब ही समाप्त करते हो ज्ञान परिपूर्ण जब,
ज्ञानी नित्य निरास्रवी हुआ है जाने सदा जीव जब।।११६।।

टीकार्थ : हि=यह अव्यय स्पष्टता-वाचक है। **आत्मा**=चिद्रूप स्वयं आत्मा; **यदा**=जिस समय; **नित्यनिरास्रव:**=सदा निरन्तर आस्रव-भावों से रहित; **भवति**=होता है। **तदा**=उस समय; **ज्ञानी**=सभी वस्तुओं को भली-भाँति जाननेवाले ज्ञान से सहित ज्ञानी; **स्यात्**=हो। यहाँ यदि कोई प्रश्न करे कि संसार-दशा में निरास्रवपना कैसे है? (तो उसका उत्तर देते हुए यहाँ बताते हैं) **अनिशं**=सदा स्वयं कर्तापने से; **समग्रं**=सभी; **रागं**=राग, द्वेष, मोह के समूहरूप भावास्रव को; **संन्यसन्**=छोड़ता, परिहार करता हुआ; **निजबुद्धिपूर्वं**=अपने बुद्धि पूर्वक, अपने अभिप्राय पूर्वक छोड़ता हुआ - ऐसा अर्थ है। **अपि**=और; **तं**=उस द्रव्यरूप मिथ्यात्व आदि आस्रव को; **अबुद्धिपूर्वं**=अपने अभिप्राय से पूर्णतया पृथक् पहले के बँधे अचेतन आस्रव को, अथवा सूक्ष्म, अज्ञान स्वरूप, अकषायिओं/वीतरागिओं के आस्रव के समान अबुद्धि पूर्वक को; **बारम्बारं**=पुन:-पुन:; **जेतुं**=जीतने के लिए, नष्ट करने के लिए - ऐसा अर्थ है। **स्वशक्तिं**=अपने आत्मा की शक्ति=सामर्थ्य को; **स्पृशन्**=छूता हुआ, आत्मसात् करता हुआ। वह और क्या करता हुआ? **उच्छिन्दन्**=उद्भिन्न, जड़-मूल से नष्ट करता हुआ - ऐसा अर्थ है। किसे? **सकलां**=समस्त; **एव**=ही, निश्चय से;

निश्चयेन; ***परवृत्तिं*** परेषु आत्मव्यतिरिक्तपदार्थेषु वृत्ति; प्रवर्तना तां, तत्रानुचरणमिति भावः। पुनः ***पूर्णः*** परिपूर्णः समग्र इत्यर्थः; ***भवन्*** जायमानो भावः। कस्य? ***ज्ञानस्य*** वस्तुविशेष-ग्राहकस्य॥ ४॥

अथ ज्ञानिनो द्रव्यप्रत्यये सति न निरास्त्रवत्वमिति पूर्वपक्षपूर्वकं पद्यद्वयेन प्रत्युत्तरयति—

अनुष्टुप् : **सर्वस्या-मेव जीवन्त्यां, द्रव्य-प्रत्यय-सन्ततौ।**
कुतो निरास्त्रवो ज्ञानी, नित्यमेवेति चेन्मतिः ॥५॥११७॥

परवृत्तिं=पर में=आत्मा से पृथक् पदार्थों में, वृत्ति=प्रवर्तन, उसे, उनमें अनुचरण को नष्ट करता हुआ - ऐसा भाव है। और **पूर्णः**=परिपूर्ण, समग्र - ऐसा अर्थ है। **भवन्**=प्रगट हुआ भाव; वह किसका है? **ज्ञानस्य**=वस्तु के विशेष को जाननेवाले ज्ञान का भाव प्रगट हुआ।

अर्थात्, यह चिद्रूप आत्मा जिस समय सदा आस्रवों से पूर्णतया रहित होता है, उस समय वह सभी पदार्थों को भली-भाँति जाननेवाला स्व-पर विवेकी ज्ञानी हो जाता है। वह संसार-दशा में भी सदा स्वयं कर्तापने से बुद्धि पूर्वक, अपने अभिप्राय पूर्वक के सभी राग, द्वेष, मोह के समूहरूप भावास्रवों को छोड़ता हुआ और अपने अभिप्राय से पूर्णतया पृथक्, पहले के बँधे हुए द्रव्यरूप मिथ्यात्व आदि अचेतन आस्रवों को अथवा सूक्ष्म, अज्ञान-स्वरूप, वीतरागियों के आस्रव के समान अबुद्धि पूर्वक के आस्रवों को पूर्णतया समाप्त करने के लिए, अपने आत्मा की सामर्थ्य को आत्मसात् करता हुआ, स्वयं से पृथक् सभी पर-पदार्थों में आचरणमय सम्पूर्ण पर-प्रवृत्ति को जड़-मूल से नष्ट करता हुआ, वस्तु के विशेष को जाननेवाले अपने परिपूर्ण ज्ञान-स्वभाव को प्रगट करता हुआ, पूर्णतया निरास्रवी हो जाता है।।११६।।

अब, द्रव्य-प्रत्यय होने पर ज्ञानी के निरास्रवपना नहीं हो सकता है? इस प्रकार के पूर्व-पक्ष पूर्वक दो पद्य द्वारा उत्तर-पक्ष प्रस्तुत करते हैं—

अनुष्टुप् : **सभी द्रव्य-प्रत्यय की, संतति विद्यमान है।**
तब ज्ञानी सदा कैसे, निरास्रवी? यदि सोच है।।११७।।

मालिनी : **विजहति न हि सत्तां प्रत्यया: पूर्वबद्धाः,**
समय-मनुसरन्तो यद्यपि द्रव्य-रूपाः।
तदपि सकल-राग-द्वेष-मोह-व्युदासा-
दवतरति न जातु ज्ञानिनः कर्मबन्धः॥६॥११८॥

टीका : ननु ***ज्ञानी*** भेदज्ञः; ***नित्यं; निरास्रवः*** आस्रवरहितः। ***कुतः***? न कुतोऽपि? क्व सत्यां? ***सर्वस्यां*** समस्तायां अपि; ***द्रव्यप्रत्ययसन्ततौ*** द्रव्यप्रत्ययानां पुद्गलरूपनिबद्धमिथ्यात्वादीनां, सन्ततिः सन्तानं, तस्यां; ***जीवन्त्यां*** विद्यमानायां सत्यामेव। अथ तदा तदुदयाभावान्निरास्रव इति भण्यते तदप्यसत्, यतः सदवस्थायां पूर्वमनुपभोग्यत्वेऽपि तदात्वपरिणीतबालस्त्रीवत्, विपाकावस्थायामुपभोग्यत्वात् उपभोगप्रायोग्यं पुद्गलकर्म प्राप्तयौवनपूर्वपरिणीतस्त्रीवत् इति न निरास्रवत्वं इति चेत् ते ***मतिः*** मनीषा॥५॥

तत्रोत्तरयति— ***हि*** स्फुटं; ***यद्यपि*** ज्ञानिनः पुंसः; ***द्रव्यरूपाः*** पुद्गलकर्मरूप-

---

मालिनी : **छोड़े नहिं सत्ता काल के पूर्व पहले,**
बँधे द्रव्यरूप कर्म यों यद्यपि हैं।
तो भी सब राग द्वेष मोहादि नष्ट,
इससे ज्ञानी के अब नहीं कर्म-बन्ध।।११८।।

टीकार्थ : यहाँ प्रश्न है कि **ज्ञानी**=भेद को जाननेवाला ज्ञानी; **नित्यं निरास्रवः**=सदा आस्रवों से रहित; **कुतः**=कैसे हो सकता है? किसी भी रूप में नहीं हो सकता है। किसके रहते हुए? **सर्वस्यां**=समस्त ही; **द्रव्यप्रत्ययसन्ततौ**=पुद्गलरूप निबद्ध मिथ्यात्व आदि द्रव्य-प्रत्ययों की, सन्तति=सन्तान/परम्परा, उसके; **जीवन्त्यां**=जीवित रहते=विद्यमान रहते=होने पर भी; ऐसा होने पर, तब उनके उदय के अभाव से निरास्रव है - ऐसा कहा जाता है। यह कथन उचित नहीं है; क्योंकि पहले नहीं भोगे गए, सत्ता में विद्यमान होने पर भी, उस समय परिणीत बाल-स्त्री के समान, विपाक/फल-दान अवस्था में उपभोग्य होने के कारण, उपभोग में आनेवाले पुद्गल-कर्म; यौवन को प्राप्त पूर्व परिणीत स्त्री के समान, निरास्रवरूप नहीं हैं; इस प्रकार **चेत्**=यदि तुम्हारी; **मतिः**=मनीषा/बुद्धि हो तो उसका उत्तर देते हैं—

हि=स्पष्टता-वाचक अव्यय है। **यद्यपि ज्ञानिनः**=यद्यपि ज्ञानी आत्मा के;

मिथ्यात्वादयः; ***पूर्वबद्धाः*** पूर्वं रागद्वेषादिभिः, बद्धाः निबद्धाः आत्मसात्कृता इत्यर्थः। ***प्रत्ययाः*** उत्तरकर्मबन्धकारणानि; ***सत्तां*** अस्तित्वं; ***न विजहति*** न त्यजति; ***समयं*** उदयकालं; ***अनुसरन्तः*** आश्रयन्तः उदयमागच्छन्त इत्यर्थः। ***तदपि*** तथापि; ***जातु*** कदाचित्; ***कर्मबन्धः*** कर्मणां बन्धः; ***न अवतरति*** अवतारं न प्राप्नोति, न भवतीत्यर्थः। कस्य? ***ज्ञानिनः***; कुतः? ***सकलरागद्वेषमोहव्युदासात्*** सकलाः समस्तास्ते च ते रागद्वेषमोहाश्च तेषां व्युदासः परित्यागस्तस्मात्, रागद्वेषमोहानां आस्रवभावानामभावे द्रव्यप्रत्ययानाम-बन्धहेतुत्वात् कारणाभावे कार्यस्याप्यभावात्॥ ६॥

द्रव्यरूपाः=मिथ्यात्व आदि पुद्गल द्रव्य-कर्मरूप; **पूर्वबद्धाः**=पहले राग, द्वेष आदि के द्वारा, बद्ध=निबद्ध=आत्मसात् किए गए हैं - ऐसा अर्थ है। **प्रत्ययाः**=आगामी कर्म-बन्ध के कारणभूत प्रत्यय; **सत्तां**=सत्ता=अस्तित्व को; **न विजहति**=नहीं छोड़ते हैं। किसे नहीं छोड़ते हैं? **समयं**=उदय-कालरूपी समय का; **अनुसरन्तः**=आश्रय लेते हुए, उदय को प्राप्त होते हुए - ऐसा अर्थ है। **तदपि**=तो भी; **जातु**=कभी भी; **कर्मबन्धः**=कर्मों का बन्ध; **न अवतरति**=अवतार को प्राप्त नहीं है, नहीं होता है - ऐसा अर्थ है। बन्ध किसे नहीं होता है? **ज्ञानिनः**=ज्ञानी के बन्ध नहीं होता है। क्यों नहीं होता है? **सकलरागद्वेषमोह-व्युदासात्**=सकल=समस्त, वे और वे राग-द्वेष-मोह, उनका व्युदास=परित्याग, उस कारण उन्हें बन्ध नहीं होता है। राग, द्वेष, मोहरूप आस्रव-भावों का अभाव हो जाने पर, द्रव्य-प्रत्ययों के बन्ध का हेतुपना नहीं रहने से; कारण का अभाव होने पर, कार्य का भी अभाव हो जाने के कारण।

अर्थात्, जैसे विवाह कर अपने घर में लायी गयी बाल स्त्री, उस समय भोगने के योग्य नहीं होती है; परन्तु यौवन-सम्पन्न हो जाने पर, वही स्त्री भोग्य हो जाती है; अतः स्त्री की उस बाल्यावस्था के समय, उससे विवाहित उस पुरुष को, स्त्री से रहित या ब्रह्मचारी तो नहीं कह सकते हैं; उसी प्रकार पुद्गलरूप निबद्ध मिथ्यात्व आदि द्रव्य-प्रत्ययों की परम्परा विद्यमान होने पर, भेद को जाननेवाले ज्ञानी को आस्रवों से सदा रहित/निरास्रवी कैसे कह सकते हैं? यदि ऐसा किसी का अभिप्राय हो तो उसे समझाते हुए यहाँ बताते हैं—

तुम्हारा ऐसा सोचना उचित नहीं है; क्योंकि इस भेद-विज्ञानी सम्यग्ज्ञानी के पहले राग, द्वेष आदि के द्वारा आत्मसात् किए गए, आगामी कर्म-बन्ध के कारणभूत ये मिथ्यात्व

अथ पुनर्बन्धाभावो विभाव्यते—

अनुष्टुप् : **राग-द्वेष-विमोहानां, ज्ञानिनो यदसम्भवः।**
तत एव न बन्धोऽस्य, ते हि बन्धस्य कारणम्॥ ७॥११९॥

टीका : ***तत*** तस्माद्धेतोः, ***एव*** निश्चयेन; ***अस्य ज्ञानिनः*** मुनेः; ***बन्धः*** कर्मणां बन्धः; ***न;*** कुतः ? ***यत्*** यस्मात्कारणात्; ***ज्ञानिनः*** ज्ञानं आत्मज्ञानं, विद्यते यस्यासौ तस्य; ***असम्भवः*** न सम्भवः; केषां ? ***रागद्वेषविमोहानां*** रागश्च द्वेषश्च विमोहश्च रागद्वेष-विमोहास्तेषां; ननु तेषामभावे कथं बन्धाभावः ? ***हि*** इति यस्मात्; ***ते*** रागद्वेषादयः; ***बन्धस्य***

आदि पुद्गल-कर्मरूप द्रव्य-प्रत्यय विद्यमान हैं; अपने उदय-काल के पूर्व वे अभी समाप्त नहीं हुए हैं; तथापि उनसे उस ज्ञानी को नवीन कर्म-बन्ध नहीं है; अतः उसे सदा निरास्रवी कहा गया है।

सत्ता में विद्यमान द्रव्य-प्रत्यय तो कभी भी किसी को नवीन कर्म-बन्ध के कारण नहीं होते हैं। अपनी स्थिति के अनुसार उदय में आने पर ही, वे उस नवीन कर्म-बन्ध को कारण होते हैं; परन्तु इसके लिए उस जीव में राग, द्वेष, मोहरूप भावास्रवों की विद्यमानता अनिवार्य है।

जैसे, यौवन-दशा-सम्पन्न वह स्त्री भी, वासना होने पर ही पुरुष द्वारा भोग्य होती है; अन्यथा नहीं; उसी प्रकार रागादि विकारों से ही नवीन कर्म-बन्ध होता है। ज्ञानी के भूमिकानुसार वे रागादि भाव नहीं हैं; अतः द्रव्य-प्रत्यय विद्यमान होने पर भी, ज्ञानी निरास्रवी ही है।।११७-११८।।

अब, बन्ध के अभाव का पुनः प्रतिपादन करते हैं—

अनुष्टुप् : **राग द्वेष विमोहादि, हैं असम्भव ज्ञानि के।**
बन्ध हेतु वे ही हैं, अतः बन्ध नहीं उसे।।११९।।

टीकार्थ : ततः=उस कारण से; **एव**=ही, निश्चय से; **अस्य ज्ञानिनः**=इस ज्ञानी-मुनि के; **बन्धः**=कर्मों का बन्ध **न**=नहीं है। उन्हें वह कैसे/क्यों नहीं है? **यत्**=जिस कारण से; **ज्ञानिनः**=ज्ञान=आत्म-ज्ञान है विद्यमान जिसके, वह, उस ज्ञानी के; **असम्भवः**=सम्भव नहीं हैं। किनका होना सम्भव नहीं है? **रागद्वेषविमोहानां**=राग और द्वेष और विमोह - इनका द्वन्द्व समास होकर राग-द्वेष-विमोह हो गया, उनका होना सम्भव नहीं है। उनके

कर्मबन्धस्य; ***कारणं*** हेतु:; हेतुत्वाभावे हेतुमदभावस्य सुप्रसिद्धत्वात् ॥७॥

अथ बन्धविधुरत्वं विधीयते—

वसन्ततिलका : **अध्यास्य शुद्धनयमुद्धतबोधचिह्न-**
मैकाग्र्यमेव कलयन्ति सदैव ये ते।
रागादिमुक्तमनसः सततं भवन्तः,
पश्यन्ति बन्धविधुरं समयस्य सारम् ॥८॥१२०॥

टीका : ***ते*** योगिन:; ***समयस्य*** पदार्थस्य सिद्धान्तस्य वा; ***सारं*** आत्मानं; ***पश्यन्ति*** ईक्षन्ते। किम्भूतं? ***बन्धविधुरं*** बन्धैः प्रकृतिस्थित्यादिकर्मबन्धैर्विधुरं रहितं, बन्धशून्य-

---

अभाव में बन्ध का अभाव कैसे है? **हि**=यह 'जिस कारण' के अर्थ में प्रयुक्त अव्यय है। **ते**=वे राग, द्वेष आदि; **बन्धस्य**=कर्म के बन्ध के; **कारणं**=हेतु हैं; हेतुत्व के अभाव में हेतुमान/कारण के अभाव में, कार्य का अभाव सुप्रसिद्ध होने से।

अर्थात्, आत्म-ज्ञान-सम्पन्न ज्ञानी के राग, द्वेष, मोह आदि विकार (भूमिकानुसार), रंचमात्र भी नहीं हैं; अत: इसे कर्मों का बन्ध नहीं है।

प्रश्न : *रागादि नहीं होने से, ज्ञानी के बन्ध का अभाव कैसे हो गया है?*

उत्तर : *लोक में यह भली-भाँति प्रसिद्ध है कि किसी कार्य के कारण का अभाव होने पर, उस कार्य का अभाव भी नियम से हो जाता है। रागादि विकार नवीन कर्म-बन्ध के कारण हैं। आत्म-ज्ञानी के (भूमिकानुसार) वे नहीं हैं; अत: कर्म-बन्ध भी नहीं है।।११९।।*

अब, बन्ध के विधुरत्व/अभाव का विधान करते हैं—

वसन्ततिलका : **जो बोध चिह्न उद्धत नय शुद्ध को ही,**
ध्याकर सदैव एकाग्र रहें वहाँ ही।
रागादि मुक्त मनयुक्त सदैव होते,
वे बन्ध-विरहित समय का सार वेदें।।१२०।।

टीकार्थ : ते=वे योगी; **समयस्य**=पदार्थ के या सिद्धान्त के; **सारं**=सारभूत आत्मा को; **पश्यन्ति**=देखते हैं। यह आत्मा कैसा है? **बन्धविधुरं**=बन्ध से=प्रकृति, स्थिति आदि कर्म-बन्ध से, विधुर=रहित, बन्ध से शून्य है - ऐसा अर्थ है। वे योगी कैसे हैं? **रागादि-**

मित्यर्थः। किम्भूताः ? ***रागादिमुक्तमनसः*** रागद्वेषमोहैर्मुक्तानि रहितानि, मनांसि चेतांसि येषां ते; ***भवन्तः*** जायमानाः सन्तः; ***सततं*** निरन्तरं; ते के ? ***ये*** पुरुषाः; ***सदा*** नित्यं; ***एव*** निश्चयेन; ***कलयन्ति*** कलनां कुर्वन्ति, धारयन्तीत्यर्थः। किं ? ***ऐकाग्र्यं*** एकाग्रतां आत्मना सह एकता ताम्। किं कृत्वा ? ***अध्यास्य*** आश्रित्य अङ्गीकृत्य ध्यात्वेत्यर्थः। कं ? ***शुद्धनयं*** शुद्धकर्ममलकलङ्करहितं स्वरूपं नयति प्राप्नोति शुद्धनयः आत्मा, तं, अथवा शुद्धद्रव्यार्थिक-नयमाश्रित्य। किम्भूतं ? ***उद्धतबोधचिह्नं*** उद्धतः उत्कटः कर्मविनाशकत्वात् स चासौ बोधः ज्ञानं च स एव चिह्नं लक्षणं यस्य स तम्॥८॥

अथ बन्धत्वमनुबध्नाति—

मुक्तमनसः=राग, द्वेष, मोह से मुक्त=रहित है, मन=चित्त जिनका, वे; **भवन्तः**=उसरूप होते हुए; **सततं**=निरन्तर। इसरूप वे कौन हैं? **ये**=जो पुरुष; **सदा**=नित्य; **एव**=ही, निश्चय से; **कलयन्ति**=कलना करते हैं, धारण करते हैं – ऐसा अर्थ है। क्या/किसे धारण करते हैं? **ऐकाग्र्यं**=एकाग्रता को, आत्मा के साथ एकता, उसे धारण करते हैं। क्या कर वे ऐसा करते हैं? **अध्यास्य**=आश्रय लेकर, अङ्गीकार करके, ध्यान करके वे ऐसा करते हैं – यह अर्थ है। किसका ध्यान कर? **शुद्धनयं**=शुद्ध=कर्मरूपी कलंक से रहित स्वरूप को लाता है, प्राप्त होता है, वह शुद्ध-नय=आत्मा, उसका ध्यान कर, अथवा शुद्ध द्रव्यार्थिक-नय का आश्रय लेकर; वह शुद्ध-नय कैसा है? **उद्धतबोधचिह्नं**=कर्मों का विनाश करनेवाला होने से उद्धत, वह और वह बोध=ज्ञान, वही है चिह्न=लक्षण जिसका, वह, उस शुद्ध-नय का ध्यान कर, ज्ञानी एकाग्र होते हैं।

अर्थात्, जो कर्मों को नष्ट करनेवाले, उद्धत, ज्ञान चिह्नमय, शुद्ध-नय या शुद्ध द्रव्यार्थिक-नय के विषयभूत, कर्मरूपी कलंक से रहित स्वरूपवाले अपने आत्मा का ध्यान कर सदैव एकाग्र होते हैं/शुद्धात्म-स्वरूप में स्थिर रहते हैं; वे रागादि से पूर्णतया रहित मनवाले होते हुए, सदा प्रकृति, स्थिति आदि कर्म-बन्ध से पूर्णतया रहित, पदार्थ या सिद्धान्त के सारभूत आत्मा का अनुभव करते हैं॥१२०॥

अब, बन्धत्व का अनुबन्धन करते हैं/बन्ध क्यों होता है? इसे स्पष्ट करते हैं—

वसन्ततिलका : **जो छूट शुद्धनय से हो बोध विरहित,**
फिर से यहीं हैं पाते रागादि योग।

वसन्ततिलका : **प्रच्युत्य शुद्धनयतः पुनरेव ये तु,**
रागादियोगमुपयान्ति विमुक्तबोधाः।
ते कर्मबन्धमिह बिभ्रति पूर्वबद्ध-
द्रव्यास्रवैः कृतविचित्रविकल्पजालम्॥९॥१२१॥

टीका : ***इह*** जगति; ***ते*** प्राणिनः; ***कर्मबन्धं विभ्रति*** दधते। किं भूताः? ***विमुक्तबोधाः*** विमुक्तो बोधो ज्ञानं यैस्ते बोधाद्विमुक्ताः, इति वा 'कृति समासे क्वचित्पूर्व-निपातः।' किम्भूतं तं? ***कृतविचित्रविकल्पजालं*** विचित्राः शुभाशुभरूपास्ते च ते विकल्पाश्च तेषां जालं समूहः, कृतं निष्पादितं, विचित्रविकल्पजालं येन तम्। कैः? ***पूर्व-बद्धद्रव्यास्रवैः*** अनादिनिबद्धपूर्वमिथ्यात्वादिद्रव्यास्रवैः; ते के? ***ये तु*** इति विशेषः। ये पुरुषाः; ***रागादियोगं*** रागद्वेषादीनां योगं संयोगं; ***उपयान्ति*** प्राप्नुवन्ति। ***पुनरेव*** पूर्वज्ञानाव-स्थानात् पश्चादेव; ***शुद्धनयतः*** शुद्धस्वरूपात्मनः; ***प्रच्युत्य*** च्युत्वा॥ ९॥

वे पूर्वबद्ध द्रव्यास्रव से विनिर्मित,
बहुविध विकल्प से करते कर्मबन्ध।।१२१।।

टीकार्थ : इह=इस जगत में; **ते**=वे प्राणी; **कर्मबन्धं विभ्रति**=कर्मों के बन्ध को धारण करते हैं/कर्मों का बन्ध करते हैं। वे कैसे हैं? **विमुक्तबोधाः**=बोध=ज्ञान, उससे जो रहित हैं, वे, अथवा ज्ञान से विमुक्त - ऐसा अर्थ है; क्योंकि 'समास करने पर कहीं पूर्व निपात हो जाता है' - ऐसा सूत्र है। वह बन्ध कैसा है? **कृतविचित्रविकल्पजालं**=विचित्र=शुभ और अशुभरूप, वे और वे विकल्प, उनका जाल=समूह, कृत=निष्पादित, विचित्र विकल्प जाल, जिससे निष्पादित हैं, उस बन्ध को करते हैं। किनके द्वारा? **पूर्वबद्धद्रव्यास्रवैः**=अनादि से बँधे हुए पहले के मिथ्यात्व आदि द्रव्यास्रवों के द्वारा विचित्र विकल्प जाल निष्पादित हैं। वे कौन हैं? **ये तु**=इस प्रकार के जो विशेष पुरुष; **रागादियोगं**=राग, द्वेष आदि के, योग= संयोग को; **उपयान्ति**=प्राप्त करते हैं। **पुनरेव**=फिर से ही, पहले के अज्ञानमय अवस्थान के बाद भी; **शुद्धनयतः**=शुद्ध-स्वरूप आत्मा से; **प्रच्युत्य**=छूटकर।

अर्थात्, शुद्ध नय के विषयभूत शुद्ध-स्वभावी आत्मा से च्युत होकर जो जीव, राग-द्वेष आदि के संयोग को प्राप्त करते हैं, वे जीव यद्यपि इस जगत में पहले अनादि काल से अज्ञान-दशा में कर्म-बन्ध कर ही रहे थे। अब पुनः, ज्ञान से रहित वे जीव, पहले से बँधे

अथ बन्धाबन्धयोस्तात्पर्यं पंफुल्यते—

अनुष्टुप् : **इद-मेवात्र तात्पर्यं, हेयः शुद्ध-नयो न हि।**
नास्ति बन्धस्तदत्यागात्तत्त्यागाद् बन्ध एव हि ॥१०॥१२२॥

टीका : ***अत्र*** बन्धाबन्धविचारणे; ***इदमेव*** वक्ष्यमाणलक्षणमेव; ***तात्पर्यं*** रहस्यम्। इदं किं? ***हि*** इति यस्मात्; ***शुद्धनयः*** शुद्धात्मा शुद्धद्रव्यार्थिको वा; ***न हेयः*** न त्याज्यो हितार्थिभिः। ***बन्धः*** कर्मबन्धः; ***नास्ति*** न जायते। कुतः ? ***तदत्यागात्*** तस्य शुद्धनयस्य, अत्यागः अत्यजनं, तस्मात्; ***हि*** पुनः; ***बन्ध एव*** कर्मबन्धो भवत्येव। कुतः ? ***तत्त्यागात्*** तस्य शुद्धनयस्य, त्यागः त्यजनं, तस्मात् ॥१०॥

हुए मिथ्यात्व आदि द्रव्यास्रवों के द्वारा उत्पन्न किए गए शुभ और अशुभरूप अनेक प्रकार के विकल्पों के समूहों को रचनेवाले कर्म-बन्ध को धारण करते हैं/उन्हें नवीन कर्म-बन्ध होता है।।१२१।।

अब, बन्ध और अबन्ध के तात्पर्य को प्रकाशित करते हैं—

अनुष्टुप् : **यहाँ निष्कर्ष यह है कि, शुद्धनय छोड़ो नहीं।**
नहीं छोड़ो तो है मुक्ति, छोड़ दो तो बन्ध ही।।१२२।।

टीकार्थ : अत्र=यहाँ बन्ध और अबन्ध की विचारणा में; **इदमेव**=यह कहा जानेवाला लक्षण ही; **तात्पर्यं**=रहस्य/निष्कर्ष है। यह क्या? **हि**=यह 'जिस कारण' के अर्थ में प्रयुक्त अव्यय है। **शुद्धनयः**=शुद्धात्मा या शुद्ध-द्रव्यार्थिकरूप शुद्ध-नय; **न हेयः**=हितार्थियों के द्वारा छोड़ने-योग्य नहीं है। **बन्धः**=कर्म का बन्ध; **नास्ति**=नहीं होता है। वह कैसे/कब नहीं होता है? **तदत्यागात्**=उस शुद्ध-नय के अत्याग से बन्ध नहीं होता है। **हि**=और; **बन्धः एव**=कर्मों का बन्ध होता ही है। कैसे/कब? **तत्त्यागात्**=उस शुद्ध-नय के त्याग से कर्म-बन्ध होता ही है।

अर्थात्, बन्ध और अबन्ध की इस सम्पूर्ण चर्चा का निष्कर्ष यह है कि अपना हित चाहनेवालों को शुद्ध-नय के विषयभूत शुद्धात्मा का त्याग नहीं करना चाहिए; क्योंकि इसका त्याग नहीं करने से, कर्मों का बन्ध नहीं होता है और इसका त्याग करने पर, कर्मों का बन्ध होता ही है।।१२२।।

अब, शुद्ध-नय के अत्याग को मान्यता देते हैं—

अथ शुद्धनयस्यात्यागमामनुते—

शार्दूलविक्रीडित : **धीरोदारमहिम्न्यनादिनिधने बोधे निबध्नन् धृतिं,**
त्याज्यः शुद्धनयो न जातु कृतिभिः सर्वङ्कषः कर्मणाम्।
तत्रस्थाः स्वमरीचि-चक्रमचिरात्संहृत्य निर्यद्बहिः,
पूर्णज्ञान-घनौघ-मेक-मचलं पश्यन्ति शान्तं महः ॥११॥१२३॥

टीका : ***जातु*** कदाचित्; ***न त्याज्यः*** न हेयः, ध्यानतः क्षणान्न मोक्तव्यः। कः? ***शुद्धनयः*** शुद्धपरमात्मा, शुद्धद्रव्यार्थिकनयो वा। कैः? ***कृतिभिः*** संसारदशाचक्रं परिपूर्णं कृतं विद्यते येषां तैः अथवा कृतं सुकृतं विद्यते येषां तैः योगिभिः। किं भूतः सः? ***सर्वङ्कषः*** सर्वं-समस्तं, कषति निहन्तीति सर्वङ्कषः, 'सर्वकूलाभ्रकरीषेषु कषः' इत्यनेन सूत्रेण सिद्धः। केषां? ***कर्मणां*** ज्ञानावरणादिप्रकृतीनाम्। किं कुर्वन्? ***निबध्नन्*** कुर्वन्; कां? ***धृतिं*** संतोषं; क्व? ***बोधे*** ज्ञाने; किंभूते? ***धीरोदारमहिम्नि*** धीरः अक्षोभ्यत्वात्, उदारः उत्कटः

शार्दूलविक्रीडित : **धीरोदार अनाद्यनन्त महिमायुत बोध में धैर्य को,**
धर सर्वंकष कर्म शुद्ध नय को धर्मी कभी न तजो।
अपनी मृगमारीचिचक्र जल्दी क्षय व्यक्त जो बाह्य में,
स्थिर ज्ञान घनौघ पूर्ण अविचल अति शान्त मह वेदते।।१२३।।

टीकार्थ : जातु=कभी भी/रंचमात्र भी; **न त्याज्यः**=हेय नहीं है, ध्यान से क्षण भर भी नहीं छोड़ना चाहिए। कौन/क्या नहीं छोड़ना चाहिए? **शुद्धनयः**=शुद्ध परमात्मा अथवा शुद्ध-द्रव्यार्थिक-नय। किन्हें? **कृतिभिः**=संसार-दशा का चक्र जिनका परिपूर्ण समाप्त हो गया है, उन्हें; अथवा जिनके कृत=सुकृत/धर्म विद्यमान है, उन योगियों को यह नहीं छोड़ना चाहिए। वह शुद्ध-नय कैसा है? **सर्वंकषः**=सर्व=समस्त को, कषता है=नष्ट करता है - वह सर्वंकष है; *'सर्व, कूल, अभ्र, करीष में 'कष' प्रत्यय होता है'* - इस सूत्र से यह सिद्ध है।

वह किन्हें नष्ट करता है? **कर्मणां**=ज्ञानावरणादि प्रकृतियों को वह नष्ट करता है। क्या करता हुआ? **निबध्नन्**=धारण करता हुआ; किसे? **धृतिं**=सन्तोष को धारण करता हुआ शुद्ध-नय, कर्मों को नष्ट करता है। वह उसे कहाँ धारण करता है? **बोधे**=ज्ञान में धारण करता है। कैसे ज्ञान में? **धीरोदारमहिम्नि**=क्षोभ से रहित होने के कारण धीर, कर्मों

कर्मविनाशे बद्धकक्षत्वात्, धीरश्चासावुदारश्च वा द्वंद्वः, महिमा महिमानौ वा यस्य तस्मिन्। पुनः किंभूते? ***अनादिनिधने*** आद्यंतरहिते द्रव्यरूपेण नित्यत्वात्। ***तत्रस्थाः*** तत्र शुद्धनये, तिष्ठन्तीति तत्रस्थाः योगिनः। ***महः*** धाम; ***पश्यंति*** ईक्षंते। किं कृत्य? ***अचिरात्*** शीघ्रं; ***संहृत्य*** हृत्वा, विनाश्येत्यर्थः। किं? ***स्वमरीचिचक्रं*** स्वस्य आत्मनः स्वस्मिन् वा, मरीचिचक्रं मृगतृष्णासमूहम्। किं भूतं महः? ***बहिः*** बाह्यं; ***निर्यत्*** प्रकटीभवत्; ***पूर्णं*** परिपूर्णं निरावरणत्वात्, ***ज्ञानघनौघं*** ज्ञानेन घनो निरंतरः, ओघः समूहः, यत्र तत्। ***एकं*** अद्वितीयं ज्ञानसदृशस्यापरस्याभावात्। पुनः कथंभूतं? ***अचलं*** अक्षोभ्यं, ***शांतं*** क्रोधादेरभावात्॥११॥

को नष्ट करने में कमर कसकर/पूर्ण पुरुषार्थ पूर्वक प्रयास करता होने से उदार=उत्कट, धीर और वह उदार, धीरोदार - इस प्रकार सन्धि के साथ-साथ द्वन्द्व समास भी हुआ है, इनमें महिमा है जिसकी, उस ज्ञान में उसे धारण किया है। वह ज्ञान और कैसा है? **अनादि-निधने**=द्रव्यरूप से नित्य होने के कारण, वह आदि और अन्त से रहित है। **तत्रस्थाः**=उस शुद्ध-नय में जो स्थित हैं, वे तत्रस्थ योगी; **महः**=धाम/तेज; **पश्यन्ति**=देखते हैं।

क्या करके? **अचिरात्**=शीघ्र; **संहृत्य**=हनकर, विनाशकर - ऐसा अर्थ है। किसका? **स्वमरीचिचक्रं**=अपने आत्मा के या अपने में विद्यमान मरीचिचक्रं=मृग-तृष्णा के समूह का विनाशकर; उस तेज को देखते हैं। वह तेज कैसा है? **बहिः**=बाह्य में; **निर्यत्**=प्रगट होता हुआ; **पूर्णं**=निरावरण होने के कारण, परिपूर्ण है। वह और कैसा है? **ज्ञानघनौघं**=ज्ञान से, घन=निरन्तर, ओघ=समूह जिसमें है, उसे; वह और कैसा है? **एकं**=ज्ञान के समान अन्य दूसरे का अभाव होने से, एक अद्वितीय है। वह और कैसा है? **अचलं**=क्षोभ से रहित, अचल है। वह और कैसा है? **शान्तं**=क्रोधादि का अभाव होने से शान्त है।

अर्थात्, द्रव्य की अपेक्षा नित्यता के कारण, आदि-अन्त से रहित होने के कारण, अनादिनिधन/शाश्वत; क्षोभ-रहित होने के कारण, धीर; कर्मों को नष्ट करने में पूर्ण समर्थ होने के कारण, उदार महिमावाले ज्ञान में सन्तोष को धारण करता हुआ/सन्तुष्ट रहता हुआ, कर्मों को समूल नष्ट करनेवाला सर्वंकष, शुद्ध-द्रव्यार्थिक-नय का विषयभूत शुद्धात्मा; संसार-चक्र को समाप्त करनेवाले, धर्मात्मा कृतियों को कभी भी नहीं छोड़ना चाहिए/सदा अपने शुद्धात्मा में ही स्थिर रहना चाहिए।

अथ रागादीनामभावे किं स्यादित्यध्येति—

मन्दाक्रान्ता : **रागादीनां झगिति विगमात् सर्वतोऽप्यास्त्रवाणां,**
नित्योद्योतं किमपि परमं वस्तु संपश्यतोऽन्तः।
स्फारस्फारैः स्व-रस-विसरैः प्लावयत्सर्वभावा-
नालोकान्तादचलमतुलं ज्ञानमुन्मग्नमेतत्॥१२॥१२४॥

टीका : ***एतत्; ज्ञानं*** बोधः; ***उन्मग्नं*** प्रकटितं; ***किमपि*** अतिशायि, अनिर्वाच्यं; ***वस्तु*** वसति गुणपर्यायानिति वस्तु। कस्य? ***अन्तः*** मध्ये; ***संपश्यतः*** अवलोकयतो मुनेः। किं भूतं? ***नित्योद्योतं*** नित्यं प्रकाशमानं, यद्यपि लब्ध्यपर्याप्तकस्य निगोदस्य महानु-भागज्ञानावरणावृतस्य नित्योद्योतत्वं न, तथापि पर्यायाख्यस्य लब्ध्यक्षरापरनामधेयस्या -

---

उस शुद्ध-नय के विषयभूत शुद्धात्मा में स्थित योगी; शीघ्र ही अपने मृग-तृष्णा के समूह का विनाशकर, बाह्य में व्यक्त हुए, आवरणों से पूर्णतया रहित होने के कारण, परिपूर्ण ज्ञान-घन के समूहमय; उसके समान कोई दूसरा नहीं होने से, एक=अद्वितीय; क्षोभ से रहित अचल; क्रोधादि का अभाव हो जाने से, शान्त ज्ञान-तेज को देखते हैं/उसका अनुभव करते हैं।।१२३।।

अब, रागादि के अभाव में क्या होता है, उसका अध्ययन करते हैं—

मन्दाक्रान्ता : **रागादि सब आस्रवों से सर्वतः शीघ्र विरहित,**
हो जो अन्दर नित्य उदयी परम आश्चर्ययुत निज।
वस्तु देखें उन्हें प्रगटे सातिशय आत्म रस से,
अविचल अनुपम सर्व ज्ञाता ज्ञान अद्भुत सभी से।।१२४।।

टीकार्थ : एतत् ज्ञानं=यह ज्ञान=बोध; **उन्मग्नं**=प्रगट होता है। **किमपि**=कुछ विशेष अधिकता-सम्पन्न अनिर्वाच्य/सातिशय अनिर्वचनीय; **वस्तु**=गुण और पर्यायें जिसमें रहती हैं, वह वस्तु, उसे; किसके? **अन्तः**=मध्य में, **सम्पश्यतः**=भली-भाँति देखते हुए, उसका अवलोकन करते हुए मुनि के। वह और कैसा है? **नित्योद्योतं**=नित्य प्रकाशमान है। यद्यपि अधिक अनुभागवाले ज्ञानावरण-कर्म से आवृत/ढ़के हुए लब्ध्यपर्याप्तक निगोद जीव के नित्य प्रकाशपना नहीं है; तथापि अक्षर के अनन्तवें भागमय शक्तिवाले, लब्ध्यक्षर है दूसरा नाम जिसका, उस पर्याय नामक ज्ञान के निरावरणपना है; इस प्रकार आत्मा के नित्य

क्षरानन्तभागशक्तेः निरावरणत्वं नित्योद्योतत्वं आत्मनोऽस्त्येव। पुनः ***परमं*** परा उत्कृष्टा इन्द्राद्यतिशायिनी मा ज्ञानादिलक्ष्मीर्यस्य तत्। कुतोऽन्तरवलोकनं? ***झगिति*** शीघ्रं; कुतः? ***सर्वतोऽपि*** सर्वरूपेणापि; ***रागादीनां आस्रवाणां*** रागद्वेषमोहलक्षणभावास्रवाणां प्रत्ययानां; ***विगमात्*** अभावात्। किं भूतं ज्ञानं? ***आलोकान्तात्*** श्रेणिघनमात्रत्रिलोकमभिव्याप्य; ***सर्वभावान्*** समस्तपदार्थान्; ***प्लावयत्*** सिञ्चयत् परिच्छिन्ददित्यर्थः। कैः? ***स्वरसविसरैः*** स्वस्य आत्मनः, रसः, तस्य विसराः सन्दोहाः, तैः। किम्भूतैः? ***स्फारस्फारैः*** स्फारात् आकाशात्, स्फारैः विस्तीर्णैः ज्ञानशक्त्यर्णवे व्योमादीनां विन्दुवदल्पत्वात्। पुनः ***अचलं***

उद्योतपना ही है। वह और कैसा है? **परमं**=परा=उत्कृष्ट=इन्द्र आदि से भी अधिक, मा=ज्ञानादि लक्ष्मी है जिसकी, वह। वह कैसे प्रगट होता है? **झगिति**=शीघ्र ही; कैसे/कहाँ से? **सर्वतः अपि**=सभी ओर से ही प्रगट होता है। **रागादीनां आस्रवाणां**=राग, द्वेष, मोह लक्षणमय भावास्रवरूप प्रत्ययों के; **विगमात्**=अभाव से।

वह ज्ञान कैसा है? **आलोकान्तात्**=श्रेणी के घनमात्र/तीन सौ तेतालीस घन राजू प्रमाण तीन लोक को व्याप्त कर; **सर्वभावान्**=सभी पदार्थों को; **प्लावयत्**=सींचता हुआ=जानता हुआ – ऐसा अर्थ है। उन्हें किससे जानता है? **स्वरसविसरैः**=अपने आत्मा का रस, उसका विसर=सन्दोह=समूह, उससे जानता है। और किससे जानता है? **स्फारस्फारैः**=स्फार=आकाश से, स्फार=विस्तीर्ण, ज्ञान की सामर्थ्यरूपी समुद्र में, आकाशादि का बिन्दु के समान अल्प होने के कारण, उस विस्तृत ज्ञान से जानता है। वह और कैसा है? **अचलं**=क्षोभ से रहित, अचल है। वह और कैसा है? **अतुलं**=नहीं है तुला=मान=माप जिसका, वह, अथवा तुला का उल्लंघन करनेवाला, अनुपम है; तराजू के एक पलड़े पर यदि धर्म, अधर्म, आकाश, काल, अनुभाग, योग, कषाय, अध्यवसाय आदि की शक्ति रखी जाए और दूसरे पलड़े पर ज्ञान की शक्ति रखी जाए; तथापि ये सभी, ज्ञान की शक्ति के अनन्त भागों में से एक भाग मात्र हैं।

अर्थात्, सभी ओर से शीघ्र ही राग, द्वेष, मोहमय भावास्रवरूप प्रत्ययों के पूर्णतया नष्ट हो जाने से, सदा प्रकाशमान, अन्तरङ्ग में किसी विशेष वचन-अगोचर, इन्द्रादि से भी उत्कृष्ट, ज्ञानादि लक्ष्मी-सम्पन्न अति श्रेष्ठ परम, गुण-पर्यायों को धारण करनेवाली वस्तु

अक्षोभ्यं; ***अतुलं*** न विद्यते तुला मानं यस्य तत्, तुलामतिक्रान्तमिति वा। एकस्मिन् पार्श्वे धर्माधर्माकाश-कालानुभागयोगकषायाध्यवसायादीनां शक्तिस्तथापि ज्ञानशक्तेर-नन्तैकभागः ॥१२ ॥

इतिश्री समयसारपद्यस्य परमाध्यात्म-तरङ्गिणी-नामधेयस्य व्याख्यायामास्रवनिरूपकचतुर्थोऽङ्कः।

का भली-भाँति अनुभव करनेवाले ज्ञानियों को यह ज्ञान प्रगट हुआ है। यह आकाशादि से भी अधिक सुविस्तृत, अपने आत्मा के रस-समूह से लोकालोकवर्ती सभी पदार्थों को जाननेवाला, अलोक पर्यन्त सभी को स्वयं में निमग्न करता हुआ, क्षोभ से रहित, अचल; अतुल/सर्वाधिक विस्तृत केवलज्ञान है।

अपने स्वरूप में परिपूर्ण स्थिरता से इस ज्ञान के सभी अविभागी प्रतिच्छेद व्यक्त हो गए हैं, उनकी अनन्तता के सामने सभी ज्ञेय एक भाग प्रमाण प्रतीत होते हैं; आकाशादि सभी एक बिन्दुमात्र अल्प लगते हैं।

अधिक अनुभागवाले ज्ञानावरणादि कर्म से आवृत लब्ध्यपर्याप्तक निगोद जीव के यद्यपि ज्ञान का विकास सबसे कम है; तथापि अक्षर के अनन्तवें भागमय, लब्ध्यक्षररूप पर्याय नामक वह ज्ञान, आवरण से सदा-रहित होने के कारण, उसमें भी आत्मा के नित्य उद्योतपना घटित हो जाता है।

यह विस्मय-कारी, अद्वितीय केवलज्ञान, एकमात्र अपने स्वरूप में परिपूर्ण स्थिरता का फल है।।१२४।।

इस प्रकार श्री समयसार पद्य की परम-अध्यात्म-तरङ्गिणी नामक व्याख्या में आस्रव का निरूपण करनेवाला चौथा अंक समाप्त हुआ।।४।।

संवराधिकारः

अथ पञ्चमोऽङ्कः प्रारभ्यते।

टीकाकारस्य मंगलाचरणं :

आर्या : **स जयतु जनघनसिन्धुः ज्ञानामृतचन्द्र एव सम्पुष्यत्।**
शुभचन्द्रचन्द्रिकाप्तः सुकुन्दकुन्दोज्ज्वलः श्रीमान्॥

अथ संवरं सूचयति—

शार्दूलविक्रीडित : **आसंसारविरोधिसंवरजयैकान्तावलिप्तास्रव-**
न्यक्कारात्प्रतिलब्धनित्यविजयं सम्पादयत्संवरम्।
व्यावृत्तं पररूपतो नियमितं सम्यक्स्वरूपे स्फुरत्,
ज्योतिश्चिन्मयमुज्ज्वलं निजरसप्राग्भारमुज्जृम्भते॥१॥१२५॥

टीका : *उज्जृभन्ते* विलसते प्रकाशत इत्यर्थः। किं? ***चिन्मयं*** ज्ञानमयं; ***ज्योतिः*** तेजः। किम्भूतं? ***संवरं*** कर्मणामागन्तुकानां निरोधं; ***सम्पादयत्*** कुर्वत्। किम्भूतं संवरं?

अब, पाँचवाँ अंक प्रारम्भ होता है।

टीकाकारकृत मङ्गलाचरणपरक पद्य का अर्थ : जिनका ज्ञानरूपी अमृतचन्द्र, शुभचन्द्ररूपी चन्द्रिका को प्राप्त हो, जन-समूहरूपी सागर को भली-भाँति पुष्ट करता है, वे उत्तम कुन्द-पुष्प के समान उज्ज्वल, श्रीमान कुन्दकुन्दाचार्य जयवन्त वर्तें।

अब, संवर को सूचित करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **आसंसार विरोधि संवरजयी गर्वित हुए आस्रवों,**
को कर नष्ट सतत विजयमय नियम से प्राप्त संवरण को।
प्रगटा पर से भिन्न सम्यक् विमल स्व रूप में दीप्तिमय,
निज रस से परिपूर्ण नित्य विकसित है तेज जो ज्ञानमय।।१२५।।

टीकार्थ : उज्जृम्भते=विलसित होता है, प्रकाशित होता है - ऐसा अर्थ है। क्या? **चिन्मयं**=ज्ञानमय; **ज्योतिः**=तेज प्रकाशित होता है। वह ज्योति और कैसी है? **संवरं**=

प्रतिलब्धनित्यविजयं प्रतिलब्धः सम्प्राप्तः, नित्यं निरन्तरं, विजयो येन तम्। कुतः ? ***आसंसारविरोधिसंवरजयैकान्तावलिप्तास्रवन्यक्कारात्*** संसरणं संसारः, द्रव्यक्षेत्र-कालभवभावरूपः, संसारमभिव्याप्य आसंसारं कर्म, विरोधयति विनाशयति इत्येवं शीलः आसंसारविरोधी स चासौ संवरश्च कर्मनिरोधस्तस्य जयः, एकः अद्वितीयः, अन्तः स्वभावः, तेनावलिप्तः संयुक्तः स चासौ आस्रवश्च तस्य न्यक्कारः तिरस्कारः धिक्कार इत्यर्थः, तस्मात्। पुनः किम्भूतं संवरं ? ***पररूपतः*** परः द्रव्यादिः, रागादिर्वा, तस्य रूपं स्वरूपं तत्; ***व्यावृत्तं*** निवृत्तं; तथा चोक्तमाप्तपरीक्षायां—

तेषामागमिनां नूनं विपक्षः संवरो मतः ॥ १११ ॥ इति

पुनः ***नियमितं*** कर्मनिरोधे नियमो जातो यस्य तम्। किम्भूतं ज्योतिः ? ***सम्यक्स्वरूपे*** यथोक्तस्वरूपे आत्मस्वरूपे इत्यर्थः। ***स्फुरत्*** देदीप्यमानं पूर्वोक्तौ व्यावृत्तमित्यादिविशेषणौ

संवर=आनेवाले कर्मों के निरोध को; **सम्पादयत्**=सम्पादित करती हुई। वह संवर कैसा है? **प्रतिलब्धनित्यविजयं**=प्रतिलब्ध=संप्राप्त/प्राप्त हुई है, नित्य=निरन्तर, विजय जिससे, उस संवर को। कैसे विजय प्राप्त हुई है? **आसंसारविरोधिसंवरजयैकान्तावलिप्तास्रव-न्यक्कारात्**=संसरण करना, संसार है; द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप परिवर्तन, संसार है; इस संसार को व्याप्त कर=आसंसार/अनादि कालीन संसारमय कर्म का विरोध करता है=विनाश करता है - ऐसा है स्वभाव जिसका=आसंसार-विरोधी, वह और वह कर्म के निरोधमय संवर, उसका जय ही है एक=अद्वितीय अन्तरङ्ग/मूल-स्वभाव, उससे अवलिप्त= संयुक्त/गर्वित, वह और वह आस्रव, उसका न्यक्कार=तिरस्कार=धिक्कार - ऐसा अर्थ है, उससे विजय प्राप्त हुई है। वह संवर और कैसा है? **पररूपतः**=पर-द्रव्यादि या रागादिमय पर, उसका रूप=स्वरूप, वह, उससे; **व्यावृत्तं**=निवृत्त है। आप्तपरीक्षा में ऐसा ही कहा गया है - 'वास्तव में उन आनेवाले कर्मों का विरोधी संवर माना गया है।'

वह और कैसा है? **नियमितं**=कर्मों का निरोध करने में नियम उत्पन्न हुआ है, जिसका/नियम से कर्मों का निरोध करता है वह। ज्योति कैसी है? **सम्यक्स्वरूपे**=जैसा कहा है उस स्वरूप में, आत्म-स्वरूप में - ऐसा अर्थ है। **स्फुरत्**=देदीप्यमान है अथवा पहले कहे गए व्यावृत्त इत्यादि दो विशेषण/पर-रूप से व्यावृत्त और नियमित - ये दो

द्वौ ज्योतिषो वा। पुनः ***उज्ज्वलं*** सदावदातं; पुनः कीदृशं? ***निजरसप्राग्भारं*** स्वात्मानुभवरसेन प्राक्-पूर्वं भारः भरणं यस्य तत्॥ १॥

अथ ज्ञानरागयोः स्वरूपं वेभिद्यते—

शार्दूलविक्रीडित : **चैद्रूप्यं जडरूपतां च दधतो कृत्वा विभागं द्वयो-**
रन्तर्दारुण-दारणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च।
भेदज्ञान-मुदेति निर्मलमिदं मोदध्व-मध्यासिताः,
शुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना सन्तो द्वितीयच्युताः ॥२॥१२६॥

टीका : *उदेति* उदयं गच्छति चकास्तीत्यर्थः। किं? ***भेदज्ञानं*** क्रकचवद् द्विधाकारकं ज्ञानम्। कस्य? ***ज्ञानस्य रागस्य च*** ज्ञानरागयोः परस्परमत्यन्तवि-

---

विशेषण, ज्योति के भी समझना चाहिए। वह और कैसी है? **उज्ज्वलं**=सदावदात/सदा अत्यन्त स्वच्छ है। वह और कैसी है? **निजरसप्राग्भारं**=अपने आत्मा के अनुभवरूपी रस से पहले से भरण=भार/भरपूर है स्वरूप जिसका, ऐसी वह ज्योति।

अर्थात्, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पञ्च परिवर्तनमय अनादि संसार के विरोधी, कर्मों के आगमन को रोकनेवाले संवर को जीतने से/अनादि काल से संवर व्यक्त नहीं होने के कारण, एक अद्वितीय अहंकार से लिप्त आस्रव के तिरस्कार से, सतत विजय को प्राप्त, पर-द्रव्यादि या रागादि भावों से पूर्णतया निवृत्त, नियम से कर्मों का निरोध करनेवाले, संवर का सम्पादन करता हुआ, अपने आत्म-स्वरूप में देदीप्यमान, पर-द्रव्यादि या रागादि भावों से पूर्णतया निवृत्त, नियम से कर्मों का निरोध करनेवाला, सदा अत्यन्त स्वच्छ, अपने आत्मा के अनुभवरूपी रस से सदैव परिपूर्ण, ज्ञानमय तेज प्रकाशित होता है।।१२५।।

अब, ज्ञान और राग के स्वरूप का विशिष्ट भेद बताते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **चिन्मयता नित ज्ञान राग जड़मय यों भेद सब ओर से,**
दोनों में अति तीक्ष्ण दारक सदा अन्दर में भेदज्ञान से।
कर प्रगटा अति शुद्ध एक निर्मल यह ज्ञान घनपिण्ड अब,
इसमें रह नित राग हीन सन्तो भोगो चिदानन्द सब।।१२६।।

टीकार्थ : उदेति=उदित होता है, प्रकाशित होता है - ऐसा अर्थ है। क्या? **भेदज्ञानं**=करवत के समान दो भेद करनेवाला ज्ञान प्रकाशित होता है। किसके भेद करता

लक्षणत्वाद्भिन्नत्वम्। किम्भूतं ? ***निर्मलं*** मिथ्यात्वादिकर्मकालुष्यराहित्यात्। किम्भूतस्य ? ***चैद्रूप्यं*** चिदेव ज्ञानमेव रूपं यस्य स तस्य भावश्चैद्रूप्यं चेतनत्वमित्यर्थः। ***दधतः*** धारयतः; ***च*** पुनः, रागस्य। किम्भूतस्य ? ***जडरूपतां*** अचेतनतां दधतः। किं कृत्वा ? ***द्वयोः परितो विभागं कृत्वा*** जीवक्रोधयोः, अविभागं अभेदं, अकृत्वा अविधाय; भेदं कृत्वेत्यर्थः। केन ? ***अन्तर्दारुण-दारणेन*** दारयति कर्मशत्रूनिति दारुणं ज्ञानं, अन्तः अभ्यन्तरे, दारण-द्विधाकारकं, तच्च तद्दारणं च, तेन करणभूतेन। ***सन्तः***! अहो सत्पुरुषाः! ***मोदध्वं*** यूयं प्रमोदं कुरुध्वं। ***अधुना*** इदानीं भेदज्ञानोदये सति; किम्भूताः सन्तः ? ***इदं एकं*** अद्वितीयं; ***भेदज्ञानं; अध्यासिताः*** आरूढाः प्राप्ताः सन्तः इत्यर्थः। पुनः किम्भूताः ? ***द्वितीयच्युताः*** ज्ञानरागयोर्मध्ये द्वितीयेन रागेण च्युता रहिताः; किम्भूतमिदं ? ***शुद्धज्ञानघनौघं*** शुद्धं निर्मलं तच्च तज्ज्ञानं बोधश्च, तस्य घनं निरन्तरं अस्य, ओघः समूहः, यत्र तत्॥२॥

है? **ज्ञानस्य रागस्य च**=परस्पर अत्यन्त पृथक्ता होने से, ज्ञान और राग की भिन्नता करता है। वह कैसा है? **निर्मलं**=मिथ्यात्व आदि कर्मों की कलुषता से रहित होने के कारण, निर्मल है। वह कैसे ज्ञान का भेद करता है? **चैद्रूप्यं**=चित्=ज्ञान ही है रूप जिसका वह, उसका भाव चैद्रूप्य, चेतनता को – ऐसा अर्थ है। **दधतः**=धारण करनेवाले ज्ञान का भेद करता है। **च**=और; कैसे राग का भेद करता है? **जडरूपतां**=अचेतनता को धारण करनेवाले राग का भेद करता है। क्या करके भेद करता है? **द्वयोः परितः विभागं कृत्वा**=जीव और क्रोध में अविभाग=अभेद को नहीं कर, सब ओर से भेद करके, भेद-विज्ञान करता है – ऐसा अर्थ है। ऐसा किससे करता है? **अन्तर्दारुण-दारुणेन**=कर्मरूपी शत्रुओं का विदारण करता है – ऐसा दारुण, अन्तः=अन्तरङ्ग में ज्ञान, दारुण=दो भेद करनेवाला है, वह और वह दारुण, उस करण/साधनभूत ज्ञान से भेद करता है। **सन्तः**=हे सत्पुरुषो! **मोदध्वं**=तुम सब प्रमोद करो/आनन्दित हो जाओ। **अधुना**=आज/अब भेद-ज्ञान का उदय हो जाने पर; वे सन्त कैसे हैं? **इदं एकं**=इस एक=अद्वितीय; **भेदज्ञानं**=भेद-ज्ञान का; **अध्यासिताः**=आश्रय लेते हैं, उस पर आरूढ़ हैं, वे सन्त भेद-ज्ञान को प्राप्त हैं – ऐसा अर्थ है। वे और कैसे हैं? **द्वितीयच्युताः**=ज्ञान और राग में से दूसरे से=राग से, च्युत=रहित हैं। यह भेद-ज्ञान कैसा है? **शुद्धज्ञानघनौघं**=शुद्ध=निर्मल, वह और वह ज्ञान=बोध, उसका घन=निरन्तर/ठोस, इसका ओघ=समूह जहाँ है – ऐसा भेद-ज्ञान है।

अथ शुद्धात्मोपलम्भात् संवरं विवृणोति—

मालिनी : **यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन,**
ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते।
तदयमुदयदात्माराममात्मानमात्मा,
परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति ॥३ ॥१२७ ॥

टीका : ***यदि*** यदा; ***अयं*** प्रसिद्धः; ***आत्मा*** चिद्रूपः; ***आस्ते*** अवतिष्ठते। किम्भूतः ? ***ध्रुवं*** निश्चितम्। ***कथमपि*** महता कष्टेन; ***शुद्धं*** द्रव्यभावनोकर्मकलङ्कविकलं; ***आत्मानं*** स्वस्वरूपं; ***उपलभमानः*** आसादयन्, स्वध्यानविषयीकुर्वाणः इत्यर्थः। केन ?

अर्थात्, चैतन्य-स्वरूप को और जड़-स्वरूप को धारण करनेवाले क्रमशः ज्ञान और राग - इन दोनों में अभेद नहीं कर, इन्हें परस्पर अत्यन्त पृथक् कर, अन्तरङ्ग में विद्यमान कर्मरूपी शत्रुओं का पूर्णतया विदारण करनेवाले अत्यन्त तीक्ष्ण साधनभूत ज्ञान के द्वारा, सब ओर से मिथ्यात्व आदि कर्मों की कलुषता से पूर्णतया रहित होने के कारण, निर्मल; करवत के समान दो भेद करनेवाला भेद-ज्ञान प्रगट हो गया है। इसके प्रगट हो जाने से, इस एक शुद्ध/निर्मल ज्ञान के घन-पिण्ड भेद-ज्ञान का आश्रय ले, इसमें ही स्थित रहनेवाले, राग से रहित सन्तजन, अब प्रसन्न हो जाओ/स्वरूप में परिपूर्ण स्थिर रह अव्याबाध सुख का वेदन करो।।१२६।।

अब, शुद्धात्मा की उपलब्धि से संवर प्राप्त/प्रगट होने का वर्णन करते हैं—

मालिनी : **यदि धारावाही ज्ञान द्वारा सुनिश्चित,**
कैसे भी शुद्ध आत्मा प्राप्त कर लो।
तब यह नित व्यक्त आत्माराम शुद्ध,
पर परिणति रुकने से मिले आत्मा को।।१२७।।

टीकार्थ : यदि=जब; **अयं**=यह प्रसिद्ध; **आत्मा**=चिद्रूप आत्मा; **आस्ते**=विद्यमान है। यह कैसा है? **ध्रुवं**=निश्चित। **कथमपि**=किसी भी प्रकार, महान कष्ट द्वारा भी; **शुद्धं**= द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मरूपी कलंक से रहित; **आत्मानं**=अपने स्वरूप को; **उपलभमानः**= प्राप्त करता हुआ, अपने ध्यान का विषय बनाता हुआ - ऐसा अर्थ है। किसके द्वारा? **बोधनेन**=जिससे बोध=ज्ञान होता है, वह बोधन=ज्ञान, उसके द्वारा; कैसे ज्ञान द्वारा?

बोधनेन बोध्यते ज्ञायते अनेनेति बोधनं ज्ञानं तेन; किम्भूतेन ? ***धारावाहिना*** अनवच्छिन्न-रूपत्वेन स्वर्धुनीधारेव वहतीत्येवंशीलस्तेन। ***तत्*** तर्हि, तदा; ***आत्मानं*** चिद्रूपं; ***शुद्धमेव*** निष्कलंकमेव; ***अभ्युपैति*** प्राप्नोति। कुतः ? ***परपरिणतिरोधात्*** परेषु अचेतनादिपदार्थेषु, परिणतिः ममत्वादिलक्षणपरिणामः, तस्य विरोधः, तस्मात्। किम्भूतं तं ? ***उदयदात्मारामं*** आत्मनः आरामं रमणीयं ज्ञानस्वरूपवनं वा, उदयत् उदयं गच्छत् आत्मारामं यत्रासौ तं; इत्येवं संवरप्रकारः ॥३ ॥

अथ कर्ममोक्षं कक्षीकरोति—

धारावाहिना=स्वर्ग की गंगा की धारा के समान अनवच्छिन्न/अविरलरूप से बहता है, ऐसा है स्वभाव जिसका, उस ज्ञान के द्वारा उसका ध्यान करता है।

तत्=तो/तब; **आत्मानं**=चिद्रूप आत्मा को; **शुद्धमेव**=निष्कलंक ही; **अभ्युपैति**= प्राप्त करता है। इसे कैसे प्राप्त करता है? **परपरिणतिरोधात्**=अचेतन आदि पर-पदार्थों में, परिणति=ममत्व आदि लक्षणमय परिणाम, उसका विरोध/अभाव, उससे प्राप्त करता है। वह आत्मा कैसा है? **उदयत् आत्मारामं**=आत्मा का आराम=रमणीय या ज्ञान-स्वरूप वन, उदय को प्राप्त होता हुआ, ऐसा आत्माराम जहाँ है, वह उसे प्राप्त करता है - इस प्रकार यह संवर का प्रकार है/संवर-प्रगट करने की पद्धति है।

अर्थात्, जब यह प्रसिद्ध चिद्रूप आत्मा, किसी भी प्रकार से/अनन्त पुरुषार्थ पूर्वक अनेकों कष्ट सहकर भी, अविरल धारावाही ज्ञान के द्वारा ध्रुव/शाश्वत; द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से पूर्णतया रहित; शुद्ध-स्वरूपी अपने आत्मा का ध्यान करता है/इसमें ही स्थिर रहता है, तब अचेतन आदि पर-पदार्थों में ममत्व आदिमय विकृत-भावों का अभाव हो जाने से, प्रगट हुए अति रमणीय, ज्ञान-स्वभावी आनन्द-दायी वनमय, शुद्ध चिद्रूप आत्मा को पूर्णतया निष्कलंक ही प्राप्त करता है।

यह संवर होने की विधि है। अपने इस शाश्वत चिद्रूप में स्थिरता से, कर्मों का आना रुक जाता है।।१२७।।

अब, कर्मों के मोक्ष का वर्णन करते हैं—

मालिनी : **अपनी महिमारत भेदविज्ञान शक्ति,**
द्वारा वे पाते शुद्ध आत्मा नियम से।

मालिनी : **निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या,**
भवति नियतमेषां शुद्धतत्त्वोपलम्भः।
अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरे स्थितानां,
भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः॥४॥१२८॥

टीका : ***नियतं*** निश्चितं; ***शुद्धतत्त्वोपलम्भः*** शुद्धतत्त्वं परमात्मतत्त्वं, तस्योपलम्भः प्राप्तिः; ***भवति*** जायते। केषां? ***एषां निजमहिमरतानां*** निजः स्वात्मा, तस्य महिमा माहात्म्यं दर्शनज्ञानादिलक्षणं, तत्र रक्तानां आसक्तानाम्। ***अचलितं*** अचलं निश्चलं यथा भवति तथा; ***स्थितानां*** प्रविष्टानां; क्व? ***अखिलान्यद्रव्यदूरे*** अखिलानि समस्तानि, तानि च तानि अन्यद्रव्याणि च आत्मव्यतिरिक्तधर्मादिपञ्चद्रव्याणि, तेभ्यः दूरात् दविष्ठे। कया? ***भेदविज्ञानशक्त्या*** भेदकारकविज्ञानस्य शक्तिः सामर्थ्यं तया। ***च*** इति भिन्नप्रक्रमे; ***सति*** विद्यमाने; ***तस्मिन्*** शुद्धतत्त्वोपलम्भे; ***अक्षयः*** क्षयातीतः, अनन्तकालस्थायीत्यर्थः। ***कर्ममोक्षः*** कर्मणां प्रकृतिस्थित्यादिरूपतया विश्लेषणं मोक्षः; ***भवति*** जायते॥ ४॥

सब पर से भिन्न अचल स्थिर वहाँ ही,
रहने से अक्षय कर्ममोक्ष नियम से।।१२८।।

टीकार्थ : नियतं=निश्चित; **शुद्धतत्त्वोपलम्भः**=शुद्ध-तत्त्व=परमात्म-तत्त्व, उसकी उपलम्भ=प्राप्ति; **भवति**=होती है। किन्हें होती है? **एषां निजमहिमरतानां**=निज=स्वयं आत्मा, उसकी महिमा=दर्शन-ज्ञान आदि लक्षणमय माहात्म्य, उसमें रक्त=आसक्त को उसकी प्राप्ति होती है। **अचलितं**=अचल, निश्चल जैसे होता है, उस प्रकार। **स्थितानां**=प्रविष्ट/स्थिर को; कहाँ स्थिर को? **अखिलान्यद्रव्यदूरे**=अखिल=समस्त, वे और वे अन्य द्रव्य, आत्मा से पृथक् धर्मादि पाँच द्रव्य, उनसे दूर/उनसे पूर्णतया पृथक् हो, अपने स्वरूप में स्थित को उसकी प्राप्ति होती है। यह सब कैसे होता है? **भेदविज्ञानशक्त्या**=भेद करनेवाले विशिष्ट ज्ञान की शक्ति, सामर्थ्य, उसके द्वारा यह सब होता है। **च**=और - यह भिन्न अर्थ का वाचक अव्यय है। **सति**=विद्यमान होने पर; **तस्मिन्**=उस शुद्ध आत्म-तत्त्व के प्राप्त होने पर; **अक्षयः**=क्षय से रहित, अनन्त काल तक स्थायी - ऐसा अर्थ है। **कर्ममोक्षः**=कर्मों का प्रकृति, स्थिति आदिरूप से विश्लेषण/पूर्णतया पृथक् हो जानेरूप मोक्ष; **भवति**=होता है।

अर्थात्, भेद करनेवाले विशिष्ट ज्ञान की सामर्थ्य द्वारा, स्वयं/आत्मा की दर्शन-ज्ञान

अथ संवरं विवृणोति—

उपजाति : **सम्पद्यते संवर एष साक्षाच्छुद्धात्म-तत्त्वस्य किलोपलम्भात्।**
स भेद-विज्ञानत एव तस्मात्तद्भेदविज्ञान-मतीव भाव्यम्॥५॥१२९॥

टीका : ***तस्मात्*** आत्मकर्मणोर्भेदविज्ञानात्, आस्रवभावहेतूनामध्यवसानानां मिथ्यात्वादीनामभावः, तदभावे च रागद्वेषमोहरूपास्रवभावस्याभावः, तदभावे च कर्माभावः, तदभावे च नोकर्माभावः, तदभावे च संसाराभावः इति कारणात्। ***तत्*** प्रसिद्धं; ***भेदविज्ञानं*** आत्मकर्मणोर्भेदविज्ञानं; ***अतीवभाव्यं*** अत्यन्तं भावनीयम्। तत् कुतः? यतः ***स*** आत्मोपलम्भः; ***भेदविज्ञानत एव*** नान्यतः; ***किल*** इत्यागमे श्रूयते। ***शुद्धात्मतत्त्वस्य***

आदि लक्षणमय महिमा में आसक्त, अपने स्वरूप में स्थित उन जीवों को नियम से शुद्ध परमात्म-तत्त्व की प्राप्ति होती ही है और स्वयं से सर्वथा पृथक् धर्मादि पाँच द्रव्यों से पूर्णतया पृथक्, उसमें ही अचलरूप से स्थिर रहनेवाले उन जीवों का अनन्त काल पर्यन्त स्थायी रहनेवाला अक्षय; कर्मों का प्रकृति, स्थिति आदिरूप से पूर्णतया पृथक् हो जानेरूप, मोक्ष हो जाता है।

इस प्रकार समस्त पर-पदार्थों से पूर्णतया पृथक् हो, अनन्त-वैभव-सम्पन्न अपने आत्मा में परिपूर्ण स्थिरता ही, अव्याबाध सुखमय-दशा है।।१२८।।

अब, संवर का विस्तार से वर्णन करते हैं—

उपजाति : **साक्षात् संवर प्रगटे हो प्राप्ति, शुद्धात्मा की नित भेदविज्ञान।**
से ही अतः भाने योग्य नित ही, यह एक मात्र निज भेदविज्ञान।।१२९।।

टीकार्थ : तस्मात्=आत्मा और कर्म के भेद-विज्ञान से, आस्रव-भाव के कारणभूत मिथ्यात्व आदि अध्यवसानों का अभाव होता है; उनके अभाव में राग-द्वेष-मोहरूप आस्रव-भाव का अभाव होता है; उसके अभाव में कर्म का अभाव होता है; उसके अभाव में नोकर्म का अभाव होता है और उसके अभाव में संसार का अभाव हो जाता है; उस कारण से। **तत्**=वह प्रसिद्ध; **भेदविज्ञानं**=आत्मा और कर्मों का भेद करनेवाला विशिष्ट ज्ञान; **अतीव भाव्यं**=अत्यन्त/सब ओर से भावना करने-योग्य है। वह कैसे? क्योंकि **सः**=उस आत्मा की उपलब्धि; **भेदविज्ञानत एव**=भेद-विज्ञान से ही होती है; अन्य किसी भी प्रकार से नहीं होती है; **किल**=ऐसा आगम में सुनते हैं। **शुद्धात्मतत्त्वस्य**=अमल परमात्म-

अमलपरमात्मस्वरूपस्य; ***उपलम्भात्*** प्राप्तेः; ***एष*** प्रसिद्धः; ***साक्षात्*** प्रत्यक्षं; ***संवरः*** आगन्तुककर्मनिरोधः; ***सम्पद्यते*** जायते॥ ५॥

अथ भेदविज्ञानमाज्ञापयति—

अनुष्टुप् : **भावयेद्भेदविज्ञान-मिद-मच्छिन्न-धारया।**
तावद्यावत्पराञ्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते॥६॥१३०॥

टीका : *यावत्पर्यन्तं; ज्ञानं* परमात्मबोधः; ***ज्ञाने*** स्वस्वरूपप्रतिभासके बोधे; ***प्रतिष्ठते*** स्थितिं करोति, स्वस्वरूपे स्वस्वरूपावस्थाने इत्यर्थः। किं कृत्वा? ***च्युत्वा*** त्यक्त्वा; कान्? ***परान्*** अचेतनादिपरपदार्थान्। ***तावत्*** कालपर्यन्तं; ***इदं भेदविज्ञानं*** आत्मकर्मणोर्भेदकारकभावनाज्ञानं; ***अच्छिन्नधारया*** अनवच्छिन्नरूपेण; ***भावयेत्*** ध्यायेत्,

---

स्वरूप की; **उपलम्भात्**=प्राप्ति से; **एष**=यह प्रसिद्ध; **साक्षात्**=प्रत्यक्ष; **संवरः**=आनेवाले कर्मों के रुकनेरूप संवर; **सम्पद्यते**=प्रगट होता है।

अर्थात्, आत्मा और कर्म के भेद-विज्ञान से, मिथ्यात्व आदि अध्यवसानों के अभाव से लेकर संसार पर्यन्त का पूर्ण अभाव हो जाता है; अतः आत्मा और कर्मों का भेद करनेवाला वह विशिष्ट ज्ञान ही पूर्ण पुरुषार्थ पूर्वक सतत भावना करने-योग्य है। सदा निर्मल शुद्धात्म-तत्त्व की उपलब्धि, इस प्रसिद्ध भेद-विज्ञान से ही होती है; अन्य किसी दूसरे माध्यम से नहीं होती है तथा इसकी प्राप्ति से ही आनेवाले कर्मों के रुकनेरूप संवर की प्रत्यक्ष प्रगटता होती है; अतः आगम के आलोक में भली-भाँति स्व-पर का भेद-विज्ञान करना चाहिए।।१२९।।

अब, भेद-विज्ञान करने की आज्ञा देते हैं—

अनुष्टुप् : **भेद-विज्ञान को भाओ, ज्ञान अच्छिन्न-धार से।**
तब तक जब तक प्रतिष्ठित हो, पर को छोड़ ज्ञान में।।१३०।।

टीकार्थ : यावत्=जब तक; **ज्ञानं**=परमात्मा का बोध; **ज्ञाने**=अपने स्वरूप के प्रतिभासक बोध में; **प्रतिष्ठते**=अपने स्वरूप में स्थिति करता है, अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाए - ऐसा अर्थ है। क्या करके? **च्युत्वा**=छोड़कर; किन्हें? **परान्**=अचेतन आदि पर-पदार्थों को छोड़कर, अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाए। **तावत्**=उतने काल पर्यन्त; **इदं भेदविज्ञानं**=आत्मा और कर्म में भेद करनेवाले इस भावना ज्ञान को; **अच्छिन्नधारया**= अनवच्छिन्न/अखण्ड रूप से; **भावयेत्**=भावना/ध्यान करो। जैसे, वस्त्र बन जाने पर, उसके

लब्धे स्वरूपे स्वरूपप्राप्तिनिमित्तकस्य भेदज्ञानस्यानुपयोगात्, निष्पन्ने पटे तत्साधनस्य तुरीवेमाकुविन्दादेरनुपयोगित्वात् ॥ ६ ॥

अथ भेदज्ञानाज्ञानयोः सिद्धिं प्रति हेतुकत्वाहेतुकत्वे निर्णयति—

अनुष्टुप् : **भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।**
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥७॥१३१॥

टीका : ***किल*** इत्यागमोक्ते निश्चये। ***ये केचन*** पुरुषसिंहाः; ***सिद्धाः*** सिद्धिं स्वात्मोपलब्धिलक्षणां प्राप्ताः, उपलक्षणात् सिद्ध्यन्ति सेत्स्यन्ते, ते सर्वे; ***भेदविज्ञानतः*** आत्मकर्मणोर्भेदज्ञानात् नान्यतस्तपश्चरणादेः सिद्धपदं प्राप्ताः प्राप्नुवन्ति प्रापयिष्यन्ति। ***किल*** इति निश्चितम्। ***ये केचन*** संसारिणः पुरुषाः; ***बद्धाः*** कर्मबन्धनबद्धाः, त; ***एव***

साधनभूत तुरी, वेम, जुलाहे आदि की उपयोगिता नहीं रहती है; उसी प्रकार स्वरूप की प्राप्ति हो जाने पर, स्वरूप की प्राप्ति के साधनभूत भेद-ज्ञान की उपयोगिता नहीं रहती है।

अर्थात्, आत्मा और कर्म के मध्य भेद करनेवाले इस भावना ज्ञान का अविरल धारा से निरन्तरता पूर्वक तब तक ध्यान करो, जब तक कि अचेतन आदि सभी पर-पदार्थों को छोड़कर, परमात्मा सम्बन्धी ज्ञान, अपने स्वरूप के प्रतिभासक ज्ञानमय स्वयं में भली-भाँति स्थित न हो जाए। कार्य के हो जाने पर, कारण की आवश्यकता नहीं रहती है; अतः परिपूर्ण स्वरूप-स्थिरता के बाद, पृथक् से भेद-विज्ञान करने का कोई प्रयोजन शेष नहीं रहता है।।१३०।।

अब, सिद्धि के प्रति/सिद्ध-दशा की प्राप्ति में भेद-ज्ञान और अज्ञान की क्रमशः हेतुकता और अहेतुकता का निर्णय करते हैं—

अनुष्टुप् : **भेदविज्ञान से सिद्ध, जो भी सिद्ध हुए सभी।**
इसके अभाव से बद्ध, जो भी बद्ध सदा सभी।।१३१।।

टीकार्थ : किल=यह आगम में कहे गए 'निश्चय' अर्थ में अव्यय है। **ये केचन**= जो कोई पुरुष-सिंह/पुरुषार्थी व्यक्ति; **सिद्धाः**=अपने आत्मा की उपलब्धि लक्षण सिद्धि को प्राप्त हुए हैं; उपलक्षण से सिद्ध हो रहे हैं, सिद्ध होंगे, वे सभी; **भेदविज्ञानतः**=आत्मा और कर्मों के भेद-ज्ञान से ही हुए हैं; अन्य तपश्चरण आदि से सिद्ध-पद को न तो प्राप्त हुए थे, न होते हैं और न होंगे। **किल**=यह निश्चित है। **ये केचन**=जो कोई संसारी व्यक्ति; **बद्धाः**=

अस्य भेदविज्ञानस्य; ***अभावतः; बद्धाः*** बन्धनं प्राप्ताः, नात्र विचारणा ॥७ ॥

अथ ज्ञाने ज्ञानव्यवस्थाकारणं कलयति—

मन्दाक्रान्ता : **भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्त्वोपलम्भाद्,**
राग-ग्राम-प्रलय-करणात्कर्मणां संवरेण।
विभ्रत्तोषं परम-ममलालोक-मम्लान-मेकं,
ज्ञानं ज्ञाने नियत-मुदितं शाश्वतोद्योत-मेतत् ॥८ ॥१३२ ॥

टीका : नियतं निश्चितं; ***एतत् ज्ञानं*** परमात्मज्ञानं; ***ज्ञाने*** स्वरूप-प्रतिभासे; ***उदितं*** उदयं प्राप्तम्। किम्भूतं ? ***तोषं*** परमानन्दं; ***विभ्रत्*** धारयत्; पुनः किम्भूतं ? ***परमं***

कर्मों के बन्धन से बँधे हुए हैं, वे; **एव अस्य**=इसी भेद-विज्ञान के; **अभावतः**=अभाव से; **बद्धाः**=बन्ध को प्राप्त हैं; इस सन्दर्भ में अन्य विचारणा नहीं है।

अर्थात्, आगम में कहे अनुसार, वास्तव में जो कोई भी पुरुषार्थी श्रेष्ठ व्यक्ति, अपने आत्मा की पूर्णतया उपलब्धि लक्षण सिद्ध-दशा को प्राप्त हुए हैं, हो रहे हैं और होंगे; वे सभी आत्मा और कर्मों के मध्य पृथक्ता जाननेवाले इस भेद-विज्ञान से ही हुए हैं। आत्म-स्थिरता के अतिरिक्त अन्य किन्हीं तपश्चरण आदि के द्वारा न तो कोई सिद्ध हुआ है, न हो रहा है और न होगा। इसी प्रकार जो कोई संसारी व्यक्ति, कर्मों के बन्धन से बँधे हुए हैं, वे इस भेद-विज्ञान के अभाव से ही बँधे हुए हैं। ये दोनों पूर्णतया सुनिश्चित तथ्य हैं। इस सन्दर्भ में अन्य कुछ चर्चा-वार्ता करने की आवश्यकता नहीं है।।१३१।।

अब, ज्ञान में ज्ञान की व्यवस्था/ज्ञानरूप से स्थित रहने का कारण, प्रसिद्ध करते हैं —

मन्दाक्रान्ता : **भेदज्ञान प्रगटता के प्रयास से राग आदि,**
नाशनशील शुद्ध तत्त्व प्राप्ति से कर्म आदि।
के संवर से तोषधा इक परम पावन पवित्र,
यह सकलज्ञ नित्य तेज ज्ञान में ज्ञान व्यक्त।।१३२।।

टीकार्थ : नियतं=निश्चित; **एतत् ज्ञानं**=यह परमात्मा का ज्ञान; **ज्ञाने**=स्वरूप के प्रतिभास में; **उदितं**=उदय को प्राप्त हुआ है। वह कैसा है? **तोषं**=परम आनन्द को; **विभ्रत्**=धारण करता हुआ; वह और कैसा है? **परमं**=परा=उत्कृष्ट, मा=सभी वस्तुओं को

परा उत्कृष्टा, मा सर्ववस्तुपरिच्छेदिका ज्ञानशक्तिरूपा लक्ष्मीर्विद्यते यस्य तत्। कुतः ? ***भेदज्ञानोच्छलनकलनात्*** भेदज्ञानस्य उच्छलनं प्राकट्यं प्रकाशनमित्यर्थः, तस्य कलनं अभ्यसनं, तस्मात्। पुनः ***अमलालोकं*** अमलः निर्मलः, आलोकः जगत्प्रकाशक - प्रकाशो यस्य तत्। कुतः ? ***शुद्धतत्त्वोपलम्भात्*** शुद्धतत्त्वस्य परमात्मनः, उपलम्भः प्राप्तिः, तस्मात्। ***अम्लानं*** कश्मलताच्युतम्। कुतः ? ***रागग्रामप्रलयकरणात्*** रागस्य रतेः, ग्रामः समूहः, तस्य प्रलयकरणं विनाशकरणं तस्मात्। पुनः ***एकं*** कर्मादिव्यतिरिक्तत्वेनाद्वितीयम्। केन ? ***कर्मणां संवरेण*** आगन्तुककर्मनिरोधेन; अत एव ***शाश्वतोद्योतं*** नित्यप्रकाशम्॥८॥

इतिश्री समयसारपद्यस्य परमाध्यात्मतरङ्गिणीनामधेयस्य व्याख्यायां पञ्चमोऽङ्कः॥

जाननेवाली ज्ञान-शक्तिरूप लक्ष्मी विद्यमान है जिसके, वह। वह कैसे उदित हुआ है? **भेदज्ञानोच्छलनकलनात्**=भेद-ज्ञान का उच्छलन, उसकी प्रगटता, प्रकाशन - ऐसा अर्थ है, उसका कलन=अभ्यास, उससे प्रगट हुआ है। वह और कैसा है? **अमलालोकं**= अमल=निर्मल, आलोक=जगत को प्रकाशित करनेवाला प्रकाश है जिसका, वह। वह ऐसा कैसे है? **शुद्धतत्त्वोपलम्भात्**=शुद्ध-तत्त्व=परमात्मा की, उपलम्भ=प्राप्ति हुई है, उस कारण ऐसा है। **अम्लानं**=कश्मलता/मलिनता से रहित है। वह ऐसा कैसे है? **रागग्रामप्रलय-करणात्**=राग-रति का, ग्राम=समूह, उसका प्रलयकरण=विनाश करनेवाला है, उससे ऐसा है। और **एकं**=कर्म आदि से पूर्णतया रहित होने के कारण, अद्वितीय, एक है। किस कारण एक है? **कर्मणां संवरेण**=आनेवाले कर्मों को रोकने के कारण, एक है; इसीलिए **शाश्वतोद्यतं**=नित्य प्रकाशमय है।

अर्थात्, भेद-ज्ञान की प्रगटता के अभ्यास से व्यक्त हुए, शुद्ध परमात्म-तत्त्व की उपलब्धि हो जाने के कारण, अत्यन्त निर्मल जगत को प्रकाशित करनेवाले प्रकाश से सम्पन्न; रागादि के समूह/सभी विकारी-भावों को पूर्णतया नष्ट करनेवाला होने के कारण, मलिनता से पूर्णतया रहित; आनेवाले कर्मों को रोकनेरूप संवर के कारण, कर्म आदि से पूर्णतया पृथक् होने से अद्वितीय एक; शाश्वत प्रकाशमय, सभी पदार्थों को जाननेवाली ज्ञान-शक्तिरूप उत्कृष्ट लक्ष्मी से सम्पन्न; परम आनन्दमय तोष को धारण करता हुआ, यह परमात्मामय ज्ञान, अपने स्वरूप के प्रतिभास में नियम से उदित होता है।।१३२।।

इस प्रकार श्री समयसार पद्य की परम-अध्यात्म-तरङ्गिणी नामक व्याख्या में पाँचवाँ अंक समाप्त हुआ।।५।।

निर्जराधिकार:

अर्थ षष्ठोऽङ्कः प्रारभ्यते।

टीकाकारस्य मङ्गलाचरणं :

आर्या : **संवरनिकरविचारोऽमृतचन्द्रोभुवनभानुरनवद्यः।**
श्रीकुन्दकुन्द-शाली-शुभचन्द्रकरः प्रशस्तेद्धः॥

अथ निर्जरानिरूपणमुज्जृम्भते—

शार्दूलविक्रीडित : **रागाद्यास्त्रवरोधतो निजधुरां धृत्वा परः संवरः,**
कर्मागामि समस्तमेव भरतो दूरान्निरुन्धन् स्थितः।
प्राग्बद्धं तु तदेव दग्धुमधुना व्याजृम्भते निर्जरा,
ज्ञानज्योतिरपावृतं न हि यतो रागादिभिर्मूर्च्छति॥ १ ॥१३३ ॥

टीका : *संवरः* संवरनामतत्त्वं; ***स्थितः*** व्यवस्थितः। किं कृत्वा ? ***धृत्वा*** उद्‌धृत्य; ***निजधुरां*** स्वयोग्यधुर्यम्। किम्भूतः ? ***परः*** उत्कृष्टः, कर्मागमनिरोधकत्वात्। किं कुर्वन् ?

अब, छठवाँ अंक प्रारम्भ होता है।

टीकाकारकृत मङ्गलाचरण का अर्थ : श्री कुन्दकुन्दरूपी धान्य को शुभचन्द्ररूपी किरणों द्वारा विस्तृत करनेवाले, संवर के समूह का विचार करनेवाले, निर्दोष विश्व के सूर्य-समान जो अमृतचन्द्र हैं, वे प्रशस्त रहें/जयवन्त वर्तें।

अब, निर्जरा का निरूपण प्रारम्भ करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **रागादि आस्रव निरोध से निज बलधर परम संवर,**
स्थित है आगामि कर्म सबको बल पूर्वक रोककर।
अब प्राग्बद्ध करम समाप्त करने है निर्जरा उल्लसित,
ज्ञानज्योति निरावरण हो नहीं रागादि से मूर्छित।।१३३।।

टीकार्थ : संवरः=संवर नामक तत्त्व; **स्थितः**=व्यवस्थित/विशेषरूप से विद्यमान है। क्या करके स्थित है? **धृत्वा**=अपने ऊपर धारण कर; **निजधुरां**=अपनी योग्य धुरी को धारण कर स्थित है। वह संवर कैसा है? **परः**=आते हुए कर्मों का निरोधक होने से उत्कृष्ट

दूरात् आरात्; ***निरुन्धन्; भरतः*** अतिशयेन; किं? ***समस्तमेव*** निखिलमेव; ***आगामि*** आगन्तुकं; ***कर्म*** ज्ञानावरणादिप्रकृतिम्। कुतः? ***रागाद्यास्रवरोधतः*** रागाद्याः रागद्वेषमोहाः, ते च ते आस्रवाः, प्रत्ययाः, तेषां रोधः निरोधः, तस्मात्। ***तु*** पुनर्भिन्नप्रक्रमे; ***अधुना*** संवरानन्तरं; ***निर्जरा*** निर्जीर्यते पूर्वनिबद्धं यया सा भावनिर्जरा पूर्वनिबद्धकर्मणां निर्जरणं निर्जरा इति द्रव्यनिर्जरा सूचिता। ***व्याजृम्भते*** विलसति। किं कर्तुं? ***दग्धुं*** भस्मीकर्तुं विनाशयितुमित्यर्थः। किं? ***प्राग्बद्धं*** पूर्वमास्रवाद्यैर्निबद्धं; ***तदेव*** द्रव्यभावकर्मैव सम्यग्दृष्ट्याद्येकादशनिर्जरया कर्मणो निर्जीर्यमाणत्वात्।

तथा चोक्तं गोम्मट्टसारे (जीवकाण्डे)—

सम्मत्तुप्पत्तीये सावय-विरदे अणंत-कम्मंसे।
दंसणमोहक्खबगे कसाय-उवसामगे य उवसन्ते॥६६॥

है। क्या करता हुआ वह उत्कृष्ट है? **दूरात्**=दूर से; **निरुन्धन्**=रोकते हुए; **भरतः**=अतिशय पूर्वक; किसे रोकते हुए? **समस्तमेव**=सम्पूर्ण ही; **आगामि**=आगन्तुक; **कर्म**=ज्ञानावरणादि कर्म-प्रकृति को रोकते हुए। उन्हें कैसे रोकते हुए? **रागाद्यास्रवरोधतः**=राग, द्वेष, मोहरूप रागादि, वे और वे आस्रव, प्रत्यय, उनका रोध=निरोध, उससे उन्हें रोकते हुए। **तु**=यह भिन्न प्रक्रम के अर्थ में आया अव्यय है। **अधुना**=अब, संवर के बाद; **निर्जरा**=पहले बँधे हुए कर्म जिसके द्वारा खिरते हैं, वह भावनिर्जरा; पहले बँधे हुए कर्मों का निर्जरित होना/खिर जाना, द्रव्यनिर्जरा - इस प्रकार निर्जरा-तत्त्व सूचित हुआ है। **व्याजृम्भते**=विलसित होता है। क्या करने के लिए? **दग्धुं**=भस्म करने, विनष्ट करने के लिए विलसित होता है - ऐसा अर्थ है। किसे? **प्राग्बद्धं**=पहले आस्रव आदि के द्वारा बँधे; **तदेव**=निर्जरा के सम्यग्दृष्टि आदि ग्यारह पदों द्वारा कर्मों की निर्जरा होने के कारण, उन द्रव्य और भाव-कर्मों को नष्ट करने के लिए वह विलसित होता है। उसी प्रकार गोम्मटसार, जीवकाण्ड में कहा है—

'सम्यक्त्व की उत्पत्ति में, श्रावक में, विरत में, अनन्त कर्मांश/अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना में, दर्शनमोह के क्षय में, कषायों के उपशामक/आठवें से दशवें पर्यन्त में, उपशान्त में, क्षपक/आठवें से दशवें पर्यन्त में, क्षीणमोह में, जिनेन्द्रों में/सयोगकेवली जिन में और अयोगकेवली जिन में क्रमशः द्रव्य-कर्मों की असंख्यात-गुणी निर्जरा होती है। काल उससे विपरीत, क्रमशः संख्यात-गुणा कम-कम होता है॥६६-६७॥'

यतः=क्योंकि निर्जरा आदि के द्वारा, कर्मों का विनाश होता है। **हि**=यह स्पष्टता

खवगे य खीणमोहे जिणेसु दव्वा असंखगुणिदकमा।
तव्विवरीया काला संखेज्ज-गुणक्कमा होन्ति॥६७॥ इति।

यतः निर्जरादिभिः कर्मविनाशकरणात्। ***हि*** इति स्फुटं; ***न मूर्छति*** न मोहं प्राप्नोति; कैः ? ***रागादिभिः*** रागद्वेषमोहैः; किं ? ***ज्ञानज्योतिः*** बोधतेजः; किम्भूतं ? ***अपावृतं*** निर्जरासंवरैर्निरावरणम्॥१॥

अथ ज्ञानसामर्थ्यं समुत्थापयति—

अनुष्टुप् : **तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्यैव वा किल।**
यत्कोऽपि कर्मभिः कर्म भुञ्जानोऽपि न बद्ध्यते॥२॥१३४॥

के अर्थ में अव्यय है। **न मूर्छति**=मोह को प्राप्त नहीं होता है। किनसे ऐसा नहीं होता है? **रागादिभिः**=राग, द्वेष, मोह के द्वारा मोहित नहीं होता है। कौन ऐसा नहीं होता है? **ज्ञानज्योतिः**=बोधरूपी तेज, ऐसा नहीं होता है। वह कैसा है? **अपावृतं**=निर्जरा और संवर के कारण, निरावरण है।

अर्थात्, राग, द्वेष, मोहरूप आस्रवों का निरोध हो जाने से, अपनी उचित धुरा को अपने ऊपर धारण कर, आनेवाले ज्ञानावरणादि सभी कर्मों को अतिशय पूर्वक दूर से ही रोकता हुआ, आते हुए कर्मों का निरोधक होने से उत्कृष्ट, संवर नामक तत्त्व विशेषरूप से विद्यमान है। इससे वास्तव में अब, आस्रव आदि के द्वारा पहले बँधे हुए उन्हीं कर्मों को समाप्त करने के लिए, निर्जरा-तत्त्व विलसित हो रहा है; जिससे संवर और निर्जरा के कारण आवरण से रहित होती हुई वह ज्ञानरूपी ज्योति, निश्चित ही राग, द्वेष, मोह से मूर्छित/मोहित नहीं होती है।

जिनागम में निर्जरा के कहीं दश और कहीं ग्यारह पद बताए हैं। इसे मत-भेद नहीं समझना चाहिए। यह मात्र विवक्षा-भेद है। जहाँ सयोग और अयोग केवली को पृथक्-पृथक् गिन लेते हैं, वहाँ वे ग्यारह हो जाते हैं और जहाँ इन दोनों को एक 'जिन' रूप में गिनते हैं, वहाँ वे दश रह जाते हैं। हमें सदैव कथन की अपेक्षा समझना चाहिए; दुराग्रह कभी भी नहीं करना चाहिए।।१३३।।

अब, ज्ञान की सामर्थ्य को विशेषरूप से व्यक्त करते हैं—

अनुष्टुप् : **ज्ञान की है वह सामर्थ्य, या है ही विराग की।**
जिससे कर्म भोक्ता भी, कर्म से बँधता नहीं।।१३४।।

टीका : ***किल*** इत्यागमोक्तौ; ***यत् कोऽपि*** ज्ञानी; ***न बद्ध्यते*** बन्धनं न प्राप्नोति। कैः ? ***कर्मभिः;*** किं भूतोऽपि ? ***भुञ्जानोऽपि*** वेदयमानोऽपि। किं ? ***कर्म*** पूर्वोपात्तं कर्म, सुखदुःखरूपेण उदीर्णं वेदयन्नपि। ***तत् सामर्थ्यं*** समर्थता; कस्य ? ***ज्ञानस्यैव; वा*** अथवा; ***विरागस्यैव।*** यथा भुञ्जानोऽपि विषवैद्यो न याति मरणं तथा कर्मोदीर्यमानमपि भुञ्जानो न बद्ध्यते ज्ञानी ॥२ ॥

अथ ज्ञानिनो विषयसेवकत्वेऽप्यसेवकत्वं सिञ्चयति—

रथोद्धता : **नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत्स्वं फलं विषयसेवनस्य ना।**
ज्ञानवैभवविरागताबलात्सेवकोऽपि तदसावसेवकः ॥३ ॥१३५ ॥

टीका : ***तत्*** तस्माद्धेतोः; ***असौ*** ज्ञानी; ***सेवकोऽपि*** विषयं सेवयन्नपि; ***असेवकः***

टीकार्थ : किल=यह आगम में कहे हुए का वाचक अव्यय है। **यत् कोऽपि**=जो कोई भी ज्ञानी; **न बद्ध्यते**=बन्धन को प्राप्त नहीं होता है। किनसे? **कर्मभिः**=कर्मों से बँधता नहीं है। वह ज्ञानी कैसा होता हुआ भी नहीं बँधता है? **भुंजानोऽपि**=भोगता हुआ/वेदन करता हुआ भी नहीं बँधता है। किसका? **कर्म**=सुख-दुःखरूप से उदीरणा को प्राप्त, पहले बँधे हुए कर्म का वेदन करता हुआ भी बँधता नहीं है। **तत् सामर्थ्यं**=वह सामर्थ्य है। किसकी? **ज्ञानस्यैव**=ज्ञान की ही; **वा**=अथवा; **विरागस्यैव**=विराग की ही सामर्थ्य है। जैसे, विष-वैद्य विष को भोगता हुआ भी मरता नहीं है; उसी प्रकार उदीरणा को प्राप्त हुए कर्मों को भोगता हुआ भी, ज्ञानी बँधता नहीं है।

अर्थात्, विष की मारक क्षमता को समाप्त कर देनेवाला विष-वैद्य, उस विष का सेवन करते हुए भी जैसे मरता नहीं है; उसी प्रकार यह ज्ञान या विराग की ही सामर्थ्य है कि उससे सम्पन्न ज्ञानी, पहले बँधे हुए कर्मों की उदीरणा होने पर, प्राप्त हुए उन सम्बन्धी सुख और दुःख/अनुकूलता और प्रतिकूलता का वेदन करता हुआ भी, भूमिकानुसार वास्तव में कर्मों से बँधता नहीं है।।१३४।।

अब, ज्ञानी के विषयों का सेवन होने पर भी, उसके असेवनत्व को स्पष्ट करते हैं—

रथोद्धता : **नहीं भोगे भोगते विषय, अतः विषय सेवन फल उसे नहीं।**
ज्ञान वैभव शक्ति विरागता, से करे सेवन पर असेव ही।।१३५।।

टीकार्थ : तत्=उस कारण से; **असौ**=यह ज्ञानी; **सेवकोऽपि**=विषय का सेवन करता हुआ भी; **असेवकः**=अप्राकरणिक के समान किसी प्रकार से उनमें प्रवृत्त होने पर

विषयसेवको न भवेत् कश्चित् प्रकारेण व्याप्रियमाणोऽपि तत्स्वामित्वाभावादप्राकरणिकवत्। ***यत्*** यस्माद्धेतोः; ***नाश्नुते*** न भुञ्जयते। किं? ***स्वं*** स्वकीयं; ***फलं*** कर्मबन्धरूपं; कः? ***ना*** आत्मा; कस्य? ***विषयसेवनस्य*** सुखदुःखाद्यनुभवस्य; क्व सति? ***विषयसेवनेऽपि;*** कुतः? ***ज्ञानवैभवविरागताबलात्*** ज्ञानस्य वैभवं सामर्थ्यं तेन उपलक्षितं विरागताया बलं शक्तिस्तस्मात्॥३॥

अथ सम्यग्दृष्टेः शक्तिः संयुज्यते—

मन्दाक्रान्ता : **सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः,**
स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या।

भी, उनके स्वामित्व का अभाव होने से विषय का सेवन करनेवाला नहीं होता है। **यत्**=जिस कारण से; **नाश्नुते**=नहीं भोगता है। क्या नहीं भोगता है? **स्वं**=अपने; **फलं**=कर्म-बन्धरूप फल को नहीं भोगता है। उसे कौन नहीं भोगता है? **ना**=आत्मा नहीं भोगता है। किसका भोक्ता नहीं है? **विषयसेवनस्य**=विषय के सेवन संबंधी सुख, दुःख आदि अनुभव का भोक्ता नहीं है। कहाँ होने पर? **विषयसेवनेऽपि**=विषय का सेवन होने पर भी, उनका भोक्ता नहीं है। वह ऐसा कैसे नहीं है? **ज्ञानवैभवविरागताबलात्**=ज्ञान का वैभव=सामर्थ्य, उससे सहित विरागता का बल=शक्ति, उससे उनका भोक्ता नहीं है।

अर्थात्, जिस कारण आत्मा, विषय का सेवन होने पर भी, विषय के सेवन सम्बन्धी सुख-दुःख आदि अनुभव का अपने कर्म-बन्धरूप फल को, ज्ञान के वैभव और विरागता के बल से भोगता नहीं है; उस कारण विषयों का सेवन करता हुआ भी यह ज्ञानी, उनका सेवन करनेवाला नहीं है।

लोक में किसी प्रसङ्ग विशेष में स्वामी की आज्ञानुसार, अन्य व्यक्ति उसके कार्य करते हैं, वे प्राकरणिक कहलाते हैं; परन्तु वे उस प्रसङ्ग के स्वामी नहीं होने से भोक्ता नहीं होते हैं; उसी प्रकार पर में स्वामित्व का भूमिकानुसार पूर्णतया अभाव हो जाने के कारण, ज्ञानी विषयों का सेवन करता हुआ भी, भूमिकानुसार उनका भोक्ता नहीं है।।१३५।।

अब, सम्यग्दृष्टि की शक्ति संयुजित करते हैं/उसकी शक्ति का माहात्म्य बताते हैं—

मन्दाक्रान्ता : **सम्यग्दृष्टि है नियम से ज्ञान वैराग्य शक्ति,**
मय क्यों कि यह स्वरूप पाने अन्य को छोड़ने ही।

यस्माज्ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च,
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात्॥४॥१३६॥

टीका : ***नियतं*** निश्चितं; ***ज्ञानवैराग्यशक्तिः*** ज्ञानवैराग्ययोः सामर्थ्यं; ***भवति*** अस्ति। कस्य? ***सम्यग्दृष्टेः*** स्वतत्त्वश्रद्धायकस्य। किं कर्तुं? ***स्वं*** आत्मानं; ***वस्तुत्वं*** वस्तुस्वरूपं; ***कलयितुं*** अनुभवितुं ध्यातुमित्यर्थः। तत्कुतः? ***यस्मात्*** हेतोः; ***अयं*** सम्यग्दृष्टिः; ***स्वस्मिन्*** आत्मनि; ***आस्ते*** अवतिष्ठते ***विरमते च*** विरक्तिं भजति।

कुतः? ***सर्वतः*** समस्तात्; ***परात्*** आत्मनः परस्वरूपात्; ***रागयोगात्*** रागद्वेषमोह-संयोगात्। कया? ***स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या*** स्वः आत्मा, अन्यः परद्रव्यादिः, तयोः रूपे स्वरूपे, तयोर्यथाक्रमं, आप्तिः प्राप्तिः, मुक्तिः मोचनं स्वरूपप्राप्तिः परस्वरूपमुक्तिरित्यर्थः, तया। किं कृत्वा? ***ज्ञात्वा*** अवबुध्य; ***तत्त्वतः*** परमार्थतः; किं? ***इदं स्वं*** आत्मीयं स्वात्मलक्षणं; ***च*** पुनः; ***परं*** परद्रव्यं; ***व्यतिकरं*** अन्योन्यस्य भिन्नम्॥४॥

निज ध्याने को तात्त्विक यह मैं राग पर योग निश्चित,
मुझसे भिन्न जान निज में लीन पर से विरक्त।।१३६।।

टीकार्थ : नियतं=निश्चित; **ज्ञानवैराग्यशक्तिः**=ज्ञान और वैराग्य की सामर्थ्य; **भवति**=होती है। यह किसके है? **सम्यग्दृष्टेः**=अपना/आत्म-तत्त्व का श्रद्धान करनेवाले सम्यग्दृष्टि के यह होती है। यह क्या करने के लिए है? **स्वं**=अपने/आत्मा के; **वस्तुत्वं**=वस्तु-स्वरूप/वास्तविक स्वरूप का; **कलयितुं**=अनुभव=ध्यान करने के लिए होती है - ऐसा अर्थ है। वह कैसे/कहाँ से व्यक्त हुई है? **यस्मात्**=जिस कारण से; **अयं**=यह सम्यग्दृष्टि; **स्वस्मिन्**=स्वयं/आत्मा में; **आस्ते**=स्थिर रहता है; **विरमते च**=और विरक्ति को प्राप्त होता है, इससे वह सामर्थ्य व्यक्त हुई है।

वह किससे विरक्त रहता है? **सर्वतः**=सब ओर से; **परात्**=आत्मा से पृथक् पर-स्वरूप से; **रागयोगात्**=राग, द्वेष, मोह के संयोग से विरक्त रहता है। वह किस कारण इनसे विरक्त रहता है? **स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या**=स्व=आत्मा, अन्य=पर-द्रव्यादि, उन दोनों का रूप=स्वरूप, उन्हें क्रमशः आप्ति=प्राप्त करना, मुक्ति=छोड़ना; अपने स्वरूप की प्राप्ति और पर-स्वरूप का त्याग - ऐसा अर्थ है; इस कारण वह विरक्त रहता है। वह क्या करके ऐसा है? **ज्ञात्वा**=जानकर; **तत्त्वतः**=परमार्थ से; किसे जानकर? **इदं स्वं**=यह अपने लक्षणवाला

अथ रागिण: सम्यक्त्वराहित्यमुच्यते—

मन्दाक्रान्ता : **सम्यग्दृष्टि: स्वयमयमहं जातुबन्धो न मे स्या-**
दित्युत्तानोत्पुलक-वदना रागिणोऽप्याचरन्तु।
आलम्बन्तां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापा:,
आत्मानात्मावगमविरहात् सन्ति सम्यक्त्वरिक्ता: ॥५॥१३७॥

टीका : ***रागिणोऽपि*** पुरुषा:; न केवलं तत्त्वविद:, इत्यपि शब्दार्थ:। ***आचरन्तु*** पञ्चमहाव्रत-शास्त्राध्ययनादौ प्रवर्तन्तां; पुन: ***समितिपरतां*** समितय: ईर्याभाषैषणादय: समितिस्वभावा:, तत्र परतां तत्परतां उत्कृष्टतां वा; ***आलम्बन्तां*** आलम्बनं कुर्वताम्। किं भूता? ***ते इति*** उक्तप्रकारेण; ***उत्तानोत्पुलकवदना:*** उत्तानं ऊर्ध्वावलोकित्वं महाहङ्कारत्वात्,

---

आत्मीय/अपना/स्वयं है; **च**=और; **परं**=पर-द्रव्य, **व्यतिकरं**=एक दूसरे से परस्पर में भिन्न हैं - ऐसा जानकर, वह विरक्त रहता है।

अर्थात् अपने आत्म-तत्त्व का श्रद्धान करनेवाले सम्यग्दृष्टि के ज्ञान और वैराग्य की शक्ति नियम से होती है; क्योंकि यह आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ध्यान करने के लिए अपने-स्वरूप की प्राप्ति और पर-स्वरूप से निवृत्ति के द्वारा परमार्थरूप में - 'यह चैतन्य-लक्षणवाला मैं स्वयं हूँ और सभी पर-द्रव्य मुझसे पूर्णतया पृथक् हैं'; इन दोनों के मध्य पारस्परिक पूर्ण पृथक्ता है - ऐसा जानकर, अपने स्वरूप में स्थिर रहता है; अत: यह सतत ज्ञान-वैराग्य-शक्ति-सम्पन्न है।।१३६।।

अब, रागी के सम्यक्त्व से रहितपना बताते हैं —

मन्दाक्रान्ता : **सम्यग्दृष्टि स्वयं यह मैं रंच बन्धन न मुझको,**
यों पुलकित हो ऊर्ध्ववदनी गर्व से रागमय जो।
पालें व्रत हों समिति तत्पर पर स्व पर ज्ञान विरहित,
वे हैं अब भी पापमय ही और सम्यक्त्व विरहित।।१३७।।

टीकार्थ : रागिणोऽपि=मात्र तत्त्व को जाननेवाले व्यक्ति नहीं; अपितु रागी व्यक्ति भी - यह 'अपि' शब्द का अर्थ है। **आचरन्तु**=पाँच महाव्रत, शास्त्रों के अध्ययन आदि में प्रवृत्ति करें; और **समितिपरतां**=ईर्या, भाषा, एषणा आदिरूप समितियों के स्वभाव, उनमें परता=तत्परता अथवा उनकी उत्कृष्टता का; **आलम्बन्तां**=आलम्बन करें/लें। ऐसा करते हुए वे कैसे हैं? **ते इति**=कहे अनुसार वे; **उत्तानोत्पुलकवदना:**=उत्तान=अत्यधिक अहंकार

उत् ऊर्ध्वाः, पुलकाः रोमाञ्चाः, यस्य तत्, उत्तानं उत्पुलकं, वदनं वक्त्रं येषां ते इति। किं? ***स्वयं*** स्वत एव ***अयं*** प्रत्यक्षोऽहं; ***सम्यग्दृष्टिः*** तत्त्वदर्शी; ***मे*** मम; ***जातु*** कदाचित्; ***बन्धः*** कर्मणां बन्धः; ***न स्यात्*** न भवेत् इत्यहङ्काररूपं वाक्यं, इति ये दधति; ***ते अद्यापि*** इदानीमपि न तु पूर्वमित्यपि शब्दार्थः। ***सम्यक्त्वरिक्ताः*** तत्त्वश्रद्धानमुक्ताः; ***सन्ति*** वर्तन्ते। कुतः? ***आत्मानात्मावगमविरहात्*** आत्मा च अनात्मा च आत्मानात्मानौ स्वपरद्रव्ये, तयोः अवगमः परिज्ञानं, तस्य विरहः अभावः, तस्मात्, सम्यक्त्वरिक्तत्वम्। कुतः? ***यतः*** कारणात् ***ते पापाः*** पापकर्मयुक्ताः अहङ्काराद्यशुभकर्ममयत्वात्॥५॥

अथ रागिणो भ्रान्तिं बीभास्यते—

के कारण, ऊपर की ओर देखनापना, उत्=ऊपर, पुलक=रोमांच है जिसका, वह, इस प्रकार उत्तान उत्पुलक, वदन=मुख है जिनका, वे। ऐसा क्या है? **स्वयं**=अपने आप ही, **अयं**=यह प्रत्यक्ष मैं; **सम्यग्दृष्टिः**=तत्त्व का दर्शन करनेवाला सम्यग्दृष्टि हूँ; **मे**=मुझे; **जातु**=रंचमात्र भी; **बन्धः**=कर्मों का बन्ध; **न स्यात्**=नहीं है - इस प्रकार अहंकाररूप वाक्य जो धारण करते हैं; **ते अद्यापि**=वे अभी भी, पूर्व में ही नहीं, वरन् अभी भी - यह अपि शब्द का अर्थ है। **सम्यक्त्वरिक्ताः**=तत्त्वश्रद्धानरूप सम्यक्त्व से रहित; **सन्ति**=हैं। वे ऐसे कैसे/क्यों हैं? **आत्मानात्मावगम-विरहात्**=आत्मा और अनात्मा - आत्मानात्मा=स्व और पर-द्रव्य, उन दोनों का अवगम=यथार्थ ज्ञान, उसका विरह=अभाव, उससे वे सम्यक्त्व से रहित हैं। वे ऐसे कैसे/क्यों हैं? **यतः**=जिस कारण; **ते पापाः**=अहंकार आदि अशुभ-कर्ममय होने के कारण, वे पाप-कर्म से युक्त हैं।

अर्थात्, यह प्रत्यक्ष मैं स्वयं तत्त्वदर्शी सम्यग्दृष्टि हूँ; मुझे कर्मों का बन्ध रंचमात्र भी नहीं है - इस अभिप्राय के कारण, ऊपर को उठाए हुए अति रोमांचित/प्रसन्न मुखवाले, तत्त्व को मात्र जाननेवाले ही नहीं, वरन् रागी व्यक्ति भी भले ही पाँच महाव्रत, शास्त्रों के अध्ययन आदि में प्रवृत्ति करते हों; तत्परता पूर्वक उत्कृष्टता से ईर्या, भाषा, एषणा आदि समितियों का अवलम्बन लेते हों; तथापि आत्मा और अनात्मा/स्व-द्रव्य और पर-द्रव्य के यथार्थ ज्ञान से रहित होने के कारण, वे तत्त्व-श्रद्धानरूप सम्यक्त्व से रहित हैं। वे जीव पहले तो पापी थे ही, इस समय इतना सब करते हुए भी, अहंकार आदि अशुभ-कर्ममय होने के कारण, पाप-कर्म से युक्त ही हैं।।१३७।।

अब, रागी की भ्रान्ति को विशेषरूप से स्पष्ट करते हैं—

मन्दाक्रान्ता : **आसंसारात्प्रतिपद-ममी रागिणो नित्य-मत्ताः,**
सुप्ता यस्मिन्नपद-मपदं तद्विबुध्यध्व-मन्धाः।
एतैतेतः पदमिद-मिदं यत्र चैतन्य-धातुः,
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति॥६॥१३८॥

टीका : भो ***अन्धाः***! हे रागिणः! ज्ञानदृष्टिपराङ्मुखत्वात्; ***विबुध्यध्वं*** यूयं जानीध्वम्। ***अमी रागिणः*** परद्रव्येषु रागो रतिर्विद्यते येषां ते; ***यस्मिन्*** चिद्रूपे परद्रव्ये वा; ***सुप्ताः*** निद्रायमाणाः, तत्स्वरूपानभिज्ञत्वान्निद्रात्वं स्थिता वा; ***तत् अपदं*** चिद्रूपे शयनमयुक्तं परद्रव्ये स्थितिः स्थानम्। किम्भूतं? अपदं न विद्यते पदं रक्षणं स्थानं लक्षणं वा; यतः ***यत्र*** यस्य वा तदपदम्। किं भूतास्ते? ***आसंसारात्*** पञ्चप्रकारसंसारमभिव्याप्य; ***प्रतिपदं*** पदं पदं प्रतीति प्रतिपदं, एकेन्द्रियद्वीन्द्रियादिस्थाने परद्रव्यलक्षणे पदे वा; ***नित्यमत्ताः*** नित्यं दृप्ताः हर्षं गता वा स्वरूपानभिज्ञत्वात्। ***इतः*** परस्थानात्; ***एत एत*** पुनः पुनरागच्छत

मन्दाक्रान्ता : **हे अन्धो! अब जगो प्रतिपद रागवश मत्त हो नित,**
सोते इनमें अनादि से पर रहे ये अपद नित।
लौटो आओ यहाँ शाश्वत पूर्ण निज रसमयी है,
शुद्ध शुद्ध सतत चेतन धातुमय यह स्वपद है।।१३८।।

टीकार्थ : भो **अन्धाः**=ज्ञानरूपी दृष्टि से परांमुख/रहित होने के कारण, हे अन्धे रागियों! **विबुध्यध्वं**=तुम प्रतिबुद्ध हो जाओ! जानो!! **अमी रागिणः**=पर-द्रव्यों में राग=रति विद्यमान है जिनके, वे ये रागी; **यस्मिन्**=जिस चिद्रूप आत्मा में या पर-द्रव्य में; **सुप्ताः**=नींद लेते हुए सो रहे हैं अथवा उनके स्वरूप से अनभिज्ञ होने के कारण, निद्रापने में स्थित हैं; **तत् अपदं**=वह चिद्रूप में सोना अनुचित है, पर-द्रव्य में स्थिति=स्थान/लीनता उचित नहीं है। वह कैसा है? **अपदं**=नहीं है पद=रक्षण=स्थान अथवा लक्षण, ऐसा अपद है, क्योंकि **यत्र**=जहाँ या जिसका वह अपद है; वहाँ सोनेवाले वे कैसे हैं? **आसंसारात्**=पाँच प्रकार के संसार को व्याप्त कर; **प्रतिपदं**=पद-पद के प्रति इस प्रकार प्रतिपद (अव्ययीभाव समास द्वारा बना रूप है) एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय आदि स्थान में अथवा पर-द्रव्य लक्षण पद में; **नित्यमत्ताः**=सदा तृप्त हैं अथवा स्वरूप से अनभिज्ञ होने के कारण, हर्षित हैं। **इतः**=उस पर-स्थान से इस ओर; **एत एत**=पुनः-पुनः तुम लौट आओ। **इदं इदं**=यह शुद्ध चिद्रूप

यूयम्। ***इदं इदं*** शुद्धचिद्रूपलक्षणं इदमेव नान्यत् इति निर्धारणार्थं वीप्सा। ***पदं*** स्थानं ज्ञानिनां स्थितियोग्यत्वात्, अथवा इदमिदं एकपदं, अस्य चिद्रूपस्य इदं इदमिदं पदं, इतः आगच्छत। ***यत्र*** पदे; ***चैतन्यधातुः*** चेतनालक्षणो धातुः; ***स्थायिभावत्वमेति*** स्थैर्यमेति प्राप्नोति। कुतः ? ***स्वरसभरतः*** स्वानुभवातिशयात्। किं भूतः ? ***शुद्धः*** निर्मलः। पुनः किं भूतः ? ***शुद्धः*** परद्रव्यादतीवनिर्मलः, प्रथमशुद्धपदेन इतरद्रव्येभ्यः शुद्धत्वमावेदितं, द्वितीयशुद्धपदेन स्वसंसारिद्रव्याच्छुद्धत्वं चावेदितम् ॥६ ॥

अथ तत्पदास्वादनं स्वदते—

लक्षण यही है; दूसरा नहीं है - इस प्रकार निर्धारण के लिए वीप्सा=दो बार कहा। **पदं**=ज्ञानियों की स्थिति के योग्य होने से पद=स्थान; अथवा यह इस चिद्रूप आत्मा का यही, एकमात्र पद है, यहाँ आओ। **यत्र**=जिस पद में; **चैतन्यधातुः**=चेतना-लक्षणमय धातु; **स्थायिभावत्वमेति**=स्थायी भावत्व को, स्थिरता को प्राप्त है। वह ऐसा कैसे है? **स्वरसभरतः**=आत्मा के अनुभव की अतिशयता के कारण, स्वरस से भरपूर होने के कारण ऐसा है। वह कैसा है? **शुद्धः**=निर्मल है। वह और कैसा है? **शुद्धः**=पर-द्रव्य से अत्यधिक निर्मल है। पहले 'शुद्ध' पद द्वारा, अन्य द्रव्यों से पृथक्तापरक शुद्धता का ज्ञान कराया है और दूसरे 'शुद्ध' पद द्वारा, अपने संसारी द्रव्य से शुद्धता का ज्ञान कराया है।

अर्थात्, ज्ञानरूपी दृष्टि से रहित हे अन्धे रागियो! पर-द्रव्यों में रति करनेवाले ये रागी-जन, पाँच प्रकार के संसार को व्याप्त कर, अनादि से एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय आदि या पर-द्रव्यमय प्रत्येक पद में, अपने स्वरूप से अनभिज्ञ होने के कारण, सदा सन्तुष्ट-हर्षित होते हुए जिस चिद्रूप आत्मा में या पर-द्रव्य में नींद ले रहे हैं, वह अनुचित है; पर-द्रव्य में स्थित रहना, योग्य नहीं है; यह रक्षण करनेवाला, स्थित रहने-योग्य, स्थान नहीं है।

तुम अब प्रतिबुद्ध हो जाओ!! उस अनुचित, पर-स्थान से इस ओर आओ! आओ!! वास्तव में यह शुद्ध चिद्रूप-लक्षणमय पद ही तुम्हारा पद है; अन्य कोई दूसरा तुम्हारा पद नहीं है। ज्ञानियों की स्थिति के योग्य इसी पद में चैतन्यात्मक धातु है। यह आत्मा के अनुभव की अतिशयता के कारण स्व-रस से परिपूर्ण स्थायी भावत्व को प्राप्त है। यह पर-द्रव्यों से पूर्णतया पृथक् होने के कारण, शुद्ध और अपने सांसारिक-भावों से भी भिन्न होने के कारण, शुद्ध - इस प्रकार अत्यधिक शुद्ध है। सदा इसमें ही स्थित रहो।।१३८।।

अब, उस पद के आस्वादन का स्वाद लेते हैं/समर्थन करते हैं —

अनुष्टुप् : **एकमेव हि तत्स्वाद्यं, विपदामपदं पदम्।**
अपदान्येव भासन्ते, पदान्यन्यानि यत्पुरः ॥७॥१३९॥

टीका : *हि* इति व्यक्तं; ***एकमेव तत्*** प्रसिद्धं; ***पदं*** चैतन्यस्थानं, पद्यते गम्यते ज्ञायतेऽनेनेति पदं ज्ञानं वा; ***स्वाद्यं*** आस्वाद्यं ध्यानविषयीकर्तव्यमिति भावः। ***विपदां*** संसाराशर्मणां; ***अपदं*** अस्थानं, दुःखरहितत्वात्; ***यत्पुरः*** चैतन्यधातुलक्षणस्थानाग्रे; ***अन्यानि*** पराणि, अनात्मस्वभावानि; ***पदानि*** व्रतादीनि; ***अपदान्येव*** अस्थानानि अज्ञानस्वरूपाणि निश्चयेन; ***भासन्ते*** चकासति ॥७॥

अथात्मज्ञानयोरेकत्वं नेनीयते—

शार्दूलविक्रीडित : **एकज्ञायकभावनिर्भरमहास्वादं समासादयन्,**
स्वादं द्वन्द्वमयं विधातुमसहः स्वाऽवस्तुवृत्तिं विदन्।

अनुष्टुप् : **एक यह ही वेदन-योग्य, दु:खों का अपद सदा।**
जिसके सामने अन्य, पद भासें अपद सदा।।१३९।।

टीकार्थ : हि=यह व्यक्त अर्थ का वाचक अव्यय है। **एकमेव तत्**=वह प्रसिद्ध एक ही; **पदं**=चैतन्यमय स्थान, जिसके द्वारा जाना जाता है, वह पद अथवा ज्ञान; **स्वाद्यं**=स्वाद लेने-योग्य है, ध्यान का विषय करने-योग्य है - ऐसा भाव है। **विपदां**=संसार के दु:खों का, **अपदं**=दु:खों से रहित होने के कारण, अस्थान है। **यत्पुरः**=जिस चैतन्य-धातु लक्षणमय स्थान के आगे; **अन्यानि**=पर, अनात्म-स्वभावमय अन्य; **पदानि**=व्रत आदि पद; **अपदान्येव**=अज्ञान-स्वरूप अस्थानमय अपद ही वास्तव में **भासन्ते**=लगते हैं।

अर्थात्, वास्तव में दु:खों से रहित होने के कारण, सांसारिक सभी दु:खों का अपद/अस्थानभूत, एक, प्रसिद्ध चैतन्यमय स्थानरूप वह ज्ञान-पद ही स्वाद लेने-योग्य है, ध्यान करने-योग्य है; जिसके आगे अनात्म-स्वभावमय व्रत आदि सभी अन्य पद, अज्ञान-स्वरूप अस्थानमय अपद लगते हैं।।१३९।।

अब, आत्मा और ज्ञान में एकत्व का ज्ञान कराते हैं —

शार्दूलविक्रीडित : **एक हि ज्ञायक भाव अनुभव अधिकमय श्रेष्ठ स्वाद प्राप्त हो,**
द्वन्द्वमयी आस्वाद नहिं सह सके जाने स्व-वस्तुत्व को।
आत्मा का अनुभव-प्रभाव ज्ञाता वैशिष्ट्य की गौणता,
नित सामान्य प्रगट यही ला रहा सब ज्ञान में एकता।।१४०।।

आत्मात्मानुभवानुभावविवशो भ्रश्यद्विशेषोदयं,
सामान्यं कलयन् किलैष सकलं ज्ञानं नयत्येकताम् ॥८॥१४०॥

टीका : ***किल*** इत्यागमोक्तौ। ***एष; आत्मात्मानुभवानुभावविवशः*** आत्मनश्चिद्रूपस्य आत्मना स्वरूपेण सहानुभवः अनुभवनं, तस्य अनुभावः प्रभावः, तेन उपलक्षितो विशिष्टो वशः ज्ञातृता, 'वशा स्त्री करिणी च स्याद्दृग्ज्ञाने ज्ञातरि त्रिषु' इत्यनेकार्थः। ***सकलं ज्ञानं*** आभिनिबोधिकश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलं ज्ञानं; ***एकतां*** एकत्वं; ***नयति*** प्राप्नोति, ज्ञानमात्मा चैक एव पदार्थ इत्येकतां प्राप्नोति। किं भूतः? ***समासादयन्*** प्राप्नुवन्; कं? ***एकज्ञायकभावनिर्भरमहास्वादं*** एकः अद्वितीयः, ज्ञायकभावः ज्ञातृस्वभावः, तस्य निर्भरः अतिशयः, स एव महास्वादः, तम्।

पुनः किं भूतः? ***असहः*** अक्षमः; किं कर्तुं? ***द्वंद्वमयं*** आत्मक्रोधयोर्युग्मनिर्वृत्तं; ***स्वादं विधातुं*** आस्वादयितुम्। किं कुर्वन्? ***स्वाऽवस्तुवृत्तिं*** स्वे आत्मनि, अवस्तुनः क्रोधादेः वृत्तिं वर्तनां; ***विदन्*** जानन्; ***स्वां वस्तुवृत्तिमिति*** च क्वचित्पाठः स्वकीयां

टीकार्थ : किल=यह आगम में कहे गए - इस अर्थ में आया अव्यय है। **एषः**= यह; **आत्मात्मानुभवानुभावविवशः**=चिद्रूप आत्मा का अपने स्वरूप के साथ अनुभव= अनुभवन, उसका अनुभाव=प्रभाव, उससे उपलक्षित/सहित, विशिष्ट-वश=ज्ञातापना; 'वश' शब्द हथिनी अर्थ में स्त्रीलिंगी और दर्शन, ज्ञान, ज्ञाता में तीनों लिंगों में है - ऐसा अनेकार्थ कोश में बताया गया है। **सकलं ज्ञानं**=आभिनिबोधिक/मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल - ये सभी ज्ञान; **एकतां**=एकत्व को; **नयति**=प्राप्त हैं; ज्ञान और आत्मा एक ही पदार्थ है - इस प्रकार ये एकता को प्राप्त हैं। यह कैसा है? **समासादयन्**=प्राप्त करता हुआ; किसे प्राप्त करता हुआ? **एकज्ञायकभावनिर्भरमहास्वादं**=एक=अद्वितीय, ज्ञायक भाव=ज्ञाता स्वभाव, उसका निर्भर=अतिशय, वही है महा-स्वाद, उसे प्राप्त करता हुआ।

वह और कैसा है? **असहः**=अक्षम/असमर्थ है; क्या करने के लिए अक्षम है? **द्वन्द्वमयं**=आत्मा और क्रोध में युग्म/दोनों का परस्पर जोड़ा/सम्बन्ध से रचित/मिश्र; **स्वादं विधातुं**=स्वाद लेने के लिए अक्षम है। क्या करता हुआ ऐसा है? **स्वाऽवस्तुवृत्तिं**=अपने आत्मा में, क्रोधादिरूप अवस्तु की वृत्ति=वर्तना/परिणति को; **विदन्**=जानता हुआ; **स्वां वस्तुवृत्तिमिति**=ऐसा भी पाठ कहीं प्राप्त है; इसका अर्थ है - स्वकीय=अपनी, वस्तुवृत्ति= यथाख्यात चारित्ररूप वृत्ति को जानता हुआ। और क्या करता हुआ? **सामान्यं**=पहले और

वस्तुवृत्तिं यथाख्यातचारित्रवृत्तिं जानन्। पुन: किं कुर्वन्? ***सामान्यं*** पूर्वोत्तरविवर्तवर्त्येकत्व-लक्षणं ज्ञानत्वस्वरूपमूर्ध्वतासामान्यम्। ***कलयन्*** कलनां कुर्वन्; किम्भूतं तत्? ***भ्रश्य-द्विशेषोदयं*** भ्रश्यन् गलन् विशेषाणां मतिश्रुतावधिमन:पर्ययकेवलरूपाणां, उदय: प्राकट्यं यत्र तत्, सामान्ये विवक्षिते विशेषाणां विवक्षाभाव: ॥८॥

अथ संवेदनव्यक्तिमवनीस्वद्यते—

शार्दूलविक्रीडित : **अच्छाच्छा: स्वयमुच्छलन्ति यदिमा: संवेदनव्यक्तयो,**
निष्पीताखिलभावमण्डलरसप्राग्भारमत्ता इव।
यस्याभिन्नरस: स एष भगवानेकोऽप्यनेकीभवन्,
वल्गत्युत्कलिकाभिरद्भुतनिधिश्चैतन्यरत्नाकर: ॥९॥१४१॥

आगे की पर्यायों में वर्तनेवाले एकत्व लक्षणमय ज्ञानत्व स्वरूप-युक्त ऊर्ध्वता सामान्य को; **कलयन्**=प्राप्त करता हुआ, वह ऐसा है। यह सामान्य कैसा है? **भ्रश्यद्विशेषोदयं**= भ्रश्य= नष्ट करता हुआ, मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय, केवलज्ञानरूप विशेषों का उदय= प्रगटता जिसमें, वह; सामान्य के विवक्षित/मुख्य होने पर, विशेषों की विवक्षा का अभाव रहता है/ वे गौण हो जाते हैं।

अर्थात्, एक अद्वितीय ज्ञायक-स्वभाव की अतिशयता से परिपूर्ण महा-स्वाद को प्राप्त करता हुआ; आत्मा और क्रोधादि के द्वन्द्वमय मिश्र स्वाद को लेने में असमर्थ; अपने आत्मा में क्रोधादिरूप अवस्तु की वृत्ति को अथवा अपनी यथाख्यात-चारित्ररूप वृत्ति को जानता हुआ; चिद्रूप-स्वभावी अपने आत्मा के अनुभव सम्बन्धी प्रभाव से विशिष्ट; यह ज्ञाता, मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय, केवल आदि विशेषों की प्रगटता को गौण करता हुआ, आगम में कहे अनुसार उन आभिनिबोधिक/मति आदि सभी ज्ञानों में एकता को प्राप्त होता है। ज्ञान और आत्मा, एक ही पदार्थ है और सामान्य को मुख्य करने पर, विशेष गौण हो जाते हैं; अत: मति आदि सभी विशेषों में, ज्ञानात्मक एक आत्मा ही दिखाई देता है।।१४०।।

अब, संवेदन की व्यक्तिओं/ज्ञान के विशेषों की भूमिका का आस्वादन करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **अति निर्मल खुद उछलती सब जगत को जान आधिक्य से,**
मत्त समान सभी ये ज्ञान व्यक्ति पर्याय में नित उठें।
जिसके वह नित एक है पर विविध हो चित् अभिन्नी रसी,
रत्नाकर चैतन्य अद्भुत निधि भगवान शोभित यही।।१४१।।

टीका : *वल्गति* उल्लसति। कः ? ***सः एषः; चैतन्यरत्नाकरः*** चैतन्यमेव रत्नं मणिः, तस्य आकरः स्थानं आत्मा पक्षे समुद्रः। काभिः ? ***उत्कलिकाभिः*** ऊर्ध्वांशैः ज्ञानलक्षणैः, पानीयलक्षणैर्वा सम्वेदनशक्तिभिः, अन्यत्र ऊर्मिभिरित्यर्थः। किं भूतः ? ***अद्भुतनिधिः*** अद्भुताः, आश्चर्यदाः, निधयः ज्ञानादिरूपा वा यत्र सः; पुनः ***अभिन्नरसः*** अभिन्नः भेत्तुमशक्यः, रसो यत्रोभयत्र सः; ***भगवान्*** भगं ज्ञानं पक्षे लक्ष्मीर्विद्यते यस्य स भगवान् 'भगं श्रीज्ञानमाहात्म्यवीर्यप्रयत्नकीर्तिषु' इत्यनेकार्थः।

एकोऽपि आत्मत्वसामान्येन समुद्रत्वेन चाद्वितीयोऽपि; ***अनेकीभवन्*** मति-श्रुतादिज्ञानेन मतिज्ञानी श्रुतज्ञानी पक्षे पूर्वापरादिभागेन पूर्वसमुद्रः पश्चिमसमुद्रः इत्यादि-रूपेणानेकतां भजन्। कुतः ? ***यत्*** यस्मात्कारणात्; ***यस्य*** आत्मनः सम्बन्धिन्यः; ***इमाः संवेदनव्यक्तयः*** ज्ञानविशेषाः मतिज्ञानादयः; ***स्वयं*** स्वतः; ***उच्छलन्ति*** उत्कर्षं गच्छन्ति, अन्या अपि जलव्यक्तयः उच्छलन्ति।

टीकार्थ : वल्गति=सुशोभित होता है। कौन ? **सः एषः**=वह यह; **चैतन्यरत्नाकरः**= चैतन्य ही है रत्न=मणि, उसका आकर=स्थान आत्मा, पक्षरूप उदाहरण में समुद्र सुशोभित होता है। यह किनसे ऐसा है? **उत्कलिकाभिः**=ऊर्ध्वांश/ऊपर उछलती हुई ज्ञानलक्षण संवेदन की शक्तियों द्वारा, या अन्यत्र जलरूप लहरों के द्वारा, यह सुशोभित है – ऐसा अर्थ है। यह कैसा है? **अद्भुतनिधिः**=अद्भुत=आश्चर्य-दायी, निधियाँ अथवा ज्ञानादिरूप निधियाँ जिसमें हैं, वह; और **अभिन्नरसः**=अभिन्न=भेदन करने में अशक्य रस है जिसमें, दोनों में इसे घटित करना; अर्थात्, आत्मा, आनन्दादि रसमय और समुद्र जलमय अभिन्न है, वह; **भगवान्**=भग=ज्ञान, पक्षरूप उदाहरण में लक्ष्मी विद्यमान है जिसके, वह भगवान; *''भग शब्द श्री, ज्ञान, माहात्म्य, वीर्य, प्रयत्न, कीर्ति अर्थ में आता है'* – ऐसा अनेकार्थ कोश में कहा है।

एकोऽपि=आत्मत्व सामान्य से और समुद्र समुद्रपने से एक=अद्वितीय होने पर भी; **अनेकीभवन्**=मति, श्रुत आदि ज्ञान से मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी होता हुआ; पक्ष में पूर्व, पश्चिम आदि भाग से पूर्वी समुद्र, पश्चिमी समुद्र इत्यादिरूप से अनेकता को धारण करता हुआ। वह ऐसा कैसे है? **यत्**=जिस कारण से; **यस्य**=जिसके=आत्मा से सम्बन्धित/आत्मा के; **इमाः सम्वेदनव्यक्तयः**=ये मतिज्ञान आदि ज्ञान के विशेषरूप सम्वेदन व्यक्तियाँ; **स्वयं**=अपने

किम्भूता: ? ***अच्छाच्छा:*** निर्मलपदार्थनैर्मल्यान्निर्मला: । उत्प्रेक्षां दर्शयति अत उत्प्रेक्षते –***निष्पीताखिलभावमण्डलरसप्राग्भारमत्ता*** निष्पीतं क्रोड़ीकृतं ज्ञायकस्वभावेन अखिलभावानां समस्तज्ञानज्ञेयपदार्थानां मण्डलं समूह:, स एव रस: अनुभवस्वभाव:, पानीयं वा स चासौ रसश्चेति वा मदिरारूपो रस: मदहेतुत्वात्, तस्य प्राग्भार: पूर्वातिशय:, तेन मत्ता: मदं नीता: । ***इव*** यथा केचित् मैरेयमत्ता उच्छलन्ति तथा एता अपि ॥९ ॥

आप; **उच्छलन्ति**=उत्कर्ष को प्राप्त होती हैं/उछलती हैं; अन्य/समुद्र में भी जल की व्यक्तियाँ/लहरें उछलती हैं।

वे व्यक्तियाँ कैसी हैं? **अच्छाच्छा**:=निर्मल पदार्थ की निर्मलता से निर्मल/अति स्वच्छ हैं। उत्प्रेक्षा दिखाते हैं; अत: उत्प्रेक्षा करते हैं ह्न **निष्पीताखिलभावमण्डलरस–प्राग्भारमत्ता**=निष्पीत=पी लिया, ज्ञायक–स्वभाव से जान लिया, समस्त ज्ञान और ज्ञेय पदार्थोंमय सभी भावों का, मण्डल=समूह, वही है रस=अनुभव का स्वभाव अथवा जल, वह और वह रस – इस प्रकार; अथवा मद/नशा में कारणता होने से, मदिरारूपी रस, उसका प्राग्भार=पहले से ही अधिक, उससे मत्त=मतवाला है। **इव**=समान; जैसे, कोई शराब पीनेवाले नशावान उछलते हैं; उसी प्रकार ये भी उछलते हैं।

अर्थात्; जैसे, अत्यन्त स्वच्छ जल से परिपूर्ण, रत्नों का भण्डार, लक्ष्मीवान, अभिन्न जलमय समुद्ररूप से एक होने पर भी पूर्व, अपर आदि भागों से पूर्वी समुद्र, पश्चिमी समुद्र इत्यादिरूप में अनेक होता हुआ, सारे विकारों को स्वयं में समाहित कर, विशाल लहरोंरूप में उछलता हुआ, रत्नाकर समुद्र सुशोभित होता है अथवा कोई शराब पीनेवाले, उसके नशे में उछलते हैं।

उसी प्रकार जिस आत्मा की अत्यन्त स्वच्छ, अपने ज्ञायक–स्वभाव से सम्पूर्ण ज्ञान और ज्ञेय–पदार्थों के समूह को जाननेरूप अनुभव–रस द्वारा पहले से ही मत्त/तृप्त, ऊपर उठती/पर्यायरूप प्रगट, मति–ज्ञानादि ज्ञान के विशेषरूप से सम्वेदन व्यक्तियाँ स्वयं उछल रही हैं; वह यह आनन्दादि के अभिन्न रसमय, ज्ञान–स्वभावी भगवान; आत्मत्व सामान्य की अपेक्षा एक होने पर भी मति, श्रुत आदि ज्ञान द्वारा मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी इत्यादिरूप में अनेक होता हुआ; ज्ञानादि आश्चर्यकारी निधियों से सम्पन्न, चैतन्य–रत्नाकर सुशोभित हो रहा है।।१४१।।

अथ ज्ञानान्येषां कर्मणां क्लेशत्वमाकर्षति—

शार्दूलविक्रीडित : **क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः,**
क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरम्।
साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं,
ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते न हि॥१०॥१४२॥

टीका : केचित् ***स्वयमेव*** गुरूपदेशादिना विना; ***क्लिश्यन्तां*** क्लेशं कुर्वताम्। कैः ? ***दुष्करतरैः*** दुःसाध्यैः; ***कर्मभिः*** शीतातापनवर्षायोगप्रतिक्रमणादिक्रियाभिः; किं भूतैः ? ***मोक्षोन्मुखैः*** कर्ममोचनं प्रति सम्मुखैः निर्जराहेतुत्वात्। ***च*** पुनः; ***परे*** पुरुषाः; ***चिरं*** दीर्घकालं; ***क्लिश्यन्तां*** कायादिक्लेशं कुर्वतां; किम्भूताः संतः ? ***भग्नाः*** सन्तः, केन ? ***महाव्रततपोभारेण*** महाव्रतानि अहिंसादीनि, तपांसि अनशनादीनि, तेषां भारः, तेन कर्मणां महाव्रतादिभिः निर्जरासद्भावेऽपि ततो बहुतरकर्मास्त्रवः ज्ञानाभावात्। ***हि*** इति यस्मात्; ***कथमपि*** केनापि प्रकारेण; ***ज्ञानगुणं*** ज्ञानमाहात्म्यं; ***विना; प्राप्तुं*** मोक्षमवाप्तुं; ***न क्षमन्ते***

अब, ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कर्मों के क्लेशपने को विशेषरूप से स्पष्ट करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **दुःख सहो स्वयमेव मोक्ष उन्मुख दुस्साध्य कर्मादि से,**
दुःख सहो चिरकाल तप महाव्रत के कष्टयुत भार से।
पर यह सब विपदा रहित स्वयं ही सम्वेद्यमान मोक्ष पद,
ज्ञानात्मक इस ज्ञान गुण विना नित पाना सदा असम्भव।।१४२।।

टीकार्थ : कोई **स्वयमेव**=गुरु के उपदेश आदि के विना, स्वयं ही; **क्लिश्यन्तां**= क्लेश करो। किनके द्वारा? **दुष्करतरैः**=दुस्साध्य/अत्यन्त कठिन; **कर्मभिः**=शीतयोग, आतापनयोग, वर्षायोग, प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं के द्वारा; कैसी क्रियाओं द्वारा? **मोक्षोन्मुखैः**=निर्जरा की हेतुता होने के कारण, कर्मों से छूटने के प्रति सम्मुख उन क्रियाओं को करो। **च**=और; **परे**=कोई दूसरे व्यक्ति; **चिरं**=दीर्घ काल पर्यन्त; **क्लिश्यन्तां**=काय-क्लेश करो। कैसे होते हुए? **भग्नाः**=भग्न/पीड़ित होते हुए, किससे? **महाव्रततपोभारेण**= अहिंसा आदि महाव्रत, अनशन आदि तप, उनका भार, उससे पीड़ित होते हुए करो; महाव्रत आदि द्वारा कर्मों की निर्जरा का सद्भाव होने पर भी, ज्ञान का अभाव होने के कारण, उनसे कर्मों का आस्रव अत्यधिक होता है। **हि**=ऐसा है जिस कारण। **कथमपि**=किसी भी प्रकार से; **ज्ञानगुणं विना**=ज्ञान की महिमा के विना; **प्राप्तुं**=मोक्ष को प्राप्त करने के लिए; **न**

न समर्था भवन्ति। ततः ***साक्षात्*** प्रत्यक्षं; ***इदं ज्ञानं*** आत्मपरिज्ञानं; ***मोक्षः*** तदन्यतमस्य तत्रानुपलभ्यमानत्वात्। किं भूतं? ***निरामयपदं*** निर्गतः आमयः रोगः, उपलक्षणात् क्षुत्तृष्णा –जन्मजरामरणाधिदुःशर्मास्वास्थ्योद्वेगादिर्गृह्यते यस्मात्तत्पदं स्थानम्। ***स्वयं*** स्वेन आत्मना; ***संवेद्यमानं*** स्वसंवेदनप्रत्यक्षेण ज्ञायमानम् ॥१०॥

अथ मुक्तेर्दुष्प्राप्यत्वं प्रथयति—

द्रुतविलम्बित : **पदमिदं ननु कर्म-दुरासदं, सहज-बोधकला-सुलभं किल।**
तत इदं निजबोधकलाबलात्कलयितुं यततां सततं जगत् ॥११॥१४३॥

क्षमन्ते=समर्थ नहीं होते हैं। इसलिए **साक्षात्**=प्रत्यक्ष; **इदं ज्ञानं**=यह आत्मा का परिज्ञान; **मोक्षः**=उसके अतिरिक्त अन्य कोई कारण उसे प्राप्त करानेवाला नहीं होने से, यही मोक्ष है। यह मोक्ष कैसा है? **निरामयपदं**=निर्गत=निकल गए हैं, आमय=रोग; उपलक्षण से क्षुधा, तृष्णा, जन्म, जरा, मरण, आधि/चिन्ता, दुःशर्म/खेद, अस्वास्थ्य, उद्वेग/भय आदि ग्रहण किए जाते हैं; उन सबसे रहित, वह पद=स्थान है। **स्वयं**=अपने आत्मा के द्वारा; **संवेद्यमानं**=स्व-सम्वेदन प्रत्यक्ष से जाना जाता है।

अर्थात्, निर्जरा की हेतुता होने के कारण, कर्मों से छूटने की भावना पूर्वक गुरु के उपदेश आदि के विना, स्वयं ही अत्यधिक दुस्साध्य शीत-योग, आतापन-योग, वर्षा-योग, प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं द्वारा क्लेश करो तो करो; अन्य कोई इसी कारण अहिंसा आदि महाव्रत, अनशन आदि तप के भार से पीड़ित होते हुए क्लेश करो तो करो; परन्तु वे स्वयं अपने आत्मा के द्वारा स्व-सम्वेदन प्रत्यक्ष से ज्ञात होनेवाले; क्षुधा, तृषा, जन्म, जरा, मरण, चिन्ता, खेद, रोग, भय आदि सभी दोषों से पूर्णतया रहित, इस आत्मा के प्रत्यक्ष परिज्ञानमय मोक्ष-स्वरूप पद को इस आत्म-ज्ञान की महिमा के विना, किसी भी प्रकार से प्राप्त करने में समर्थ नहीं हैं। एकमात्र अपने स्वरूप में परिपूर्ण स्थिरता से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है; इसके अतिरिक्त इसे प्राप्त करने का अन्य कोई उपाय नहीं है।

यद्यपि अहिंसा आदि महाव्रतों, अनशन आदि तपों से कर्मों की निर्जरा होती है; परन्तु आत्म-ज्ञान के अभाव में उनसे कर्मों का आस्रव भी अधिक होता है; अतः ज्ञानात्मक आत्मा में स्थिरता का ही पुरुषार्थ सतत करना चाहिए।।१४२।।

अब, मुक्ति की दुर्लभता का विस्तार से प्रतिपादन करते हैं—

द्रुतविलम्बित : **कठिन है पाना पद कर्म से, सहज बोध कला से यह सुलभ।**
अतः ज्ञान कला स्व शक्ति से, इसे पाने का कर नित यतन।।१४३।।

टीका : ***ननु*** इति वितर्के; ***किल*** इति निश्चितं; ***इदं पदं*** मोक्षलक्षणं; ***कर्मदुरासदं*** कर्मणा क्रियाकाण्डतपश्चरणादिना, दुरासदं दुष्प्राप्य। ***ततः*** तस्मात्कारणात्; ***जगत्*** त्रिभुवनं; ***इदं*** पदं; ***कलयितुं*** अवगाहयितुं; ***सततं यततां*** निरन्तरयत्नं कुरुताम्। कुतः ? ***निजबोधकलाबलात्*** निजबोधः स्वात्मज्ञानं, तस्य कला कलनं, तस्य बलं सामर्थ्यं, तस्मात्। कुतस्तत्र यत्नं ? यत इदं पदं, ***सहजबोधकलासुलभं*** सहजबोधः स्वस्वरूपज्ञानं, तस्य कला कलनं अभ्यसनं, तया सुलभं सुप्रापम्॥ ११ ॥

अथ ज्ञानिनोऽपरस्याकिंचित्करत्वं युनक्ति—

उपजाति : **अचिन्त्यशक्तिः स्वयमेव देवश्चिन्मात्रचिन्तामणिरेष यस्मात्।**
सर्वार्थ-सिद्धात्मतया विधत्ते, ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण॥१२॥१४४॥

टीकार्थ : ननु=यह 'वितर्क' अर्थ में अव्यय है; **किल**=यह निश्चित अर्थ में अव्यय है। **इदं पदं**=मोक्ष-लक्षणमय यह पद; **कर्मदुरासदं**=क्रिया-काण्ड, तपश्चरण आदि कर्मों द्वारा दुष्प्राप्य है। **ततः**=उस कारण; **जगत्**=तीनों लोक; **इदं**=इस पद को; **कलयितुं**=प्राप्त करने के लिए; **सततं यततां**=निरन्तर प्रयत्न करो। कैसे प्रयत्न करें? **निजबोधकलाबलात्**=निजबोध=आत्म-ज्ञान, उसकी कला=उत्तम प्रगटतारूप कला, उसका बल=सामर्थ्य, उससे प्राप्त करने का प्रयत्न करो। उसमें कैसे यत्न करें? क्योंकि यह पद, **सहजबोधकलासुलभं**=सहजबोध=अपने स्वरूप का ज्ञान, उसकी कला=उसे प्रगट करने का अभ्यास, उसके द्वारा सुलभ=सहजता से प्राप्त हो जाता है।

अर्थात्, वास्तव में यह मोक्ष-लक्षणमय ज्ञान-स्वरूप पद, क्रिया-काण्ड, तपश्चरण आदि कर्मों से दुष्प्राप्य है और अपने स्वरूप के ज्ञान को प्रगट करने के अभ्यासरूप सहज-बोध कला से सरलता पूर्वक प्राप्त हो जाता है; अतः हे जगत्-जनो! आत्म-ज्ञान की प्रगटतारूप निज बोध-कला की सामर्थ्य से, इसे प्राप्त करने का सतत पुरुषार्थ करो।।१४३।।

अब, इसके अतिरिक्त और सब कुछ ज्ञानी के लिए अकिंचित्कर है, इसे युक्ति पूर्वक (दो पद्यों द्वारा) स्पष्ट करते हैं—

उपजाति : **अचिन्त्य-शक्ति खुद ही है देव, चैतन्य चिन्तामणिमय सुज्ञानी।**
इससे सभी इसके अर्थ सिद्ध, तब अन्य परिग्रह क्यों लें ये ज्ञानी ?।।१४४।।

वसन्ततिलका : **सामान्य से सब परिग्रह छोड़कर यह,**
अज्ञान जो स्व पर में अविवेक कारण।

वसन्ततिलका : **इत्थं परिग्रहमपास्य समस्तमेव,**
सामान्यतः स्वपरयोरविवेकहेतुम्।
अज्ञानमुज्झितुमनः अधुना विशेषाद्,
भूयस्तमेव परिहर्तुमयं प्रवृत्तः ॥१३॥१४५॥

टीका : ***अन्यस्य*** परद्रव्यस्य; ***परिग्रहेण*** ममत्वरूपाङ्गीकारेण; ***ज्ञानी*** सुज्ञ; ***किं विधत्ते ?*** न किमपि तत्र ममत्वाभावात्। कुतः ? ***यस्मात्***कारणात् एष ज्ञानी आत्मा; ***सर्वार्थसिद्धात्मतया*** सर्वार्थैः सिद्धः निष्पन्नः, आत्मा स्वरूपं, यस्य तस्य भावः तत्ता तया। ***विधत्ते*** स्वकार्यं करोतीत्यर्थः। किम्भूतः ? ***अचिन्त्यशक्तिः*** अचिन्त्या चिन्तितुमशक्या, शक्तिः सामर्थ्यं यस्य सः। ***स्वयमेव*** स्वरूपेणैव; ***देवः*** दीव्यति क्रीड़ति स्वस्वरूपेणेति देवः। पुनः किं भूतः ? ***चिन्मात्रचिन्तामणिः*** चैतन्यनिर्वृत्तचिन्तामणिः ॥१२॥

उसको हि छोड़ने तत्पर यह पुनः अब,
वैशेष्यपूर्वक उसे तजने प्रवृत्त।।१४५।।

टीकार्थ : अन्यस्य=अन्य पर-द्रव्य को; **परिग्रहेण**=ममत्वरूप में अङ्गीकार करने से; **ज्ञानी**=सुज्ञ/स्व-पर विवेकी, यह सम्यग्ज्ञानी; **किं विधत्ते ?**=क्या धारण करे? उनमें ममत्व का अभाव होने से, वह उन्हें किसी भी रूप में ग्रहण नहीं करता है। कैसे/क्यों ग्रहण नहीं करता है? **यस्मात्**=जिस कारण से यह ज्ञानी आत्मा; **सर्वार्थ-सिद्धात्मतया**=सभी प्रयोजनों का सिद्ध=निष्पन्न होना है, आत्मा=स्वरूप जिसका, उसका भाव, तत्ता=तत्त्व, उससे; **विधत्ते**=अपना कार्य करता है - ऐसा अर्थ है। वह तत्त्व कैसा है? **अचिन्त्यशक्तिः**= अचिन्त्य=चिन्तन करने के लिए असमर्थ, शक्ति=सामर्थ्य है जिसकी, वह। **स्वयमेव**=स्वरूप से ही; **देवः**=अपने स्वरूप से दीप्तिमान है, क्रीड़ा/रमण करता है - ऐसा देव है। वह कैसा है? **चिन्मात्रचिन्तामणिः**=चैतन्य से रचित, चिन्तामणि है।

भूयः=फिर से; **अधुना**=अब इस समय, वर्तमान में; **अयं**=यह ज्ञानी; **तमेव**=उस परिग्रह को ही; **परिहर्तुं**=छोड़ने के लिए; **प्रवृत्तः**=प्रयत्न-शील हुआ है। **विशेषात्**=पहले ज्ञान-भाव से/परिग्रह से रहित था, अब और विशेषरूप से; कैसा है? **उज्झितुमनः**=छोड़ने के लिए, मन=चित्त है जिसका, वह। क्या छोड़ने के लिए? **अज्ञानं**='मैं इसका, यह मेरा' - इसरूप अज्ञान को छोड़ने के लिए प्रयत्न-शील है। वह अज्ञान कैसा है? **स्वपरयोः**=स्व

भूयः पुनः; ***अधुना*** इदानीं संप्रति; ***अयं*** ज्ञानी; ***तमेव*** परिग्रहमेव; ***परिहर्तुं*** त्यक्तुं; ***प्रवृत्तः*** सोद्युक्तो बभूव। ***विशेषात्*** पूर्वं ज्ञानभावेन विमुक्तोपधिरपि इदानीं पुनर्विशेषतः। किम्भूतः ? ***उज्झितुमनः*** उज्झितुं त्यक्तुं, मनः चित्तं, यस्य सः। किं ? ***अज्ञानं*** अहमस्य ममेदं रूपमज्ञानम्। किम्भूतं ? ***स्वपरयोः*** जीवपुद्गलयोः; ***अविवेकहेतुं*** अविवेकस्य अविवेचनस्य, हेतुं कारणम्। किं कृत्वा ? ***इत्थं*** नाहमस्य नेदं मम, अहमेव मम स्वं, अहमेव मम स्वामीत्यादि पूर्वोक्तप्रकारेण। ***सामान्यतः*** स्वपरपरिग्रहस्य भेदविवक्षामन्तरेण; ***समस्तमेव*** चेतनाचेतनादिकं; ***परिग्रहं*** उपधिं; ***अपास्य*** त्यक्त्वा ॥१३॥

अथ ज्ञानिनामपरिग्रहत्वमुल्लिखति—

और पर=जीव और पुद्गल में; **अविवेकहेतुं**=अविवेक=अविवेचन का/पृथक्ता नहीं होने देने का, हेतु=कारण है। क्या करके वह ऐसा नहीं होने देता है? **इत्थं**='मैं इसका नहीं हूँ, यह मेरा नहीं है, मैं ही मेरा स्व है; मैं ही मेरा स्वामी हूँ' - इत्यादि पूर्वोक्त प्रकार से। **सामान्यतः**=अपने और पराए परिग्रह की भेद-विवक्षा के विना, सामान्य से; **समस्तमेव**= चेतन, अचेतन आदि सभी; **परिग्रहं**=उपधि को; **अपास्य**=छोड़कर।

अर्थात्, चिन्तन-गोचर नहीं होनेवाले अनन्त सामर्थ्य-सम्पन्न, चैतन्य से रचित चिन्तामणि तत्त्व-युक्त यह ज्ञानी, जिस कारण अपने स्वभाव से ही स्वयं देदीप्यमान, क्रीड़ा करनेवाला/आत्म-स्वरूप में रमण करनेवाला देव है, उस कारण अपने सभी प्रयोजन सिद्ध हो जाने से, पर-पदार्थों में ममत्व का अभाव हो जाने के कारण, यह ममत्व पूर्वक अन्य का ग्रहण क्यों करे? अतः यह पर-पदार्थों का ग्रहण नहीं करता है।

'मैं इसका नहीं हूँ, यह मेरा नहीं है; मैं ही मेरा स्व है, मैं ही मेरा स्वामी हूँ' - इत्यादिरूप में पहले कहे गए अनुसार, अपने और पराए की भेद-विवक्षा के विना, सामान्य से चेतन, अचेतन आदि सभी परिग्रहों को छोड़कर, अब, स्व और पररूप; जीव और पुद्गल में अविवेक/एकत्व/पृथक्ता नहीं होने देने में कारणभूत, 'मैं इसका हूँ, यह मेरा है' - इत्यादिरूप अज्ञान को छोड़ने के लिए मन बना/पक्का निर्णय कर लेनेवाला यह; पुनः उसी परिग्रह को भूमिकानुसार विशेषरूप से छोड़ने के लिए प्रवृत्त हुआ है।।१४४-१४५।।

अब, ज्ञानियों की अपरिग्रहता का उल्लेख करते हैं—

स्वागता : **पूर्वबद्ध स्वकर्म उदय से, यदि होता उपभोग ज्ञानि के।**
तो हो पर रागादि न उनमें, अतः परिग्रहभाव न उसके।।१४६।।

स्वागता : **पूर्वबद्धनिजकर्मविपाकाज्ज्ञानिनो यदि भवत्युपभोगः।**
तद्भवत्वथ च रागवियोगात्, नूनमेति न परिग्रहभावम्॥१४॥१४६॥

टीका : *यदि* यदा; ***ज्ञानिनः*** पुंसः; ***उपभोगः*** कर्मोदयजनितसुखदुःखादि-नोकर्माद्युपभोगः; ***भवति*** अस्ति। कुतः? ***पूर्वबद्धनिजकर्मविपाकात्*** पूर्वं ज्ञानावस्थातः प्राग्बद्धानि योगकषायवशादात्मसात्कृतानि, तानि च तानि कर्माणि च, तेषां विपाकः उदयः, तस्मात्। ***तत्*** तर्हि; ***भवतु*** अस्तु, अल्पभोगः। ***अथ च*** उपभोगकथनादनन्तरं; ***नूनं*** निश्चितं ज्ञानिन उपभोग इत्याध्याहार्यम्। ***परिग्रहभावं*** कर्मबन्धनाद्युपधिस्वभावं; ***नैति*** न प्राप्नोति। कुतः? ***रागवियोगात्*** रागस्य ममत्वादिपरिणामस्य वियोगः राहित्यं तस्मात्। कर्मोदयोपभोगस्तावत् ज्ञानिनः अतीतो न स्यात् प्रनष्टत्वात् प्रत्युत्पन्नानागतौ न स्तः, तत्र ममत्वाभावात् इति तात्पर्यम्॥ १४॥

टीकार्थ : यदि=जब; **ज्ञानिनः**=ज्ञानी के; **उपभोगः**=कर्म के उदय में होनेवाले सुख, दुःख आदि, नोकर्म आदि का उपभोग; **भवति**=होता है। यह कैसे होता है? **पूर्वबद्धनिजकर्मविपाकात्**=पूर्व=ज्ञान अवस्था से पहले, बद्ध=योग-कषाय के वश बँधे=आत्मसात् किए, वे और वे कर्म - इस प्रकार द्वन्द्व समास हुआ, उनका विपाक=उदय, उससे उपभोग होता है। **तत्**=तब; **भवतु**=वह अल्प-भोग हो। **अथ च**=अब इस उपभोग-कथन के बाद; **नूनं**=निश्चित/वास्तव में ज्ञानी के उपभोग है - ऐसा अध्याहार्य है (अपने मन से ले लेना)। **परिग्रहभावं**=कर्म-बन्धन आदिरूप उपधि/परिग्रह के स्वभाव को; **नैति**=प्राप्त नहीं होता है। ऐसा कैसे/क्यों नहीं होता है? **रागवियोगात्**=ममत्व आदि परिणामरूप राग का, वियोग=रहितपना, उससे ऐसा नहीं होता है। भूत-कालीन कर्म नष्ट हो जाने के कारण, उन कर्मों के उदय का उपभोग ज्ञानी के नहीं है तथा वर्तमान और भविष्य-कालीन कर्मों के प्रति ममत्व का अभाव होने से, उनका भी उपभोग उस ज्ञानी के नहीं है - ऐसा तात्पर्य है।

अर्थात्, ज्ञान-दशा से पहले योग-कषाय के कारण बँधे हुए कर्मों के उदय से, यदि ज्ञानी जीव के सुख-दुःख आदि और नोकर्म आदि का अल्प-भोगरूप उपभोग होता है, तो हो; परन्तु ममत्व आदि परिणामरूप राग का अभाव होने से, वास्तव में उस ज्ञानी के वह उपभोग, भूमिकानुसार कर्म-बन्धन आदिरूप परिग्रह-भाव को प्राप्त नहीं होता है।

इस ज्ञानी के भूत-कालीन कर्म के उदय में हुआ भोग तो नष्ट ही हो गया है; अतः

अथ विरक्तिं गृह्णाति—

स्वागता : **वेद्यवेदक-विभाव-चलत्वाद्वेद्यते न खलु कांक्षितमेव।**
तेन कांक्षति न किंचन विद्वान्, सर्वतोऽप्यतिविरक्तिमुपैति॥ १५ ॥१४७॥

टीका : ***तेन*** कारणेन; ***विद्वान्*** धीमान्; ***किञ्चन*** किमपि, शुभाशुभं; ***न कांक्षति*** आकांक्षाविषयं न करोति। ***अपि*** पुनः विद्वान्; ***सर्वतः*** संसारदेहभोगतः; ***अतिविरक्तिं*** अतिवैराग्यं; ***उपैति*** भजते प्राप्नोतीति यावत्। तेन केन? येन ***खलु*** इति वाक्यालङ्कारे; ***कांक्षितं*** वांछितं भावं; ***न वेद्यते*** नानुभूयते। कुतः? ***वेद्यवेदकविभावचलत्वात्*** वेदनयोग्यो वेद्यः, वेद्यते अनेनेति वेदकः, तौ च तौ विभावौ च तयोश्चलत्वं क्षणिकत्वं तस्मात्।

तथाहि—यौ वेद्यवेदकभावौ तौ क्षणिकौ स्तः विभावभावानामुत्पन्नप्रध्वंसित्वात्

उनके उपभोग का तो प्रश्न ही नहीं है। वर्तमान और भविष्य-कालीन कर्मोदय में होनेवाले उपभोग के प्रति उसका ममत्व-भाव नहीं है; अतः उसे उनका परिग्रह नहीं है। वह पूर्णतया अपरिग्रही ही है।।१४६।।

अब, (ज्ञानी) विरक्ति को ग्रहण करता है/विरक्त रहता है, यह बताते हैं—

स्वागता : **वेद्य वेदक विभाव क्षणिक हैं, वांछित उससे वेदता न कुछ।**
इससे सबसे अति विरक्त है, ज्ञानी नहीं चाहता है कुछ।।१४७।।

टीकार्थ : तेन=उस कारण से; **विद्वान्**=बुद्धिमान; **किंचन**=शुभ, अशुभ कुछ भी; **न कांक्षति**=आकांक्षा का विषय नहीं करता/नहीं चाहता है। **अपि**=और विद्वान्; **सर्वतः**=सब ओर से संसार, शरीर, भोगों से; **अति विरक्तिं**=अधिक वैराग्य को; **उपैति**=प्राप्त होता है। उससे किससे? जिस कारण, **खलु**=यह वाक्य में अलंकार है/वास्तव में; **कांक्षितं**=वांछित-भाव का; **न वेद्यते**=अनुभव नहीं करता है। वह कैसे/क्यों उसका अनुभव नहीं करता है? **वेद्यवेदकविभावचलत्वात्**=वेद्य=वेदन करने-योग्य; वेदक=जिसके द्वारा वेदन किया जा रहा है, वे और वे विभाव हैं, उन दोनों का चलत्व=क्षणिकत्व, उस कारण वह उनका अनुभव नहीं करता है।

वह इस प्रकार - विभाव-भावों के उत्पन्न-प्रध्वंसी होने से वे वेद्य और वेदक - दोनों ही भाव, क्षणिक हैं; अर्थात्, जो भाव, वेद्य-भाव का वेदन करता है, वह वेदक जब व्यक्त

अथ च यो भावः वेद्यं भावं वेदयते स वेदको यावद्भवति तावत्कांक्ष्यो वेद्यो भावो नश्यति, तद्विनाशे वेदकभावः किं वेदयते ? अथ कांक्ष्यवेद्यभावानन्तरभाविनमपरं भावं वेदयते तदा तद्भवनात्पूर्वं स वेदको नश्यति, तं को वेदयते ? अथ वेदकभावानन्तरभावी भावोऽपरस्तं वेदयते तद्भवनात्पूर्वं स वेद्यो नश्यति स किं वेदयते इति चलत्वान्न कांक्षति ॥१५ ॥

अथ ज्ञानिनोऽपरिग्रहित्वं चेतति—

स्वागता : **ज्ञानिनो न हि परिग्रह-भावं, कर्म रागरस-रिक्ततयैति।**
रङ्गयुक्तिरकषायितवस्त्रे, स्वीकृतैव हि बहिर्लुठतीह ॥१६ ॥१४८ ॥

टीका : ***हि*** निश्चितं; ***ज्ञानिनः*** पुंसः; ***कर्म परिग्रहभावं*** उपधिस्वभावं; ***नैति*** न प्राप्नोति। कया ? ***रागरसरिक्ततया*** रागः रसिकत्वं, तेन रिक्तस्तस्य भावस्तया। ***हि***

होता है, तब तक इच्छित वेद्य-भाव नष्ट हो जाता है। उसके नष्ट हो जाने पर, वेदक-भाव किसका वेदन करे? इच्छित वेद्य-भाव के बाद होनेवाले दूसरे भाव का वेदन करे - यदि ऐसा माना जाए, तब उसके होने के पहले, वह वेदक नष्ट हो जाता है; अतः उसका वेदन कौन करे? यदि यह कहा जाए कि उस वेदक-भाव के बाद होनेवाला दूसरा वेदक-भाव, उसका वेदन करता है; तब उसके होने के पहले वह वेद्य नष्ट हो जाता है; अतः वह किसका वेदन करे? ह्न इस प्रकार क्षणिकता होने के कारण, ज्ञानी उनकी इच्छा नहीं करता है।

अर्थात्, वेद्य/वेदन करने-योग्य, वेदक/वेदन करनेवाला - दोनों ही विभाव-भाव, पर्यायरूप होने से एक-एक समयवर्ती हैं; इस कारण इनका पारस्परिक सम्बन्ध बन पाना, कभी भी सम्भव नहीं है। इस प्रकार वेद्य-वेदकरूप विभाव, क्षणिक होने से वास्तव में कभी भी वांछित भाव का वेदन नहीं होता है; अतः बुद्धिमान ज्ञानी, शुभ या अशुभरूप किसी भी विषय की वांछा नहीं करता है। वह तो सब ओर से संसार, शरीर, भोगों के प्रति अत्यन्त विरक्त रहता है।।१४७।।

अब, ज्ञानी के अपरिग्रहीपने का ज्ञान करते हैं—

स्वागता : **कर्म का उपधि भाव नहीं है, ज्ञानी रहित रंग रसता से।**
ज्यों अकषायित वस्त्र न ग्रहे, ऊपर रहे रंग रँगने से।।१४८।।

टीकार्थ : हि=निश्चित; **ज्ञानिनः**=ज्ञानी जीव के; **कर्म परिग्रहभावं**=कर्म परिग्रह के स्वभाव को; **नैति**=प्राप्त नहीं होता है। वह किस कारण ऐसा है? **रागरसरिक्ततया**= राग=रसिकता, उससे रहित, उसका भाव, उस कारण वह उसे प्राप्त नहीं होता है। **हि**=यह

इत्यत्रार्थान्तरोपन्यासे। ***इह*** लौकिकयुक्तौ; ***रङ्गयुक्तिः*** लोहितादिरागयोगः; ***अकषायित-वस्त्रे*** विभीतकादिकषायद्रव्यैरकषायीकृते चीवरे; ***स्वीकृता*** गृहीता आरोपिता, रङ्गयुक्तिः लोहितरागयोगः। ***बहिर्लुठति*** अन्तर्भेत्तुमशक्यत्वात्कषायरागादिकारणाभावात् ॥१६ ॥

अथ ज्ञानिनः कर्म न लिम्पति—

स्वागता : **ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि यतः स्यात्सर्वरागरसवर्जनशीलः।**
लिप्यते सकलकर्मभिरेष कर्ममध्यपतितोऽपि ततो न ॥१७ ॥१४९ ॥

टीका : ***ततः*** तस्मात्कारणात्; ***एषः*** ज्ञानी; ***सकलकर्मभिः*** समस्तद्रव्यभावनो-कर्मभिः; ***न लिप्यते*** नोपदह्यते, नाश्रयत इत्यर्थः। कीदृशोऽपि? ***कर्ममध्यपतितोऽपि*** कर्मणां उदयादिरूपाणां, मध्ये अन्तः, पतितोऽपि शब्दात्तत्रापतितस्य कथं बन्धः। यथा

यहाँ अर्थान्तर के उपन्यास/दूसरे अर्थ के कहने में प्रयुक्त अव्यय है। **इह**=यहाँ लोक में ऐसा माना जाता है कि; **रंगयुक्तिः**=लोहित/लाल आदि रंगों का योग; **अकषायितवस्त्रे**=हरड़ आदि कषायले द्रव्यों से कषायित नहीं किए गए वस्त्र में; **स्वीकृता**=ग्रहण=आरोपित किया/लगाया गया, रंगयुक्ति=लाल रंग का योग; **बहिर्लुठति**=कषाय, राग आदि कारणों का अभाव होने से, अन्दर भेदन करने/प्रवेश करने में असमर्थ होने के कारण बाहर ही लोटता रहता है।

अर्थात्, जैसे लोक में यह देखा जाता है कि यदि वस्त्र को हरड़ आदि कषायले द्रव्यों के रस से कषायित नहीं किया जाए, तो उस पर लाल रंग आदि नहीं चड़ते हैं/वस्त्र भली-भाँति नहीं रँगा जाता है; उसी प्रकार ज्ञानी जीव के भूमिकानुसार राग की रसिकता आदि नहीं है; अत: कर्म उसके लिए परिग्रह-भाव को प्राप्त नहीं होते हैं। यह ज्ञानी सदा अपरिग्रही ही है।।१४८।।

अब, ज्ञानी के कर्म का लेप नहीं है, यह बताते हैं—

स्वागता : **ज्ञानवान स्व भाव से सदा, सर्व राग रस रहित स्वभावी।**
इससे कर्मों में रहकर यह, नहीं बँधे सब कर्मों से भी।।१४९।।

टीकार्थ : ततः=उस कारण से; **एषः**=यह ज्ञानी; **सकलकर्मभिः**=समस्त द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से; **न लिप्यते**=लिपता=बँधता नहीं है, आश्रय को प्राप्त नहीं होता है - ऐसा अर्थ है। कैसा होने पर भी वह नहीं बँधता है? **कर्ममध्यपतितोऽपि**=उदय आदिरूप कर्मों के मध्य=अन्तः/बीच में पड़ा हुआ/रहता होने पर भी, वह नहीं बँधता है; 'अपि' पद

कनकस्य कर्दममध्यगतस्य न लेपः। कुतः ? ***यतः*** यस्मात्कारणात्; ***स्वरसतोऽपि*** स्वभावत एव; ***ज्ञानवान्*** पुमान्; ***सर्वरागरसवर्जनशीलः*** सर्वे च ते रागाश्च रागद्वेषमोहाः, तेषां रसः, तस्य वर्जने शीलं स्वभावो यस्य सः, ईदृग्विधः; ***स्यात्*** भवेत् ॥१७॥

अथ वस्तुस्वभावं निर्णेनेक्ति—

शार्दूलविक्रीडित : **यादृक् तादृगिहास्ति तस्य वशतो यस्य स्वभावो हि यः,**
कर्तुं नैष कथञ्चनापि हि परैरन्यादृशः शक्यते।
अज्ञानं न कदाचनापि हि भवेज्ज्ञानं भवत् सन्ततं,
ज्ञानिन् भुंक्ष्व परापराधजनितो नास्तीह बन्धस्तव ॥१८ ॥१५० ॥

टीका : ***इह*** जगति; ***यस्य*** वस्तुनः; ***यादृक्*** यादृशः; ***स्वभावः*** स्वरूपं; ***अस्ति*** वर्तते; ***हि*** इति स्फुटं; ***तस्य*** वस्तुनः; ***वशतः*** ज्ञानस्य नियमवशाद्वा; ***तादृक्*** तादृशः एव

से यह अर्थ भी फलित होता है कि उनके बीच में नहीं रहनेवाले के तो बन्ध कैसे होगा? जैसे कीचड़ के बीच में पड़े हुए शुद्ध-स्वर्ण को उसका लेप नहीं होता है। कैसे/क्यों नहीं होता है? **यतः**=जिस कारण; **स्वरसतोऽपि**=स्वभाव से ही; **ज्ञानवान्**=ज्ञानी जीव; **सर्वरागरसवर्जनशीलः**=सभी और वे राग, द्वेष, मोहमय राग; उनका रस, उसके छोड़ने में शील=स्वभाव है जिसका, वह, इस प्रकार का; **स्यात्**=हो।

अर्थात्, जिस कारण ज्ञानी जीव अपने स्वभाव से ही सभी प्रकार के सम्पूर्ण राग, द्वेष, मोह सम्बन्धी रस से पूर्णतया पृथक् रहता है; उस कारण उदय आदिरूप कर्मों के बीच में विद्यमान होने पर भी यह ज्ञानी, द्रव्य-कर्म, भाव-कर्म, नो-कर्मरूप सभी कर्मों से भूमिकानुसार बँधता नहीं है।।१४९।।

अब, वस्तु के स्वभाव का विशेषरूप में निर्णय कराते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **जिसका जैसा जो स्वभाव नित है उसका वही ही नियत,**
कैसे भी नहिं कर सके कभी भी कोई उसे अन्यवत।
इससे नित परिणमित ज्ञान हो नहिं अज्ञान कुछ भी करो,
हे ज्ञानी! भोगो अतः तुम्हें न परदोष से बन्ध हो।।१५०।।

टीकार्थ : इह=इस जगत में; **यस्य**=जिस वस्तु का; **यादृक्**=जैसा; **स्वभावः**= स्वरूप; **अस्ति**=है; **हि**=यह 'स्पष्ट' अर्थ में आया अव्यय है; **तस्य**=उस वस्तु का;

स्वभावो; भवेत् नान्यथा। ***हि*** इति यस्मात्; ***यः*** एष स्वभावः स; ***परैः*** अन्यपदार्थैः; ***कथञ्चनापि*** केनापि प्रकारेण देशान्तरे कालान्तरे द्रव्यान्तरसंयोगे; ***अन्यादृशः*** अन्यस्वभावसदृशः; ***कर्तुं न शक्यते।***

हि इति यस्मात्; ***सन्ततं*** निरन्तरं; ***कदाचनापि*** कस्मिन्नपि काले; ***भवत्*** विद्यमानं; ***ज्ञानं*** बोधः; ***अज्ञानं न भवेत्*** न जायेत्। ***हे ज्ञानिन्! भुंक्ष्व*** परद्रव्यमनुभव। कुतः ? यतः ***इह*** जगति; ***परापराधजनितो*** परेषां पुद्गलद्रव्याणां, अपराधः आगः, ***तेन जनितः*** उत्पादितः; ***तव*** ज्ञानिनः; ***बन्धः*** कर्मबन्धः; ***नास्ति*** न भवत्येव ॥१८॥

वशतः=ज्ञान के या नियम के वश से; **तादृक्**=उस प्रकार का ही स्वभाव होता है; अन्य प्रकार का नहीं होता है। **हि**=ऐसा जिस कारण; **यः**=जो यह स्वभाव है, वह; **परैः**=अन्य पदार्थों के द्वारा; **कथंचनापि**=देशान्तर में, कालान्तर में, अन्य द्रव्यों के संयोग में इत्यादि किसी भी प्रकार से; **अन्यादृशः**=अन्य स्वभाव के समान; **कर्तुं न शक्यते**=करने के लिए (कोई भी) समर्थ नहीं है।

हि=ऐसा है जिस कारण; **संततं**=निरन्तर; **कदाचनापि**=किसी भी काल में; **भवत्**=विद्यमान; **ज्ञानं**=बोध; **अज्ञानं न भवेत्**=अज्ञानमय नहीं होता है। **हे ज्ञानिन्**=हे ज्ञानी! **भुंक्ष्व**=पर-द्रव्य का अनुभव करो/उसे भोगो। कैसे/क्यों भोगें? क्यों कि **इह**=इस जगत में; **परापराधजनितो**=पर=पुद्गल-द्रव्यों के, अपराध=आग, **तेन जनितः**=उससे जनित=उत्पन्न; **तव**=उस ज्ञानी को; **बन्धः**=कर्मबन्ध; **नास्ति**=होता ही नहीं है।

अर्थात्, लोक का यह नियम है और ज्ञान से भी ऐसा ज्ञात होता है कि वास्तव में जिस वस्तु का जैसा स्वभाव होता है, वह सदा उसी प्रकार रहता है। किसी भी देश में, किसी भी काल में, किसी भी अन्य द्रव्य के संयोग में, किन्हीं भी अन्य पदार्थों के द्वारा, उस स्वभाव को किसी भी कीमत पर अन्य प्रकार से नहीं किया जा सकता है।

बस इस कारण ही सतत ज्ञानरूप से परिणमित होता हुआ ज्ञान, कभी भी, किसी भी रूप में अज्ञान नहीं होता है। पुद्गल आदि अन्य द्रव्यों द्वारा किए गए अपराध से, इस लोक में भी किसी दूसरे को बन्ध नहीं होता है; अतः हे ज्ञानी! तुम पर-पदार्थों को भोगो; उनसे तुम्हें बन्ध नहीं होता है।

यहाँ भोगने की प्रेरणा देकर, स्वच्छन्द नहीं किया जा रहा है; वरन् यह कहा जा रहा है कि जब वेद्य-वेदक सम्बन्ध पर-पदार्थों के साथ बन ही नहीं सकता है, तब तुम उस ओर

अथ ज्ञानिनः कर्मक्रियां प्रतिरुणद्धि—

शार्दूलविक्रीडित : **ज्ञानिन् कर्म न जातु कर्तुमुचितं किञ्चित्तथाप्युच्यते,**
भुंक्ष्ये हन्त न जातु मे यदि परं दुर्भुक्त एवासि भोः।
बन्धः स्यादुपभोगतो यदि न तत्किं कामचारोऽस्ति ते,
ज्ञानं सन्वस बन्धमेष्यपरथा स्वस्यापराधाद् ध्रुवम्॥१९॥१५१॥

टीका : *हे ज्ञानिन्! जातु* कदाचित्; तव ***किञ्चित्*** किमपि; ***कर्म*** शुभाशुभ-लक्षणं कार्यं, ***कर्तुं*** विधातुं; ***उचितं*** युक्तं; ***न। तथापि*** कर्माकर्तृत्वेऽपि; ***उच्यते*** अस्माभिः किञ्चित् प्रतिपाद्यते। ***यदि*** चेत्; ***जातु*** कदाचित्; ***मे*** मम कर्म; ***न हन्त*** इति निश्चयेन; ***भुंक्ष्ये*** कर्मफलं भुंक्ष्यामि; तर्हि ***भोः*** ज्ञानिन्! ***परं*** केवलं; ***दुर्भुक्त एव*** बन्धनमन्तरेण तत्फलानुभवनाद् दुर्भोजकः; ***असि*** भवसि।

न तु अस्माकं तत्फलानुभवनात्कर्मबन्ध इति; ***यदि; उपभोगतः*** कर्मफलानुभवनात्;

अपना उपयोग क्यों लगाते हो? अपने स्वरूप में ही स्थिर क्यों नहीं रहते हो? इस कथन द्वारा पर को भोगने का भाव समाप्त कर, सब कुछ सहज स्वीकार करते हुए, स्वरूप-स्थिर रहने की प्रेरणा दी जा रही है।।१५०।।

अब, ज्ञानी के कर्मरूप क्रिया का निषेध करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **अनुचित है ज्ञानी करे कुछ करम कैसे भी फिर भी कहें,**
मेरे न पर भोगते यदि रहो दुर्भोगि हो खेद है।
भोगों से बन्धन नहीं है भोगें क्या है न स्वच्छन्दता?
लीन रहो नित ज्ञान में नहीं तो निज दोष से बँधेगा।।१५१।।

टीकार्थ : हे ज्ञानिन्=हे ज्ञानी! **जातु**=कभी भी; तुम्हारा, **किञ्चित्**=कुछ भी; **कर्म**=शुभ और अशुभ लक्षणमय कार्य; **कर्तुं**=करने के लिए/करना; **उचितं**=युक्त; **न**= नहीं है। **तथापि**=तो भी, कर्म का अकर्तापना होने पर भी; **उच्यते**=हम कुछ कहते हैं। **यदि**=यदि ऐसा हो तो; **जातु**=कभी भी; **मे**=मेरा कर्म; **न हन्त**=नहीं है निश्चय से/वास्तव में; **भुंक्ष्ये**=कर्म के फल को भोगता हूँ; तब **भोः**=हे ज्ञानी! **परं**=केवल/मात्र; **दुर्भुक्त एव**=बन्धन के विना उसके फल का अनुभव करने से, तुम दुर्भोजक/खोटे भावों से भोगनेवाले; **असि**=हो।

न=उसके फल को भोगने से हमें कर्मों का बन्धन नहीं है, इस प्रकार; **यदि**

बन्धः कर्मसंश्लेषः; ***न स्यात्*** न भवेत्; ***तत्*** तर्हि; ***ते*** तव; ***कामचारः*** कामं चरतीति कामचारः स्वेच्छाचारः; ***किमस्ति*** अपि तु नास्ति। हे ज्ञानिन्! ***ज्ञानं सन्*** ज्ञानस्वरूपेण भवन् सन्; ***वस*** तिष्ठ; ***अपरथा*** अन्यथा ज्ञानस्वरूपेण न स्थास्यसि चेत्? तदा ***ध्रुवं*** निश्चितं; ***बन्धं*** कर्मसंश्लेषं; ***एषि*** प्राप्नोषि। कुतः? ***स्वस्य*** आत्मनः; ***अपराधात्*** ज्ञानाभावलक्षणदोषतः ॥ १९ ॥

अथ कर्मयोजनं वियोजयति—

शार्दूलविक्रीडित : **कर्तारं स्वफलेन यत्किल बलात्कर्मैव नो योजयेत्,**
कुर्वाणः फललिप्सुरेव हि फलं प्राप्नोति यत्कर्मणः।

उपभोगतः=यदि कर्मों के फल को भोगने से; **बन्धः**=कर्मों का संश्लेष/बन्ध; **न स्यात्**=नहीं हो; **तत्**=तब; **ते**=तुम्हारा; **कामचारः**=इच्छा के अनुसार चलता है, वह कामचार= स्वेच्छाचार; **किमस्ति**=क्या है? अपितु नहीं है। हे ज्ञानी! **ज्ञानं सन्**=ज्ञान-स्वरूप से परिणमित होते हुए; **वस**=बैठो; **अपरथा**=अन्यथा=यदि ज्ञान-स्वरूप से स्थिर नहीं रहोगे, तो; **ध्रुवं**=निश्चित/नियम से; **बन्धं**=कर्मों के संश्लेषरूप बन्ध को; **एषि**=प्राप्त होगे। कैसे/क्यों बँधेंगे? **स्वस्य**=आत्मा के/स्वयं के; **अपराधात्**=ज्ञान के अभावरूप लक्षणमय दोष से।

अर्थात्, हे ज्ञानी! तुम्हें शुभ, अशुभ आदि कोई भी कर्म करना, उचित नहीं है; तुम सदा कर्मों के अकर्ता हो, फिर भी यहाँ हम कुछ कहते हैं। हे ज्ञानी! यदि तुम ऐसा मानते हो कि वास्तव में यह मेरा कर्म नहीं है; तथापि मैं इसके फल को भोगता हूँ; तब तुम नियम से बुरे भावों द्वारा भोगनेवाले दुर्भोजक हो; क्योंकि दूसरों के फल को भोगना, लोक में भी बुरा माना जाता है।

यद्यपि कर्मों के फल को भोगने से बन्ध नहीं होता है; अतः उन्हें भोगना स्वेच्छाचार नहीं है; तथापि ज्ञान के अभावरूप स्वयं के अपराध से वास्तव में निश्चित ही कर्मों का बन्ध होता है; अतः हे ज्ञानी! ज्ञान-स्वरूप से परिणमित होते हुए, तुम ज्ञान-स्वभाव में ही सदा स्थिर रहो। यदि इसमें स्थिर नहीं रहे तो अस्थिरतामय अपनी अपराधी वृत्ति के कारण, तुम्हें नियम से बन्ध होगा।।१५१।।

अब, कर्म के योग का वियोग स्पष्ट करते हैं/कर्म-बन्ध से छूटने का उपाय बताते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **कर्ता को बल पूर्वक स्व-फल से खुद कर्म न जोड़ता,**
उनके फल का लोलुपी स्वयं ही कर कर्म-फल भोगता।

ज्ञानं संस्तदपास्त-राग-रचनो नो बद्ध्यते कर्मणा,
कुर्वाणोऽपि हि कर्म तत्फलपरित्यागैकशीलो मुनिः ॥२० ॥१५२ ॥

टीका : ***किल*** इत्यागमोक्तौ। ***यत्*** प्रसिद्धं ***कर्म; बलात्*** हठात्; ***एव*** निश्चयेन; ***स्वफलेन*** स्वस्य स्वकीयस्य, फलेन सुखदुःखरूपेण; ***कर्तारं*** पुरुषं; ***नो योजयेत्*** न संयोजयेत् स्वफलभाजिनं न कुर्यात् इत्यर्थः। तर्हि कथं फलं प्राप्नोति ? ***हि*** इति स्फुटं; ***यत्*** कर्म; ***कुर्वाणः*** चेक्रीयमाणः सन् पुरुषः; ***कर्मणः*** शुभाशुभप्रकृतेः; ***फलं*** सुखदुःखरूपं; ***प्राप्नोति*** लभते।

हेतुगर्भितविशेषणमाह— ***फललिप्सुरेव*** फलं कर्मणः सुखदुःखरूपं फलं, लिप्सुः लब्धुं प्राप्तुमिच्छुरेव, नान्यः। ***तत्*** तस्माद्धेतोः; ***ज्ञानं*** ज्ञानस्वरूपं; ***सन्*** भवन्; ***कर्मणा नो बद्ध्यते।*** किम्भूतः सन् ? ***अपास्तरागरचनः*** अपास्ता निराकृता रागस्य रचना येन सः। ***हि*** इति स्फुटं; ***कर्म*** क्रियाकाण्डं, ज्ञानावरणादि वा; ***कुर्वाणोऽपि*** वा निर्मापयन्नपि

इससे रागोत्पत्ति शून्य हैं जो वे ज्ञान परिणत मुनि,
उनके फल-त्यागी स्वभावमय ही कर कर्म बँधते नहीं।।१५२।।

टीकार्थ : किल=यह 'आगम के कथनानुसार' का वाचक अव्यय है। **यत्**=जो प्रसिद्ध **कर्म**=कर्म; **बलात्**=हठ=पुरुषार्थ पूर्वक; **एव**=निश्चय से ही; **स्वफलेन**=अपने सुख-दुःखरूप फल के द्वारा; **कर्तारं**=करनेवाले जीव को; **नो योजयेत्**=नहीं जोड़ता है, अपने फल को भोगनेवाला नहीं करता है - ऐसा अर्थ है। तब फल कैसे प्राप्त होता है? **हि**=यह स्पष्टता-वाचक अव्यय है। **यत्**=जो कर्म; **कुर्वाणः**=करता हुआ जीव; **कर्मणः**= शुभ-अशुभ प्रकृति का; **फलं**=सुख-दुःखरूप फल; **प्राप्नोति**=प्राप्त करता है।

हेतु-गर्भित विशेषण कहते हैं - **फललिप्सुरेव**=फल=कर्म के सुख-दुःखरूप फल की लिप्सा=प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाला ही; इसके अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं। **तत्**=उस कारण से; **ज्ञानं**=ज्ञान-स्वरूप; **सन्**=होता हुआ; **कर्मणा नो बद्ध्यते**=कर्म से नहीं बँधता है। वह कैसा होता हुआ उनसे नहीं बँधता है? **अपास्तरागरचनः**=अपास्त=दूर की गयी है राग की रचना जिसके द्वारा, वह कर्म से नहीं बँधता है। **हि**=यह स्पष्टता-वाचक अव्यय है। **कर्म**=क्रिया-काण्ड या ज्ञानावरणादि कर्म को; **कुर्वाणोऽपि**=करता या रचता हुआ भी; नहीं करनेवालों की तो वार्ता ही क्या करना? **मुनिः**=ज्ञानवान यति; **तत्फलपरित्यागैक-**

अकुर्वाणस्य का कथा? ***मुनिः*** ज्ञानवान् यतिः; ***तत्फलपरित्यागैकशीलो*** तेषां कर्मणां फलं अनुभागः, तस्य परित्यागे, एकं अद्वितीयं, शीलं स्वभावो यस्य सः, रागद्वेषाभावात्॥२०॥

अथ ज्ञानी न कर्म कुरुते—

शार्दूलविक्रीडित : **त्यक्तं येन फलं स कर्म कुरुते नेति प्रतीमो वयं,**
किंत्वस्यापि कुतोऽपि किञ्चिदपि तत्कर्मावशेनापतेत्।
तस्मिन्नापतिते त्वकंप-परम-ज्ञान-स्वभावे स्थितो,
ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किं न कुरुते कर्मेति जानाति कः॥२१॥१५३॥

टीका : ***इति*** एवं; ***वयं*** ज्ञानार्थिनः; ***प्रतीमः*** प्रतीतिं कुर्मः। इति किं? ***येन*** ज्ञानिना पुंसा; ***फलं*** कर्मानुभागः; ***त्यक्तं*** ज्ञानभावाद्विमुक्तं; ***सः*** ज्ञानी; ***कर्म*** क्रियाकाण्डं ज्ञानावरणादि

शीलः=राग-द्वेष का अभाव होने से, उन कर्मों का फल=अनुभाग, उसके परित्याग में, एक=अद्वितीय, शील=स्वभाव है जिसका, वह।

अर्थात्, वास्तव में यह प्रसिद्ध कर्म, करनेवाले जीव को भोगने के लिए बल पूर्वक सुख-दुःखरूप अपने फल से नहीं जोड़ता है; वरन् कर्म के सुख-दुःखरूप फल को प्राप्त करने की इच्छावाला जीव, स्वयं ही कर्म करता हुआ, कर्म के शुभ-अशुभ प्रकृति सम्बन्धी सुख-दुःखरूप फल को प्राप्त करता है; अतः ज्ञान-स्वरूप रहते हुए राग की रचना से रहित हो; उन राग-द्वेष का अभाव हो जाने से, उन कर्मों के फल को त्यागनेरूप एक अद्वितीय स्वभाववाले ज्ञानवान मुनि, क्रिया-काण्डरूप कर्म करते हुए भी, ज्ञानावरणादि कर्मों से नहीं बँधते हैं; कर्म नहीं करनेवालों के तो कर्म-बन्धन की वार्ता के लिए ही अवसर नहीं है।।१५२।।

अब, ज्ञानी कर्म नहीं करता है; यह स्पष्ट करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **जिसने छोड़ा कर्म फल वह करे न कर्म अब ज्ञात ही,**
ज्ञानी के यदि आ पड़े उदय-वश कुछ कर्म भी तो वही।
आ पड़ने पर न करे करम या करता है कौन जानता?
ज्ञानी तो निष्कम्प ज्ञान उत्तम निज भाव में नित रहा।।१५३।।

टीकार्थ : इति=इस प्रकार; **वयं**=ज्ञानार्थी हम; **प्रतीमः**=प्रतीति करते हैं। इस प्रकार क्या प्रतीति करते हैं? **येन**=जिस ज्ञानी जीव द्वारा; **फलं**=कर्म का अनुभाग; **त्यक्तं**=ज्ञान भाव से छोड़ दिया गया है; **सः**=वह ज्ञानी; **कर्म**=क्रिया-काण्ड या ज्ञानावरणादि

वा; ***न कुरुते*** न विधत्ते। ***किन्तु*** विशेषोऽस्ति; ***अस्यापि*** ज्ञानिनोऽपि; ***कुतोऽपि*** बहिर-भ्यन्तरकारणकलापात्; ***अवशेन*** अनीहितवृत्त्या; ***तत्***प्रसिद्धं; ***किञ्चिदपि*** अनिर्दिष्टं, शुभाशुभं; ***कर्म; आपतेत्*** आगच्छेत्। ***तु*** पुनः; ***तस्मिन्*** कर्मणि; ***आपतिते*** उदयागते सति; ***ज्ञानी*** पुमान् तत्परिहारार्थं; ***किं कर्म*** क्रियाकाण्डं; ***कुरुते*** विधत्ते; ***अथ*** अथवा; ***किं न कुरुते*** किं न विधत्ते; ***इति*** एवं, कर्तव्याकर्तव्यम्। ***कः*** अपरः, पुरुषः ***जानाति*** वेत्ति तत्स्वरूपस्य ज्ञातुमशक्यत्वात्? किम्भूतो ज्ञानी? ***अकम्पपरमज्ञानस्वभावे*** अकम्पं केनापि चालयितुमशक्यत्वात् अचलं, परमं उत्कृष्टं, तच्च तज्ज्ञानं च तस्य स्वभावे स्वरूपे; ***स्थितः*** लयं प्राप्तः ॥ २१ ॥

कर्म को **न कुरुते**=नहीं करता है। **किन्तु**=वरन् विशेष यह है; **अस्यापि**=इस ज्ञानी के भी; **कुतोऽपि**=बहिरङ्ग, अन्तरङ्ग कारणों के समूहरूप किसी भी कारण से; **अवशेन**=अनिच्छित-वृत्ति से परवशता-वश; **तत्**=वह प्रसिद्ध; **किंचिदपि**=कुछ भी अनिर्दिष्ट शुभाशुभ; **कर्म**=कर्म; **आपतेत्**=आ पड़ता है/हो जाता है। **तु**=और **तस्मिन्**=उस कर्म के; **आपतिते**= उदय में आ जाने पर; **ज्ञानी**=ज्ञानी जीव उसका निराकरण करने के लिए; **किं कर्म**=क्रिया-काण्डरूप कुछ कर्म; **कुरुते**=करता है; **अथ**=अथवा; **किं न कुरुते**=कुछ नहीं करता है; **इति**=इस प्रकार कर्तव्य-अकर्तव्य। **कः**=कौन दूसरा जीव; **जानाति**=उसके स्वरूप को जानने के लिए असमर्थ होने से, जानता है? वह ज्ञानी कैसा है? **अकम्पपरमज्ञानस्वभावे**= किसी से भी चंचल होने के लिए असमर्थ होने के कारण, अकम्प=अचल, परम=उत्कृष्ट, वह और वह ज्ञान, उसके स्वभाव=स्वरूप में; **स्थितः**=लय को प्राप्त है/लीन है।

अर्थात्, जिस ज्ञानी-जीव ने कर्म का अनुभागरूप फल, ज्ञान-भाव से छोड़ दिया है; वह ज्ञानी, क्रिया-काण्ड या ज्ञानावरणादि कर्म को नहीं करता है - ऐसी हम ज्ञानार्थियों को प्रतीति होती है। इसमें विशेष यह है कि यद्यपि इस ज्ञानी के भी किन्हीं बहिरङ्ग-अन्तरङ्ग कारणों के समूह में/परिस्थिति-वश अनिच्छित-वृत्ति से वह प्रसिद्ध कुछ भी अनिर्दिष्ट शुभाशुभ-कर्म आ पड़ता है। उदय में आए उस कर्म का निराकरण करने के लिए, वह ज्ञानी क्रिया-काण्डरूप कुछ कर्म करता है, अथवा नहीं करता है - इस कर्तव्य-अकर्तव्य को, उसके स्वरूप को जानने में असमर्थ दूसरा कौन जीव, जान सकता है? नहीं जान सकता है; क्योंकि उस समय भी ज्ञानी तो पूर्णतया अचल, परमोत्कृष्ट, ज्ञानमय अपने स्वभाव में ही स्थिर रहता है।।१५३।।

अथ सम्यग्दृष्टेः साहसं कलयति—

शार्दूलविक्रीडित : **सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमन्ते परं,**
यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि।
सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया शङ्कां विहाय स्वयं,
जानन्तः स्वमबध्यबोधवपुषं बोधाच्च्यवन्ते न हि॥२२॥१५४॥

टीका : ***क्षमन्ते*** सहन्ते समर्था भवन्तीत्यर्थः। किं कर्तुं? ***इदं*** वक्ष्यमाणलक्षणं; ***साहसं*** लक्षणया धैर्यं; के? ***सम्यग्दृष्टयः*** निश्चयसम्यक्त्वं प्राप्ताः; ***एव*** निश्चयेन। किंभूतं साहसं? ***परं*** उत्कृष्टं परं केवलमिति व्याख्येयं वा। ***यत्*** यस्मात् कारणात्; ***अमी ये*** सम्यग्दृष्टयः; ***हि*** निश्चितं; ***न च्यवन्ते*** न क्षरन्ते। कुतः? ***बोधात्*** ज्ञानात् उपलक्षणात् ध्यानतपोऽनुष्ठानादेः ज्ञानं मुक्त्वा नान्यत्र वर्तन्ते। क्व सति? ***वज्रे*** अशनौ; ***पतति*** मूर्ध्नि पातं कुर्वति सत्यपि।

किम्भूते? ***भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि*** भयेन तद्घोषपाताद्युत्थभीत्या, चलत्

अब, सम्यग्दृष्टि के साहस का प्रतिपादन करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **शाश्वत ज्ञान स्वभाव आतम स्वयं यों मान सद्दृष्टि ही,**
निर्भय धीर सहज समर्थ सहने यों ज्ञान से च्युत नहीं।
जब भय-आकुल यत्र तत्र भटकें स्थान तज लोकजन,
ऐसा वज्र गिरे तथापि शंका सब छोड़ ये स्व मगन।।१५४।।

टीकार्थ : क्षमन्ते=सहते हैं, सामर्थ्य-सम्पन्न होते हैं - ऐसा अर्थ है। क्या करने के लिए समर्थ हैं? **इदं**=इस कहे जानेवाले लक्षणमय; **साहसं**=साहस, लक्षणा पद्धति से धैर्य धरने के लिए समर्थ हैं; वे कौन हैं? **सम्यग्दृष्टयः**=निश्चय-सम्यक्त्व को प्राप्त; **एव**=ही निश्चय से/वास्तव में। वह साहस कैसा है? **परं**=उत्कृष्ट अथवा पर=केवल/मात्र - यह व्याख्या है। **यत्**=जिस कारण; **अमी ये**=सम्यग्दृष्टि, **हि**=निश्चित/नियम से; **न च्यवन्ते**=च्युत नहीं होते हैं। किससे च्युत नहीं होते हैं? **बोधात्**=ज्ञान से; उपलक्षण से ध्यान, तप, अनुष्ठान आदि से; ज्ञान को छोड़कर अन्यत्र प्रवृत्ति नहीं करते हैं। क्या होने पर भी च्युत नहीं होते हैं? **वज्रे**=अशन=वज्र का; **पतति**=मस्तक पर गिरने पर भी च्युत नहीं होते हैं।

कैसे वज्र का; **भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि**=भय से=उसकी ध्वनि, पतन आदि से

स्वस्थानात् इतस्ततः परिलुठत् च तत्त्रैलोक्यं च भुवनत्रयवासी जनः, तेन मुक्तः त्यक्तः, अध्वा मार्गः, स्थानं च यस्मिन् तस्मिन्। किं भूता? ***अमी स्वयं*** स्वेन आत्मना; ***स्वं*** आत्मानं; ***जानन्तः*** निश्चिन्वन्तः। कीदृशं स्वं? ***अबध्यबोधवपुषं*** अबध्याः न केनापि हन्तुं शक्यते, शाश्वत इत्यर्थः स चासौ बोधश्च स एव वपुः शरीरं यस्य तम्। किं कृत्वा? ***विहाय*** त्यक्त्वा; कां? ***सर्वां*** समस्तां, इहलोकादिभवाम्। ***एव*** निश्चितं; ***शङ्कां*** पराशङ्कां; कया? ***निसर्गनिर्भयतया*** निसर्गेण स्वभावेन, निर्भयता साध्वसाभावता तया॥ २२॥

अथ भयसप्तकनिवारणार्थं ज्ञानिनः इहपरलोकभयमुत्त्रस्यति—

उत्पन्न डर से, चलत्=अपने स्थान से यहाँ-वहाँ भटकने लगना और वह तीनों लोकों में से कहीं भी रहनेवाला प्राणी, उसके द्वारा छोड़ दिया जाए, अध्वा=मार्ग और स्थान जिसमें, उसमें। वे सम्यग्दृष्टि कैसे हैं? **अमी स्वयं**=ये अपने आप स्वयं; **स्वं**=आत्मा को; **जानन्तः**=जाननेवाले, निश्चय करनेवाले हैं। कैसे आत्मा को? **अबध्यबोधवपुषं**= अबध्य= किसी के द्वारा घात करने के लिए समर्थ नहीं है/कोई उसका घात नहीं कर सकता है; शाश्वत है - ऐसा अर्थ है, वह और वह ज्ञान, वही है वपु=शरीर जिसका, उसे अपनत्वरूप से जाननेवाले हैं। क्या करके? **विहाय**=छोड़कर; किसे? **सर्वां**=इस लोक आदि में होनेवाली सभी। **एव**=निश्चित/वास्तव में ही; **शंकां**=अन्य सम्बन्धी आशंका को; किससे छोड़कर? **निसर्गनिर्भयतया**=निसर्ग=स्वभाव से, निर्भयता=निर्भीकता, निडरता, उससे सभी शंकाओं को छोड़कर, वे ज्ञान-स्वभाव में ही स्थिर रहते हैं।

अर्थात्, स्वयं को किसी के द्वारा भी नहीं घाते जानेवाले, शाश्वत ज्ञान-स्वभावमय आत्मा को जानने/माननेवाले ये सम्यग्दृष्टि ही, वास्तव में ऐसा साहस/धैर्य धारण करने में समर्थ हैं कि जिससे वे, तीनों लोकों के निवासियों को भयाक्रान्त कर विचलित हो यहाँ-वहाँ भटकाने में समर्थ वज्र के, अपने मस्तक पर गिरने की ध्वनि होने पर भी, वस्तु-स्वभाव के बल से स्वाभाविक निर्भयता के कारण, इस लोक आदि सम्बन्धी सभी शंकाओं को छोड़कर; ज्ञान, ध्यान, तप, अनुष्ठान आदि ज्ञानात्मक प्रवृत्तियों से च्युत नहीं होते हैं, अन्यत्र प्रवृत्ति नहीं करते हैं; अपने ज्ञान-स्वभाव में ही स्थिर रहते हैं।।१५४।।

अब, सातों भयों का निवारण करने के लिए, ज्ञानी के इस-लोक और पर-लोक सम्बन्धी भय का अभाव बताते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **लोकः शाश्वत एक एष सकलव्यक्तो विविक्तात्मनश्,**
चिल्लोकं स्वयमेव केवलमयं यं लोकयत्येककः।
लोकोऽयं न तवापरस्तदपरस्तस्यास्ति तद्भीः कुतो,
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति॥२३॥१५५॥

टीका : ***एष*** शास्त्रादिना प्रसिद्धः; ***लोकः*** श्रेणिघनप्रचयरूपस्त्रिलोकः; ***शाश्वतः*** नित्यः इतीश्वरकर्तृत्वं निरस्तं, अविनाशित्वं च सूचितम्। ***एकः*** अद्वितीयः, इत्यनेन ब्रह्मणः प्रतिलोमानेकब्रह्माण्डप्रतिपादनं प्रत्याख्यातम्। ***विविक्तात्मनः*** सर्वज्ञस्य; ***सकल-व्यक्तः*** समस्तो विशदः, इत्यनेन तस्य गहनत्वं अपास्तम्। ***अयं चित्*** ज्ञानं; ***स्वयमेव*** स्वभावादेव; ***यत्*** प्रसिद्धं; ***लोकं*** भुवनत्रयं; ***केवलं*** परं; ***लोकयति*** पश्यति।

कीदृशः ? ***एककः*** शरीरदारदारकागाराहारादिनिरपेक्षः एक एव। ***अयं*** प्रत्यक्षः चराचररूपो; ***लोकः*** लोकनिवासी जनः, त्रिलोकी वा, इहलोक इत्यर्थः। ***अपरः*** त्वत्तो भिन्नः; ***तव*** ते; ***न*** भवेत्। ***तदपरः*** तस्मादिह लोकादपरः परलोकः। ***तस्य*** आत्मनः;

शार्दूलविक्रीडित : **यह शाश्वत सकलज्ञ लोक पर से नित भिन्न निज आत्मा,**
चिन्मय लोक स्वयं सदैव केवल यह एक ही देखता।
इससे भिन्न सभी कभी मुझ नहीं पर लोक तब भय कहाँ?
वह निश्शंक सतत सहज स्वयं ही नित ज्ञान को वेदता।।१५५।।

टीकार्थ : एष=यह शास्त्र आदि से प्रसिद्ध; **लोकः**=श्रेणी के घन-समूहरूप / तीन सौ तेतालीस घन राजू प्रमाण तीन लोक; **शाश्वतः**=नित्य है - इससे ईश्वर-कर्तृत्व का निराकरण किया और अविनाशीपने को बताया है। **एकः**=अद्वितीय है - इससे ब्रह्मा के प्रतिलोम/विरुद्ध अनेक ब्रह्माण्डों के प्रतिपादन का निषेध किया है। **विविक्तात्मनः**=सर्वज्ञ का; **सकलव्यक्तः**=समस्त विशद/पूर्णतया स्पष्ट; इसके द्वारा उसकी गहनता/गुप्तता/अज्ञेयता का निराकरण हुआ। **अयं चित्**=यह ज्ञान; **स्वयमेव**=स्वयं स्वभाव से ही; **यत्**= जो प्रसिद्ध; **लोकं**=तीन भुवन; **केवलं**=पर/मात्र; **लोकयति**=देखता है।

कैसा देखता है? **एककः**=शरीर, पत्नी, पुत्र, घर, आहार आदि से निरपेक्ष; एक ही देखता है। **अयं**=चर और अचररूप यह प्रत्यक्ष; **लोकः**=लोक में रहनेवाले जीव अथवा तीन लोक ही इहलोक है - ऐसा अर्थ है। **अपरः**=दूसरे तुमसे भिन्न; **तव**=तुम्हारे; **न**=नहीं हैं। **तदपरः**=उस कारण इहलोक से भिन्न परलोक है। **तस्य**=उस आत्मा का; **नास्ति**=नहीं है।

नास्ति। तद्भीः ताभ्यामिहपरलोकाभ्यां, भीः भयं; ***कुतः ?*** कस्मात् न कुतोऽपि तयोरात्मनो भिन्नत्वख्यापनात्। ***स*** ज्ञानी; ***सदा*** नित्यं; ***स्वयं*** स्वरूपेण; ***सहजं*** स्वाभाविकं; ***ज्ञानं*** बोधं; ***विन्दति*** जानाति; ***सततं*** निरन्तरं; ***निश्शङ्कः*** इहपरलोकभयशङ्कारहितः — इति भयद्वयस्य ज्ञानिनो निरासः ॥ २३ ॥

अथ वेदनाभयं बध्नाति—

शार्दूलविक्रीडित : **एषैकैव हि वेदना यदचलं ज्ञानं स्वयं वेद्यते,**
निर्भेदोदित-वेद्य-वेदक-बलादेकं सदाऽनाकुलैः।
नैवान्यागतवेदनैव हि भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो,
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥२४॥१५६ ॥

तद्भीः=उन इहलोक और परलोक से भय; **कुतः**=कैसे हो? उन दोनों से आत्मा की भिन्नता भली-भाँति सिद्ध हो जाने से, किसी भी रूप में भय नहीं है। **स**=वह ज्ञानी; **सदा**= नित्य; **स्वयं**=स्वरूप से; **सहजं**=स्वाभाविक; **ज्ञानं**=बोध को; **विन्दति**=जानता है; **सततं**=निरन्तर; **निश्शंकः**=इहलोक, परलोक के भय की शंका से रहित है। इस प्रकार ज्ञानी के दो भयों का निराकरण हो गया।

अर्थात्, शरीरादि सम्पूर्ण पर-पदार्थों से पूर्णतया पृथक्, सर्वज्ञ-स्वभावी आत्मा का, पूर्णतया स्पष्ट नित्य प्रकाशित, शास्त्र आदि से प्रसिद्ध, शाश्वत चैतन्यमय लोक, एक अद्वितीय लोक है। इस लोक को यह ज्ञानमय सम्यग्दृष्टि जीव; शरीर, पत्नी, पुत्र, घर, आहार आदि से पूर्णतया निरपेक्ष हो; स्वयं स्वभाव से ही प्रसिद्ध तीन लोकरूप एक अद्वितीय, मात्र निज लोकमय देखता है/इसका अनुभव करता है। इस चैतन्य लोक से पृथक्, शेष सभी जीवादि पर-लोक मेरे रंचमात्र भी नहीं हैं। इस मान्यता के कारण इस ज्ञानी आत्मा को, इह-लोक, पर-लोक सम्बन्धी किसी भी प्रकार का भय रंचमात्र नहीं होता है। यह तो सतत स्वयं स्वभाव से ही भय की शंका से रहित, निर्भय निश्शंक रहता हुआ, सदा सहज अपने ज्ञान-स्वभाव का ही अनुभव करता है।।१५५।।

अब, वेदना-भय का निराकरण करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **आकुलता बिन वेदते नित अचल निजज्ञान यह वेदना,**
व्यक्त अभेद सु एक वेद्यवेदक बल से यही सर्वदा।
अन्यागत वेदन नहीं पर पृथक् तब ज्ञानि को भय कहाँ?
वह निश्शंक सतत सहज स्वयं ही नित ज्ञान को वेदता।।१५६।।

टीका : ***यत्*** प्रसिद्धं; ***ज्ञानं स्वयं वेद्यते*** ज्ञायते। कैः ? ***अनाकुलैः*** आकुलतारहितैः ज्ञानिभिः; ***एषा*** प्रसिद्धा; ***एका*** अद्वितीया; ***वेदना*** वेद्यते ज्ञायते आत्मा अनया इति वेदना आत्मानुभवं; ***एव*** नान्या। किं भूतं ? ***अचलं*** निश्चलं; पुनः कीदृशं ? ***एकं*** द्रव्यार्पणात्। तत्कुतः ? ***निर्भेदोदितवेद्यवेदकबलात्*** वेद्यते ज्ञायते इति वेद्यं, स्वरूपं वेदयतीति वेदकः आत्मा, द्वन्द्वः, निर्भेदेन यो वेद्यः स एव वेदकः, इत्येकत्वेन उदितौ उदयं प्राप्तौ वेद्यवेदकौ तयोर्बलं तस्मात्। ***हि*** स्फुटं; ***अन्य*** आत्मनः सकाशात्; ***एव*** निश्चयेन; ***आगतवेदना*** पुद्गलादागतवेदना रोगः; ***न भवेत्*** आत्मनो भिन्नत्वादेव; ***ज्ञानिनः*** पुंसः; ***तद्भीः*** वेदनाभयं; ***कुतः ?*** न कुतोऽपि। तुर्यं चरणं पूर्ववत्॥२४॥

टीकार्थ : यत्=जो प्रसिद्ध; सदा **ज्ञानं स्वयं वेद्यते**=सतत ज्ञान, स्वयं से ज्ञात होता है। किन्हें ज्ञात होता है? **अनाकुलैः**=आकुलता से रहित ज्ञानियों को ज्ञात होता है। **एषा**=यह प्रसिद्ध; **एका**=अद्वितीय; **वेदना**=आत्मा जिसके द्वारा वेदा/जाना जाता है - ऐसी वेदना=आत्मानुभव; **एव**=यही वेदना है; अन्य नहीं है। वह ज्ञान कैसा है? **अचलं**= निश्चल है; और कैसा है? **एकं**=द्रव्य की अपेक्षा एक है। वह ऐसा वेदन कैसे करता है? **निर्भेदोदितवेद्यवेदकबलात्**=जिसका वेदन किया जाता है, जो जाना जाता है, वह वेद्य है; स्वरूप को वेदता है, वह वेदक आत्मा; वेद्य-वेदक - इस प्रकार द्वन्द्व समास हुआ; निर्भेद/अभेद से जो वेद्य है, वही वेदक है - इस प्रकार एकत्व से उदय को प्राप्त वेद्य-वेदक, उन दोनों का बल, उससे वह ऐसा वेदन करता है। **हि**=वास्तव में; **अन्य**=आत्मा से भिन्न; **एव**=ही; निश्चय से; **आगतवेदना**=पुद्गल के कारण आयी हुई वेदना, रोग; **न भवेत्**=आत्मा से भिन्न होने के कारण ही आत्मा में नहीं होता है; **ज्ञानिनः**=ज्ञानी जीव के; **तद्भीः**=वह वेदना का भय; **कुतः**=कैसे हो सकता है? किसी भी प्रकार नहीं होता है। चौथा चरण पिछले १५५ वें छन्द के समान है।

अर्थात्, आकुलता से रहित ज्ञानियों को सदा अभिन्नरूप से उदय को प्राप्त/प्रगट हुए वेदन करने-योग्य वेद्य और वेदन करनेवाले वेदक-स्वभाव के बल से, द्रव्य की अपेक्षा एक, अचल ज्ञान का ही स्वभाव से स्वयं वेदन/अनुभव होता है। वास्तव में यह एक अद्वितीय वेदनामय आत्मानुभव ही ज्ञानी की दृष्टि में वेदना है; अन्य कोई वेदना, वास्तविक वेदना ही नहीं है। आत्मा से भिन्न पुद्गल के कारण आयी रोगादि की वेदना, आत्मा से पूर्णतया पृथक् होने के कारण, आत्मा में होती ही नहीं है; तब फिर ज्ञानी जीव को उस वेदना

अथात्राणभयं निरस्यति—

शार्दूलविक्रीडित : **यत्सन्नाश-मुपैति तन्न नियतं व्यक्तेति वस्तु-स्थितिः,**
ज्ञानं सत्स्वयमेव तत्किल ततस्त्रातं किमस्यापरैः।
अस्यात्राणमतो न किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो,
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥२५॥१५७॥

टीका : ***इति*** अमुना प्रकारेण; ***वस्तुस्थितिः*** वस्तुव्यवस्था; ***व्यक्ता*** स्पष्टा। इति किं? ***यत्*** वस्तु; ***सत्*** द्रव्यरूपेण सत्ताप्रतिबद्धं; ***तत्*** वस्तु; ***नियतं*** निश्चितं; ***नाशं*** विनाशं; ***न उपैति*** न प्राप्नोति, द्रव्यार्पणया वस्तुनो नित्यत्वाभ्युपगमात्। ***तत्*** प्रसिद्धं; ***ज्ञानं; स्वयमेव*** स्वरूपत एव स्वस्वरूपचतुष्टयापेक्षयैव न परचतुष्टयापेक्षया। ***सत्*** सत्स्वरूपं विद्यमानं; ***किल*** अहो; ***ततः*** स्वरूपेणास्तित्वात्; ***अपरैः*** कौक्षेयककुन्तमुद्गराश्व-गजपदातिस्वजनादिभिः पुद्गलपर्यायैः; ***अस्य*** ज्ञानस्य; ***किं त्रातं*** त्राणं, किं रक्षणं न

का भय कैसे हो सकता है? किसी भी रूप में नहीं होता है। यह तो सतत स्वयं स्वभाव से ही भय की शंका से रहित, निर्भय निश्शंक रहता हुआ, सदा सहज अपने ज्ञान-स्वभाव का ही अनुभव करता है।।१५६।।

अब, अत्राण/अरक्षा-भय का निषेध करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **जो सत् है वह नष्ट होता नहीं यह व्यक्त वस्तुस्थिति,**
ज्ञान स्वयं से सत् अतः नियम से पर से सुरक्षित नहीं।
इसकी असुरक्षा नहीं कभी भी तब ज्ञानि को भय कहाँ?
वह निश्शंक सतत सहज स्वयं ही नित ज्ञान को वेदता।।१५७।।

टीकार्थ : इति=इस प्रकार से; **वस्तुस्थितिः**=वस्तु की व्यवस्था; **व्यक्ता**=स्पष्ट है। इस प्रकार क्या? **यत्**=जो वस्तु; **सत्**=द्रव्यरूप सत्ता से प्रतिबद्ध है/सत्तावान है; **तत्**= वह वस्तु; **नियतं**=निश्चित; **नाशं**=विनाश को; **न उपैति**=द्रव्य की अपेक्षा वस्तु की नित्यता स्वीकृत होने से, (नाश को) प्राप्त नहीं होती है। **तत्**=वह प्रसिद्ध; **ज्ञानं**=ज्ञान; **स्वयमेव**=अपने स्वरूप-चतुष्टय की अपेक्षा, स्वरूप से है ही, पर-चतुष्टय की अपेक्षा नहीं है। **सत्**=सत्स्वरूप=विद्यमान; **किल**=अहो! **ततः**=स्वरूप से अस्तित्व होने के कारण; **अपरैः**=तलवार, भाला, मुद्गर, घोड़ा, हाथी, पैदल चलनेवाले, अपने कुटुम्बी आदि अन्य पुद्गल-पर्यायों से; **अस्य**=इस ज्ञान की; **किं त्रातं**=क्या रक्षा होगी? कुछ भी

किमपीत्यर्थः। ***अतः*** कारणात्, ***अस्य*** ज्ञानस्य। ***किञ्चन*** किमपि; ***अत्राणं*** कुतोऽपि रक्षणं; ***न भवेत्; ज्ञानिनः तद्भीः*** अत्राणभयं; ***कुतः ?*** न कुतोऽपि; शेषं पूर्ववत्॥ २५॥

अथास्यागुप्तिभयं गोपयति—

शार्दूलविक्रीडित : **स्वं रूपं किल वस्तुनोऽस्ति परमा गुप्तिः स्वरूपेण यच्-**
छक्तः कोऽपि परः प्रवेष्टुमकृतं ज्ञानं स्वरूपं च नुः।
अस्यागुप्तिरतो न काचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो,
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति॥२६॥१५८॥

नहीं – ऐसा अर्थ है। **अतः**=इस कारण; **अस्य**=इस ज्ञान की; **किंचन**=कुछ भी; **अत्राणं**= अरक्षा, किसी भी रूप में अरक्षा; **न भवेत्**=नहीं होती है। **ज्ञानिनः तद्भीः**=तब फिर ज्ञानी को वह अत्राण-भय; **कुतः**=कैसे हो सकता है? किसी भी रूप में नहीं होता है। शेष पहले के समान है।

अर्थात्, जो वस्तु, द्रव्यरूप से सत्तावान है, वह द्रव्य की अपेक्षा नित्य होने के कारण, नियम से कभी भी नष्ट नहीं होती है – वस्तु की यह व्यवस्था अत्यन्त स्पष्ट है। यह प्रसिद्ध ज्ञान अपने स्वरूप-चतुष्टय की अपेक्षा स्वयं स्वभाव से ही सत् है; पर-चतुष्टय की अपेक्षा सत् नहीं है। यह अद्भुत तथ्य है कि स्वरूप से ही अस्तित्वमय स्वयं-रक्षित होने के कारण, तलवार, भाला, मुद्गर, घोड़ा, हाथी, पदाति/पैदल चलनेवाले, अपने कुटुम्बी-जन आदि अन्य पुद्गल-पर्यायें इस ज्ञान की क्या रक्षा करेंगी? इसे रक्षा की आवश्यकता ही नहीं है। इस प्रकार इस ज्ञान की किसी भी रूप में अरक्षा होती ही नहीं है; अतः ज्ञानी को वह अत्राण-भय कैसे हो सकता है? किसी भी रूप में नहीं होता है। यह तो सतत स्वयं स्वभाव से ही भय की शंका से रहित, निर्भय, निश्शंक रहता हुआ, सदा सहज अपने ज्ञान-स्वभाव का ही अनुभव करता है।।१५७।।

अब, इसके अगुप्ति-भय का गोपन करते हैं/इसे अगुप्ति-भय नहीं है, यह दिखाते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **वस्तु का स्व रूप है सतत ही उत्कृष्ट गुप्तिमयी,**
उसमें जाने में समर्थ किंचित् कोई कभी भी नहीं।
अकृत ज्ञान स्वरूप आतम अतः ज्ञानी डरे कब कहाँ?
वह निश्शंक सतत सहज स्वयं ही नित ज्ञान को वेदता।।१५८।।

टीका : ***किल*** इत्यागमोक्तौ; ***वस्तुनः*** आत्मादिद्रव्यस्य; ***यत् स्वं*** आत्मीयं; ***रूपं*** स्वरूपं; ***अस्ति*** विद्यते; सा ***परमा*** निस्सीमा; ***गुप्तिः*** गोपनं स्वरूपान्तरेण गोपनाभावात्। ***कोऽपि*** कश्चिदपि; ***परः*** पुद्गलादिः; ***स्वरूपं प्रवेष्टुं*** ज्ञानस्वरूपे प्रवेशं कर्तुं; ***शक्तः*** समर्थः ? अपि तु न समर्थः, स्वरूपे स्वरूपान्तरस्य प्रवेशाभावात्। ***च*** पुनः; ***ज्ञानं नुः*** आत्मनः; ***अकृतं*** स्वाभाविकं; ***स्वरूपं*** स्वभावः, स्वरूपं द्वेधा कृतमकृतं च कृतं तावन्मति-ज्ञानादिस्वरूपमात्मनः दण्डी देवदत्त इत्यादिवत् पुद्गलादिभिः क्रियमाणत्वात्, अकृतं ज्ञानसामान्यं, अग्नेरौष्ण्यं च। ***अतः*** कारणात् ***अस्य*** आत्मनः; ***काचन*** कापि, निर्दिष्टा वा; ***अगुप्तिः*** अगोपनं न भवेत् तद्गोपकस्य चिद्भावात्। ***तद्भीः*** तस्या अगुप्तेः, भीः भयं; ***कुतः ?*** न कुतोऽपि; शेषं पूर्ववत्॥ २६॥

टीकार्थ : किल=आगम में कहे अनुसार; **वस्तुनः**=आत्मा आदि द्रव्य का; **यत् स्वं**=जो अपना; **रूपं**=स्वरूप; **अस्ति**=है; वह **परमा**=निस्सीम/सर्वोत्तम अनन्त; **गुप्तिः**= अन्य स्वरूप से गोपन का अभाव होने के कारण गुप्ति है। **कोऽपि**=कोई भी; **परः**=पुद्गल आदि पर; **स्वरूपं प्रवेष्टुं**=अपने ज्ञान-स्वरूप में प्रवेश करने के लिए; **शक्तः**=समर्थ कैसे हो सकता है? अपितु स्वरूप में स्वरूपान्तर के प्रवेश का अभाव होने से, कोई भी समर्थ नहीं है। **च**=और; **ज्ञानं नुः**=आत्मा का ज्ञान; **अकृतं**=स्वाभाविक; **स्वरूपं**=स्वभाव। स्वरूप दो प्रकार का है - कृत और अकृत। दण्डवान देवदत्त इत्यादि के समान; आत्मा का मति-ज्ञान आदि स्वरूप, पुद्गल आदि के द्वारा किया गया होने से, कृत है और अग्नि की उष्णता, ज्ञान-सामान्य, अकृत है। **अतः**=इस कारण; **अस्य**=इस आत्मा के; **काचन**=कोई भी या निर्दिष्ट; **अगुप्तिः**=उस गोपक/रक्षक के चैतन्य-भाव होने से अगोपन नहीं होता है। **तद्भीः**=उस अगुप्ति का भय; **कुतः**=कैसे हो? किसी भी प्रकार नहीं होता है; शेष पूर्ववत् है।

अर्थात्, स्वरूप दो प्रकार का होता है - कृत और अकृत। क्षणिक/पर्यायरूप स्वभाव, कृत-स्वरूप है और शाश्वत/ध्रौव्य-स्वभाव, अकृत-स्वरूप है। दण्डवान देवदत्त इत्यादि के समान; मति-ज्ञानादि पर्यायें, पुद्गल आदि सापेक्ष, क्षणिक होने से ये आत्मा की कृत-स्वरूप हैं। अग्नि की उष्णता आदि के समान; ज्ञान-सामान्य शाश्वत, पर-निरपेक्ष, नित्य होने से, यह आत्मा का अकृत-स्वरूप है।

आगम के अनुसार वास्तव में आत्मा आदि द्रव्यों का अपना स्वरूप; अन्य स्वरूप से गोपन का अभाव होने के कारण, निस्सीम/सर्वोत्तम, शाश्वत परम गुप्तिरूप/पूर्णतया

अथ ज्ञानिनो मरणभयं हरति—

शार्दूलविक्रीडित : **प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरणं प्राणाः किलास्यात्मनो,**
ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया नोच्छिद्यते जातुचित्।
तस्यातो मरणं न किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो,
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥२७॥१५९॥

टीका : ***प्राणोच्छेदं*** पञ्चेन्द्रियमनोवचनकायोच्छ्वासायुर्लक्षणानां उच्छेदं विनाशं; ***मरणं*** पञ्चत्वं; ***उदाहरन्ति*** प्रतिपादयन्ति पूर्ववृद्धाः, आबालगोपालादयश्च। ***अस्यात्मनः*** चिद्रूपस्य; ***किल*** निश्चितं, सत्तादिप्राणत्रयाहारकः किलशब्दः। ***ज्ञानं*** बोधः; ***प्राणाः*** असवः; ***तत्*** ज्ञानं ***स्वयमेव*** स्वरूपेणैव, ***जातुचित्*** कदाचिदपि कालत्रयेऽपि; ***नोच्छिद्यते***

सुरक्षित है। स्वरूप में स्वरूपान्तर के प्रवेश का पूर्णतया अभाव होने से, वास्तव में पुद्गल आदि कोई भी पर-पदार्थ ज्ञान-स्वरूप में प्रवेश करने के लिए किसी भी प्रकार से समर्थ नहीं है। यह ज्ञान-स्वभाव, आत्मा का अकृत/शाश्वत स्वाभाविक स्वरूप है। इस चैतन्य-भावमय गोपक/रक्षक के कारण, इस आत्मा का निर्दिष्ट या अनिर्दिष्ट किसी भी प्रकार का अगोपन नहीं होता है, तब फिर ज्ञानी को किसी भी प्रकार का अगुप्ति-भय कैसे हो सकता है? नहीं होता है। यह तो सतत स्वयं स्वभाव से ही भय की शंका से रहित, निर्भय, निश्शंक रहता हुआ, सदा, सहज, अपने ज्ञान-स्वभाव का ही अनुभव करता है।।१५८।।

अब, ज्ञानी के मरण-भय का परिहार करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **प्राणों का उच्छेद मृत्यु कहते प्राण जीव का ज्ञान ही,**
वह शाश्वत स्वयमेव नष्ट न हो कैसे भि किंचित् कभी।
यों इसकी मृत्यु कभी भी नहीं तब ज्ञानि को भय कहाँ?
वह निश्शंक सतत सहज स्वयं ही नित ज्ञान को वेदता।।१५९।।

टीकार्थ : प्राणोच्छेदं=पाँच इन्द्रियाँ, मन, वचन, काय, उच्छ्वास, आयु — लक्षण प्राणों के, उच्छेद=विनाश को; **मरणं**=पंचत्व/मृत्यु; **उदाहरन्ति**=पूर्ववर्ती वृद्धजन और आबाल-गोपाल आदि भी प्रतिपादित करते हैं। **अस्यात्मनः**=इस चिद्रूप आत्मा के; **किल**=निश्चित; नियम से सत्ता आदि तीन प्राणों को ग्रहण करनेवाला - इसका वाचक यह किल पद है। **ज्ञानं**=बोध; **प्राणाः**=असव/प्राण; **तत्**=वह ज्ञान; **स्वयमेव**=स्वरूप से ही; **जातुचित्**=कभी भी, तीनों कालों में भी; **नोच्छिद्यते**=द्रव्य की अपेक्षा उच्छेद को प्राप्त

नोच्छेदं याति द्रव्यार्पणया न विनश्यतीत्यर्थः। कया? ***शाश्वततया*** नित्यत्वात्; ***अतः*** कारणात्; ***तस्य*** आत्मनः; ***किञ्चन*** किमपि; ***मरणं*** प्राणोच्छेदं ***न भवेत्*** ज्ञानलक्षणानां प्राणानामुच्छेदाभावात्; ***ज्ञानिनः*** पुंसः; ***तद्भीः*** मरणभयं; कुतः? न कुतोऽपि। शेषं पूर्ववत्॥ २७॥

अथाकस्मिकभयं कुंथति—

शार्दूलविक्रीडित : **एकं ज्ञान-मनाद्यनन्त-मचलं सिद्धं किलैतत्स्वतो,**
यावत्तावदिदं सदैव हि भवेन्नात्र द्वितीयोदयः।
तन्नाकस्मिकमत्र किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो,
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति॥२८॥१६०॥

नहीं होता है, नष्ट नहीं होता है – ऐसा अर्थ है। कैसे/क्यों नष्ट नहीं होता है? **शाश्वततया**= नित्यता होने से, नष्ट नहीं होता है; **अतः**=इस कारण; **तस्य**=उस आत्मा के; **किंचन**=कुछ भी; **मरणं**=प्राणों का उच्छेद; **न भवेत्**=ज्ञान-लक्षणमय प्राणों के उच्छेद का अभाव होने से, नहीं होता है। **ज्ञानिनः**=ज्ञानी जीव के; **तद्भीः**=वह मरण का भय; **कुतः**=कैसे हो सकता है? किसी भी प्रकार नहीं हो सकता है। शेष पूर्ववत् है।

अर्थात्, इस लोक में आबाल-गोपाल, वृद्ध आदि; पाँच इन्द्रियाँ, मन, वचन, काय, उच्छ्वास, आयुरूप दश प्राणों के विनाश को, मरण कहते हैं। वास्तव में इस चिद्रूप आत्मा के सत्ता आदि तीन प्राणोंमय ज्ञान ही प्राण है। वह शाश्वत होने के कारण स्वयं ही द्रव्य की अपेक्षा तीनों कालों में से कभी भी नष्ट नहीं होता है; इस कारण उस आत्मा के इन ज्ञानमय प्राणों का उच्छेद कभी भी नहीं होने के कारण, उसका मरण नहीं होता है, तब फिर ज्ञानी को किसी भी रूप में मरण का भय कैसे हो सकता है? नहीं होता है। यह तो सतत स्वयं, स्वभाव से ही भय की शंका से रहित, निर्भय, निश्शंक रहता हुआ सदा, सहज, अपने ज्ञान स्वभाव का ही अनुभव करता है।।१५९।।

अब, आकस्मिक-भय का प्रतिषेध करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **अचल अनादि अनन्त एक स्व से ही सिद्ध है ज्ञान जो,**
वह जब तक तब तक सदैव शाश्वत पर रंच उसमें न हों।
यों आकस्मिक कुछ नहीं यहाँ पर तब ज्ञानि को भय कहाँ?
वह निश्शंक सतत सहज स्वयं ही नित ज्ञान को वेदता।।१६०।।

टीका : ***किल*** इत्यागमोक्तौ; ***यावत्***पर्यन्तं; ***तत्*** प्रसिद्धं; ***एकं*** कर्मादिद्वितीयरहितं; ***ज्ञानं*** बोधः; ***स्वतः*** स्वभावेन; ***सिद्धं*** निष्पन्नं कृतकृत्यं च। किं भूतं? ***अनाद्यनन्तं*** उत्पत्तिविनाशरहितं; ***अचलं*** अक्षोभ्यं; ***हि*** स्फुटं; ***तावत्***पर्यन्तं; ***इदं*** ज्ञानं; ***सदैव*** अविच्छिन्नं; ***भवेत्। अत्र*** ज्ञाने; ***द्वितीयोदयः*** सहसा द्वितीयस्य द्रव्यभवनायतनाहिदर्शनादि-पौद्गलिकस्योदयः; ***न भवेत्। तत्*** तस्मात् कारणात्; ***अत्र*** आत्मनि; ***किञ्चन*** किमपि; ***आकस्मिकं*** अकस्मात् सहसा भवं आकस्मिकं भयं; ***न भवेत्। ज्ञानिनः*** पुंसः; ***तद्भीः*** तस्य आकस्मिकस्य, भीः भयं; ***कुतः ?*** न कुतोऽपि। ***सः*** ज्ञानी; ***निश्शङ्कः*** सप्तभयशङ्का-रहितः सन्; ***सततं*** नित्यं; ***सहजं*** स्वाभाविकं; ***ज्ञानं; सदा*** नित्यं; ***विन्दति*** जानाति ॥२८॥

टीकार्थ : किल=यह आगम में कहे अनुसार; **यावत्**=जब तक; **तत्**=वह प्रसिद्ध; **एकं**=कर्मादि दूसरे से रहित एक; **ज्ञानं**=बोध; **स्वतः**=स्वभाव से; **सिद्धं**=निष्पन्न और कृतकृत्य है। वह ज्ञान कैसा है? **अनाद्यनन्तं**=उत्पत्ति और विनाश से रहित; **अचलं**=क्षोभ से रहित; **हि**=स्पष्ट; **तावत्**=तब तक; **इदं**=यह ज्ञान; **सदैव**=सदा ही अविच्छिन्न; **भवेत्**=है। **अत्र**=इस ज्ञान में; **द्वितीयोदयः**=अचानक किसी दूसरे द्रव्य, भवन, आयतन, सर्प-दर्शन आदि पौद्गलिक-द्रव्य का उदय; **न भवेत्**=नहीं होता है। **तत्**=उस कारण; **अत्र**=इस आत्मा में; **किंचन**=कुछ भी; **आकस्मिक**=अकस्मात्=सहसा होना=आकस्मिक भय; **न भवेत्**=नहीं होता है। **ज्ञानिनः**=ज्ञानी जीव के; **तद्भीः**=उस आकस्मिक का भय; **कुतः**=कैसे हो सकता है? किसी भी रूप में नहीं होता है। **सः**=वह ज्ञानी; **निश्शंकः**=सात भयों की शंका से रहित होता हुआ; **सततं**=नित्य; **सहजं**=स्वाभाविक; **ज्ञानं**=ज्ञान को; **सदा**=नित्य; **विन्दति**=जानता है।

अर्थात्, आगम में कहे अनुसार, कर्म आदि दूसरे से रहित, एक, उत्पत्ति और विनाश से रहित, अनादि-अनन्त; क्षोभ से रहित, अचल; स्वभाव से ही निष्पन्न और कृतकृत्य वह प्रसिद्ध ज्ञान, जब तक वास्तव में विद्यमान है, तब तक यह ज्ञान, सदैव अविच्छिन्न ही रहता है। इस ज्ञान में कभी अचानक किसी दूसरे द्रव्य, भवन, आयतन, सर्प-दर्शन आदि पौद्गलिक पर-पदार्थों का उदय नहीं होता है; इस कारण इस आत्मा में कुछ भी आकस्मिक-भय नहीं होता है, तब फिर ज्ञानी को किसी भी रूप में आकस्मिक-भय कैसे हो सकता है? नहीं होता है। यह तो सतत स्वयं स्वभाव से ही भय की शंका से रहित, निर्भय निश्शंक रहता हुआ, सदा सहज अपने ज्ञान-स्वभाव का ही अनुभव करता है।।१६०।।

इति ज्ञानिनः, इहपरलोकवेदनाऽत्राणागुप्तिमरणाकस्मिकभयसप्तकाभावात् सदा निर्जरैव।

अथ सम्यग्दृष्टेर्निर्जराप्रकारं प्रणीते—

मन्दाक्रान्ता : **टङ्कोत्कीर्णस्वरसनिचितज्ञानसर्वस्वभाजः,**
सम्यग्दृष्टेर्यदिह सकलं घ्नन्ति लक्ष्माणि कर्म।
तत्तस्यास्मिन्पुनरपि मनाक्कर्मणो नास्ति बन्धः,
पूर्वोपात्तं तदनुभवतो निश्चितं निर्जरैव॥ २९ ॥१६१ ॥

टीका : *यत्* यस्मात्कारणात्; ***इह*** जगति; ***घ्नन्ति*** विनाशयन्ति। किं? ***सकलं*** समस्तं; ***कर्म*** मिथ्यात्वादि; कानि? ***लक्ष्माणि*** चिह्नानि संवेगनिर्वेदनिन्दागर्होपशम-भक्तिवात्सल्यानुकंपालक्षणानि, निश्शङ्कितादीनि वा। कस्य? ***सम्यग्दृष्टेः*** निश्चय-सम्यक्त्वधारिणः। किम्भूतस्य? ***टङ्कोत्कीर्णस्वरसनिचितज्ञानसर्वस्वभाजः*** टङ्कोत्कीर्णा-

---

इस प्रकार इस-लोक-भय, पर-लोक-भय, वेदना-भय, अत्राण-भय, अगुप्ति-भय, मरण-भय, आकस्मिक-भय — इन सात भयों का अभाव होने से, ज्ञानी को सदा निर्जरा ही है।

अब, सम्यग्दृष्टि की निर्जरा के प्रकार का प्रतिपादन करते हैं—

मन्दाक्रान्ता : **टंकोत्कीर्ण निजरस भरे ज्ञान सम्पूर्ण धारी,**
सद्दृष्टि के चिन्ह हनते सर्व कर्मों को नित ही।
उसमें रहते रंच भी नहिं कर्म बन्धन उसे अब,
पहले बाँधे अभी भोगे पर नियत निर्जरित सब।।१६१।।

टीकार्थ : यत्=जिस कारण; **इह**=इस जगत में; **घ्नन्ति**=नष्ट कर देते हैं। क्या नष्ट कर देते हैं? **सकलं**=समस्त; **कर्म**=मिथ्यात्वादि कर्म नष्ट कर देते हैं। वे कौन हैं? **लक्ष्माणि**=संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य, अनुकम्पा लक्षण या निश्शंकित आदि चिह्न, उन्हें नष्ट कर देते हैं। वे किसके हैं? **सम्यग्दृष्टे**ः=निश्चय-सम्यक्त्व के धारक सम्यग्दृष्टि के वे चिह्न हैं। कैसे सम्यग्दृष्टि के हैं? **टंकोत्कीर्णस्वरसनिचित-ज्ञानसर्वस्वभाज**ः=टंकोत्कीर्ण और वह स्व आत्मा, उसका रस=अनुभव, उससे निचित=सहित, वह और ज्ञान, उसका सर्वस्व=साकल्य, उसे भजता है, उसका सेवन करता है – इस प्रकार टंकोत्कीर्ण-स्वरस-निचित-ज्ञान-सर्वस्व-भाक्, उस सम्यग्दृष्टि के हैं।

श्चासौ स्वश्च आत्मा, तस्य रसः अनुभवः, तेन निचितं युक्तं तच्च तज्ज्ञानं च तस्य सर्वस्वसाकल्यं, भजति सेवते, इति टङ्कोत्कीर्णस्वरसनिचितज्ञानसर्वस्वभाक् तस्य। ***तत्*** तस्मात्कारणात् कर्मघातनादनन्तरं; ***तस्य*** ज्ञानिनः; ***पुनः*** भूयः; ***अस्मिन्*** पूर्वोक्तस्वरूपे; ***मनागपि*** एकांशेनापि; ***कर्मणः बन्धः*** संश्लेषः; ***नास्ति*** न विद्यते; ***तत्*** कर्म; ***पूर्वोपात्तं*** पूर्वं सम्यग्दृष्टेः प्राक् उपात्तं बद्धं; ***च अनुभवतः*** सुखदुःखादिरूपेणानुभुञ्जतः; ***निश्चितं*** नियमेन; ***निर्जरैव*** खलु निर्जरा भवत्येव कर्मणाम् ॥२९ ॥

अथ सम्यग्दृष्टेरङ्गानि लक्षयति—

मन्दाक्रान्ता : **रुन्धन् बन्धं नवमिति निजैः सङ्गतोऽष्टाभिरङ्गैः,**
प्राग्बद्धं तु क्षय-मुपनयन् निर्जरोज्जृम्भणेन।

तत्=उस कारण से कर्मों को नष्ट करने के बाद; **तस्य**=उस ज्ञानी के; **पुनः**=फिर से; **अस्मिन्**=पूर्वोक्त स्वरूपवाले उसके होने पर; **मनागपि**=एक अंश मात्र भी; **कर्मणः बन्धः**=कर्म का संश्लेषरूप बन्ध; **नास्ति**=नहीं है। **तत्**=वह कर्म; **पूर्वोपात्तं**=पूर्व=सम्यग्दर्शन होने के पहले, उपात्त=बँधे हुए; **च**=और **अनुभवतः**=सुख, दुःख आदि रूप से अनुभव करते/भोगते हुए; **निश्चितं**=नियम से; **निर्जरैव**=वास्तव में उन कर्मों की निर्जरा ही होती है।

अर्थात्, जिस कारण टाँकी से उत्कीर्ण किए के समान अविचल, अपने आत्मा के अनुभवरूपी रस से परिपूर्ण ज्ञान की सम्पूर्णता का सेवन करनेवाले, निश्चय-सम्यक्त्व के धारक सम्यग्दृष्टि के संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य, अनुकम्पा अथवा निश्शंकित आदि चिह्न इस लोक में मिथ्यात्व आदि समस्त कर्मों को समाप्त कर देते हैं; उस कारण उन कर्मों के समाप्त होने के बाद, उस ज्ञानी के पूर्वोक्त स्वरूपवाले कर्म होने पर भी, अंशमात्र भी कर्मों का संश्लेषरूप बन्ध नहीं होता है। सम्यग्दर्शन होने के पहले बँधे हुए और अभी सुख, दुःख आदिरूप से अनुभव में/भोगने में आते हुए कर्मों की भी, नियम से निर्जरा ही होती है।।१६१।।

अब, सम्यग्दृष्टि के अङ्गों का वर्णन करते हैं—

मन्दाक्रान्ता : **रोकै अपने आठ अंगों से नया कर्म बन्ध,**
अति वृद्धिंगत निर्जरा से पूर्व बद्धों का कर क्षय।

सम्यग्दृष्टिः स्वयमतिरसादादिमध्यान्तमुक्तं,
ज्ञानं भूत्वा नटति गगनाभोगरङ्गं विगाह्य ॥३०॥१६२॥

टीका : ***सम्यग्दृष्टिः*** आत्मश्रद्धानलक्षणसम्यक्त्वपरिणतो मुनिः; ***स्वयं*** ज्ञानरूपेण; ***आदिमध्यान्तमुक्तं ज्ञानं भूत्वा*** ज्ञानमयो भूत्वा; ***नटति*** नृत्यं करोति ज्ञानेन सह तन्मयत्वं प्राप्नोतीति यावत्। किं कृत्वा? ***गगनाभोगरङ्गं*** गगनं व्योम, तस्य आभोगः परिपूर्णता स एव रङ्गः नाट्यावताररङ्गभूमिः, तम्। ***विगाह्य*** गाहयित्वा ज्ञानेन सर्वं गगनमण्डलमभिव्याप्य, हर्षतो नृत्याविरोधात्। कुतः? ***अतिरसात्*** स्वानुभवनोत्थरसोद्रेकेण, अन्योऽपि यो नटति स रङ्गमवगाह्य शृङ्गारादिनवरसोद्रेकत एव इत्युक्तिलेशः। ***तु*** पुनः; ***प्राग्बद्धं*** प्राक् सम्यक्त्वोत्पत्तेः पूर्वबद्धकर्मरूपेणात्मसात्कृतं; ***क्षयं*** विनाशं; ***उपनयन्*** प्रापयन् सन्; केन? ***निर्जरोज्जृम्भणेन*** असंख्यातगुणनिर्जराया उज्जृम्भणं उत्सर्पणं प्राकट्यं तेन; ***अष्टाभिः***

सम्यग्दृष्टि स्वयं अति रस से अनादि अनन्त,
ज्ञानमय होकर स्वयं नचता व्याप्त कर गगन मण्डल।।१६२।।

टीकार्थ : सम्यग्दृष्टिः=आत्म-श्रद्धान लक्षण सम्यक्त्व से परिणत मुनि; **स्वयं**=अपने ज्ञानरूप से; **आदिमध्यान्तमुक्तं ज्ञानं भूत्वा**=शाश्वत ज्ञानमय होकर; **नटति**=नृत्य करता है, ज्ञान के साथ तन्मयता को प्राप्त होता है। वह क्या करके ऐसा होता है? **गगनाभोगरंगं**= गगन=आकाश, उसका आभोग=परिपूर्णता, वही है रंग=नाट्य के अवतार/नृत्य करने की रंगभूमि, उसे; **विगाह्य**=व्याप्त कर, हर्ष से नृत्य करने का विरोध नहीं होने के कारण, ज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण आकाश-मण्डल को सब ओर से व्याप्त कर; ऐसा कैसे कर? **अतिरसात्**= स्वानुभव से उत्पन्न रस के उद्रेक से; अन्य भी जो नाचता है, वह रंगभूमि को व्याप्त कर, शृंगार आदि नौ रसों के उद्रेक से ही नाचता है; अब यहाँ उसी पद्धति से निरूपण किया है। **तु**=और; **प्राग्बद्धं**=प्राक्=सम्यक्त्व की उत्पत्ति से पहले, बद्ध=कर्मरूप से आत्मसात् किए गए; **क्षयं**=विनाश को; **उपनयन्**=प्राप्त कराता हुआ। किसके द्वारा? **निर्जरोज्जृम्भणेन**= असंख्यात-गुणी निर्जरा का उज्जृम्भण=उत्सर्पण=उसकी प्रगटता, उसके द्वारा क्षय कराता हुआ; **अष्टाभिः**=आठ संख्यावाले; **अंगैः**=सम्यक्त्व के निश्शंकित आदि अवयवों से; **संगतः**=युक्त। वे अङ्ग कैसे हैं? **निजैः**=जो निश्चय सम्यक्त्व-सम्पन्न हैं, उनके स्वयं के हैं।

वसुसंख्यैः; ***अङ्गैः*** निश्शङ्कितादिसम्यक्त्वावयवैः; ***सङ्गतः*** युक्तः। किं भूतैः? ***निजैः*** निश्चयसम्यक्त्वसम्बन्धीयैः। ***इति*** पूर्वोक्तप्रकारेण; ***नवं*** नवीनं; ***बन्धं*** कर्मबन्धं; ***रुन्धन्*** निवारयन्। प्रत्यधिकारं नटतीत्यादिशब्दः नाटकत्वमुद्योतयति॥ ३०॥

इतिश्री समयसारपद्यस्य परमाध्यात्मतरङ्गिणीनामधेयस्य व्याख्यायां षष्ठोऽङ्कः॥

इति=यह पूर्वोक्त प्रकार से; **नवं**=नवीन; **बन्धं**=कर्म-बन्ध को; **रुन्धन्**=रोकता हुआ। प्रत्येक अधिकार में 'नाचता है' इत्यादि पद नाटकपने को प्रकाशित करते हैं।

अर्थात्, स्वयं के आठ संख्यावाले निश्शंकित आदि सम्यक्त्व के अङ्गों-सहित, आत्म-श्रद्धान लक्षणमय सम्यक्त्वरूप से परिणत जीव, पूर्वोक्त प्रकार से कर्मों के नवीन बन्ध को रोकता हुआ और सम्यक्त्व की उत्पत्ति के पूर्व कर्मरूप से बँधे कर्म का, असंख्यात-गुणी निर्जरा की विशेष प्रगटता के द्वारा, क्षय कराता हुआ, अपने ज्ञान-स्वभावमय स्वानुभव से उत्पन्न रस के उद्रेक द्वारा; आदि, मध्य, अन्त से रहित, शाश्वत ज्ञानमय होकर; आकाश-मण्डलरूपी रङ्गभूमि को व्याप्तकर/सम्पूर्ण लोकालोक को जानता हुआ, नृत्य करता है/ज्ञान के साथ तन्मय हो सुखी रहता है।।१६२।।

इस प्रकार श्री समयसार पद्य की परम-अध्यात्म-तरङ्गिणी नामक व्याख्या में छठवाँ अंक समाप्त हुआ।।६।।

बन्धाधिकारः

अथ सप्तमोऽङ्कः प्रारभ्यते।

टीकाकारस्य मङ्गलाचरणं :

आर्या : **वारयति निर्जराख्यं तामस्यं भव्यजीवनिचयस्तु।**
अमृतेन्दुवाङ्मयूखैः श्रीकुन्दसमैः परैः सारैः ॥

ननु संवरनिर्जरे निरन्तरं ज्ञानिनो निरूपिते पुनः कस्य तु ते द्वे ? प्रतिषेध्यस्य विधिपूर्वकत्वादिति विचिन्त्य बन्धतत्त्वं निबध्यते —

शार्दूलविक्रीडित : **रागोद्‌गार-महारसेन सकलं कृत्वा प्रमत्तं जगत्,**
क्रीडन्तं रसभारनिर्भर-महानाट्येन बन्धं धुनत्।
आनन्दामृतनित्यभोजि सहजावस्थां स्फुटं नाटयद्,
धीरोदारमनाकुलं निरुपधि ज्ञानं समुन्मज्जति ॥१ ॥१६३ ॥

टीका : *समुन्मज्जति* समुच्छलति चकास्तीत्यर्थः। किं? ***ज्ञानं*** आत्मबोधः। किं

अब, सातवाँ अंक प्रारम्भ होता है।

टीकाकारकृत मङ्गलाचरण का अर्थ : *परम-श्रेष्ठ आचार्य कुन्दकुन्द के समान आचार्य अमृतचन्द्र की वचनरूपी किरणों से भव्य जीवों का समूह, निर्जरा को रोकनेवाले अन्धकार को दूर करता है।*

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि ज्ञानी के सदा संवर-निर्जरा होने का निरूपण किया गया है, तब फिर (शेष रहे) वे दो किसके हैं? इसका उत्तर देने हेतु, निषेध, विधि पूर्वक होता है - ऐसा विचारकर बन्ध-तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **मतवाला कर सब जगत वृहत रस द्वारा प्रगट राग के,**
रस आधिक्य भरे हुए महत नाटक से नचाते हुए।
बन्धन को नश सहज भाव दर्शा आनन्द अमृत सदा,
भोजी धीर उदार निरुपधि अनाकुल ज्ञान विकसित हुआ।।१६३।।

टीकार्थ : समुन्मज्जति=उछलता है, प्रकाशित होता है - ऐसा अर्थ है। क्या?

भूतं ? ***निरुपधि*** निर्गत उपाधिः ममत्वादिविकृतिर्यस्मात्तत्; पुनः कीदृशं ? ***अनाकुलं*** उपाधिविजृम्भितचिन्ताच्युतं; ***धीरोदारं*** धीरं धैर्यगुणयुक्तं तच्च तदुदारमुत्कटं च। ***सहजावस्थां*** स्वाभाविकदशां; ***स्फुटं*** व्यक्तं यथा भवति तथा; ***नाटयत्*** प्रकाशयत् धातूनामनेकार्थत्ववचनात् द्योतकत्वमत्र। पुनः ***आनन्दामृतनित्यभोजि*** आनन्दं स्वात्मोत्थं सुखं तदेवामृतं सुधां, नित्यं अनवच्छिन्नतया, भुनक्तीत्येवं शीलम्। पुनः ***बन्धं*** कर्माश्लेषं; ***धुनत्*** स्फोटयत्। किं भूतं बन्धं ? ***क्रीडन्तं*** स्वेच्छया सर्वत्र क्रीडया परिणतम्। केन ? ***रसभारनिर्भरमहानाट्येन*** रसस्य कर्मानुभागस्य, भारः अतिशयः, स एव निर्भरं अतिमात्रं, महानाट्यं महानटनं, तेन। किं कृत्वा ? ***सकलं*** समस्तं; ***जगत्*** लोकनिवासिजनवृन्दं; ***प्रमत्तं*** मदाक्रान्तं; ***कृत्वा*** विधाय। केन ? ***रागोद्गारमहारसेन*** रागस्य उद्गारः उद्गिरणं, स एव महारसः मैरेयादिरूपः तेन, अन्योऽपि यः परं मदिरया प्रमाद्य नाट्ये नाटयतीत्युक्तिलेशः ॥ १ ॥

ज्ञानं=आत्मबोध प्रकाशित होता है। वह कैसा है? **निरुपधि**=जिसमें से ममत्व आदि विकृतिरूप उपाधि निकल गयी है, वह; और कैसा है? **अनाकुलं**=उपाधि से बढ़नेवाली चिन्ताओं से रहित है; **धीरोदारं**=धैर्य-गुण से युक्त, धीर और वह उदार=उत्कट/विशाल है। **सहजावस्थां**=स्वाभाविक दशा को; **स्फुटं**=जैसे बने, उस प्रकार व्यक्तरूप में; **नाटयत्**= प्रकाशित करता हुआ; धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं - ऐसा वचन होने से यहाँ 'नाटयत्' का 'द्योतकपना' अर्थ है। और **आनन्दामृतनित्यभोजि**=आनन्द=अपने आत्मा से उत्पन्न सुख, वही है अमृत=सुधा को, नित्य=बाधा-रहित=निर्बाधरूप से, भोगता है - इस प्रकार के स्वभाववाला है। और **बन्धं**=कर्म के सम्बन्ध को; **धुनत्**=समाप्त करता हुआ। बन्ध कैसा है? **क्रीडन्तं**=अपनी इच्छा से सर्वत्र क्रीड़ारूप से परिणत है।

किस कारण इसरूप है? **रसभारनिर्भरमहानाट्येन**=कर्म के अनुभागमय रस का, भार=अतिशय, वही है निर्भर=अधिकता, महा-नाट्य=विशाल नाटक, उससे उसरूप परिणत है। क्या करके? **सकलं**=समस्त; **जगत्**=लोक में रहनेवाला जन-समूह; **प्रमत्तं**=मद से आक्रान्त/मतवाला; **कृत्वा**=करके। ऐसा किससे करके? **रागोद्गारमहारसेन**=राग का उद्गार=उत्पाद, वही है शराब आदिरूप महा-रस, उससे ऐसा करके; जैसे कोई व्यक्ति किसी दूसरे को शराब द्वारा मतवाला कर नचाता है; उसी प्रकार यहाँ कथन किया है।

अर्थात्, लोक में रहनेवाले सभी जीवों को राग की प्रगटतारूप महा-रस से प्रमत्त करके, कर्म के अनुभागमय रस के भार की अधिकता से परिपूर्ण महा-नाटक द्वारा, अपनी

अथ कथं मुच्यते जगतः कर्मात्मकत्वादिति वदन्तं प्रत्याचष्टे—

पृथ्वी : **न कर्मबहुलं जगन्न चलनात्मकं कर्म वा,**
न नैककरणानि वा न चिदचिद्वधो बन्धकृत्।
यदैक्य-मुपयोग-भूः समुपयाति रागादिभिः,
स एव किल केवलं भवति बन्धहेतुर्नृणाम्॥२॥१६४॥

टीका : ननु ***जगत्*** त्रिभुवनं; ***कर्मबहुलं*** कर्मयोग्यपुद्गलैर्बहुलं प्रचुरं तत्; ***न बन्धकृत्*** बन्धं करोतीति बन्धकृत् बन्धकारणं न भवेत् अन्यथा सिद्धानामपि तत्प्रसङ्गात् तत्र कर्मपुद्गलानां अवस्थानाविशेषात्। अथ ***कर्म*** कायवाङ्मनसां बन्धकृत्; ***न चलनात्मकं*** न चलात्मकानां कर्मणां बन्धहेतुत्वाभावात् अपरथा यथाख्यातसंयतानामपि कर्मबन्धप्रसङ्गात्।

इच्छानुसार सर्वत्र क्रीड़ा कराते हुए कर्म के सम्बन्ध को समाप्त करता हुआ; अपने आत्मा से उत्पन्न सुखरूपी सुधारस का निर्बाधरूप से सदा भोग करनेवाला; अपनी सहज अवस्था को स्पष्टरूप से प्रकाशित करता हुआ; धैर्य-गुण से युक्त धीर; उत्कट, विशाल, उदार, उपाधि/परिग्रह आदि से बड़नेवाली चिन्ताओं से पूर्णतया रहित, अनाकुल; ममत्व आदि विकृतिरूप उपाधि से सर्वथा रहित, निरुपधि आत्म-ज्ञान उछलता हुआ प्रकाशित होता है।।१६३।।

अब, जगत कर्मात्मक होने के कारण, कर्म से कैसे छूट सकता है? - ऐसा कहनेवाले के प्रति आचार्य उत्तर देते हैं—

पृथ्वी : **न कर्म बाहुल्य जग चलनात्मक कर्म नहिं,**
अनेक इन्द्रियाँ नहीं चित् अचित् घात नहिं।
ऐक्य को प्राप्त रागादि से जीव का,
मात्र उपयोग नित बन्धकारण कहा।।१६४।।

टीकार्थ : यहाँ प्रश्न है कि **जगत्**=तीनों लोक; **कर्मबहुलं**=कर्म के योग्य पुद्गलों से बहुल=प्रचुर/भरपूर है, वह; **न बन्धकृत्**=बन्ध करता है - ऐसा बन्धकृत=बन्ध का कारण नहीं हो/है; यदि ऐसा नहीं मानें तो सिद्धालय में भी कर्म-पुद्गलों के अवस्थान की समानता होने से, सिद्धों के भी उस बन्ध का प्रसङ्ग आएगा/उन्हें भी बन्ध मानना पड़ेगा। अब **कर्म**=शरीर, वचन और मन की क्रिया, बन्ध कराती है (ऐसा मानें तो); **न चलनात्मकं**=चलात्मक/चंचलता से कर्मों के बन्ध की कारणता का अभाव होने से, वह क्रिया, बन्ध की कारण नहीं है; यदि ऐसा नहीं मानें तो यथाख्यात-संयतों के भी कर्म-बन्ध का प्रसङ्ग

ननु ***वा*** अथवा, तत्कारणं मा भवतु ***नैककरणानि*** अनेकस्पर्शनादीन्द्रियाणां बन्धहेतुत्वं; तत् ***न*** अन्यथा केवलिनामपि तत्प्रसङ्गात् तस्य तत्सद्भावात्। ननु ***चिदचिद्वधः*** चिदचितां सचित्ताचित्तानां वस्तूनां वधः घातः बन्धकृत्; तत् ***न*** तस्य तन्निमित्तत्वाघटनात् अन्यथा समितितत्पराणामपि तत्प्रसङ्गात्।

ननु सर्वस्य बन्धनिमित्तत्वनिषेधे जगतो निर्बन्धत्वमेवेति चेन्न तत्सद्भावात्। तथाहि– ***किल*** इत्यागमोक्तौ; ***एव*** निश्चयेन; ***नृणां*** प्राणिनां; ***केवलं*** परं; ***सः*** रागयोगः, अनिर्दिष्टः; ***बन्धहेतुः*** बन्धस्य कारणं; ***भवति*** अस्ति। स कः ? ***यत् उपयोगभूः*** उपयोगस्य ज्ञानदर्शनलक्षणस्य भूः स्थानं, आत्मेत्यर्थः। ***रागादिभिः*** रागद्वेषमोहैः सह; ***ऐक्यं*** एकतां; ***समुपयाति*** प्राप्नोति, स एव बन्धकारणम्॥ २॥

आएगा। यहाँ पुनः प्रश्न है कि **वा**=अथवा, वे कारण भले ही नहीं हों, **नैककरणानि**= अनेक=स्पर्शन आदि इन्द्रियों के तो बन्ध की कारणता होगी; **न**=वह भी नहीं है; यदि ऐसा नहीं माना जाए तो केवलियों के भी उनका सद्भाव होने से, उन्हें भी बन्ध का प्रसङ्ग आएगा। यदि **चिदचिद्वधः**=चेतन और अचेतन=सचित्त और अचित्त वस्तुओं का, वध=घात बन्ध का कारण है – ऐसा मानें तो; **न**=वह भी बन्ध का कारण नहीं है; क्योंकि उसकी निमित्तता घटित नहीं होती है; यदि ऐसा नहीं मानें तो समिति में तत्परों के भी बन्ध का प्रसङ्ग आएगा।

यहाँ कोई कहे कि इन सभी के बन्ध की निमित्तता का निषेध कर देने पर, जगत के बन्ध से रहितपना ही है; (उसके लिए यहाँ कहते हैं कि) ऐसा नहीं है; क्योंकि बन्ध का सद्भाव है। वह इस प्रकार – **किल**=आगम में कहे अनुसार; **एव**=ही, निश्चय से/वास्तव में; **नृणां**=प्राणिओं के; **केवलं**=मात्र; **सः**=वह नहीं कहा गया, राग का योग; **बन्धहेतुः**=बन्ध का कारण; **भवति**=होता है। वह कौन? **यत् उपयोगभूः**=ज्ञान-दर्शन लक्षण उपयोग का जो भू=स्थान है, आत्मा – ऐसा अर्थ है। **रागादिभिः**=राग, द्वेष, मोह के साथ; **ऐक्यं**=एकता को; **समुपयाति**=प्राप्त होता है, वह ही बन्ध का कारण है।

अर्थात्, कर्म-बन्ध का वास्तविक कारण क्या है? यहाँ उसकी मीमांसा कर रहे हैं। यहाँ कर्म/कार्मण-वर्गणा की बहुलता; मन, वचन, काय की क्रियारूप योग; अनेक इन्द्रियाँ; चेतन-अचेतन का घात – ये चार, बन्ध के कारण क्यों नहीं हैं, यह बताकर, बन्ध के वास्तविक कारण को बताया है। इन सबका सार इसप्रकार है —

१. यदि कार्मण-वर्गणा की बहुलता को बन्ध का कारण माना जाए तो सिद्ध-

अथ कर्मबहुलादीनां कर्महेतुत्वं मीमांसते—

शार्दूलविक्रीडित : **लोकः कर्मततोऽस्तु सोऽस्तु च परिस्पन्दात्मकं कर्म तत्,**
तान्यस्मिन्करणानि सन्तु चिदचिद्व्यापादनं चास्तु तत्।
रागादी-नुपयोग-भूमि-मनयन् ज्ञानं भवन्केवलं,
बन्धं नैव कुतोऽप्युपैत्ययमहो सम्यग्दृगात्मा ध्रुवम्॥ ३ ॥१६५ ॥।

भगवान के प्रदेशों में भी ये कार्मण-वर्गणा विद्यमान होने से, उन्हें भी बन्ध होना चाहिए; परन्तु उन्हें तो बन्ध नहीं होता है; अतः ये बन्ध की कारण नहीं हैं।

२. यदि मन, वचन, काय की क्रियारूप योग को बन्ध का कारण माना जाए तो यथाख्यात-संयमी जीवों के भी यह विद्यमान होने से, उन्हें भी बन्ध होना चाहिए; परन्तु उन्हें तो बन्ध नहीं होता है; अतः यह भी बन्ध का कारण नहीं है।

३. यदि स्पर्शन आदि अनेक इन्द्रियों को बन्ध का कारण माना जाए तो अरहन्त केवलियों के ये विद्यमान होने से, उन्हें भी बन्ध होना चाहिए; परन्तु उन्हें तो बन्ध नहीं होता है; अतः ये भी बन्ध की कारण नहीं हैं।

४. यदि चेतन-अचेतनरूप सचित्त-अचित्त के घात को बन्ध का कारण माना जाए तो समिति पूर्वक प्रवृत्ति करनेवालों के भी यह विद्यमान होने से, उन्हें भी बन्ध होना चाहिए; परन्तु उन्हें तो इससे बन्ध नहीं होता है; अतः यह भी बन्ध का कारण नहीं है।

यद्यपि ये चारों, बन्ध के कारण नहीं हैं; तथापि प्राणिओं को बन्ध तो होता है। उन्हें वह बन्ध किससे होता है, यह बताते हुए यहाँ कहते हैं कि आगमानुसार जीवों के ज्ञान-दर्शनात्मक उपयोगमय स्थानरूप आत्मा में राग, द्वेष, मोह के साथ जो एकत्व किया जाता है; एकमात्र यह ही, प्राणिओं के बन्ध का कारण है।।१६४।।

अब, कर्म बाहुल्य आदि के कर्म-बन्ध की हेतुता की मीमांसा करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **यह कर्मों से व्याप्त लोक कम्पनमय योग भी नित रहो,**
आतम में इन्द्रिय रहें चित् अचित् का घात है तो रहो।
उपयोगात्मक जीव में नहीं ला रागादि को ज्ञानमय,
रहता यह सद्दृष्टि रंच भी न बँधता कहीं नित नियम।।१६५।।

टीकार्थ : सः=वह प्रसिद्ध; **लोकः**=श्रेणी के घन-प्रदेश/तीन सौ तेतालीस घन

टीका : ***सः*** प्रसिद्धः; ***लोकः*** श्रेणीघनप्रदेशमात्रं त्रिभुवनं, ***कर्मततः*** कर्मयोग्यपुद्गलैस्ततो व्याप्तः; ***अस्तु*** भवतु, तथाप्यात्मनः कर्मबन्धो न। ***च*** पुनः; ***तत्*** प्रसिद्धं; ***कर्म*** कायवाङ्मनोयोगः; ***परिस्पन्दात्मकं*** आत्मप्रदेशपरिस्पन्दस्वरूपं; ***अस्तु*** भवतु, तथाप्यात्मनो न बन्धः। ***अस्मिन्*** आत्मनि; ***तानि*** प्रसिद्धानि; ***करणानि*** इन्द्रियाणि, ***सन्तु*** भवन्तु। ***च*** पुनः; ***तत्*** प्रसिद्धं; ***चिदचिद्व्यापादनं*** चित् सचित्तः, अचित् प्रासुकः, चिच्चाचिच्च, तयोर्व्यापादानं, पीडनं, विनाशनं; ***अस्तु।***

अहो इति आश्चर्ये, तथापि ***अयं सम्यग्दृगात्मा*** सम्यग्दर्शनपरिणतश्चिद्रूपः; ***कुतोऽपि*** जगत्कर्मकरणचिदचिद्घातादेः अन्यतरादपि; ***ध्रुवं*** निश्चितं; ***बन्धं*** कर्मबन्धं; ***नैव उपैति*** न प्राप्नोति। किम्भूतः सन्? ***केवलं*** रागादिनिरपेक्षं; ***ज्ञानं*** बोधमयो; ***भवन्*** जायमानः। पुनः ***उपयोगभूमिं*** उपयोगस्य ज्ञानदर्शनस्य, भूमिः आत्मा, ''उपयोगो लक्षणम्'' इति सूत्रकारवचनात्, तं। ***रागादीन्*** रागद्वेषमोहान्; ***अनयन्*** अप्रापयन् रागमयमात्मानमकुर्वन् न कुतोऽपि बध्नाति अयमात्मेति तात्पर्यम्॥३॥

राजू मात्र तीन लोक; **कर्मततः**=कर्म-योग्य पुद्गलों से, तत=व्याप्त; **अस्तु**=हो; तथापि आत्मा के कर्म-बन्ध नहीं है। **च**=और; **तत्**=वह प्रसिद्ध; **कर्म**=शरीर, वचन, मनरूप योग; **परिस्पन्दात्मकं**=आत्म-प्रदेशों के परिस्पन्दन/कम्पन-स्वरूप; **अस्तु**=हो; तथापि आत्मा को बन्ध नहीं है। **अस्मिन्**=इस आत्मा में; **तानि**=वे प्रसिद्ध; **करणानि**=इन्द्रियाँ; **सन्तु**=हों; **च**=और; **तत्**=वह प्रसिद्ध; **चिदचिद्व्यापादनं**=चित्=सचित्त, अचित्=प्रासुक, चित् और अचित्, उनका व्यापादान=पीड़न=विनाश; **अस्तु**=हो।

अहो!=यह आश्चर्य अर्थ में अव्यय है; आश्चर्य है कि तथापि **अयं सम्यग्दृगात्मा**= सम्यग्दर्शनरूप से परिणत यह चिद्रूप आत्मा; **कुतोऽपि**=जगत, कर्म, करण, चित्-अचित् का घात - इनमें से किसी से भी; **ध्रुवं**=निश्चित; **बन्धं**=कर्म-बन्ध को; **नैव उपैति**=प्राप्त नहीं होता है। कैसा होता हुआ? **केवलं**=रागादि से निरपेक्ष मात्र; **ज्ञानं**=बोधमय; **भवन्**=होता हुआ। और **उपयोगभूमिं**=ज्ञान-दर्शनमय उपयोग की भूमि आत्मा; *'आत्मा का लक्षण उपयोग है'* - ऐसा सूत्रकार (आचार्य उमास्वामी) का वचन होने से, उसे; **रागादीन्**=राग, द्वेष, मोह को; **अनयन्**=प्राप्त नहीं कराता हुआ, आत्मा को रागमय नहीं करता हुआ, यह आत्मा किसी भी रूप में बँधता नहीं है - ऐसा तात्पर्य है।

अथ तथापि ज्ञानिनां निरर्गलत्वं विद्वेषयति—

पृथ्वी : **तथापि न निरर्गलं चरितुमिष्यते ज्ञानिनां,**
तदायतनमेव सा किल निरर्गला व्यापृतिः।
अकामकृतकर्म तन्मतमकारणं ज्ञानिनां,
द्वयं न हि विरुध्यते किमु करोति जानाति च॥४॥१६६॥

टीका : ***तथापि*** कर्मबहुलकर्मकरणादीनामबन्धकत्वे, रागादीनां बन्धहेतुकत्वे च सत्यपि; ***ज्ञानिनां*** पुंसां; ***निरर्गलं*** निरंकुशं; ***चरितुं*** प्रवर्तयितुं; ***न इष्यते*** न वांछ्यते। ***किल इति*** कस्मात्? ***सा*** प्रसिद्धा; ***निरर्गला*** निरंकुशा; ***व्यापृतिः*** सर्वत्र कायादिव्यापारे

अर्थात्, कर्म-योग्य पुद्गलों से व्याप्त वह प्रसिद्ध तीन सौ तेतालीस घन राजू मात्र तीन लोक है, तो रहो; आत्म-प्रदेशों के हलन-चलनमय शरीर, वचन, मनरूप योग है, तो रहो; इस आत्मा में वे प्रसिद्ध इन्द्रियाँ हैं, तो हों; वह प्रसिद्ध सचित्त और प्रासुक पदार्थों का विनाश होता है, तो हो; इनसे आत्मा को रंचमात्र भी बन्ध नहीं होता है। राग, द्वेष, मोह को ज्ञान, दर्शनमय अपने उपयोग की भूमि/आत्मा में नहीं लाता हुआ, सम्यग्दर्शनरूप से परिणत यह चिद्रूप आत्मा, रागादि से पूर्णतया निरपेक्ष मात्र ज्ञानमय रहता हुआ, जगत, कर्म/योग, करण, सचित्त-अचित्त का घात - इनमें से किसी से भी नियम से कर्म-बन्ध को प्राप्त नहीं होता है।।१६५।।

अब, तथापि ज्ञानी को निरर्गलता/स्वच्छन्दता से विद्वेष है/वे निरर्गल प्रवृत्ति नहीं करते हैं; यह बताते हैं—

पृथ्वी : **तथापि न निरर्गल आचरण ज्ञानि का,**
कहीं कभी, निरर्गल प्रवृत्ति कर्महेतुता।
निरिच्छभाव कृत करम बन्ध हेतु नहीं,
मान्य पर करना और जानना विरुद्ध ही।।१६६।।

टीकार्थ : तथापि=कर्म-बहुल, कर्म, करण आदि की अबन्धकता और रागादि की बन्धकारणता होने पर भी; **ज्ञानिनः**=ज्ञानी जीव के; **निरर्गल**=निरंकुश; **चरितुं**=प्रवृत्ति करने की; **न इष्यते**=वांछा नहीं होती है। **किल इति**=ऐसा किस कारण? **सा**=वह प्रसिद्ध; **निरर्गला**=निरंकुश; **व्यापृतिः**=सर्वत्र शरीर आदि के व्यापार में प्रवृत्ति; **तदायतनं**=उस

प्रवृत्तिः; ***तदायतनं*** तस्य बन्धस्य, आयतनं स्थानं; ***एव*** निश्चयेन। ***ज्ञानिनां*** पुंसां; ***तत्*** प्रसिद्धं, ***अकामकृतकर्म*** अकामेन अवांछया, कृतं निष्पादितं, कर्म क्रिया, कायवाङ्मनसां कर्म च; ***अकारणं*** बन्धाहेतुकं; ***मतं*** कथितं पूर्वाचार्यैः। ***हि*** इति यस्मात्; ***करोति*** क्रिया; ***जानाति*** लक्षणा क्रिया एतद् ***द्वयं च किमु*** कथं ***न विरुध्यते*** विरोधं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

अथ कर्तृज्ञात्रोः पृथक्त्वं विधीयते—

वसन्ततिलका : **जानाति यः स न करोति करोति यस्तु,**
जानात्ययं न खलु तत्किल कर्मरागः।
रागं त्वबोधमयमध्यवसायमाहु-
र्मिथ्यादृशः स नियतं स च बन्धहेतुः ॥५ ॥१६७ ॥

बन्ध का आयतन=स्थान; **एव**=ही है निश्चय से/वास्तव में। **ज्ञानिनां**=ज्ञानी जीव के; **तत्**=वह प्रसिद्ध; **अकामकृतकर्म**=अकाम=विना वांछा के, कृत=निष्पन्न किया गया, कर्म=क्रिया और शरीर, वचन, मन का कर्म; **अकारणं**=बन्ध का कारण नहीं है; **मतं**=ऐसा पूर्वाचार्यों ने कहा है। **हि**=ऐसा जिस कारण; **करोति**=करने की क्रिया; **जानाति**=जानना लक्षण क्रिया; **द्वयं च किमु**=दोनों क्या; कैसे **न विरुध्यते**=विरोध को प्राप्त नहीं होती हैं – ऐसा अर्थ है।

अर्थात्, यद्यपि जगत में कर्म-योग्य कार्मण-वर्गणा की बहुलता, योगरूप कर्म, करण आदि कर्म-बन्ध के कारण नहीं हैं; रागादि ही उस कर्म-बन्ध के कारण हैं; तथापि ज्ञानी जीव कभी भी निरर्गल प्रवृत्ति नहीं करता है; क्योंकि शरीर आदि के व्यापार में निरर्गल/स्वच्छन्द प्रवृत्ति से वास्तव में बन्ध होता है। ज्ञानी के जो इच्छा-रहित क्रिया और शरीर, वचन, मनमय कर्म होता है, उससे बन्ध नहीं होता है – ऐसा पूर्वाचार्यों ने कहा है। वास्तव में करनेरूप क्रिया और ज्ञानात्मक क्रिया – दोनों परस्पर विरुद्ध ही हैं।।१६६।।

अब, कर्ता और ज्ञाता में पृथक्ता का प्रतिपादन करते हैं—

वसन्ततिलका : **जो जानता वह नहीं करता जो करता,**
वह जानता नहीं राग यही कर्म का।
अज्ञानमय यही अध्यवसाय राग,
है बन्ध हेतु मिथ्यात्वी को कहें जिन।।१६७।।

टीका : ***खलु*** इति निश्चयार्थे। ***यः*** चिद्रूपः; ***जानाति*** स्वपरस्वरूपं वेत्ति; ***सः*** चिद्रूपः; ***न करोति*** कर्मादि न विधत्ते। ***यस्तु*** कश्चित् ज्ञानादन्यः; ***करोति*** कर्म निर्मापयति। ***तु*** विशेषे; ***अयं*** कर्मकर्ता; ***न जानाति*** न परिच्छिनत्ति, तस्याज्ञानरूपत्वात्; ***किल*** इति निश्चितम्। ***तत्*** करोतिक्रियावच्छिन्नं; ***कर्मरागः*** राग एव करोतीत्यर्थः। ***तु*** पुनः; ***रागं अध्यवसायं आहुः*** रागस्य कषायानुभागाध्यवसायेति संज्ञां प्रतिपादयन्ति जिनाः, इति स्वरूपविरचितत्वं संज्ञाया निरस्तम्। कीदृशं रागं? ***अबोधमयं*** अज्ञानस्वरूपं, हन्मि हन्ये जीवामि जीव्येऽहमनेनेत्यादीनामज्ञानरूपत्वात्। ***सः*** रागः; ***नियतं*** निश्चितं; कस्य भवति? ***मिथ्यादृशः*** मिथ्यादृष्टेः, नत्वन्यस्य सम्यग्दृष्टेः। ***च*** पुनः; ***सः*** रागः; ***बन्धहेतुः*** कर्मबन्धकारणम्॥ ५॥

टीकार्थ : खलु=यह 'निश्चय' अर्थ में अव्यय है। **यः**=जो चिद्रूप; **जानाति**=स्व और पर के स्वरूप को जानता है; **सः**=वह चिद्रूप; **न करोति**=कर्मादि को नहीं करता है। **यस्तु**=जो कोई ज्ञान से अन्य; **करोति**=कर्म को करता है। **तु**=विशेष अर्थ में अव्यय है; **अयं**=कर्म का यह कर्ता; **न जानाति**=उसके अज्ञानरूपता होने के कारण, वह जानता नहीं है; **किल**=ऐसा निश्चित है। **तत्**=वह करनेवाली क्रिया से सम्पन्न; **कर्मरागः**=राग ही करता है - ऐसा अर्थ है। **तु**=और; **रागं अध्यवसायं आहुः**=राग के कषाय, अनुभाग, अध्यवसाय - ये नाम, जिनेन्द्र भगवान ने प्रतिपादित किए हैं; इस प्रकार संज्ञा के स्वरूप से विरचितपने का निषेध हो गया। राग कैसा है? **अबोधमयं**='मैं मारता हूँ, इसके द्वारा मैं मारा जाता हूँ, मैं जीवित रखता हूँ, इसके द्वारा मैं जीवित रखा जाता हूँ;' इत्यादिरूप में अज्ञानरूपता होने के कारण, यह अज्ञान-स्वरूप है। **सः**=वह राग; **नियतं**=निश्चित; किसके होता है? **मिथ्यादृशः**=मिथ्यादृष्टि के होता है; अन्य सम्यग्दृष्टि के नहीं होता है। **च**=और; **सः**=वह राग; **बन्धहेतुः**=कर्म-बन्ध का कारण है।

अर्थात्, वास्तव में जो चिद्रूप आत्मा, स्व और पर के स्वरूप को जानता है, वह कर्मादि को नहीं करता है; अज्ञान से अन्य जो कोई कर्म करता है, वह अज्ञानरूपता के कारण, जानता नहीं है। राग के कषाय, अनुभाग, अध्यवसाय - ये नाम, जिनेन्द्र-भगवान ने बताए हैं; अतः करनेवाली क्रिया से सम्पन्न वह रागरूपी कार्य, अध्यवसाय ही है। इससे राग, आत्मा के स्वभाव से उत्पन्न हुआ है - इसका निषेध हो गया। 'मैं अन्य को मारता हूँ, कोई अन्य मुझे मारता है, मैं अन्य को जीवित रखता हूँ, कोई दूसरा मुझे जीवित रखता है'

अथाहं मरणादीनां कारक इत्यभिप्रेतस्य मिथ्यादृष्टित्वं दरीदृश्यते पद्यद्वयेन—

वसन्ततिलका : **सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय-**
कर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम्।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य,
कुर्यात्पुमान्मरणजीवितदुःखसौख्यम्॥६॥१६८॥

वसन्ततिलका : **अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य,**
पश्यन्ति ये मरणजीवितदुःखसौख्यम्।
कर्माण्यहंकृतिरसेन चिकीर्षवस्ते,
मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवन्ति॥७॥१६९॥

टीका : ***इह*** जगति; ***एतत्*** वक्ष्यमाणं; ***अज्ञानं*** ज्ञानभावव्यतिरिक्तम्। एतत्किं? ***यत्तु परः*** अन्यः; ***पुमान् जीवः परस्य*** ततोऽन्यस्य कस्यचिदिष्टानिष्टस्य पुंसः।

- इत्यादि प्रकार का यह अज्ञानरूप राग, नियम से मिथ्यादृष्टि के ही होता है; सम्यग्दृष्टि के नहीं होता है और यह राग वास्तव में कर्म के बन्ध का कारण है।।१६७।।

अब, मैं मरण आदि का करनेवाला हूँ, इस प्रकार के अभिप्राय का मिथ्यादृष्टिपना दो पद्यों द्वारा दिखाते हैं—

वसन्ततिलका : **अपने करम उदय से सबके सदैव,**
हों सुनिश्चित मरण जीवन दुःख सौख्य।
करता मरण व जीवन दुख सौख्य अन्य,
पर के यही है अज्ञान करे सु अन्य।।१६८।।

वसन्ततिलका : **अज्ञान प्राप्तकर यह पर से पराए,**
जो मरण जीवन व दुख व सौख्य देखें।
कर्तृत्व के अहं से कर्मेच्छु हो वे,
निश्चित ही आत्मघाती मिथ्यादृशी हैं।।१६९।।

टीकार्थ : इह=इस जगत में; **एतत्**=यह कहा जानेवाला; **अज्ञानं**=ज्ञान-भाव से पृथक् अज्ञान है। वह क्या/कैसा है? **यत्तु परः**=जो यह दूसरा; **पुमान्**=जीव; **परस्य**=उससे भिन्न, किसी इष्ट-अनिष्ट जीव का; **मरणजीवितदुःखसौख्यं**=प्राणों के वियोगरूप मरण,

मरणजीवितदुःखसौख्यं मरणं प्राणवियोजनं मरणं च जीवितं च दुःखं च सौख्यं च तेषां समाहारो मरणजीवितदुःखसौख्यं; ***कुर्यात्*** यो मन्यते हिनस्मि, जीवयामि, दुःखिनं करोमि, सुखिनं करोमि इति क्रियां निर्मापयेत्; एतत् अज्ञानम्। कुतः ? ***नियतं*** निश्चितं; ***सर्वं*** समस्तं, मरणजीवितदुःखसौख्यं; ***सदैव*** संसारदशायां; ***भवति*** जायते। ***स्वकीयकर्मोदयात्*** स्वकीयस्यात्मोपार्जितस्य कर्मण उदयात् आयुःक्षयेण जीवानां मरणं, सत्यायुषि जीवितव्यं, आयुर्हरणाभावात् कथं तत्परेण कृतं; शुभाशुभकर्मोदयात् सुखदुःखिता जीवा भवन्ति तत्कर्मदानाभावात् कथं ते तादृशाः कृताः परेणेति भावः ?॥ ६ ॥

ते पुरुषाः; ***नियतं*** निश्चितं; ***मिथ्यादृशः*** मिथ्यादृष्टयः; ***भवन्ति*** जायते। किं भूताः ? ***आत्महनः*** आत्मानं घ्नन्तीति आत्महनः स्वरूपघातकाः स्वरूपाद्विपर्यस्तत्वात्। पुनः ***कर्माणि*** शुभाशुभानि; ***चिकीर्षवः*** स्वसात्कर्तुमिच्छवः। केन ? ***अहंकृतिरसेन*** मयायं हतो जीवितश्चेत्यादिरूपेणाहङ्काररसेन। ते के ? ***ये*** नराः; ***परात्*** भिन्नात्; ***परस्य***

जीवन, दुःख और सौख्य; उनका समाहार=समूह (द्वन्द्व समास किया) मरण-जीवितद्वदुःख-सौख्य; **कुर्यात्**=जो मानता है कि मैं मारता हूँ, मैं जीवित रखता हूँ, मैं दुःखी करता हूँ, मैं सुखी करता हूँ - इत्यादि क्रिया को वह करता है; यह अज्ञान है। यह अज्ञान कैसे/क्यों है? **नियतं**=निश्चित; **सर्वं**=मरण, जीवन, दुःख, सौख्य आदि सभी; **सदैव**=संसार दशा में सदा ही; **भवति**=होता है। **स्वकीयकर्मोदयात्**=आत्मा के द्वारा स्वयं उपार्जित कर्म के उदय से; आयु के क्षय से जीवों का मरण, आयु के होने पर जीवन रहता है; आयु के हरण का अभाव होने से, वे दूसरे द्वारा कैसे किए गए? शुभ-अशुभ कर्म के उदय से जीव, सुखी-दुःखी होते हैं, उन कर्मों के देने का अभाव होने से, वे उनके समान ही दूसरों द्वारा कैसे किए गए? ऐसा भाव है।

ते=वे जीव; **नियतं**=निश्चित; **मिथ्यादृशः**=मिथ्यादृष्टि; **भवन्ति**=होते हैं। वे कैसे हैं? **आत्महनः**=आत्मा को नष्ट करते हैं - इस प्रकार आत्महन=स्वरूप से विपरीतता होने के कारण, स्वरूप-घातक हैं। और **कर्माणि**=शुभ-अशुभ कर्मों को; **चिकीर्षवः**=आत्मसात् करने के इच्छुक हैं। वे ऐसे किससे हैं? **अहंकृतिरसेन**=मेरे द्वारा यह मारा गया और यह जीवित रखा गया, इत्यादि प्रकार-युक्त अहंकार-रस से ऐसे हैं। वे कौन हैं? **ये**=जो जीव; **परात्**=भिन्न किसी दूसरे से; **परस्य**=उससे पृथक् का; **पश्यन्ति**=देखते हैं। क्या देखते हैं?

ततोऽन्यस्य; ***पश्यन्ति*** ईक्षन्ते। किं? ***मरणजीवितदुःखसौख्यम्।*** किं कृत्वा? ***एतत्*** पूर्वोक्तं, मयायं हत इत्यादिरूपमज्ञानं; ***अधिगम्य*** प्राप्य॥१६८-१६९॥

अथाध्यवसायस्य बन्धहेतुत्वं पापठ्यते—

अनुष्टुप् : **मिथ्यादृष्टेः स एवास्य, बन्ध-हेतुर्विपर्ययात्।**
य एवाध्यवसायोऽय-मज्ञानात्मास्य दृश्यते॥८॥१७०॥

टीका : *अस्य मिथ्यादृष्टेः; य एव* प्रसिद्धो; ***अध्यवसायः*** अहं परान्

मरणजीवितदुःखसौख्यं=मरण, जीवन, दुःख, सुख को देखते हैं। ऐसा क्या करके देखते हैं? **एतत्**=इस पूर्वोक्त मेरे द्वारा मारा गया इत्यादिरूप अज्ञान को; **अधिगम्य**=प्राप्त कर, ऐसा देखते हैं।

अर्थात्, इस जगत में मरण, जीवन, दुःख, सुख आदि सभी क्रियाएँ संसार दशा में सदैव स्वयं आत्मा के द्वारा उपार्जित कर्म के उदय से होती हैं; जैसे आयु के क्षय से मरण होता है; आयु के उदय में जीवन रहता है; शुभ-कर्म के उदय में जीव, सुखी होता है; अशुभ-कर्म के उदय में दुखी होता है; उन कर्मों को देने या हरण करने का तो सर्वथा अभाव है; तब फिर किसी ने किसी अन्य का मरण, जीवन, दुःखी, सुखी आदि कार्य कैसे किया? इसीलिए मैं मारता हूँ, मैं जीवित रखता हूँ, मैं दुःखी करता हूँ, मैं सुखी करता हूँ - इत्यादि प्रकार की एक के द्वारा, दूसरे का कुछ भी इष्ट-अनिष्ट किए जानेरूप जो मान्यता है, वह नियम से अज्ञान-भाव है।

मैं किसी को मारता हूँ इत्यादि पूर्वोक्त प्रकार के अज्ञान को प्राप्त कर, जो जीव किसी अन्य से, उससे पृथक् किसी अन्य का मरण, जीवन, दुःख, सुख आदि देखते/मानते हैं; वे 'मैंने इसे मारा, इसे जीवित रखा'-इत्यादिरूप में अहंकार-रस से भरे हुए; शुभ और अशुभ-कर्मों को आत्मसात् करने के इच्छुक; आत्मा को नष्ट करनेवाले/आत्म-घाती; स्वरूप विपरीतता के कारण, स्वरूप-घातक, नियम से मिथ्यादृष्टि होते हैं।।१६८-१६९।।'

अब, अध्यवसाय की बन्ध-हेतुता का प्रतिपादन करते हैं—

अनुष्टुप् : **इस मिथ्यात्वी के दिखता, अध्यवसाय अज्ञानमय।**
ज्ञान विपरीतता से ही, बन्ध हेतु यही सतत।।१७०।।

टीकार्थ : अस्य मिथ्यादृष्टेः=इस मिथ्यादृष्टि का; **य एव**=जो प्रसिद्ध ही;

हन्मीत्यादिरूपः परिणामः; ***स एव*** अध्यवसाय एव; ***बन्धहेतुः*** कर्मबन्धकारणम्। कुतः? ***विपर्ययात्*** ज्ञानाद्विपर्ययस्वभावत्वात् अस्य मिथ्यादृशोऽध्यवसायः बन्धहेतुः। कथं? यतः ***अयं*** अध्यवसायः; ***अज्ञानात्मा*** अज्ञानमेव आत्मा स्वरूपं यस्य सः; ***दृश्यते*** अवलोक्यते॥ ८॥

अथाध्यवसायमाहात्म्यमारभते—

अनुष्टुप् : **अनेनाध्यवसायेन, निष्फलेन विमोहितः।**
तत्किञ्चनापि नैवास्ति, नात्मात्मानं करोति यत्॥९॥१७१॥

टीका : ***एव*** निश्चयेन; ***तत्*** वस्तु; ***किञ्चनापि*** किमपि, महदल्पं वा; ***नास्ति*** न विद्यते। ***यत् आत्मा*** जीवः; ***आत्मानं*** स्वकीयं; ***अध्यवसायेन न करोति*** न विधत्ते। किं भूतः? ***अनेन*** हन्मीत्यादिरूपेण, पूर्वोक्तेन अध्यवसानेन कषायाध्यवसायेन; ***विमोहितः***

अध्यवसायः=‘मैं अन्य को मारता हूँ’ – इत्यादिरूप परिणाम है; **स एव**=वह अध्यवसाय ही; **बन्धहेतुः**=कर्म-बन्ध का कारण है। कैसे यह उसका कारण है? **विपर्ययात्**=ज्ञान से विपरीत स्वभावपना होने के कारण, इस मिथ्यादृष्टि का यह अध्यवसाय बन्ध का कारण है। यह बन्ध का कारण कैसे है? क्योंकि **अयं**=यह अध्यवसाय; **अज्ञानात्मा**=अज्ञान ही है, आत्मा=स्वरूप जिसका, वह; **दृश्यते**=देखा जाता है।

अर्थात्, इस मिथ्यादृष्टि जीव के जो यह अज्ञानात्मक/अज्ञान-स्वरूपमय, ‘मैं अन्य को मारता हूँ’ – इत्यादि परिणामवाला प्रसिद्ध अध्यवसाय देखा जाता है, यह ही ज्ञान से विपरीत स्वभाववाला होने के कारण, इस मिथ्यादृष्टि को बन्ध का कारण है।।१७०।।

अब, अध्यवसाय की महिमा दिखाते हैं—

अनुष्टुप् : **इसी निष्फल अध्यवसाय, से विमोहित जीव ही।**
ऐसा कुछ नहीं जिस-मय, स्वयं को करता नहीं।।१७१।।

टीकार्थ : एव=ही, निश्चय से; **तत्**=वह वस्तु; **किञ्चनापि**=कुछ भी बड़ी या छोटी; **नास्ति**=नहीं है। **यत् आत्मा**=जो जीव; **आत्मानं**=स्वयं को; **अध्यवसायेन**= अध्यवसाय से; **न करोति**=नहीं करता है। यह जीव कैसा है? **अनेन**=‘मैं मारता हूँ’ – इत्यादि प्रकार के पूर्वोक्त अध्यवसान से=कषायाध्यवसाय से; **विमोहितः**=मोह को प्राप्त है। कैसे अध्यवसाय से? **निष्फलेन**=जीव के सराग और वीतरागमय अपने परिणामों के सद्भाव

मोहं प्राप्तः। किं भूतेन? ***निष्फलेन*** बन्धमोक्षलक्षणफलरहितेन, जीवस्य सरागवीतरागयोः स्वपरिणामयोः सद्भावे बन्धमोक्षसद्भावात् तदभावे तयोरभावात् अतस्तयोरेव स्वार्थ-क्रियाकारित्वं, अनध्यवसायस्याकिञ्चित्करत्वात्॥ ९॥

अथ तथाप्यध्यवसायं बीभत्सते—

इन्द्रवज्रा : **विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावादात्मानमात्मा विदधाति विश्वम्।**
मोहैककन्दोऽध्यवसाय एष, नास्तीह येषां यतयस्त एव॥१०॥१७२॥

टीका : ***इह*** जगति; ***त एव*** प्रसिद्धाः; ***यतयः*** यतन्ते कर्मादीनीति यतयः मुनयः; ***येषां*** यतीनां; ***एषः*** इदानीमुक्तः; ***अध्यवसायो नास्ति।*** किं भूतः? ***मोहैककन्दः***

में क्रमशः बन्ध और मोक्ष का सद्भाव होने से तथा उनके अभाव में दोनों का अभाव होने से, उन दोनों प्रकार के भावों के ही अपनी प्रयोजनभूत क्रियाकारिता है; अनध्यवसाय/अध्यवसाय से रहित के अकिंचित्करता होने से, अध्यवसाय की विषयभूत क्रियाएँ, बन्ध और मोक्ष के लक्षण, फल से रहित होने के कारण, निष्फल हैं।

अर्थात्, वास्तव में यह जीव अपने सराग-भावों से बँधता है और वीतराग-भावों से मुक्त होता है। अपने भावों के अतिरिक्त अन्य कुछ भी बन्ध या मोक्ष को करने में रंचमात्र समर्थ नहीं है। जीव के इस अध्यवसाय से किसी भी वस्तु पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है; तथापि इस निष्फल अध्यवसाय से विमोहित हुआ यह आत्मा, ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसरूप स्वयं को अपने अध्यवसाय से नहीं करता है। भाव यह है कि कुछ भी करने में समर्थ नहीं होने पर भी यह जीव, अध्यवसाय से सम्पूर्ण जगत का कर्ता-धर्ता बनता रहता है।।१७१।।

अब, तो भी अध्यवसाय के प्रति ग्लानि का भाव प्रगट करते हैं—

इन्द्रवज्रा : **जग से पृथक् पूर्णतया तथापि,**
आतम करे अपना विश्व जिसके।
माहात्म्य से अध्यवसाय है यह,
सब मोह मूल जानो नहिं हैं यति वे।।१७२।।

टीकार्थ : **इह**=इस जगत में; **त एव**=वे प्रसिद्ध ही; **यतयः**=जो शुद्ध कर्मादि का यत्न करते हैं, वे यति=मुनिगण; **येषां**=जिन यतियों के; **एषः**=यह इस समय कहा गया; **अध्यवसायो नास्ति**=अध्यवसाय नहीं है। वह कैसा है? **मोहैककन्दः**=मोहनीय-कर्म को

मोहस्य रागद्वेषस्य, एक: अद्वितीय:, कन्द: मूलकारणं य: स:, मोहनीयकर्मोत्पादकत्वात्। ***हि*** इति स्फुटं; ***यत्प्रभावात्*** यस्य अध्यवसायस्य, प्रभाव: माहात्म्यं तस्मात्। ***विश्वं*** चेतनाचेतनं लोकालोकं शुभाशुभं चराचरं; ***आत्मा; आत्मानं*** स्वकीयं; ***करोति*** विधत्ते यथा हिंसाध्यवसायात् हिंसक: तथा विपच्यमाननारकतिर्यग्मनुष्यदेवपुण्यपापाध्यवसा-यान्नारकं तिर्यञ्चं मनुष्यं देवं पुण्यं पापं चात्मानं करोति। किं भूत: ? ***विश्वात्*** चेतना-चेतनादिपदार्थात्; ***विभक्तोऽपि*** भिन्नोऽपि तदध्यवसायवशात्तन्मयो भवति। विश्वशब्दस्य त्रिलोकार्थवाचकत्वाभावात् चेतनादिपदार्थवाचकत्वाच्च न सर्वादिगणत्वम्॥१०॥

उत्पन्न करनेवाला होने से, मोह का, राग-द्वेष का, एक=अद्वितीय; कन्द=मूल-कारण है, जो, वह ऐसा है। **हि**=यह स्पष्ट अर्थ में अव्यय है; **यत्प्रभावात्**=जिस अध्यवसाय का, प्रभाव=माहात्म्य है, उससे; **विश्वं**=चेतन और अचेतन; लोक और अलोक; शुभ और अशुभ; चर और अचररूप विश्व को **आत्मा**=यह जीव; **आत्मानं**=अपना; **करोति**=करता है; जैसे हिंसा के अध्यवसाय से स्वयं को हिंसक करता है; उसी प्रकार विपच्यमान/उदय में आए नरक, तिर्यक्, मनुष्य, देव, पुण्य, पापरूप अध्यवसाय से, स्वयं को नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव, पुण्य और पापमय करता है। वह आत्मा कैसा है? **विश्वात्**=चेतन, अचेतन आदि पदार्थमय विश्व से; **विभक्तोऽपि**=भिन्न होने पर भी, उस अध्यवसाय के वश हो इनसे तन्मय होता है। यहाँ विश्व पद के, तीन लोक सम्बन्धी अर्थ की वाचकता का अभाव होने से और चेतनादि पदार्थों की वाचकता होने से, व्याकरण का सर्वादि गणत्व नहीं है।

अर्थात्, वास्तव में चेतन, अचेतन आदि समस्त पदार्थोंमय विश्व से पूर्णतया पृथक् होने पर भी, इस अध्यवसाय के प्रभाव से चेतनाचेतनात्मक, लोकालोकात्मक, शुभ-अशुभात्मक, चर-अचरात्मक सम्पूर्ण विश्व को यह चिद्रूप आत्मा, अपने रूप करता है; जैसे हिंसा के अध्यवसाय से स्वयं को हिंसक करता है; उसी प्रकार कर्मों के उदय में होनेवाले नारक आदि एवं पुण्य आदि अध्यवसाय से स्वयं को नारक आदि एवं पुण्य आदिरूप करता है/उनसे तन्मय होता है तथा मोहनीय-कर्म को उत्पन्न करनेवाला होने से, जो मोह, राग, द्वेष का एकमात्र कारण है, वह अध्यवसाय जिनके नहीं है; वास्तव में यहाँ वे ही शुद्ध-कर्मादि का यत्न करनेवाले, यति हैं।।१७२।।

अब, अध्यवसाय की व्यावहारिकता का प्रतिपादन करते हैं—

अथाध्यवसायस्य व्यावहारिकत्वं व्यवहरति—

शार्दूलविक्रीडित : **सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनैस्-**
तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः।
सम्यङ्निश्चयमेकमेव तदमी निष्कम्पमाक्रम्य किं,
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नन्ति सन्तो धृतिम्॥११॥१७३॥

टीका : ***जिनैः*** केवलज्ञानिभिः; ***उक्तं*** प्रतिपादितम्। किं? ***सर्वत्र*** निखिलपरवस्तुनि; ***यत् अखिलं*** समस्तमेव; ***अध्यवसानं*** व्यवसायः; ***त्याज्यं*** त्यजनीयं; ***तत्*** व्यवसायहापनं; ***मन्ये*** अहं जाने; ***निखिलोऽपि*** समस्तोऽपि व्यवहार एव व्यवहारनय एव ***त्याजितः***। हेतुगर्भितविशेषणमाह ***अन्याश्रयः*** पराश्रितः निश्चयनयेन पराश्रितमध्यवसायं बन्धहेतुत्वेन मुमुक्षोः प्रतिषेधयता व्यवहारनय एव प्रतिषिद्धः, तस्यापि पराश्रितत्वाविशेषात्।

तत् तर्हि किङ्कर्तव्यं? ***अमी*** एते; ***सन्तः*** सत्पुरुषाः; ***निजे*** आत्मीये; ***महिम्नि*** माहात्म्ये; ***धृतिं*** सन्तोषं, स्थिरतां वा; ***किं*** किमु ***न बध्नन्ति?*** अपि तु कुर्वन्तीत्यर्थः। किं

शार्दूलविक्रीडित : **अध्यवसान सभी सदा सभी में हैं त्याज्य जिन ने कहा,**
इससे हम मानें पराश्रित सभी व्यवहार ही छोड़ना।
तब ये सज्जन एक शुद्ध निश्चय सम्यक् अचल स्वयं के,
पा महिमामय शुद्धज्ञानघन में संतुष्ट क्यों नहिं रहें?।।१७३।।

टीकार्थ : जिनैः=केवलज्ञानियों द्वारा; **उक्तं**=प्रतिपादित है। वह क्या प्रतिपादित है? **सर्वत्र**=सभी पर-वस्तुओं में; **यत् अखिलं**=जो सम्पूर्ण ही; **अध्यवसानं**=व्यवसाय; **त्याज्यं**=छोड़ने-योग्य है; **तत्**=उस व्यवसाय के छुड़ाने से; **मन्ये**=मैं ऐसा मानता/जानता हूँ कि; **निखिलोऽपि**=समस्त ही, व्यवहार ही, व्यवहार-नय ही; **त्याजितः**=छुड़ाया है। हेतु-गर्भित विशेषण कहते हैं - **अन्याश्रयः**=पराश्रित; निश्चय-नय से पराश्रित अध्यवसाय, बन्ध का कारण होने से, मुमुक्षु के लिए निषेध करनेवालों ने, वास्तव में व्यवहार-नय ही निषिद्ध किया है; क्योंकि उसके भी पराश्रितता की अविशेषता/समानता है।

तत्=तब क्या करना चाहिए? **अमी**=ये; **सन्तः**=सत्पुरुष; **निजे**=अपने आत्मा की; **महिम्नि**=महिमा में; **धृतिं**=सन्तोष या स्थिरता; **किं**=क्यों; **न बध्नन्ति**=नहीं करते हैं? अपितु करते हैं - ऐसा अर्थ है। कैसी महिमा में? **शुद्धज्ञानघने**=कर्मरूपी मलमय

भूते ? ***शुद्धज्ञानघने*** कर्ममलकलङ्करहितबोधनिरन्तरे; किं कृत्वा ? ***आक्रम्य*** सम्प्राप्य; किं ? ***एकं*** अन्यनिरपेक्षं; ***एव*** निश्चयेन; ***सम्यक्निश्चयं*** शुद्धनिश्चयनयम्। किं भूतं ? ***निष्कम्पं*** अचलं, स्वरूपे स्थिरत्वात् ॥११ ॥

अथ रागादीनां किं कारणम् ? इति साक्षेपं प्रश्नोत्तरं पद्यद्वयेन निर्मिमीते—

उपजाति : **रागादयो बन्धनिदानमुक्तास्ते शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ताः।**
आत्मा परो वा किमु तन्निमित्तमिति प्रणुन्ना पुनरेवमाहुः ॥१२ ॥१७४॥

उपजाति : **न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः।**
तस्मिन्निमित्तं परसङ्ग एव, वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ॥१३ ॥१७५॥

टीका : ***इति*** साक्षेपं; ***प्रणुन्नाः*** शुद्धनयावलंबिनः पृष्टाः सन्तः; ***पुनः*** भूयः; ***एवं***

कलंक से रहित ज्ञान की निरन्तरतावाली महिमा में; क्या करके? **आक्रम्य**=भली-भाँति प्राप्त कर; क्या प्राप्त कर? **एकं**=अन्य से निरपेक्ष; **एव**=ही है निश्चय से; **सम्यक्निश्चयं**= निश्चय=शुद्ध निश्चय-नय; वह कैसा है? **निष्कम्पं**=स्वरूप में स्थिरता के कारण, अचल है।

अर्थात्, सभी पर-वस्तुओं में सभी प्रकार का अध्यवसान छोड़ने-योग्य है - ऐसा जो सर्वज्ञ भगवान ने कहा है, उससे मैं ऐसा मानता हूँ कि 'वास्तव में पराश्रित सभी/सर्व अध्यवसाय, बन्ध का कारण होने से मुमुक्षु के लिए निषिद्ध है', इसका तात्पर्य है कि 'व्यवहार-नय शुभ अथवा अशुभ, सम्पूर्ण ही निषिद्ध है'; क्योंकि वह पूर्णतया पराश्रित ही है।

यदि ऐसा है तो ये सत्पुरुष, पर से पूर्ण निरपेक्ष एक, शुद्ध निश्चय-नय के विषयभूत आत्मा को ही स्वरूप में स्थिरता के कारण अचल/निष्कम्परूप से भली-भाँति प्राप्त कर, अपनी महिमावाले, कर्मरूपी मलमय कलंक से रहित, ज्ञान की निरन्तरता-सम्पन्न अपने स्वभाव में सन्तोष या स्थिरता को धारण क्यों नहीं करते? अपितु करते ही हैं।।१७३।।

अब, रागादि (की उत्पत्ति) का क्या कारण है? इस प्रकार साक्षेप पूर्वक किए गए प्रश्न का उत्तर, दो पद्यों द्वारा निरूपित करते हैं—

उपजाति : **शुद्ध चैतन्य प्रकाश से पृथक्, रागादि बन्धन कारण बताते।**
उनका निमित्त चेतन या पर है, यों प्रश्न होने पर पुनः कहते।।१७४।।

उपजाति : **स्फटिक सम चेतन कभी नहिं, खुद निमित भाव रागादि पाता।**
उसमें निमित्त पर संग ही है, यह वस्तु स्व भाव प्रगट बताता।।१७५।।

टीकार्थ : इति=इस प्रकार साक्षेप; **प्रणुन्नाः**=पूछे जाने पर शुद्ध-नय का अवलम्बन

अग्रे वक्ष्यमाणं, परं उत्तरं; ***आहुः*** कथयन्ति। इति किं? ***ते*** प्रसिद्धाः; ***रागादयः*** रागद्वेषमोहाः; ***बन्धनिदानं*** कर्मबन्धकारणं; ***उक्ताः*** प्रतिपादिताः। किम्भूतास्ते? ***शुद्धचिन्मात्र-महोऽतिरिक्ताः*** शुद्धचिदेव मात्रा प्रमाणं यस्य तत् तच्च तन्महः परंज्योतिः तेन तस्माद्वा, अतिरिक्ताः भिन्नाः। ***तन्निमित्तं*** रागादीनां निमित्तं उत्पादकारणं; ***किमु*** अहो; ***आत्मा*** चेतनः, रागादीनामुत्पादकः; ***वा परः*** पुद्गलः, तद्धेतुः इत्युक्ते आहुः ॥१२॥

जातु कदाचित्; ***आत्मा*** चिद्रूपः; ***आत्मनः*** स्वस्य; ***रागादिनिमित्तभावं*** रागादीनां रागद्वेषमोहानां, निमित्तभावं उपादानकारणत्वं; ***न याति*** न प्राप्नोति। तर्हि तन्निमित्तं किं? ***तस्मिन्*** आत्मनि; ***परसङ्गः*** परेषां पुद्गलादीनां, सङ्गः संयोगः; ***एव*** निश्चयेन; ***तन्निमित्तं*** तेषां रागादीनां निमित्तं कारणम्।

इममेवार्थमुपमीयते–***अर्ककान्तः*** स्फटिकोपलः; ***यथा*** इव। तथाहि–यथा स्फटिकोपलः परिणामस्वभावत्वे सत्यपि स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन रागादिनिमित्तत्वाभावात्

लेनेवाले; **पुनः**=फिर से; **एवं**=इस प्रकार आगे कहे जानेवाले श्रेष्ठ उत्तर को; **आहुः**=कहते हैं। इस प्रकार क्या? **ते**=वे प्रसिद्ध; **रागादयः**=राग, द्वेष, मोह; **बन्धनिदानं**=कर्म-बन्ध के कारण; **उक्ताः**=कहे हैं। वे कैसे हैं? **शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ताः**=शुद्धचित् ही है मात्रा=प्रमाण जिसका वह, वह और वह महस्=परं ज्योति, उसके द्वारा या उससे, अतिरिक्त=भिन्न हैं। **तन्निमित्तं**=उन रागादि का निमित्त=उत्पत्ति का कारण; **किमु**=क्या है अहो? **आत्मा**=स्वयं चेतन, रागादि का उत्पादक है; **वा परः**=अथवा दूसरा पुद्गल उसका कारण है – ऐसा कहने पर (उत्तर) कहते/देते हैं।

जातु=कभी भी; **आत्मा**=चिद्रूप स्वयं; **आत्मनः**=स्वयं के; **रागादिनिमित्त-भावं**=रागादि=राग, द्वेष, मोह के; निमित्त-भाव=उपादान-कारणपने को; **न याति**=प्राप्त नहीं होता है। तब उसका निमित्त क्या है? **तस्मिन्**=उस आत्मा में; **परसङ्गः**=अन्य पुद्गल आदि का, सङ्ग=संयोग; **एव**=ही है निश्चय से/वास्तव में; **तन्निमित्तं**=उन रागादि का निमित्त-कारण है।

इसी अर्थ को उपमा द्वारा स्पष्ट करते हैं – **अर्ककान्तः**=स्फटिक का पत्थर/स्फटिक-मणि; **यथा**=जैसे। वह इस प्रकार – जैसे स्फटिक-मणि, परिणमन-स्वभावी होने पर भी, अपने शुद्ध-स्वभावपने के कारण, रागादि/रङ्ग आदि की निमित्तता का अभाव होने से, स्वयं उसरूप परिणमित नहीं होती है; रागादि के निमित्तभूत पर-द्रव्य के कारण ही,

स्वयं न परिणमते परद्रव्येणैव रागादिनिमित्तभूतेन स्वस्वरूपात्प्रच्याव्य रागादिभिः परिणम्यते तथा केवलः आत्मा परिणामस्वभावत्वे सत्यपि रागादिनिमित्तत्वाभावात् स्वयं न परिणमते परद्रव्येणैव तन्निमित्तभूतेन स्वस्वरूपात्प्रच्याव्य तैः परिणम्यते इति। ***तावत्*** प्रथमम्। ***अयं*** पूर्वोक्त एव; ***वस्तुस्वभावः*** समस्तं वस्तुस्वरूपं; ***उदेति*** उदयं गच्छति॥१७४-१७५॥

अथ ज्ञानिनस्तदकर्तृकत्वमुद्भावति—

अनुष्टुप् : **इति वस्तुस्वभावं स्वं, ज्ञानी जानाति तेन सः।**
रागादीन्नात्मनः कुर्यान्नातो भवति कारकः॥१४॥१७६॥

टीका : ***इति*** पूर्वोक्तप्रकारेण; ***ज्ञानी*** पुमान्; ***स्वं*** आत्मीयं; ***वस्तुस्वभावं***

अपने स्वरूप से च्युत होकर, रागादिरूप से परिणमित होती है; उसी प्रकार परिणमन-स्वभावी होने पर भी, मात्र आत्मा, रागादि निमित्तपने का अभाव होने से स्वयं उसरूप परिणमित नहीं होता है; उनके निमित्तभूत पर-द्रव्य के कारण ही अपने स्वरूप से च्युत होकर, उनरूप परिणमित होता है। इस प्रकार **तावत्**=पहले। **अयं**=यह पहले कहा हुआ ही; **वस्तुस्वभाव**ः=सभी वस्तुओं का स्वरूप; **उदेति**=उदय को प्राप्त होता है।

अर्थात्, शुद्ध-चैतन्यमात्र उत्कृष्ट तेज से पूर्णतया पृथक्, वे प्रसिद्ध राग, द्वेष, मोह बन्ध के कारण कहे हैं, उनकी उत्पत्ति का कारण क्या है? स्वयं चिद्रूप आत्मा उन रागादि का उत्पादक है या अन्य पुद्गल उसका कारण है - ऐसा पूछे जाने पर, शुद्ध-नय का अवलम्बन लेनेवाले, उसका श्रेष्ठ उत्तर देते हैं—

परिणमन-स्वभावी होने पर भी अपने शुद्ध-स्वभाव के कारण जैसे स्फटिक-मणि, स्वयं रङ्गरूप परिणमित नहीं होती है; रङ्ग के निमित्तभूत पर-द्रव्य का संयोग होने पर ही, अपने स्वरूप से च्युत होकर रङ्गरूप परिणमित होती है; उसी प्रकार परिणमन-स्वभावी होने पर भी, चैतन्यमय आत्मा स्वयं तो कभी भी राग, द्वेष, मोह का उपादान-कारण नहीं होता है। इस आत्मा में अन्य पुद्गल आदि का संयोग होने पर ही, यह अपने स्वरूप से च्युत होकर, रागादिरूप परिणमित होता है। ऐसा सभी वस्तुओं का स्वभाव सदा ही उदित रहता है।।१७४-१७५।।

अब, ज्ञानी के उनका अकर्तृत्व/रागादि को नहीं करतापना स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुप् : **वस्तु स्वभाव अपना यों, जानता ज्ञानी अतः।**
रागादि आत्मसात् करता नहीं कारक नहीं अतः।।१७६।।

रागादिव्यतिरिक्तं स्ववस्तुस्वरूपं; ***जानाति*** वेत्ति। येन कारणेन वेत्ति, ***तेन*** एव कारणेन; ***सः*** ज्ञानी, ***रागादीन् आत्मनः*** स्वस्य; ***न कुर्यात्*** स्वसात् न करोति यतः; ***अतः कारकः*** कर्मणां कर्ता; ***न भवति***॥१४॥

अथाज्ञानं स्फूर्जति—

अनुष्टुप् : **इति वस्तुस्वभावं स्वं, नाज्ञानी वेत्ति तेन सः।**
रागादीन्नात्मनः कुर्यादतो भवति कारकः॥१५॥१७७॥

टीका : इदं पद्यं पूर्वतो विपर्यस्तं व्याख्येयं सुगमं च॥१५॥

अथ परद्रव्यमुद्धर्तुङ्कामं समभिष्टौति—

टीकार्थ : इति=इस प्रकार पहले कहे अनुसार; **ज्ञानी**=ज्ञानी जीव; **स्वं**=अपने; **वस्तुस्वभावं**=रागादि से पूर्णतया पृथक् अपनी वस्तु के स्वरूप को; **जानाति**=जानता है। जिस कारण जानता है, **तेन**=उसी कारण; **सः**=वह ज्ञानी; **रागादीन्**=रागादि को; **आत्मनः**= अपने; **न कुर्यात्**=आत्मसात् नहीं करता है क्योंकि; **अतः**=इसलिए; **कारकः**=कर्मों का कर्ता; **न भवति**=नहीं होता है।

अर्थात्, पूर्वोक्त प्रकार से रागादि से पूर्णतया पृथक्, अपनी वस्तु के अपने स्वभाव को ज्ञानी जीव जानता है; उस कारण वह रागादि को आत्मसात् नहीं करता है / अपना नहीं मानता; अतः कर्मों का कर्ता नहीं होता है।।१७६।।

अब, अज्ञान को निरूपित करते हैं—

अनुष्टुप् : **वस्तु स्वभाव अपना यों, अज्ञानी जानता नहीं।**
अतः रागादि अपनाता, अतः कारक भी वही।।१७७।।

टीकार्थ : यह पद्य पहले (१७६ वें पद्य) से विपरीत और व्याख्या के लिए सरल है।

अर्थात्, पूर्वोक्त प्रकार से रागादि से पूर्णतया पृथक्, अपनी वस्तु के अपने स्वभाव को अज्ञानी नहीं जानता है; उस कारण वह रागादि को आत्मसात्/अपना करता है; अतः कर्मों का कर्ता होता है।।१७७।।

अब, परद्रव्य का त्याग करने के इच्छुक की प्रशंसा करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **ऐसा जान सदा पृथक् कर सभी परद्रव्य बल पूर्वक,**
उनकी मूल अनेक भाव सन्तति को छोड़ने यौगपत्।

शार्दूलविक्रीडित : **इत्यालोच्य विवेच्य तत्किल परद्रव्यं समग्रं बलात्,**
तन्मूलां बहु-भाव-सन्ततिमिमा-मुद्धर्तु-कामः समम्।
आत्मानं समुपैति निर्भर-वहत्पूर्णैक-संविद्युतं,
येनोन्मूलितबन्ध एष भगवानात्मात्मनि स्फूर्जति ॥१६ ॥१७८ ॥

टीका : ***एषः*** सः; ***आत्मा*** चिद्रूपः कर्ता; ***आत्मनि*** स्वस्वरूपे अधिकरणभूते; ***स्फूर्जति*** गर्जति प्रकटी भवति वा। किं भूतः ? ***उन्मूलितबंधः*** उन्मूलितः निराकृतो बन्धो येन सः। पुनः ***भगवान्*** ज्ञानवान्। कुतः ? ***बलात्*** ध्यानादिलक्षणात् हठात्; ***इमां*** प्रसिद्धां; ***बहुभावसन्ततिं*** बहूनां भावानां विभावपरिणामानां, सन्ततिः परम्परा, तां, रागद्वेषमोह-परम्परामित्यर्थः। ***समं*** युगपत्; ***उद्धर्तुकामः*** उद्धर्तुं निराकर्तुं, कामः वांछा, यस्य सः। कुतः ? स्वस्मात् इत्यनुक्तमप्यपादानं ज्ञेयम्। किम्भूतां ? ***तन्मूलां*** तदेव परद्रव्यमेव तस्यैव वा मूलं कारणं या ताम्।

स कः ? ***येन*** ज्ञानरूपेण करणभूतेन; ***आत्मानं*** कर्मतापन्नं; ***समुपैति*** प्राप्नोति।

सकलज्ञ परिपूर्ण एक संवित् युत आत्मा प्राप्त है,
जिससे यह भगवान बन्धनाशक नित स्वयं में व्यक्त है।।१७८।।

टीकार्थ : एषः=यह वह; **आत्मा**=चिद्रूप स्वयं कर्ता; **आत्मनि**=अधिकरण/आधारभूत अपने स्वरूप में; **स्फूर्जति**=गरजता है या प्रगट होता है। वह कैसा है? **उन्मूलितबन्धः**=उन्मूलित=निराकरण कर दिया गया है बन्ध जिसके द्वारा, वह। और **भगवान्**=ज्ञानवान है। ऐसा कैसे/क्यों है? **बलात्**=ध्यान आदि लक्षणमय हठ पूर्वक; **इमां**=इस प्रसिद्ध; **बहुभावसन्ततिं**=विभाव-परिणामोंमय अनेक भावों की, सन्तति=परम्परा, उसे; राग, द्वेष, मोह की परम्परा को - ऐसा अर्थ है। **समं**=युगपत्/एक साथ; **उद्धर्तुकामः**= निराकरण करने की, काम=इच्छा है जिसके, वह। कैसे? स्वयं से - इस प्रकार अपादान-कारक विना कहे ही जान लेना चाहिए। वह सन्तति कैसी है? **तन्मूलां**=उस पर-द्रव्य को ही या उसका ही है मूल-कारण जो, उसे।

ऐसा करनेवाला वह कौन है? **येन**=करणभूत जिस ज्ञानरूप से, **आत्मानं**=कर्मता को प्राप्त स्वयं को; **समुपैति**=प्राप्त करता है। किस प्रकार के उस आत्मा को प्राप्त करता है? **निर्भरवहत्पूर्णैकसंविद्युतं**=निर्भर=अधिकता से, सभी वस्तुओं को ग्रहण करने/जानने

किम्भूतं तं ? ***निर्भरवहत्पूर्णैकसंविद्युतं*** निर्भरेण अतिशयेन, वहंती समस्तवस्तुग्रहणाय प्रवर्तमाना सा चासौ पूर्णा अखण्डा सा चासावेका संवित् ज्ञानं तया युतं संयुतम्। किं कृत्वा ? ***किल*** इति निश्चितम्। ***तत्*** प्रसिद्धं; ***समग्रं*** निखिलं; ***परद्रव्यम्।*** कस्येत्याकांक्षायां स्वस्येति सम्बन्धोऽनुक्तोऽप्यूह्यः। किं कृत्वा ? ***विवेच्य*** पृथक्कृत्य; पुनः किं कृत्वा ? ***इति*** पूर्वोक्तप्रकारेण; ***आलोच्य*** सम्यग्विचार्य; किमर्थं ? स्वस्मै इत्यप्यत्र ज्ञेयम्॥१६॥

अथ रागादीनां दारकत्वं दिशति—

मन्दाक्रान्ता : **रागादीना-मुदय-मदयं दारयत्कारणानां,**
कार्यं बन्धं विविध-मधुना सद्य एव प्रणुद्य।

के लिए प्रवृत्ति करनेवाला, वह और वह पूर्ण=अखण्ड, वह और वह एक सम्वित्=ज्ञान, उससे युत=संयुत/सहित आत्मा को प्राप्त करता है। क्या करके? **किल**=यह निश्चित अर्थ का वाचक अव्यय है। **तत्**=वह प्रसिद्ध; **समग्रं**=सम्पूर्ण; **परद्रव्यं**=पर-द्रव्य को; किसकी आकांक्षा में – ऐसा प्रश्न उपस्थित कर 'अपनी आकांक्षा में' – इस प्रकार का सम्बन्ध विना कहे ही जान लेना चाहिए। क्या करके? **विवेच्य**=पृथक् कर; और क्या कर? **इति**=पूर्वोक्त प्रकार से; **आलोच्य**=सम्यक्‌रूप में विचार कर; यह सब किसलिए? अपने लिए – ऐसा भी यहाँ जान लेना चाहिए।

अर्थात्, पूर्वोक्त प्रकार से भली-भाँति विचारकर उन प्रसिद्ध सम्पूर्ण पर-पदार्थों को स्वयं से पूर्णतया पृथक् कर; उन पर-पदार्थों की मूल कारणभूत इस प्रसिद्ध विभाव परिणामोंमय राग, द्वेष, मोहरूप अनेक भावों की परम्परा को आत्म-ध्यान आदि के पुरुषार्थ पूर्वक एक साथ समाप्त करने की इच्छावाला यह ज्ञान-सम्पन्न भगवान चिद्रूप आत्मा जिस ज्ञान द्वारा सम्पूर्ण कर्म-बन्ध को मूल से उखाड़ फेकता है; उसी ज्ञान द्वारा अधिकता पूर्वक सभी पदार्थों को जानने के लिए प्रवृत्त, परिपूर्ण, एक ज्ञान से सहित आत्मा को भली-भाँति प्राप्त करता है और आधारभूत अपने स्वरूप में स्फुटित होता है/ प्रकाशित रहता है।।१७८।।

अब, रागादि की दारकता/ज्ञानी रागादि को पूर्णतया नष्ट कर देता है, यह प्रतिपादन करते हैं—

मन्दाक्रान्ता : **रागादि की प्रगटता को निर्दयी हो विनष्ट,**
कारण पुद्‌गल कार्य बहुविध बन्ध को शीघ्र नष्ट।

ज्ञानज्योतिः क्षपिततिमिरं साधु-सन्नद्धमेतत्,
तद्वद्यद्वत्प्रसरमपरः कोऽपि नास्यावृणोति॥१७॥१७९॥

टीका : ***तद्वत्*** तथा एतत्; ***ज्ञानज्योतिः*** बोधतेजः; अपरं न विद्यते परं अन्यत् यस्य तत्; ***प्रसरं*** प्रस्तारं विस्तारं यातीत्यध्याहार्यम्। ***यद्वत्*** यथा; ***अस्य*** ज्ञानज्योतिषः, विस्तरं कोऽपि ***अपरः*** कर्मादिः; ***नावृणोति*** नाच्छादयति। कीदृशं तत्? ***क्षपिततिमिरं*** क्षपितं निराकृतं तिमिरं अज्ञानं, येन तत् अपरमपि ज्योतिः नाशितान्धकारम्। पुनः ***साधुसन्नद्धं*** साधुभिः योगीश्वरैः, पक्षे साधुपुरुषैः सन्नद्धं आरूढं, स्तुतं च साधुभिः स्तूयमानत्वाज्ज्योतिषः। पुनः ***रागादीनां*** रागद्वेषमोहानां; ***उदयं*** प्राकट्यं; ***अदयं*** निर्दयं यथा भवति तथा। ***सद्य एव*** तत्कालमेव; ***दारयत्*** विदारणं कुर्वत्, अन्यदपि ज्योतिः प्रादुर्भूता रागादीनां दारकमित्युक्तिलेशः। किं कृत्वा? ***अधुना*** इदानीं; ***विविधं***

करके प्रगटी ज्ञानज्योति तिमिरनाशक है सेव्य,
साधु से नित प्रसर ऐसा अब है रुकना अशक्य।।१७९।।

टीकार्थ : तद्वत्=उसके समान यह; **ज्ञानज्योतिः**=ज्ञान रूपी तेज; नहीं है दूसरा जिसका वह अपर; **प्रसरं**=प्रस्तार=विस्तार को, 'याति=प्राप्त होता है' – यह यहाँ अध्याहार्य है। **यद्वत्**=जैसे; **अस्य**=इस ज्ञान ज्योति के; विस्तार को कोई भी **अपरः**=दूसरा कर्म आदि; **नावृणोति**=आच्छादित नहीं करता है। वह कैसा है? **क्षपिततिमिरं**=क्षपित=नष्ट किया, तिमिर=अज्ञानरूपी अन्धकार को, जिसके द्वारा वह, अन्य ज्योति अन्धकार को नष्ट करती हैं; अज्ञान को नष्ट करने वाली मात्र यह एक ज्ञान ज्योति ही है। और **साधुसन्नद्धं**=साधु योगीश्वरों के द्वारा, पक्ष में साधु पुरुषों के द्वारा, सन्नद्ध=आरूढ़ और साधुओं के द्वारा स्तुति की जानेवाली होने से वह ज्योति स्तुत्य है। और **रागादीनां**=राग, द्वेष, मोह की; **उदयं**= प्रगटता को; **अदयं**=निर्दय जैसे होता है, उस प्रकार। **सद्य एव**=तत्काल ही; **दारयत्**=विदारण करती हुई; अन्य ज्योति भी प्रगट होकर लालिमा आदि की नाशक होती हैं; परन्तु रागादि की नाशक एकमात्र यह ज्ञान ज्योति ही है – ऐसा कथन का तात्पर्य है। क्या करके? **अधुना**=अभी इस समय; **विविधं**=प्रकृति, स्थिति, अनुभाग आदि भेद से अनेक प्रकार के बन्ध को; **प्रणुद्य**=नष्ट कर। कैसे बन्ध को? **कारणानां**=उपादान कारण रूप पुद्गलों के; **कार्यं**=कर्मरूप फलमय बन्ध को नष्ट कर।

प्रकृतिस्थित्यनुभागादिभेदेनानेकविधं बन्धं; ***प्रणुद्य*** निराकृत्य। किम्भूतं? ***कारणानां*** उपादानरूपपुद्गलानां; ***कार्यं*** फलं कर्मरूपम्॥१७॥

इति श्री समयसारपद्यस्य परमाध्यात्मतरङ्गिणीनामधेयस्य व्याख्यायां सप्तमोऽङ्कः।

अर्थात् अज्ञानरूपी अन्धकार की विनाशक; राग, द्वेष, मोह की प्रगटता को निर्दयता पूर्वक शीघ्र ही समाप्त करती हुई यह ज्ञान-ज्योति विस्तृत हुई है। प्रकृति, स्थिति, अनुभाग आदि भेद से अनेक प्रकार के, उपादान कारणरूप पुद्गलों के कर्म रूप फलमय कार्यभूत बन्ध को इस समय नष्ट कर, योगीश्वरों के द्वारा आरूढ़/भली-भाँति उपलब्ध अथवा साधुओं द्वारा स्तुत्य यह ज्ञान-ज्योति इस प्रकार व्यक्त हुई है; जिससे अब कर्म आदि अन्य कोई भी इसे पुनः आच्छादित करने में समर्थ नहीं हैं।।१७९।।

इस प्रकार श्री समयसार पद्य की परम-अध्यात्म-तरङ्गिणी नामक व्याख्या में सातवाँ अंक समाप्त हुआ।।७।।

मोक्षाधिकारः

अथ अष्टमोऽङ्कः प्रारभ्यते।

टीकाकारस्य मङ्गलाचरणं :

आर्या : **नानाबन्धध्वंसन-कृतकेलिः कुन्दकुन्दःविधुवर्यः।**
विधिविविधामृतचन्द्रेद्धोभाति गुरुर्ज्ञानभूषाढ्यः॥

अथ क्रमप्राप्तं मोक्षतत्त्वं प्रतिपाद्यते—

शिखरिणी : **द्विधाकृत्य प्रज्ञाक्रकचदलनाद्बन्धपुरुषौ,**
नयन्मोक्षं साक्षात्पुरुष-मुपलम्भैकनियतम्।
इदानीमुन्मज्जत्सहजपरमानन्दसरसं,
परं पूर्णं ज्ञानं कृतसकलकृत्यं विजयते॥१॥१८०॥

टीका : ***इदानीं*** अधुना, मोक्षतत्त्वकथनावसरे; ***ज्ञानं विजयते*** सर्वोत्कर्षेण वर्तते। किं भूतं? ***कृतसकलकृत्यं*** कृतं निष्पादितं सकलं कृत्यं संसारावस्थाकर्तव्यं येन तत्।

अब, आठवाँ अंक प्रारम्भ होता है।

टीकाकारकृत मङ्गलाचरण का अर्थ : अनेक प्रकार से वर्णन करनेवाले आचार्य अमृतचन्द्र से वृद्धिंगत, ज्ञानरूपी भूषण से सम्पन्न, अनेक प्रकार के बन्धों को नष्ट करने के लिए क्रीड़ा करनेवाला, गुरु श्रीकुन्दकुन्द आचार्यरूपी श्रेष्ठ चन्द्रमा, सुशोभित हो रहा है।

अब, क्रम प्राप्त मोक्ष-तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं—

शिखरिणी : **प्रज्ञा करवत चला अब बन्ध रु आतम को पृथक् करके,**
पा आतम में निष्ठित स्थिर साक्षात् मोक्ष को लाते।
सहज परमानन्द सरस अब उत्तम नित प्रगट,
सभी से कृतकृत्य जयवन्तो ज्ञान परिपूर्ण।।१८०।।

टीकार्थ : इदानीं=अब, इस समय 'मोक्षतत्त्व' के कथन के अवसर में; **ज्ञानं विजयते**=ज्ञान सर्वोत्कृष्टरूप से जयवन्त वर्तता है। वह कैसा है? **कृतसकलकृत्यं**=

पुनः ***पूर्णं*** सम्पूर्णं, प्रकर्षप्राप्तत्वात्; ***परं*** उत्कृष्टं, सर्वप्रकाशकत्वात्; ***सहजपरमानन्दसरसं*** सहजः अकृत्रिमः, परमानन्दः परमसुखं, तेन सरसं रसाढ्यम्। ***उन्मज्जत्*** उदयं गच्छत्; ***पुरुषं*** आत्मानं; ***साक्षात्*** अक्रमेण; ***मोक्षं*** मुक्तिसम्पदं; ***नयत्*** प्रापयत्। पुनः किम्भूतं तत्? ***उपलम्भैकनियतं*** उपलम्भः स्वस्वरूपप्राप्तिः, तत्र एकेन स्वभावेन नियतं स्थितं तत्र लीनमित्यर्थः। किं कृत्वा? ***द्विधाकृत्य*** पृथक्कृत्वा। कौ? ***बन्धपुरुषौ*** बन्धः कर्माश्लेषः, पुरुषः आत्मा, द्वन्द्वः, तौ परस्परं मिलितौ पृथग्विधायेत्यर्थः। कुतः? ***प्रज्ञाक्रकचदलनात्*** प्रज्ञा भेदविज्ञानं, सैव क्रकचः करपत्रं, तेन दलनं, तस्मात्॥१॥

अथ प्रज्ञाछेत्रीमभिष्टौति—

कृत=निष्पन्न कर लिए गए हैं, सकल कृत्य=संसार-दशा के सभी कर्तव्य जिसके द्वारा, वह ज्ञान। और **पूर्णं**=प्रकर्ष=चरम सीमा की प्राप्ति हो जाने के कारण, सम्पूर्ण है; **परं**=सभी का प्रकाशक होने के कारण, उत्कृष्ट है; **सहजपरमानन्दसरसं**=सहज=अकृत्रिम, परमानन्द=परम सुख, उससे सरस=रस-सम्पन्न है। **उन्मज्जत्**=उदय को प्राप्त; **पुरुषं**=आत्मा को; **साक्षात्**= क्रम से रहित, प्रत्यक्ष; **मोक्षं**=मुक्तिरूपी सम्पत्ति को; **नयत्**=प्राप्त कराता हुआ। वह और कैसा है? **उपलम्भैकनियतं**=उपलम्भ=अपने स्वरूप की प्राप्ति, उसमें एक स्वभाव से नियत=स्थित, वहाँ लीन है - ऐसा अर्थ है। क्या करके लीन है? **द्विधाकृत्य**=पृथक् करके लीन है। किन्हें पृथक् कर? **बन्धपुरुषौ**=कर्मों का आश्लेष/सम्बन्धरूप बन्ध, पुरुष=आत्मा - इन दोनों का द्वन्द्व, परस्पर मिले हुए, उन दोनों को पृथक् कर - ऐसा अर्थ है। कैसे पृथक् कर? **प्रज्ञाक्रकचदलनात्**=प्रज्ञा=भेद-विज्ञान, वही है क्रकच=करवत, उसके द्वारा दलन, उससे पृथक् कर।

अर्थात्, अब मोक्ष-तत्त्व का कथन करने के अवसर में, परस्पर मिले हुए कर्म-सम्बन्धमय बन्ध और आत्मा को भेद-विज्ञानरूपी करवत के दलन से पृथक्-पृथक् कर, अपने स्वरूप की प्राप्ति में एकनिष्ठ/लीन आत्मा के लिए साक्षात् मुक्तिरूपी सम्पत्ति को प्राप्त कराता हुआ; उदित हुए सहज/अकृत्रिम परम सुखरूपी रस से सम्पन्न, संसार-दशा सम्बन्धी सभी कर्तव्य कर लेने के कारण पूर्णतया कृतकृत्य, सभी का प्रकाशक होने से परम उत्कृष्ट, चरमोत्कर्ष हो जाने से परिपूर्ण ज्ञान, सर्वोत्तमरूप में जयवन्त वर्तता है।।१८०।।

अब, प्रज्ञारूपी छैनी की प्रशंसा करते हैं—

स्रग्धरा : **प्रज्ञाछेत्री शितेयं कथमपि निपुणैः पातिता सावधानैः,**
सूक्ष्मेऽन्तःसन्धिबन्धे निपतति रभसादात्मकर्मोभयस्य।
आत्मानं मग्नमन्तः स्थिरविशदलसद्धाम्नि चैतन्यपूरे,
बन्धं चाज्ञानभावे नियमितमभितः कुर्वती भिन्नभिन्नौ ॥२॥१८१॥

टीका : ***इयं*** प्रसिद्धा; ***प्रज्ञाछेत्री*** बुद्धिछेत्री; ***शिता*** अतितीक्ष्णा; ***रभसात्*** वेगेन; ***निपतति*** भिन्नकरणार्थं पतनं करोति। क्व? ***सूक्ष्मे*** अत्यन्तप्रत्यासन्नत्वाच्चैतन्यचेतक-भावेनैकीभूतत्वेन सूक्ष्मे; ***अन्तः सन्धिबन्धे*** अन्तः अभ्यन्तरे, कर्मात्मनोः सन्धिबन्धे सन्धानश्लेषे; कस्य? ***आत्मकर्मोभयस्य*** चिद्रूपकर्मयुगमस्य। कीदृशा सा? ***कथमपि*** महताग्रहेण; ***पातिता*** तयोर्मध्ये भिन्नकरणाकृते मुक्ता सती। कैः? ***निपुणैः*** धीमद्भिः; ***सावधानैः*** एकाग्रचित्तैः।

अभितः सामस्त्येन, लक्षणभेदात्; ***भिन्नभिन्नौ*** परस्परं तौ द्वौ भिन्नौ भिन्नौ; ***कुर्वती*** निर्मापयती; कं? ***आत्मानं*** चिद्रूपं; ***च*** पुनः; ***बन्धं*** कर्मबन्धं; कीदृशं चिद्रूपं?

स्रग्धरा : **प्रज्ञा छैनी सुतीक्षण को कैसे भी डालते चतुर सुस्थिर,**
अन्दर की सूक्ष्म सन्धि पर गिर करती शीघ्र वह भिन्न-भिन्न।
आतम कर्मों को फिर वह आतम करती नित्य निर्मल सुशोभित,
तेजस्वी चेतना में मग्न तथा बन्ध अज्ञान भाव।।१८१।।

टीकार्थ : इयं=यह प्रसिद्ध, **प्रज्ञाछेत्री**=बुद्धिरूपी छैनी; **शिता**=अति तीक्ष्ण; **रभसात्**=वेग से; **निपतति**=भिन्न करने के लिए गिरती है। कहाँ गिरती है? **सूक्ष्मे**=अत्यन्त निकटता के कारण, चैतन्य-चेतक भाव से एकीभूत हो जाने के कारण सूक्ष्म में; **अन्तः-सन्धिबन्धे**=अन्तः=अभ्यन्तर में, कर्म और आत्मा के सन्धि-बन्ध=सन्धान-श्लेष/एकत्वरूप सम्बन्ध में; किसका? **आत्मकर्मोभयस्य**=चिद्रूप आत्मा और कर्म - इन दोनों का। वह प्रज्ञा कैसी है? **कथमपि**=किसी भी प्रकार, बहुत आग्रह से/पुरुषार्थ पूर्वक; **पातिता**=भिन्न करने के लिए, उन दोनों के बीच में डाली गयी है। किनके द्वारा डाली गयी है? **निपुणैः**= बुद्धिमान चतुर; **सावधानैः**=एकाग्र-चित्त जीवों द्वारा डाली गई है।

अभितः=लक्षण की भिन्नता होने के कारण, सब ओर से; **भिन्न-भिन्नौ**=उन दोनों को परस्पर भिन्न-भिन्न; **कुर्वती**=करती हुई; किसे? **आत्मानं**=चिद्रूप आत्मा को; **च**=और;

अन्तःस्थिरविशदलसद्धाम्नि अन्तः अभ्यन्तरे चिद्रूपे, स्थिरं अन्यत्र गमनाभावात् तत्रैव स्थितिमत् तच्च तद्विशदं च निर्मलं, लसत् देदीप्यमानं, धाम महो यस्य, तस्मिन्। पुनः कथं भूते? ***चैतन्यपूरे*** समस्तशेषद्रव्यासाधारणत्वाच्चैतन्यं स्वलक्षणं, तस्य पूरः समूहः, तत्र मग्नं तन्मयमापन्नम्। कीदृशं बन्धं? ***अज्ञानभावे*** अज्ञान-स्वरूपे रागादौ स्वलक्षणे; ***नियमितं*** निश्चयीभूतं तन्मयत्वमापन्नमित्यर्थः। अन्यापि छेत्री द्वयोर्धात्वोः स्वलक्षणभिन्नयोः अन्तः पातिता सती भिन्नत्वं चर्करीति तथा प्रज्ञाछेत्रीति विज्ञेयम्॥२॥

अथ तयोर्भेदकं प्रलपति—

बन्धं=कर्म-बन्ध को। वह चिद्रूप कैसा है? **अन्तः स्थिरविशद-लसद्धाम्नि**=अन्तः= अभ्यन्तर चिद्रूप में, अन्यत्र गमन का अभाव होने से स्थिर, वहाँ ही स्थितिवान, वह और वह विशद=निर्मल, लसत्=देदीप्यमान, धाम=महस्/तेज है जिसका, उसमें। वह और कैसा है? **चैतन्यपूरे**=शेष सभी द्रव्यों में असाधारणता के कारण, चैतन्य अपना लक्षण है, उसका पूर=समूह, वहाँ मग्न=तन्मयता को प्राप्त है। बन्ध कैसा है? **अज्ञानभावे**=अज्ञान-स्वरूप रागादिमय अपने लक्षण में; **नियमितं**=निश्चयीभूत, तन्यमता को प्राप्त है - ऐसा अर्थ है। अपने-अपने लक्षण की भिन्नतावाली दो धातुओं के बीच में, अन्य छैनी भी डालने पर, वह उन्हें भिन्न कर देती है; उसी प्रकार इस प्रज्ञारूपी छैनी को जानना चाहिए।

अर्थात्, बुद्धिमान, अत्यन्त चतुर, एकाग्र-चित्तवान, सावधान जीवों द्वारा किसी भी प्रकार से अत्यन्त पुरुषार्थ पूर्वक चिद्रूप आत्मा और कर्म - इन दोनों की अत्यन्त निकटता से चैतन्य-चेतक भाव के साथ एकीभूत हो जाने के कारण, अति सूक्ष्म, अभ्यन्तर में कर्म और आत्मा के सन्धि-बन्ध/जोड़रूप एकत्वमय सम्बन्ध में; उन दोनों को भिन्न करने के लिए डाली गयी यह प्रसिद्ध अति तीक्ष्ण भेद-विज्ञानरूपी छैनी जब उन पर गिरती है, तब यह लक्षण की भिन्नता होने के कारण, सब ओर से शीघ्रता पूर्वक उन चिद्रूप आत्मा और पुद्गलमय कर्म-बन्ध को परस्पर पूर्णतया पृथक् करती हुई; आत्मा को, अन्यत्र गमन का अभाव होने से स्थिर, अत्यन्त विशद, देदीप्यमान तेजमय, शेष सभी द्रव्यों में असाधारण चैतन्य के समूह/प्रवाह में निमग्न करती हुई और बन्ध को रागादि लक्षणमय अज्ञान-भाव में सुनिश्चित करती हुई, सुशोभित होती है।।१८१।।

अब, उन दोनों में भेद करनेवाले का वर्णन करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **भित्त्वा सर्वमपि स्वलक्षणबलाद्भेत्तुं हि यच्छक्यते,**
चिन्मुद्राङ्कित-निर्विभागमहिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहम्।
भिद्यन्ते यदि कारकाणि यदि वा धर्मा गुणा वा यदि,
भिद्यन्तां न भिदास्ति काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति ॥३॥१८२॥

टीका : ***हि*** स्फुटं; ***अहं*** अहकं; ***शुद्धः*** द्रव्यभावनोकर्ममलमुक्तः; ***चिदेव*** चेतनास्वरूपमेव; ***अस्मि*** भवामि। किं भूतः? ***चिन्मुद्राङ्कितनिर्विभागमहिमा*** चिदेव मुद्रा चिह्नं, तया अङ्कितः चिह्नितः, निर्विभागः भेत्तुमशक्यो दुर्लक्ष्यत्वात्, महिमा माहात्म्यं यस्य सः। किं कृत्वा? ***यत्*** पुद्गलादिकं कर्म; ***भेत्तुं*** द्विधाकर्तुं; ***शक्यते*** शक्यानुष्ठानं भूयते, स्वलक्षणानां भेत्तुमशक्यत्वात् शक्यानुष्ठानाभावः, परलक्षणानां भेत्तुं शक्यत्वात् शक्यानुष्ठानं तत्। ***सर्वमपि*** समस्तमपि कर्मबन्धं; ***भित्त्वा*** द्विधा विधाय। कुतः? ***स्वलक्षणबलात्*** स्वस्य आत्मनः, पुद्गलस्य च लक्षणं असाधारणस्वरूपं चैतन्यमचैतन्यं च तस्य बलात् सामर्थ्यात्।

शार्दूलविक्रीडित : **जो भी भेदन शक्य उन सभी को स्व चिह्न-बल भेद कर,**
मैं हूँ चित् मुद्रा सुचिह्नित अभिन महिमामयी शुद्ध चित्।
होते हैं यदि भेद तो भले हों कारक धरम गुणों से,
पर कुछ भेद नहीं विशुद्ध विभुमय चित् वस्तु में उन्हीं से।।१८२।।

टीकार्थ : हि=स्पष्ट; **अहं**=मैं; **शुद्धः**=द्रव्य-कर्म, भाव-कर्म, नो-कर्मरूपी मल से मुक्त; **चिदेव**=चेतना-स्वरूप ही; **अस्मि**=हूँ। मैं कैसा हूँ? **चिन्मुद्रांकितनिर्विभाग-महिमा**=चित् ही है मुद्रा=चिह्न, उससे अंकित=चिह्नित, निर्विभाग=दुर्लक्ष्य होने से भेदन करने के लिए अशक्य, महिमा=माहात्म्य है जिसका, वह मैं ऐसा हूँ। क्या करके? **यत्**=जो पुद्गल आदि कर्म को, **भेत्तुं**=द्विधा करने के लिए; **शक्यते**=शक्य अनुष्ठान है; अपने लक्षणों का भेदन करने के लिए अशक्यता होने से, शक्य अनुष्ठान का अभाव है; पर/भिन्न लक्षणों का भेदन करने के लिए शक्यता होने से, वह शक्य अनुष्ठान है। **सर्वमपि**=सम्पूर्ण ही कर्म-बन्ध को; **भित्त्वा**=द्विधा कर। यह कैसे कर? **स्वलक्षणबलात्**=स्व आत्मा का और पुद्गल का, लक्षण=असाधारण-स्वरूप, क्रमशः चैतन्य और अचैतन्य, उसके बल से=सामर्थ्य से।

यदि कारकाणि कर्तृकर्मादीनि चेतयमानः एव चेतये, चेतयमानेनैव चेतये, चेतयमानाय चेतये, चेतयमानादेव चेतये, चेतयमान एव चेतये, चेतयमानमेव चेतये इति कारकाणि; ***भिद्यन्तेः*** तर्हि ***भिद्यन्तां*** भेदं प्राप्नुवन्तु। ***वा*** अथवा; यदि ***धर्माः*** स्वभावाः चैतन्याचैतन्यादयः, भेदं प्राप्नुवन्ति तर्हिं भिद्यन्ताम्। यदि वा ***गुणाः*** मतिश्रुतादयः अनन्तज्ञानादयो वा भिद्यन्ते तर्हि भेदं प्राप्नुवन्तु; पुनः ***चिति*** चिद्रूपे; ***भावे*** पदार्थे; ***काचन*** कापि; ***भिदा*** भेदः; ***न*** नास्ति कारकधर्मगुणभेदो न। किं भूते चिति? ***विभौ*** वि विशेषेण भवति ज्ञानादिस्वभावेनेति विभुः, तस्मिन् विभौ, 'भुवो डुर्विसम्प्रेषु च', इति डुप्रत्ययः। ***विशुद्धे*** कर्ममलातीते॥ ३॥

यदि कारकाणि=चेतयमान ही चेतता हूँ, चेतयमान के द्वारा ही चेतता हूँ, चेतयमान के लिए चेतता हूँ, चेतयमान से ही चेतता हूँ, चेतयमान में ही चेतता हूँ, चेतयमान को ही चेतता हूँ – इस प्रकार के कर्ता, कर्म आदि कारक यदि; **भिद्यन्ते**=भेद प्रगट करते हैं; तो **भिद्यन्तां**=भेद हो जाएं। **वा**=अथवा; यदि **धर्मा**:=चैतन्य, अचैतन्य आदि स्वभाव, भेद प्रगट करते हैं, तो करें। अथवा यदि **गुणा**:=मति, श्रुत आदि या अनन्त ज्ञान आदि गुण, भेद प्रगट करते हैं, तो करें; परन्तु **चिति**=चिद्रूप; **भावे**=पदार्थ में; **काचन**=कोई भी; **भिदा**=भेद; **न**=नहीं है; कारक, धर्म, गुण सम्बन्धी भेद नहीं है। कैसे चैतन्य में ये नहीं हैं? **विभौ**=वि=विशेषरूप से, भु=ज्ञानादि स्वभाव से होता है, ऐसा विभु; उस विभु में; *'वि, सं और प्र उपसर्ग होने पर, भ से डु प्रत्यय होता है'* इस व्याकरण सूत्र द्वारा डु प्रत्यय होकर 'विभु' बना है। **विशुद्धे**=कर्मरूपी मल से रहित चैतन्य में ये भेद नहीं हैं।

अर्थात्, स्वयं का असाधारण लक्षण स्वयं से शाश्वत तन्मय होने के कारण, उसे कभी भी, किसी भी रूप में स्वयं से पृथक् नहीं किया जा सकता है; परन्तु यदि किसी अन्य के असाधारण लक्षण को अज्ञानता-वश अपना मान लिया हो तो उसका यथार्थ ज्ञान कर, उसे स्वयं से पृथक् कर सकते हैं; क्योंकि अपना मानने पर भी वह कभी भी, किसी भी रूप में अपना हुआ नहीं, है नहीं, हो सकता नहीं है; वह तो उस समय भी मुझसे पूर्णतया पृथक् ही है; अतः उसे पृथक् करते हैं। इसी की प्रायोगिक प्रक्रिया इसमें बतायी गयी है; जो इस प्रकार है —

वास्तव में जो भेदा जा सकता है, उस सम्पूर्ण कर्म-बन्ध को, मैं आत्मा चैतन्य लक्षणमय और यह पौद्गलिक कर्म-बन्ध अचैतन्य/जड़ लक्षणमय है – इस प्रकार अपने-

अथ चेतनाया एकानेकरूपं विवक्षति—

शार्दूलविक्रीडित : **अद्वैतापि हि चेतना जगति चेद् दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत्,**
तत्सामान्यविशेषरूपविरहात्सास्तित्वमेव त्यजेत्।
तत्त्यागे जडता चितोऽपि भवति व्याप्यो विना व्यापका-
दात्मा चान्तमुपैति तेन नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपास्तु चित्॥४॥१८३॥

टीका : ***हि*** इति ननु। ***जगति*** भुवने; ***चेतना*** प्रतिभासरूपा; ***अद्वैता*** एकरूपा, सर्वेषां प्रतिभासान्तः प्रविष्टत्वेन एकरूपत्वसाधनात्। तथाहि—यत्प्रतिभासते यत्प्रतिभासान्तः

अपने असाधारण लक्षण की सामर्थ्य से पूर्णतया पृथक् कर, मैं चैतन्य चिह्न से चिह्नित, अखण्ड महिमा-सम्पन्न; द्रव्य-कर्म, भाव-कर्म, नो-कर्मरूपी मल से पूर्णतया रहित, शुद्ध चेतना-स्वरूप ही हूँ। इसमें यदि कारक, धर्म/स्वभाव, गुण आदि की अपेक्षा भेद है तो भले हो; परन्तु उनसे ज्ञानादि विशेष-स्वभाव-सम्पन्न विभु, कर्मरूपी मल से पूर्णतया रहित विशुद्ध, चिद्रूप पदार्थ में कोई भी भेद नहीं होता है। इसमें भेद इस प्रकार देखे जा सकते हैं —

मैं चेतयमान ही चेतता हूँ - कर्ता; चेतयमान के द्वारा ही चेतता हूँ - करण; चेतयमान के लिए चेतता हूँ - सम्प्रदान; चेतयमान से ही चेतता हूँ - अपादान; चेतयमान में ही चेतता हूँ - अधिकरण; चेतयमान को ही चेतता हूँ - कर्म; - इस प्रकार कर्ता, कर्म आदि षट् कारकों के भेद; चैतन्य, अचैतन्य आदि धर्मों/स्वभावों के भेद; मति, श्रुत आदि या ज्ञान आदि अनन्त गुणों के भेद, इत्यादि प्रकार से वस्तु में भेद देखे जा सकते हैं; क्योंकि वस्तु का स्वभाव भेदाभेदात्मक है; परन्तु इससे कोई भी वस्तु भेदमय/खण्डित नहीं हो जाती है; क्योंकि उन सभी के प्रदेश अभेद ही हैं।।१८२।।

अब, चेतना के एक-अनेकरूप की विवक्षा स्पष्ट करते हैं —

शार्दूलविक्रीडित : **जग में यदि अद्वैत मात्र चेतन तो दर्श ज्ञान छोड़ दे,**
जिससे सामान्य रु विशेष विरहित हो सत्त्व निज छोड़ दे।
उनके बिन चेतन अचेतन तथा व्यापक विना व्याप्य का,
होगा नाश अतः यही नियत चित् दृग ज्ञान युत चेतना।।१८३।।

टीकार्थ : हि=यह 'ननु/शंका' के अर्थ में अव्यय है। **जगति**=भुवन में; **चेतना**= प्रतिभासरूप चेतना; **अद्वैता**=सभी का प्रतिभास अन्तरङ्ग में प्रविष्ट होने के कारण, एकरूपता का साधन होने से एकरूप है। वह इस प्रकार - जो प्रतिभासित होता है, जो

प्रविष्टं यथा प्रतिभासस्वरूपं प्रतिभासन्ते चामी विवादापन्नाः पदार्थाः। सर्वं वै खल्विदं ब्रह्मेत्यादि वाक्यानामेकत्वसाधनाच्चैकैव चेतना इति चेत्तदा ***दृग्ज्ञप्तिरूपं*** सा दर्शन-ज्ञानस्वभावं; ***त्यजेत्।*** अथ तत्स्वभावं त्यजतु का नो हानिः ? इति वदन्तमद्वैतिनं निराकरोति।

सा चेतना; ***तत्*** प्रसिद्धं; ***अस्तित्वं*** सत्तां; ***एव त्यजेत्।*** कुतः ? ***सामान्यविशेषरूप-विरहात्*** सामान्यं दर्शनं, विशेषो ज्ञानं, तयोः रूपं, तस्य विरहः, तस्मात् सामान्यविशेषात्म-कत्वात् सर्वस्य वस्तुनः **'सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः'** इति वचनात्; दृग्ज्ञानयोः सामान्यविशेषात्मकत्वात् तदभावे तदभावात् अपि दूषणद्वयम्।

तत्त्यागे तस्य अस्तित्वस्य, त्यागे अभावे, अथवा दर्शनज्ञानस्याभावे; ***चितोऽपि*** चिद्रूपस्यापि; ***जड़ता*** अचेतनत्वं, ***च*** इति दूषणान्तरे। ***व्यापकात्*** अस्तित्वरूपात् दर्शनरूपाद्वा। ***विना*** ऋते; ***व्याप्यः*** आत्मा, ***अन्तं*** विनाशं; ***उपैति*** प्राप्नोति, व्यापकाभावे

अन्दर प्रविष्ट प्रतिभास है; जैसा प्रतिभास का स्वरूप है और ये विवादस्थ पदार्थ प्रतिभासित होते हैं। 'वास्तव में यह सब ब्रह्म है' - इत्यादि वाक्यों का एकत्व साधन होने से, (इनसे मात्र एक ब्रह्म सिद्ध हुआ) चेतना एक ही है; यदि ऐसा कहा जाए तो **दृग्ज्ञप्तिरूपं**=वह दर्शन-ज्ञान स्वभाव को; **त्यजेत्**=छोड़ दे। अब, उस स्वभाव को छोड़ दे, इससे हमारी क्या हानि है - ऐसा कहनेवाले अद्वैत-वादियों का निराकरण करते हैं।

सा=वह चेतना; **तत्**=उस प्रसिद्ध; **अस्तित्वं**=सत्ता को; **एव त्यजेत्**=ही छोड़ दे। उसे कैसे छोड़ दे? **सामान्यविशेषरूपविरहात्**=सामान्य=दर्शन, विशेष=ज्ञान, उनका रूप, उसका विरह, उससे, सभी वस्तुओं के सामान्य-विशेषात्मकता होने से *'प्रमाण का विषयभूत वह अर्थ, सामान्य-विशेषात्मक है।'* - ऐसा (आचार्य माणिक्यनन्दि का परीक्षामुख सूत्र में) वचन होने से; दर्शन-ज्ञान के सामान्य-विशेषात्मकता होने से, उनके अभाव में, उसका भी अभाव हो जाने से, सत्ता ही सिद्ध नहीं होगी - इस प्रकार दो दोष आते हैं।

तत्त्यागे=उस अस्तित्व के त्याग=अभाव में, अथवा दर्शन-ज्ञान के अभाव में; **चितोऽपि**=चिद्रूप के भी; **जड़ता**=अचेतनता होगी; **च**=और - यह दूसरा दोष वाचक अव्यय है। **व्यापकात्**=अस्तित्वरूप से या दर्शनरूप से व्यापक होने से। **विना**=ऋत/उसके विना; **व्याप्यः**=आत्मारूपी व्याप्य; **अन्तं**=विनाश को; **उपैति**=प्राप्त हो जाता है; जैसे, प्रकाश के अभाव में, दीपक का अभाव हो जाता है; उसी प्रकार व्यापक के अभाव में व्याप्य का भी अभाव हो जाने से, उस जड़तामय आत्मा के भी अभाव का दोष विद्यमान

व्याप्यस्याप्यभावात् प्रकाशाभावे प्रदीपवत् तेन जड़त्वात्माभावदूषणसद्भावेन। ***चित्*** चेतना; ***नियतं*** निश्चितं; ***दृग्ज्ञप्तिरूपा*** दर्शनज्ञानस्वरूपा; ***अस्तु*** भवतु॥ ४॥

अथ चेतनाचेतनयोः परत्वापरत्वं प्रपूर्यते—

इन्द्रवज्रा : **एकश्चितश्चिन्मय एव भावो, भावाः परे ये किल ते परेषाम्।**
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो, भावाः परे सर्वत एव हेयाः॥५॥१८४॥

होने से, ऐसा मानना उचित नहीं है। **चित्**=चेतना; **नियतं**=निश्चित; **दृग्ज्ञप्तिरूपा**=दर्शन, ज्ञान-स्वरूप; **अस्तु**=हो।

अर्थात्, ब्रह्माद्वैतवादी ऐसा कहते हैं कि वास्तव में यह सब ब्रह्म ही है; अन्य कुछ भी नहीं है; चेतनामात्र एक चेतना ही है, उसमें प्रतिभासित होनेवाले पदार्थ, वास्तव में पृथक् कुछ भी नहीं हैं; सब कुछ एकमात्र चेतना ही है। - इस मान्यता का निराकरण करते हुए यहाँ आत्मा का सामान्य-विशेषात्मक एकानेक स्वरूप स्थापित किया है, जो इस प्रकार है—

यदि आत्मा को एकमात्र अद्वैत चेतनात्मक मानते हैं तो तीन-रूपों में उसकी सत्ता के ही विनाश का प्रसङ्ग आएगा। १. चेतना को अद्वैत मानने पर, दर्शनरूप सामान्य और ज्ञानरूप विशेष चेतना से वह शून्य होगी; जिससे उसकी सत्ता का ही अभाव मानना होगा।

२. ज्ञान-दर्शन चेतना के अभाव में, आत्मा को अचेतन/जड़ मानना पड़ेगा।

३. दर्शन-ज्ञानरूप से चेतना आत्मा में रहती है; अतः चेतना (दर्शन एवं ज्ञान), व्यापक और आत्मा, व्याप्य है; जैसे, प्रकाश दीपक में रहता है; अतः प्रकाश, व्यापक और दीपक, व्याप्य है। प्रकाश के नाश में, दीपक का भी अभाव हो जाता है; क्योंकि व्याप्य-व्यापक दोनों तन्मय होते हैं; अतः एक के अभाव में, दूसरे का भी अभाव हो जाता है; उसी प्रकार दर्शन-ज्ञान के अभाव में, आत्मा का भी अभाव हो जाएगा।

प्रत्येक वस्तु शाश्वत होने से, कभी भी उसकी सत्ता का अभाव नहीं होता है। वास्तव में प्रमाण की विषयभूत प्रत्येक वस्तु, सामान्य-विशेषात्मक होती है। आत्मा भी ऐसी ही एक वस्तु है। दर्शन-चेतना उसका सामान्यरूप और ज्ञान-चेतना, विशेषरूप है। इस प्रकार आत्मा चेतनामात्र की अपेक्षा एक और दर्शन-ज्ञान चेतना की अपेक्षा एकानेकात्मक पदार्थ है। यह दर्शन-ज्ञानरूप सुनिश्चित, एक, कथंचित् द्वैताद्वैतात्मक वस्तु है।।१८३।।

अब, चेतन और अचेतन में परत्व और अपरत्व को स्पष्ट करते हैं—

इन्द्रवज्रा : **चेतन का एक हि चिन्मात्र भाव, जो भिन्न भाव वे अन्य के हैं।**
यों भिन्न सब पर परिपूर्ण हेय, निज भाव चिन्मय ही ग्राह्य नित है।।१८४।।

टीका : ***चितः*** चिद्रूपस्य; ***एकः*** चिन्मयः तद्दर्शनज्ञानमयः; ***एव भावः*** स्वभावः। ***ये*** प्रसिद्धाः; ***परे*** दृग्ज्ञप्तेः परे; ***भावाः*** रागादयः; ***किल*** इति निश्चितं; ***परेषां*** कर्मणां; ***ते भावाः; ततः*** आत्मीयस्वभावत्वात्; ***चिन्मय एव*** दृग्ज्ञप्तिनिर्वृत्त एव स्वभावः; ***ग्राह्यः*** आदेयः; ***परभावाः*** रागद्वेषादयः; ***सर्वत एव*** सामस्त्येनैव; ***हेयाः*** त्याज्याः ॥ ५ ॥

अथ रहस्यं सिद्धान्तं साधयितुमुपक्रामति—

शार्दूलविक्रीडित : **सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां,**
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहम्।
एते ये तु समुल्लसन्ति विविधा भावाः पृथग्लक्षणाः,
तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि॥६ ॥१८५ ॥

टीका : ***अयं सिद्धान्तः*** सिद्धः निष्पन्नः, अन्तः धर्मः स्वभावो वा यस्य सः तात्पर्यं

टीकार्थ : चितः=चिद्रूप का; **एकः**=चिन्मय, वह दर्शन-ज्ञानमय एक; **एव भावः**=ही स्वभाव है। **ये**=जो प्रसिद्ध; **परे**=दर्शन-ज्ञान, दो से भिन्न; **भावाः**=रागादि भाव हैं; **किल**=यह निश्चित अर्थ का वाचक अव्यय है; **परेषां**=अन्य=कर्मों के; **ते भावाः**=वे भाव हैं; **ततः**=इस कारण आत्मीय-स्वभाव होने से; **चिन्मयः एव**=दर्शन-ज्ञान से रचित स्वभाव ही; **ग्राह्यः**=ग्रहण करने-योग्य है। **परभावाः**=राग, द्वेष आदि सभी पर-भाव; **सर्वतः एव**=पूर्णरूप से ही; **हेयाः**=छोड़ने-योग्य हैं।

अर्थात्, चिद्रूप आत्मा का ज्ञान-दर्शनमय एक चिन्मय ही भाव है। इस चैतन्य से पृथक् जो रागादि भाव हैं, वे वास्तव में आत्मा से पृथक् पुद्गलमय कर्मों के परिणमन हैं; अतः आत्मीय-स्वभाव होने से यह दर्शन-ज्ञान से रचित चिन्मय स्वभाव ही ग्रहण करने-योग्य है तथा आत्मीय नहीं होने के कारण, राग, द्वेष आदि सभी पर-भाव, सब ओर से पूर्णतया छोड़ने-योग्य हैं।।१८४।।

अब, रहस्यभूत सिद्धान्त को सिद्ध करने का प्रयास करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **उत्तम चित्त चरित्र युत मुमुक्षु को सेव्य सिद्धान्त यह,**
मैं हूँ नित उत्कृष्ट एक ज्योति ही शुद्ध चैतन्यमय।
ये जो प्रगटित विविध भाव सब ही मुझसे पृथक् चिह्नमय,
इससे वे सब मैं नहीं मैं पृथक् वे पृथक् पर द्रव्यमय।।१८५।।

टीकार्थ : अयं सिद्धान्तः=यह सिद्ध=निष्पन्न, अन्त=धर्म या स्वभाव है जिसका,

वा। ***सेव्यतां*** आश्रियताम्। कै: ? ***मोक्षार्थिभि:*** मुमुक्षुभिर्योगिभि:। किं भूतै: ? ***उदात्त-चित्तचरितै:*** उदात्तं उत्तमं, यत् चित्तं ज्ञानं तदेव चरितं आचरणं येषां तै:। कदा ? ***सदैव*** नित्यमेव। ***अहं परमं ज्योति:*** परं धाम; ***अस्मि*** भवामि। किं भूतं तत् ? ***शुद्धं*** कर्म-मलरहितत्वात्; ***चिन्मयं*** ज्ञप्तिरूपत्वात्; ***एकमेव*** परभावरहितत्वात्।

तु पुन:; ***एते*** प्रसिद्धा:, ***विविधा:*** नानाप्रकारा:, असंख्यातलोकमात्रत्वात्; ***भावा:*** रागद्वेषादय: परिणामा:; ***समुल्लसन्ति*** प्रादुर्भवन्ति। ***ते*** भावा:; ***अहं*** चिद्रूप:; ***नास्मि*** न भवामि। कुत: ? ***यत:*** यस्मात्कारणात्; ***पृथग्लक्षणा:*** आत्मन: विपरीतलक्षणा: अज्ञानस्वभावत्वात्। ***अत्र*** इह स्वस्वरूपविचारणे ते भावा:; ***समग्रा अपि*** समस्ता अपि कषायाध्यवसाया:; ***मम*** चिद्रूपस्य; ***परद्रव्यं*** पुद्गलकर्मोत्पादितत्वात् अत: सर्वथा चिद्भाव एव गृहीतव्य:, शेषा: सर्वे भावा: प्रहातव्या इति सिद्धान्त: ॥ ६ ॥

वह अथवा तात्पर्य यह है। **सेव्यतां**=सेवन करें=आश्रय लें। कौन यह करें ? **मोक्षार्थिभि:**=मोक्ष चाहनेवाले मुमुक्षु योगी इसका सेवन करें। कैसे मुमुक्षु करें ? **उदात्तचित्तचरितै:**=उदात्त=उत्तम, जो चित्त=ज्ञान, वही है चरित=आचरण जिनका, वे मुमुक्षु करें। इसका सेवन वे कब करें ? **सदैव**=नित्य ही करें। **अहं परमं ज्योति:**=मैं परमधाम/तेज; **अस्मि**=हूँ। वह परम तेज कैसा है ? **शुद्धं**=कर्मरूपी मल से रहित होने के कारण, शुद्ध है; **चिन्मयं**=जानकारीरूप होने के कारण, चिन्मय है; **एकमेव**=पर-भावों से रहित होने के कारण, एक ही है।

तु=और; **एते**=ये प्रसिद्ध; **विविधा:**=असंख्यात लोक-प्रमाण होने के कारण, अनेक प्रकारवाले; **भावा:**=राग, द्वेष आदि परिणाम; **समुल्लसन्ति**=प्रगट होते हैं। **ते**=वे भाव; **अहं**=चिद्रूप मैं; **नास्मि**=नहीं हूँ। कैसे/क्यों नहीं हूँ? **यत:**=जिस कारण; **पृथग्लक्षणा:** =अज्ञान-स्वभाववाले होने के कारण, आत्मा से विपरीत लक्षणरूप हैं। **अत्र**=यहाँ अपने स्वरूप की विचारणा में वे भाव; **समग्रा: अपि**=सभी कषायाध्यवसाय; **मम**=मुझ चिद्रूप को; **परद्रव्यं**=पुद्गल-कर्म से उत्पन्न किए होने के कारण, पर-द्रव्य हैं; अत: चिद्भाव ही सर्वथा ग्रहण करने-योग्य है; शेष सभी भाव छोड़ने-योग्य हैं - ऐसा सिद्धान्त है।

अर्थात्, उत्तम ज्ञान का ही आचरण करनेवाले मोक्षार्थियों को इस निष्पन्न धर्म या स्वभावमय सिद्धान्त का सदैव सेवन करना चाहिए कि मैं कर्मरूपी मल से रहित होने के कारण, शुद्ध; ज्ञान-सम्पन्न होने के कारण, चिन्मय; पर-भावों से रहित होने के कारण, एक ही परम ज्योति हूँ। अज्ञान-स्वभावमय होने के कारण, मुझसे पूर्णतया पृथक् लक्षणवाले जो

अथ सापराधिनो बन्धं द्योतते—

अनुष्टुप् : **परद्रव्यग्रहं कुर्वन्, बध्येतैवापराधवान्।**
बध्येतानपराधो न, स्वद्रव्ये संवृतो यतिः ॥७॥१८६॥

टीका : ***अपराधवान्*** सापराधः पुमान्; ***एव*** निश्चयेन; ***बध्येत*** कर्मबन्धनं प्राप्नुयात्। सापराधत्वं लक्षयति— ***परद्रव्यग्रहं*** परद्रव्याणां ममेति बुद्ध्या ग्रहं ग्रहणं; ***कुर्वन्*** चिन्तयन्, अन्योऽपि परद्रव्यग्रहणं कुर्वन् बन्धं प्राप्नोति पुनर्नान्य इत्युक्तिलेशः। ***अनपराधः*** परद्रव्यग्रहणलक्षणापराधरहितः; ***यतिः*** स्वयत्नचारित्वात् योगी; ***न बध्येत*** न बन्धनं याति। ***स्वद्रव्ये*** चिद्रूपे ***संवृतः*** संवरणं कुर्वन् स्थितः तदपराधरहितः न याति बन्धनम्॥ ७॥

ये प्रसिद्ध असंख्यात लोक-प्रमाण भेदमय अनेक प्रकारवाले राग, द्वेष आदि भाव प्रगट हो रहे हैं; अपने स्वरूप का निर्णय करने के प्रसङ्ग में वे सभी कषायाध्यवसाय, मैं नहीं हूँ। पुद्गल-कर्म से उत्पन्न किए होने के कारण, वे सभी मेरे लिए पूर्णतया पर-द्रव्य हैं।

इस प्रकार यह एक चिन्मय-भाव ही मेरे लिए सर्वथा ग्रहण करने-योग्य है तथा शेष सभी भाव पूर्णतया छोड़ने-योग्य हैं।।१८५।।

अब, सापराधी के बन्ध को प्रसिद्ध करते हैं—

अनुष्टुप् : **करे ग्रहण परद्रव्य, अपराधी हुआ बँधे।**
यती निज द्रव्य में संवृत, नहीं अपराध नहिं बँधें।।१८६।।

टीकार्थ : अपराधवान्=अपराध-सहित जीव; **एव**=ही, निश्चय से; **बध्येत**=कर्म-बन्धन को प्राप्त है। अपराध-सहितपने का लक्षण बताते हैं - **परद्रव्यग्रहं**='मेरे हैं' - इस बुद्धि से पर-द्रव्यों का ग्रहण; **कुर्वन्**=करता हुआ=चिन्तन करता हुआ; लोक में भी पर-द्रव्य को ग्रहण करनेवाला बँधता है; अन्य नहीं - यह कथन प्रसिद्ध है। **अनपराधः**=पर-द्रव्य को ग्रहण करनेमय लक्षणवाले अपराध से रहित; **यतिः**=स्वयं में प्रयत्न पूर्वक प्रवृत्ति करनेवाले होने से, यति=योगी; **न बध्येत**=बन्धन को प्राप्त नहीं होते हैं। **स्वद्रव्ये**=चिद्रूप स्व-द्रव्य में; **संवृतः**=संवरण करते हुए स्थित वे अपराध-रहित, बन्धन को प्राप्त नहीं होते हैं।

अर्थात्, लोक में यह स्पष्ट है कि अन्य की वस्तुओं को ग्रहण करनेवाला अपराधी माना जाता है और उसे सजा भोगनी पड़ती है। वास्तव में यह वस्तु-स्वरूप होने के कारण, सर्वत्र घटित होनेवाला तथ्य है। 'ये पर-द्रव्य मेरे हैं' - ऐसी बुद्धि पूर्वक जो पर-द्रव्य को ग्रहण करता है, उनके सम्बन्ध में विचार करता है, वह अपराधी है और कर्मों से बँधता है।

अथ सापराधापराधयोः बन्धाबन्धौ बिभर्ति—

मालिनी : **अनवरत-मनन्तैर्बध्यते सापराधः,**
स्पृशति निरपराधो बन्धनं नैव जातु।
नियतमयमशुद्धं स्वं भजन् सापराधो,
भवति निरपराधः साधु शुद्धात्मसेवी ॥८॥१८७॥

टीका : *सापराधः* परद्रव्यपरिहारेण शुद्धस्यात्मनः सिद्धिः साधनं वा राधः अपगतो राधो यस्य चेतयितुर्भावस्य वा सोऽपराधस्तेन सह वर्तत इति सापराधो यतिः। ***अनवरतं*** निरन्तरं प्रतिसमयं; ***अनन्तैः*** अनन्तसंख्यावच्छिन्नैर्बन्धनैः; ***बध्यते*** बन्धनं याति।

ननु कर्मणां ज्ञानावरणादीनां कषायाध्यवसायानां चासंख्यातलोकत्वघटनादनन्तत्ववचनं विरुध्यते ? इति चेत्सत्यं कर्मणामध्यवसायानामसंख्यातत्वे सत्यपि कर्मपरमाणूनामनन्तत्व-घटनात्।

अपने स्वरूप में प्रयत्न पूर्वक प्रवृत्ति करनेवाले योगी यति, चिद्रूपमय अपने द्रव्य में संवृत हो, स्थिर रहते हैं। वे अपराधी नहीं हैं; अतः कर्मों से बँधते भी नहीं हैं।।१८६।।

अब, सापराध के बन्ध और निरपराध के अबन्ध का निरूपण करते हैं—

मालिनी : **नित अनन्त कर्मों से बँधे सापराधी,**
निरपराध रंच बँधे न कभी भी।
स्वयं को अशुद्ध अनुभवे सापराधी,
नियत निरपराधी साधु शुद्धात्मसेवी।।१८७।।

टीकार्थ : सापराधः=पर-द्रव्य के परिहार से शुद्ध आत्मा की सिद्धि या साधन, राध है; अपगत राध है जिसका, अथवा चेतयिता-भाव का राध से रहित होना, वह अपराध है, उनके साथ वर्तता है - ऐसा सापराध यति। **अनवरतं**=निरन्तर=प्रति समय, **अनन्तैः**=अनन्त संख्या से सम्पन्न बन्धन द्वारा; **बध्यते**=बन्धन को प्राप्त होता है।

प्रश्न : ज्ञानावरणादि कर्मों के और कषाय-अध्यवसायों के असंख्यात लोकपना घटित होने से, 'अनन्तत्व' का वचन, विरुद्ध है।

उत्तर : यह सत्य है; परन्तु कर्मों के और अध्यवसायों के असंख्यातपना होने पर भी, कर्म-परमाणुओं के अनन्तत्व घटित होने से, यहाँ अनन्तत्व कहा है।

निरपराधः=पर-द्रव्य को ग्रहण करनेरूप अपराध से रहित, उपयोग के सम्मुख;

निरपराध: उपयोगोन्मुख: परद्रव्यग्रहणापराधरहित:; ***जातु*** कदाचित्; ***बन्धनं*** कर्मबन्धनं; ***नैव स्पृशति*** न प्राप्नोति। ***अयं*** यति:; ***नियतं*** निश्चितं; ***अशुद्धं*** रागद्वेष-कलुषीकृतं; ***स्वं*** आत्मानं; भजन् सन्; ***सापराधो भवति*** स्वस्वरूपपराङ्मुखत्वात् ***साधु*** समीचीनं यथा भवति तथा; ***शुद्धात्मसेवी*** शुद्धमात्मानं सेवत इति शुद्धात्मसेवी मुनि:; ***निरपराध:*** परद्रव्यग्रहणापराधरहित:, स्वद्रव्यसेवित्वादाराधक एव ॥८ ॥

अथ प्रतिक्रमणाप्रतिक्रमणं विवेचयति—

वसन्ततिलका : **यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतं,**
तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुट: स्यात्।

जातु=कभी भी; **बन्धनं**=कर्म-बन्ध को; **नैव स्पृशति**=प्राप्त नहीं होता है। **अयं**=यह यति; **नियतं**=निश्चित; **अशुद्धं**=राग-द्वेषरूपी कलुष से मलिन; **स्वं**=अपने आत्मा को; **भजन्**=भजता हुआ/मानता हुआ; **सापराधो भवति**=अपने स्वरूप से पराङ्मुख होने के कारण, अपराधी होता है। **साधु**=समीचीन जैसे होता है, उस प्रकार/भली-भाँति, **शुद्धात्मसेवी**=शुद्ध आत्मा की सेवा करता है, वह शुद्धात्म-सेवी मुनि; **निरपराध:**=पर-द्रव्य को ग्रहण करनेरूप अपराध से रहित, अपने द्रव्य का उपासक होने से आराधक ही है।

अर्थात्, पर-द्रव्यों के परिहार पूर्वक अपने शुद्ध आत्मा की उपासना, राध है। इस आत्माराधना से रहित, अपराधमय भावों द्वारा प्रति समय अनन्त कर्मों का बन्ध होता है। पर-द्रव्यों को ग्रहण करनेरूप अपराध से रहित हो, आत्मा की आराधना करनेवाला निरपराधी कभी भी, रंचमात्र भी (भूमिकानुसार) कर्मों से बँधता नहीं है।

स्वयं को राग, द्वेषरूपी भावोंमय अशुद्ध मानता हुआ यह जीव, अपने स्वरूप से पराङ्मुख होने के कारण, नियम से अपराधी है और अपने शुद्धात्मा की भली-भाँति सेवा/उपासना करनेवाला जीव, पर-द्रव्यों को ग्रहण नहीं करने के कारण, निरपराध है।

यद्यपि कर्मों के और रागादि विकारी-भावों के अधिकाधिक भेद, असंख्यात लोक प्रमाण ही होते हैं; अनन्त नहीं; तथापि कर्मों में अनन्त परमाणु होने से, कर्मों को अनन्त भी कहते हैं। इसी अपेक्षा यहाँ 'सापराध को अनन्त कर्मों का बन्ध', कहा है।।१८७।।

अब, प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमण का विवेचन करते हैं—

वसन्ततिलका : **जिसमें प्रतिक्रमण को ही विष कहा है,**
उसमें सुधाकलश अप्रतिक्रमण ही है।

तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः,
किन्नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः ॥९ ॥१८८ ॥

टीका : ***यत्र*** शुद्धात्मस्वरूपे; ***प्रतिक्रमणमेव*** द्रव्यरूपः प्रतिक्रमणादिरेव अज्ञान-जनसाधारणोऽप्रतिक्रमणादिस्तावदास्तामित्येवशब्दार्थः। ***विषं*** हलाहलं; ***प्रणीतं*** स्व-कार्यकरणासमर्थत्वात् तद्विपक्षशुभबन्धनकार्यकारित्वाच्च। ***तत्र*** आत्मस्वरूपे; ***अप्रतिक्रमण-मेव*** पूर्वोक्तप्रतिक्रमणाप्रतिक्रमणद्वयरहिततृतीयशुद्धात्मोपयोगरूपाप्रतिक्रमणं; ***सुधाकुटः*** अमृतकुम्भः; ***स्यात्*** स्वकार्यकारित्वात्। ***तत्*** तस्माद्धेतोः; ***जनः*** लोकः; ***प्रमाद्यति किं*** कथं प्रमादं करोति? ***अधोऽधः*** प्रतिक्रमणेतरद्वयाधोभूमौ प्रपतन् सन्। ***निष्प्रमादः*** प्रमादरहितः सन्; ***ऊर्ध्वमूर्ध्वं*** उपर्युपरि, अप्रतिक्रमणं तार्तीयकम्। ***किं*** कथं; ***नाधिरोहति*** न चटति इति स्वरूपव्यतिरिक्तस्य न किमपि प्रतिक्रमणादिनेति सूचितम् ॥९ ॥

तब जन प्रमाद कर क्यों हो अधोगामी?
क्यों ऊर्ध्वगामि नहिं हो बन निष्प्रमादी?।।१८८।।

टीकार्थ : यत्र=जहाँ शुद्धात्म-स्वरूप में; **प्रतिक्रमणमेव**=अज्ञानी-जनों के साधारण अप्रतिक्रमण आदि की चर्चा तो दूर ही रहो, द्रव्यरूप प्रतिक्रमण आदि ही - ऐसा शब्दार्थ है। **विषं**=हालाहल विष; **प्रणीतं**=अपना कार्य करने में असमर्थता के कारण और उसके विपरीत, शुभ के बन्धनरूपी कार्य को करनेवाला होने से, कहा गया है। **तत्र**=वहाँ आत्म-स्वरूप में; **अप्रतिक्रमणमेव**=पूर्वोक्त प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमण - इन दोनों से रहित, तीसरा शुद्धात्मा में उपयोगरूप अप्रतिक्रमण ही; **सुधाकुटः**=अमृत का कुम्भ; **स्यात्**=अपना कार्य करनेवाला होने से हो।

तत्=उस कारण से; **जनः**=लोग; **प्रमाद्यति किं**=प्रमाद क्यों करता है? **अधोऽधः**= प्रतिक्रमण और इतर/अप्रतिक्रमण - इन दो निचली भूमिओं में; **प्रतपन**=गिरता हुआ। **निष्प्रमादः**=प्रमाद-रहित होता हुआ; **ऊर्ध्वमूर्ध्वं**=ऊपर-ऊपर= अप्रतिक्रमणरूप तीसरी भूमि पर; **किं**=क्यों; **नाधिरोहति**=नहीं चड़ता है? इस प्रकार स्वरूप से भिन्न के प्रतिक्रमण आदि द्वारा कुछ भी नहीं है - यह सूचित किया है।

अर्थात्, अज्ञानी-जनों की अप्रतिक्रमणरूप प्रवृत्ति की तो चर्चा ही दूर है; अतीन्द्रिय सुखरूप अपना कार्य करने में असमर्थ और इससे विरुद्ध शुभ-कर्म-बन्ध करनेवाला होने से जिस शुद्धात्म-स्वरूप में द्रव्यरूप प्रतिक्रमण आदि को ही हालाहल विष कहा गया है, उस

अतो हताः प्रमादिनो गताः सुखासीनतां प्रलीनं चापलमुन्मीलितमालम्बनम्।
आत्मन्येवालानितं च चित्त-मासम्पूर्ण-विज्ञान-घनोपलब्धेः ॥१०॥१८९॥

....

आत्म-स्वरूप में इस प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमण से रहित, शुद्धात्मा में उपयोग/स्थिरतारूप तीसरी दशामय अप्रतिक्रमण ही अपना कार्य करनेवाला होने से, अमृत का कुम्भ है।

तब फिर प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमणरूप निचली दशा में रहते हुए जीव, प्रमाद क्यों करते हैं? प्रमाद-रहित हो/स्वरूप-स्थिर रह, अप्रतिक्रमणरूप ऊपरी तीसरी दशा को प्राप्त क्यों नहीं करते हैं?

तात्पर्य यह है कि एकमात्र स्वरूप-स्थिरता से ही साध्य की सिद्धि है।।१८८।।

इस प्रस्तुत पद्य पर संस्कृत टीकाकार का कुछ भी उपलब्ध नहीं हुआ है—

सुख में मगन प्रमादि सब, इससे प्रताड़ित किए,
चंचलता नष्ट की, आलम्बन दूर किए।
परिपूर्ण विज्ञानघन प्राप्ति हेतु नियत,
बाँधा है मन को आत्मा में।।१८९।।

सामान्यार्थ : इस पूर्वोक्त कथन से सुख पूर्वक बैठे हुए/अनुकूल संयोगों में मग्न, प्रमादी जीव ताड़ित हुए; स्वच्छन्द प्रवृत्ति नष्ट हुई; आलम्बन समाप्त हो गए; सम्पूर्ण विज्ञान-घन उपलब्धि/आत्म-स्वरूप में परिपूर्ण स्थिरता-हेतु, अपने चित्त को आत्मा में ही बाँध दिया/स्थिर कर दिया है।।१८९।।

***टीकार्थ : अतः प्रमादिनः**=शुद्ध-स्वरूप की प्राप्ति से भ्रष्ट हैं जो जीव, वे **हताः**=मोक्ष-मार्ग के अधिकारी नहीं हैं; ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवों का धिक्कार किया है। कैसे हैं? **सुखासीनतां गताः**=कर्म के उदय से प्राप्त जो भोग-सामग्री, उसमें सुख की वांछा करते हैं। **चापलं**=रागादि अशुद्ध-परिणामों से होती है सर्व प्रदेशों में आकुलता **प्रलीनं**=वह भी हेय की। **आलम्बनं**=बुद्धि पूर्वक ज्ञान करते हुए जितना पढ़ना, विचारना, चिन्तवन करना, स्मरण करना इत्यादि है, वह **उन्मूलितं**=मोक्ष का कारण नहीं है, ऐसा जानकर हेय ठहराया है। **आत्मनि एव**=शुद्ध-स्वरूप में एकाग्र होकर **चित्तं आलानितं**=मन को बाँधा है। ऐसा कार्य जिस प्रकार हुआ, उस प्रकार कहते हैं - **आसम्पूर्णविज्ञान**=निरावरण केवल-ज्ञान उसका **घन**=समूह जो आत्म-द्रव्य, उसकी **उपलब्धेः**=प्रत्यक्ष प्राप्ति होने से।।१८९।।

** इस श्लोक पर टीकाकार की संस्कृत टीका अनुपलब्ध होने से, ग्रन्थपूर्ति-हेतु पाण्डे राजमलजी कृत टीका यहाँ दी गयी है।*

अथ प्रमादमापाद्यते—

पृथ्वी : **प्रमादकलितः कथं भवति शुद्धभावोऽलसः,**
कषाय-भर-गौरवा-दलसता प्रमादो यतः।
अतः स्वरसनिर्भरे नियमितः स्वभावे भवन्,
मुनिः परमशुद्धतां व्रजति मुच्यते चाचिरात्॥११॥१९०॥

टीका : ***प्रमादकलितः*** सार्धसप्तत्रिंशत्सहस्रभेदप्रमादयुक्तो मुनिः; ***अलसः*** आलस्यवान् सन्; ***शुद्धभावः*** शुद्धो भावः स्वभावो यस्य सः परमात्मा; ***कथं भवति ?*** न कथमपि। कुतः ? ***कषायभरगौरवात्*** कषायाणां क्रोधादीनां, भरः समूहः, तस्य गौरवः माहात्म्यं, तस्मात्, कषायेन्द्रियविकथादिपरावृत्तिजत्वात् प्रमादानाम्। यतः कारणात् ***अलसता*** आलस्यमेव प्रमादः, तयोरेकार्थत्वात्। ***अतः*** कारणात्; ***मुनिः*** परममननात् योगी; ***परमशुद्धतां*** अत्यन्तविशुद्धिं; ***व्रजति*** प्राप्नोति। ***च*** पुनः; ***अचिरात्*** शीघ्रं; ***मुच्यते*** संसारबन्धनात् मुक्तो भवति। किम्भूतः ? ***नियमितः*** नियन्त्रितः सन्; क्व ? ***स्वरसनिर्भरे*** स्वस्य आत्मनः,

---

अब, प्रमाद का प्रतिपादन करते हैं—

पृथ्वी : **आलसी प्रमादयुत कैसे हो शुद्धमय,**
सब कषाय अधिकता से अलस प्रमाद है।
अतः स्व रस से भरे स्वभाव से सुस्थिर,
हो परम शुद्धता शीघ्र मुक्ति उन्हें।।१९०।।

टीकार्थ : प्रमादकलितः=सैंतीस हजार पाँच सौ भेदवाले प्रमाद से युक्त मुनि; **अलसः**=आलस्यवान होते हुए; **शुद्धभावः**=शुद्ध भाव=स्वभाव है जिसका, वह परमात्मा; **कथं भवति ?**=कैसे हो सकता है? किसी भी रूप में नहीं हो सकता है। कैसे/क्यों नहीं हो सकता है? **कषायभरगौरवात्**=क्रोधादि कषायों का, भर=समूह, उसका गौरव=माहात्म्य, उससे, प्रमादों के कषाय, इन्द्रिय, विकथा आदि पराधीन वृत्ति से उत्पन्न होने के कारण। जिस कारण **अलसता**=आलस्य ही प्रमाद है; उन दोनों के एकार्थता होने के कारण। **अतः**=उस कारण; **मुनिः**=परम मनन के कारण, मुनि=योगी; **परमशुद्धतां**=अत्यन्त विशुद्धि को; **व्रजति**=प्राप्त होता है। **च**=और; **अचिरात्**=शीघ्र; **मुच्यते**=संसार-बन्धन से मुक्त होता है। कैसे मुक्त होता है? **नियमितः**=नियन्त्रित होते हुए; कहाँ? **स्वरसनिर्भरे**=अपने

रसः, तस्य निर्भरः अतिशयः तस्मिन् पुनः ***स्वभावे*** आत्मस्वरूपे; ***भवन्*** स्थितः सन् ॥११ ॥

अथ सर्वापराधं च्योतति—

शार्दूलविक्रीडित : **त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि तत्किल परद्रव्यं समग्रं स्वयं,**
स्वद्रव्ये रतिमेति यः स नियतं सर्वापराधच्युतः।
बन्धध्वंस-मुपेत्य नित्यमुदितः स्वज्योति-रच्छोच्छलत्,
चैतन्यामृत-पूरपूर्ण-महिमा शुद्धो भवन्मुच्यते ॥१२ ॥१९१ ॥

टीका : ***किल*** इत्यागमोक्तौ। ***यः*** योगी; ***स्वयं*** स्वरूपेण कृत्वा; ***स्वद्रव्ये*** स्वात्मद्रव्ये; ***रतिं*** रमणं; ***एति*** गच्छति। किं कृत्वा ? ***तत्*** प्रसिद्धं; ***समग्रं*** निखिलं; ***परद्रव्यं*** कर्मादिद्रव्यं; ***त्यक्त्वा*** हित्वा। किं भूतं ? ***अशुद्धिविधायि*** रागाद्यशुद्धिकारकम्। ***सः*** मुनिः; ***मुच्यते***

आत्मा का रस, उसका निर्भर=अतिशय, उसमें; और **स्वभावे**=आत्म-स्वरूप में; **भवन्**=स्थिर होते हुए।

अर्थात्, सैंतीस हजार पाँच सौ भेदवाले प्रमाद से युक्त मुनि, आलस्यवान होते हुए शुद्ध-स्वभावमय परमात्मा कैसे हो सकते हैं? क्योंकि कषाय, इन्द्रिय, विकथा आदि पराधीन वृत्ति से उत्पन्न होने के कारण, क्रोधादि कषायों के समूह की महिमा से आलस्यमय प्रमाद है; अतः अपने आत्मा के आनन्दरूपी रस की अधिकतामय आत्म-स्वरूप में नियमित/पूर्ण स्थिर होनेवाले परम मनन-शील मुनि, अत्यन्त विशुद्धि को प्राप्त होते हैं और शीघ्र ही संसार-बन्धन से मुक्त हो जाते हैं।।१९०।।

अब, सभी अपराधों को छुड़ाते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **स्वयं अशुद्धिकर सभी पर पदार्थों को हटा जो सदा,**
सब अपराध विमुक्त हो रत रहे निज द्रव्य में सर्वदा।
वह सब बन्ध विनाश व्यक्त नित निज ज्योति प्रगट स्वच्छता,
मय चैतन्य सुधा प्रवाह पूरण महिमा सुशुध छूटता।।१९१।।

टीकार्थ : किल=यह 'आगम में कहे अनुसार' अर्थ का वाचक अव्यय है। **यः**=जो योगी; **स्वयं**=अपने स्वरूप से; **स्वद्रव्ये**=अपने आत्म-द्रव्य में; **रतिं**=रमण को; **एति**=प्राप्त होता है। क्या करके ऐसा होता है? **तत्**=उन प्रसिद्ध; **समग्रं**=सम्पूर्ण; **परद्रव्यं**=कर्मादि द्रव्य को; **त्यक्त्वा**=छोड़कर। कैसे पर-द्रव्यों को छोड़कर; **अशुद्धिविधायि**=रागादि अशुद्धि को करनेवाले, उन्हें छोड़कर। **सः**=वह मुनि; **मुच्यते**=कर्म-बन्धन से छूट जाता है।

कर्मबन्धनात्। कीदृशः सन्? ***नियतं*** निश्चितं, ***सर्वापराधच्युतः*** पूर्वोक्तैः समस्तापराधैः, च्युतः रहितः सन्। किं कृत्वा? ***बन्धध्वंसमुपेत्य नित्यं उदितः स्वज्योतिरच्छोच्छलच्चैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा*** स्वस्य आत्मनः ज्योतिः प्रकाशः तेन अच्छं निर्मलं, उच्छलत् उदयं गच्छत् तच्च तच्चैतन्यं च तदेवामृतपूरः सुधासमूहः, तेन पूर्णः सम्पूर्णः, महिमा माहात्म्यं यस्य सः; **शुद्धः भवन्**॥१२॥

अथ मोक्षं महते—

मन्दाक्रान्ता : **बन्धच्छेदात्कलय-दतुलं मोक्ष-मक्षय्यमेतन्,**
नित्योद्योतस्फुटित-सहजावस्थमेकान्तशुद्धम्।
एकाकार-स्व-रस-भरतोऽत्यन्त-गम्भीर-धीरं,
पूर्णं ज्ञानं ज्वलितमचलं स्वस्य लीनं महिम्नि॥१३॥१९२॥

कैसा होता हुआ? **नियतं**=निश्चित; **सर्वापराधच्युतः**=पूर्वोक्त सभी अपराधों से, च्युत=रहित होता हुआ छूट जाता है। क्या करके छूट जाता है? **बन्धध्वंसमुपेत्य=**बन्ध को समाप्त कर, छूट जाता है। **नित्यं उदितः स्वज्योतिरच्छोच्छलच्चैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा**=सदा प्रगट अपने आत्मा की ज्योति=प्रकाश, उससे अच्छ=निर्मल, उदय को प्राप्त, वह और वह चैतन्य, और वही है अमृतपूर=सुधा का समूह, उससे पूर्ण=सम्पूर्ण, महिमा=माहात्म्य है जिसका, वह; **शुद्धः भवन्**=शुद्ध होता हुआ छूट जाता है।

अर्थात्, आगम में कहे अनुसार, वास्तव में उन प्रसिद्ध रागादि अशुद्धि को करनेवाले कर्मादि सभी पर-द्रव्यों को स्वयं ही छोड़कर, जो अपने आत्मा-द्रव्य में रमण करता है; नियम से पूर्वोक्त सभी अपराधों से रहित वह, बन्ध को समाप्त कर नित्य उदित, अपने आत्मा के प्रकाश से निर्मल, उछलते हुए चैतन्यरूपी सुधा-समूह से परिपूर्ण महिमामय शुद्ध होता, हुआ मुक्त हो जाता है।।१९१।।

अब, मोक्ष की महिमा बताते हैं—

मन्दाक्रान्ता : **एकाकार निज रस भरे हो सदा आत्म स्थिर,**
बन्ध नशे से अतुल अक्षय नित्य उद्योत प्रगटित।
सहजावस्था पूर्ण शुद्ध पूर्ण गम्भीर धीर,
पा मुक्ति निष्कम्प निज महिमा में ज्ञान सुस्थिर।।१९२।।

टीकार्थ : एतत् पूर्णज्ञानं=यह सम्पूर्ण ज्ञान; **ज्वलितं**=दीप्त है, प्रकाश को प्राप्त

टीका : ***एतत् पूर्णं*** सम्पूर्णं ज्ञानं; ***ज्वलितं*** दीपितं, प्रकाशं प्राप्तमित्यर्थः। कीदृशं ? ***स्वस्य*** आत्मनः; ***महिम्नि*** माहात्म्ये; ***लीनं*** एकतामापन्नम्। किम्भूते ? ***अचले*** निष्कम्पे; पुनः कीदृशं ? ***अत्यन्तगम्भीरधीरं*** अत्यन्तं गम्भीरं अतलस्पर्शं, तच्च तद्धीरं च। कुतः ? ***एकाकारस्वरसभरतः*** एकाकारेण, सर्वत्र ज्ञानाकारेण, स्वस्य आत्मनः, रसः, तस्य भरः अतिशयः, तस्मात्। पुनः ***बन्धच्छेदात् अतुलं अक्षय्यं मोक्षं*** कर्ममोचनमोक्षं; पुनः ***नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थं*** नित्योद्योतेन निरावरणज्ञानप्रकाशेन, स्फुटिता प्रकाशिता, सहजा स्वाभाविकी, अवस्था दशा, लक्षणया स्वरूपं यत्र तम्। पुनः ***एकान्तशुद्धं*** एकान्तेन एकधर्मेण कर्ममुक्तिलक्षणेन शुद्धं निर्मलं समस्तपदाधिक्यादत्यन्तविशुद्धम्। ***कलयत्***॥ १३॥

इति श्रीसमयसारपद्यस्य परमाध्यात्मतरङ्गिणीनामधेयस्य व्याख्यायामष्टमोऽङ्कः॥

है – ऐसा अर्थ है। वह कैसा है? **स्वस्य**=अपने आत्मा के; **महिम्नि**=माहात्म्य में; **लीनं**= एकत्व को प्राप्त है। कैसी महिमा में? **अचले**=निष्कम्प में; और कैसी? **अत्यन्तगम्भीरधीरं**= अत्यधिक गम्भीर=अतल स्पर्श है, वह और वह धीर-युक्त महिमा में लीन होता है। वहाँ कैसे लीन होता है? **एकाकारस्वरसभरतः**=एक आकार से=सर्वत्र ज्ञानाकार से, अपने आत्मा का रस, उसका भर=अतिशय, उससे लीन होता है। और **बन्धच्छेदात् अतुलं अक्षय्यं मोक्षं**=बन्ध का छेद हो जाने के कारण, अतुल, अक्षय, कर्मों से छूटनेरूप मोक्ष को; और **नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थं**=नित्य उद्योत से=आवरण से रहित, ज्ञान-प्रकाश द्वारा, स्फुटित=प्रकाशित, सहज=स्वाभाविक, अवस्था=दशा, इस लक्षण से स्वरूप जहाँ है, उसे। और **एकान्तशुद्धं**=एकान्त से=एक धर्म से=कर्म-मुक्तिलक्षण से शुद्ध=निर्मल, सभी पदों की अधिकता होने से अत्यन्त विशुद्ध को। **कलयत्**=प्रगट करता हुआ।

अर्थात्, सर्वत्र एक ज्ञानाकाररूप आत्म-रस की अधिकता/स्वरूप में परिपूर्ण स्थिर हो जाने के कारण, बन्ध का पूर्णतया अभाव हो जाने से अतुल, अक्षय, आवरणों से पूर्णतया रहित, नित्य उद्योतमय ज्ञानरूपी प्रकाश से प्रकाशित, स्वाभाविक-दशा-सम्पन्न, सभी गुणों की परिपूर्ण शुद्धता व्यक्त हो जाने से, सभी पदों की अधिकतामय अत्यन्त विशुद्ध, अत्यधिक गम्भीर, धीर, मोक्ष को प्राप्त करता हुआ, यह देदीप्यमान परिपूर्ण ज्ञान, अपने आत्मा की अचल निष्कम्प महिमा में स्थिर हुआ है।।१९२।।

इस प्रकार श्रीसमयसार पद्य की परम-अध्यात्म-तरङ्गिणी नामक व्याख्या में आठवाँ अंक समाप्त हुआ।।८।।

सर्वविशुद्धज्ञानाधिकारः

अथ नवमोऽङ्कः प्रारभ्यते।

टीकाकारस्य मङ्गलाचरणं :

आर्या : **सकलाशर्मविमुक्तं युक्तं सुज्ञानसम्पदासारम्।**
भजते मुक्तिं वचसाऽमृतचन्द्रोऽमृतमयो जन्तुः॥

अथ सर्वविशुद्धज्ञानं उदेति—

मन्दाक्रान्ता : **नीत्वा सम्यक् प्रलयमखिलान्कर्तृभोक्त्रादिभावान्,**
दूरीभूतः प्रतिपद-मयं बन्ध-मोक्ष-प्रक्लृप्तेः।
शुद्धः शुद्धः स्वरस-विसरापूर्ण-पुण्याचलार्चिः,
टङ्कोत्कीर्णप्रकटमहिमा स्फूर्जति ज्ञानपुञ्जः॥१॥१९३॥

टीका : *अयं ज्ञानपुञ्जः* बोधस्यानन्तसंख्यावच्छिन्नाविभागशुद्धः सन् प्रतिच्छेदसमूहः; ***प्रतिपदं*** एकेन्द्रियादिस्थानं प्रथमद्वितीयादिगुणस्थानं गुणस्थानं प्रति;

अब, नवमाँ अंक प्रारम्भ होता है।

टीकाकारकृत मङ्गलाचरण का अर्थ : अमृतमय अमृतचन्द्र नामक जन्म-धारी प्राणी, सभी दुःखों से रहित, सम्यग्ज्ञानरूपी सम्पदा-सम्पन्न, सर्व-श्रेष्ठ मोक्ष का वचन से सेवन करते हैं/वचनों से मोक्ष की स्तुति करते हैं।

अब, सर्वविशुद्धज्ञान उदित होता है—

मन्दाक्रान्ता : **कर्ता भोक्ता आदि सब ही भाव को कर विनष्ट,**
बन्धन मुक्ति विकल्पों से दूर हो शुद्ध शुद्ध।
निज रस पुंज पूर्ण पुण्य अचल तेजोमयी यह,
टंकोत्कीर्ण व्यक्त महिमा ज्ञान पुंज प्रकाशित।।१९३।।

टीकार्थ : अयं ज्ञानपुंजः=ज्ञान के अनन्त संख्या-सम्पन्न अविभागों से शुद्ध हुए प्रतिच्छेदों का समूहरूप यह ज्ञान-पुञ्ज; **प्रतिपदं**=एकेन्द्रिय आदि स्थान; प्रथम, द्वितीय

स्फूर्जति गर्जति द्योतत इत्यर्थः। किं कृत्वा? ***नीत्वा*** प्राप्य; कं? ***सम्यक्प्रलयं*** निश्शेष-विनाशम्। कान्? ***निखिलान्*** समस्तान्; ***कर्तृभोक्त्रादिभावान्*** कर्ता कर्मकारकः भोक्ता कर्मफलभोक्ता, कर्ता च भोक्ता च कर्तृभोक्तारौ तावेवादिर्येषामुत्पाद्योत्पादकादीनां ते तथोक्ताः, ते च ते भावाश्च परिणामाः तान्।

किं भूतः? ***दूरीभूतः***; कुतः? ***बन्धमोक्षप्रक्लृप्तेः*** कर्मबन्धमोचनयोः प्रक्लृप्तिः कल्पना तस्याः। पुनः ***शुद्धः शुद्धः*** निर्मलः; पुनः कीदृशः? ***स्वरसविसरापूर्णपुण्या-चलार्चिः*** स्वस्य आत्मनः, रसः अनुभवः, तस्य विसरं समूहः, स एवापूर्णः सम्पूर्णः पुण्याचलः प्रशस्ताचलः उदयाचलस्तत्रार्चि तेजः, यस्य सः। पुनः कीदृशं? ***टङ्कोत्कीर्ण-प्रकटमहिमा*** टङ्केन उत्कीर्णः प्रकटः, महिमा माहात्म्यं यस्य सः, स्वरसेत्यादिरेकपदं वा स्वरसविसरापूर्णपुण्याचलार्चिश्चासौ टङ्कोत्कीर्णप्रकटमहिमा च॥१॥

आदि प्रत्येक गुणस्थान के प्रति/प्रत्येक पर्याय में; **स्फूर्जति**=गरजता है; प्रकाशित होता है – ऐसा अर्थ है। क्या करके ऐसा होता है? **नीत्वा**=प्राप्त कर ऐसा है; किसे प्राप्त कर? **सम्यक्प्रलयं**=पूर्णतया विनाश को प्राप्त कर ऐसा है। किनके विनाश को प्राप्त कर ऐसा है? **निखिलान्**=सम्पूर्ण; **कर्तृभोक्त्रादिभावान्**=कर्ता=कर्म का कारक, भोक्ता=कर्म-फल का भोक्ता, कर्ता और भोक्ता – कर्ता-भोक्ता, वे दोनों हैं आदि जिनके; 'आदि' से उत्पाद्य, उत्पादक आदि का ग्रहण है, वे उस प्रकार कहे गए, वे और वे भाव=परिणाम, उन्हें विनष्ट कर ऐसा है।

कैसा होता हुआ? **दूरीभूतः**=दूर होता हुआ; किससे? **बन्धमोक्षप्रक्लृप्तेः**=कर्मों के बन्ध और मोक्ष की प्रक्लृप्ति=कल्पना, उससे दूर होता हुआ। और **शुद्धः शुद्धः**=निर्मल; और कैसा है? **स्वरसविसरापूर्णपुण्याचलार्चिः**=अपने आत्मा का, रस=अनुभव, उसका विसर=समूह, वही है आपूर्ण=संपूर्ण, पुण्य=प्रशस्त, अचल=उदयाचल, वहाँ अर्चि=तेज है जिसका, वह। वह और कैसा है? **टंकोत्कीर्णप्रकटमहिमा**=टाँकी से उत्कीर्ण-प्रगट है महिमा=माहात्म्य जिसका, वह; स्वरस इत्यादि एक पद है; अथवा (स्वरस आदि और टंकोत्कीर्ण आदि को विशेषण-विशेष्य मानकर, उनमें कर्मधारय समास भी हो सकता है, जो इस प्रकार है –) स्वरसविसर-आपूर्ण पुण्याचलार्चि और वह टंकोत्कीर्ण प्रगट महिमा।

अर्थात्, सभी प्रकार के कर्ता-कर्म आदि कारकों, भोक्ता, उत्पाद्य, उत्पादक आदि भावों को पूर्णतया विनष्ट कर, कर्मों के बन्ध और मोक्ष की कल्पना से दूर होता हुआ; सभी

अथात्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्वं कीर्तयति—

अनुष्टुप् : **कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य, चितो वेदयितृत्ववत्।**
अज्ञाना-देव कर्तायं, तदभावा-दकारकः ॥२ ॥१९४॥

टीका : ***अस्य चितः*** चिद्रूपस्य; ***कर्तृत्वं*** कर्मकारकत्वं; ***न स्वभावः*** न स्वरूपम्। किमिव ? ***वेदयितृत्ववत्*** यथा वेदयितृत्वं भोक्तृत्वं, आत्मनो न सम्भवति, तथा कर्तृत्वमपि। ***अयं*** आत्मा; ***कर्ता*** कर्मणां कारकः इति प्रतीतिर्दृश्यते तत्कथं ? आत्मा कारकः कर्मणां कर्ता भवेत्। कुतः ? ***तदभावात्*** तस्य ज्ञानस्य, अभावः विनाशस्तस्मात्। ***अज्ञानादेव*** अज्ञानतो मया कृतमिति मनुते तदभावादकर्तृत्वमेव ॥२ ॥

प्रकार से सम्पूर्ण शुद्ध, आत्मानुभवरूपी रस के समूह से परिपूर्ण, पवित्र, अचल, तेजवान, टाँकी से उत्कीर्ण/अविनाशी, प्रगट महिमा-सम्पन्न ज्ञान के परिपूर्ण विकसित अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदों का समूह, यह ज्ञान-पुञ्ज आत्मा; एकेन्द्रिय आदि या पहले, दूसरे गुणस्थान आदि प्रत्येक पर्याय में प्रकाशित होता है।।१९३।।

अब, आत्मा के कर्तृत्व-भोक्तृत्व का कीर्तन/वर्णन करते हैं—

अनुष्टुप् : **नहीं स्वभाव कर्तृत्व, इस चित का भोक्तृत्ववत्।**
अज्ञान से हि यह कर्ता, अकारक उससे रहित।।१९४।।

टीकार्थ : अस्य चितः=इस चिद्रूप का; **कर्तृत्वं**=कर्म को करनेरूप कर्तापना; **न स्वभावः**=स्वरूप नहीं है। किसके समान? **वेदयितृत्ववत्**=जैसे वेदयिता=भोक्तापना, आत्मा के सम्भव नहीं है; उसी प्रकार कर्तापना भी सम्भव नहीं है। **अयं**=यह आत्मा; **कर्ता**=कर्मों को करता है - ऐसी प्रतीति होती है, वह कैसे? करनेवाला आत्मा, कर्मों का कर्ता हो। वह उनका कर्ता कैसे हो? **तदभावात्**=उस ज्ञान का, अभाव=विनाश, उससे उनका कर्ता हो। **अज्ञानादेव**=अज्ञान के कारण 'मेरे द्वारा किया गया है' - ऐसा मानता है; उसका अभाव हो जाने पर, **अकारकः**=अकर्तापना ही है।

अर्थात्, जैसे अन्य को भोगना, इस चिद्रूप आत्मा का स्वभाव नहीं है; उसी प्रकार कर्म आदि अन्य को करना भी इसका स्वभाव नहीं है। एकमात्र अज्ञान के कारण ही ऐसा लगता है कि 'यह कार्य मैंने किया है' - इत्यादि। वस्तु-स्वरूप का ज्ञान होने पर, 'यह मैं अकारक/अकर्ता हूँ' - ऐसी ही प्रतीति होती है।।१९४।।

अथाकर्तृकत्वं चिन्तयति—

शिखरिणी : **अकर्ता जीवोऽयं स्थित इति विशुद्धः स्वरसतः,**
स्फुरच्चिज्ज्योतिर्भिश्छुरितभुवना-भोगभवनः।
तथाप्यस्यासौ स्याद्यदिह किल बन्धः प्रकृतिभिः,
स खल्वज्ञानस्य स्फुरति महिमा कोऽपि गहनः ॥३ ॥१९५ ॥

टीका : अमुना प्रकारेण स्वपरिणामैरुत्पद्यमानस्य जीवस्य तेन सह कारणभावाभावः सर्वद्रव्याणां द्रव्यान्तरेणोत्पाद्योत्पादकभावाभावात् ***इति*** प्रकारेण; ***अयं जीवः*** चिद्रूपः; ***अकर्ता*** कर्मणामकारकः सन्; ***स्थितः*** सुस्थः। किम्भूतः ? ***स्वरसतः*** स्वभावतः कर्मोपाधि-निरपेक्षतः; ***विशुद्धः*** निर्मलः; ***स्फुरच्चिज्ज्योतिर्भिः*** स्फुरन्ति प्रकाशमानानि तानि च तानि चिज्ज्योतींषि च ज्ञानतेजांसि च तैः। ***छुरितभुवनाभोगभवनः*** छुरितं प्रकाशितं, भुवनमेव विष्टपमेव, भोगभवनं परिपूर्णगृहं येन सः।

तथापि आत्मनः समस्तविज्ञानमयत्वेनाकर्तृकत्वे सत्यपि; ***किल*** इति निश्चितं;

अब, अकर्तृत्व/अकारकता का चिन्तन करते हैं—

शिखरिणी : **विशुद्ध स्व रस से व्यक्त चित् ज्योति से सभी,**
भुवन गृह नित जाने निश्चित अकर्ता जीव यह ही।
तथापि जो इसका बन्ध प्रकृति साथ निश्चित,
वह कुछ महिमा गहन है व्यक्त अज्ञान की ही सुनिश्चित।।१९५।।

टीकार्थ : इस प्रकार सभी द्रव्यों का, अन्य द्रव्यों के साथ उत्पाद्य-उत्पादक भाव का अभाव होने के कारण, अपने परिणामों से उत्पन्न होते हुए जीव का, उस अन्य के साथ कारण भाव का अभाव है, **इति**=इस प्रकार से; **अयं जीवः**=यह चिद्रूप जीव; **अकर्ता**=कर्मों का अकारक हुआ; **स्थितः**=स्थित है। कैसा होता हुआ वह ऐसा है? **स्वरसतः**=कर्मोपाधि से निरपेक्ष स्वभाव से; **विशुद्धः**=निर्मल होता हुआ; **स्फुरच्चिज्ज्योतिर्भिः**=प्रकाशमान, वे और वे चैतन्य ज्योतिं=ज्ञानरूपी तेज, उनके द्वारा; **छुरितभुवनाभोगभवनः**=छुरित= प्रकाशित, भुवन=सम्पूर्ण लोक ही, भोगभवन=परिपूर्ण गृह जिसके द्वारा, वह ऐसा है।

तथापि=परिपूर्ण विज्ञानमय होने के कारण, आत्मा के अकर्तापना होने पर भी; **किल**=यह 'निश्चित' अर्थ का वाचक अव्यय है; **इह**=इस जगत में ज्ञानावरणादि कर्मों से;

इह जगति, ज्ञानावरणादिकर्मभि:; ***स्यात्*** भवेत्; ***खलु*** इति निश्चितम्। ***यत्*** यस्माद्धेतो:; ***अस्य*** आत्मन:; ***असौ बन्धः*** संश्लेष:; ***प्रकृतिभिः सः कोऽपि*** अनिर्दिष्ट:; ***गहनः*** अज्ञातान्त: स्वरूप:। कस्य? ***अज्ञानस्य*** ज्ञानाभावस्य; ***महिमा*** माहात्म्यं; ***स्फुरति*** विजृम्भते, अतिशयालङ्कारोऽयम्॥३॥

अथ भूय: कर्तृत्वभोक्तृत्वमामनति—

अनुष्टुप् : **भोक्तृत्वं न स्वभावोऽस्य, स्मृतः कर्तृत्ववच्चितः।**
अज्ञाना-देव भोक्तायं, तदभावा-दवेदकः॥४॥१९६॥

टीका : ***अस्य चितः*** चिद्रूपस्य; ***भोक्तृत्वं*** कर्मफलभोक्तृत्वं; ***न स्वभावः*** न स्वरूपं; ***स्मृतः*** कथित:। ***अज्ञानादेव*** परात्मनोरेकत्वाध्यासकरणलक्षणादनवबोधादेव; ***अयं*** चेतयिता; ***भोक्ता*** कर्मफलानुभोजक:; ***तदभावात्*** प्रतिनियतस्वलक्षणनिर्ज्ञानात्;

स्यात्=हो; **खलु**=ऐसा निश्चित है। **यत्**=जिस कारण; **अस्य**=इस आत्मा का; **असौ बन्धः**=वह संश्लेषरूप बन्ध; **प्रकृतिभिः**=प्रकृतियों के साथ; **सः कोऽपि**=वह कोई अनिर्दिष्ट; **गहनः**=अज्ञात आन्तरिक स्वरूप है। यह किसका है? **अज्ञानस्य**=ज्ञान के अभाव का; **महिमा**=माहात्म्य; **स्फुरति**=विस्तृत हो रहा है - यह अतिशय अलंकार का प्रयोग है।

अर्थात्, यद्यपि प्रत्येक द्रव्य का, स्वयं से पृथक् अन्य द्रव्य के साथ कर्ता-कर्म का सम्बन्ध नहीं है; अत: अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ, प्रकाशमान चैतन्य तेज द्वारा सम्पूर्ण लोकरूपी परिपूर्ण भवन को प्रकाशित करता हुआ, कर्मोपाधि से पूर्णतया निरपेक्ष, आत्म-स्वभाव से विशुद्ध यह चिद्रूप जीव, कर्मों का अकारक ही सिद्ध है; तथापि इस चिद्रूप आत्मा का इस जगत में वास्तव में जो ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतियों के साथ बन्ध है, वह निश्चित ही अज्ञान की ही कोई अति गम्भीर महिमा स्फुरित हो रही है।।१९५।।

अब, कर्तृत्व और भोक्तृत्व पर पुन: विचार करते हैं—

अनुष्टुप् : **नहीं स्वभाव भोक्तृत्व, इस चित् का कर्तृत्ववत्।**
अज्ञान से हि यह भोक्ता, अभोक्ता उससे रहित।।१९६।।

टीकार्थ : अस्य चितः=इस चिद्रूप का; **भोक्तृत्वं**=कर्म के फल का भोक्तापन; **न स्वभावः**=स्वरूप नहीं है; **स्मृतः**=ऐसा कहा है। **अज्ञानादेव**=पर और आत्मा के एकत्वमय अध्यास/मानना आदि करना लक्षणरूप अज्ञान से ही; **अयं**=यह चेतन आत्मा; **भोक्ता**=कर्मों के फल को भोगनेवाला है; **तदभावात्**=प्रति नियत अपने लक्षण का यथार्थ ज्ञान होने से;

अवेदकः कर्मफलानभोजकः ॥४॥

अथ ज्ञान्यज्ञानीस्वरूपं सूत्रयति—

शार्दूलविक्रीडित : **अज्ञानी प्रकृतिस्वभावनिरतो नित्यं भवेद्वेदको,**
ज्ञानी तु प्रकृतिस्वभावविरतो नो जातुचिद्वेदकः।
इत्येवं नियमं निरूप्य निपुणैरज्ञानिता त्यज्यतां,
शुद्धैकात्ममये महस्यचलितैरासेव्यतां ज्ञानिता॥५॥१९७॥

टीका : ***अज्ञानी*** पुमान्; ***प्रकृतिस्वभावनिरतः*** प्रकृतेः कर्मणः, स्वभावः स्वरूपं, तत्र निरतः निःशेषं रक्तः सन् शुद्धात्मज्ञानाभावात् स्वपरयोरेकत्वज्ञानेन तयोरेकत्वदर्शनेन तयोरेकत्वपरिणत्या च प्रकृतिस्वभावे स्थितत्वात् प्रकृतिस्वभावमपि अहन्तयानुभवन्; ***नित्यं वेदकः*** कर्मफलभोक्ता ***भवेत्। तु*** पुनः; ***ज्ञानी*** पुमान्; ***प्रकृतिस्वभावविरतः*** प्रकृतेः

अवेदकः=कर्मों के फल का अभोक्ता है।

अर्थात्, जैसे अन्य का कार्य करना इस चिद्रूप आत्मा का स्वभाव नहीं है; उसी प्रकार कर्म के फल को भोगना इसका स्वभाव नहीं है। पर और आत्मा को एक माननेरूप अज्ञान से ही ऐसा लगता है कि 'मैंने इन्हें भोगा है।' प्रति नियत अपने लक्षण का यथार्थ ज्ञान होने पर, 'मैं कर्मों के फल का अभोक्ता ही हूँ' - ऐसी प्रतीति होती है। - यह कहा गया है।।१९६।।

अब, ज्ञानी और अज्ञानी का स्वरूप संक्षेप में कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **प्रकृति के स्व भाव में मगन रह अज्ञानि वेदक सदा,**
प्रकृति के स्व भाव से विरत हो ज्ञानी अवेदक सदा।
शुद्धैकात्ममयी प्रकाश में नित अचलित निपुण छोड़ दें,
अज्ञानित्व नियम सुजान नित ही ज्ञानित्व सेवन करें।।१९७।।

टीकार्थ : अज्ञानी=अज्ञानी जीव; **प्रकृतिस्वभावनिरतः**=प्रकृति=कर्म का, स्वभाव=स्वरूप, वहाँ निरत=पूर्णरूप से रक्त होता हुआ; शुद्धात्मा के ज्ञान का अभाव होने से, स्व और पर में एकत्व के ज्ञान द्वारा, उन दोनों में एकत्व के दर्शन द्वारा और उन दोनों में एकत्व की परिणति द्वारा, प्रकृति के स्वभाव में स्थित होने के कारण, प्रकृति के स्वभाव का भी 'अहं/यह मैं आत्मा' इस रूप से अनुभव करता हुआ; **नित्यं वेदकः**=सदा कर्म के फल का भोक्ता; **भवेत्**=हो। **तु**=और; **ज्ञानी**=ज्ञानी जीव; **प्रकृतिस्वभावविरतः**=प्रकृति

स्वभावात् विरत: विरक्त: सन् शुद्धात्मज्ञानसद्भावात्स्वपरयोर्विभागज्ञानेन तयोर्विभागदर्शनेन तयोर्विभागपरिणत्या च प्रकृतिस्वभावादपसृतत्वात् शुद्धात्मस्वभावमेकमेवाहन्तयानुभवन्; ***जातुचित्*** कदाचिदपि; ***न वेदक:*** उदितकर्मफलभोक्ता न।

निपुणै: भेदज्ञै: पुरुषै:; ***अज्ञानिता*** अज्ञानस्वभावा:; ***त्यज्यतां*** मुच्यताम्। किं कृत्वा? ***इति*** अमुना प्रकारेण; ***एवं*** पूर्वोक्तं ज्ञान्यज्ञानिनोर्बन्धाबन्धलक्षणं; ***नियमं निरूप्य*** ज्ञात्वा; पुन: ***आसेव्यतां*** ध्यायताम्। का? ***ज्ञानिता*** ज्ञानित्वं; कै:? ***अचलितै:*** अचलत्वं प्राप्तै:; क्व? ***महसि*** तेजसि; किम्भूते? ***शुद्धैकात्ममये*** शुद्ध: निष्कलङ्क: स चासौ एकात्मा च तेन निर्वृत्तस्तस्मिन्॥ ५॥

के स्वभाव से विरत=विरक्त होता हुआ; शुद्धात्मा के ज्ञान का सद्भाव होने से, स्व और पर में विभाग के ज्ञान द्वारा, उनमें विभाग के दर्शन द्वारा और उनमें विभाग की परिणति द्वारा, प्रकृति के स्वभाव से पूर्णतया पृथक् हो जाने के कारण, एक शुद्धात्म-स्वभाव का ही अहं/अपनत्वरूप से अनुभव करता हुआ; **जातुचित्**=कभी भी **न वेदक:**=उदय में आए कर्म-फल का भोक्ता नहीं होता है।

निपुणै:=भेद-ज्ञानी जीवों को; **अज्ञानिता**=अज्ञान-स्वभाव; **त्यज्यतां**=छोड़ देना चाहिए। क्या करके छोड़ें? **इति**=इस प्रकार से; **एवं**=पहले कहे गए ज्ञानी और अज्ञानी के क्रमश: बन्ध और अबन्ध सम्बन्धी लक्षण के; **नियमं निरूप्य**=नियम को जानकर; और **आसेव्यतां**=ध्याकर छोड़ें। किसे ध्याकर? **ज्ञानिता**=ज्ञानीपने का ध्यान कर छोड़ें। किनके द्वारा छोड़ा जाना चाहिए? **अचलितै:**=अचलता की प्राप्ति के द्वारा छोड़ा जाना चाहिए। कहाँ अचलता को प्राप्त? **महसि**=तेज में; कैसे तेज में? **शुद्धैकात्ममये**=शुद्ध=निष्कलंक, वह और वह एक आत्मा, उससे निर्वृत्त/रचित, उसमें अचलता को प्राप्त कर छोड़ दें।

अर्थात्, शुद्धात्मा का ज्ञान नहीं होने से, स्व और पर को एक/अभिन्न जानकर-मानकर, उसमें ही परिणति द्वारा प्रकृति के स्वभाव का अपनत्वरूप से अनुभव करता हुआ, प्रकृति के स्वभाव में आसक्त अज्ञानी-जीव, कर्मों के फल का सदा भोक्ता है और शुद्धात्मा का ज्ञान होने से, स्व और पर को पृथक्-पृथक् जानकर-मानकर, भेद-विज्ञानरूप परिणति द्वारा प्रकृति के स्वभाव से पूर्णतया पृथक् हो, एकमात्र निज शुद्धात्म-स्वभाव को ही अपनत्व रूप से अनुभव करता हुआ, प्रकृति के स्वभाव से विरक्त ज्ञानी-जीव, उदय में आए हुए कर्मों का कभी भी भोक्ता नहीं होता है।

अथ ज्ञानिनो ज्ञातृत्वमध्यापयति—

वसन्ततिलका : **ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म,**
जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावम्।
जानन्परं करण-वेदनयो-रभावा-
च्छुद्धस्वभाव-नियतः स हि मुक्त एव॥६॥१९८॥

टीका : *ज्ञानी* पुमान्; ***कर्म*** शुभाशुभं कर्म; ***न करोति*** न विधत्ते; ***न वेदयते*** कर्मफलं न भुञ्जति; ***किल*** इति निश्चितम्। ***अयं*** ज्ञानी; ***केवलं*** कर्तृत्वभोक्तृत्व-राहित्येन परं; ***तत्स्वभावं*** तस्य कर्मणः स्वभावं स्वरूपं मधुरकटुकादि; ***जानाति*** तत्स्वभावपरिच्छेदको भवति। ***हि*** पुनः; ***सः*** आत्मा; ***मुक्त एव*** कर्मफलरहित एव ***परं*** केवलं; ***जानन्*** विश्वं परिच्छिन्दन् सन्; ***शुद्धस्वभावनियतः*** शुद्धश्चासौ स्वभावः स्वरूपं च, तत्र नियतः निश्चलत्वमापन्नः। कुतः ? ***करणवेदनयोः*** करणं कर्मकर्तृत्वं च,

---

निष्कलंक एक आत्मा से रचित तेज/ज्ञान-स्वभाव में अचलता को प्राप्त भेद-ज्ञानी जीवों को, अज्ञान से बन्ध और ज्ञान से अबन्ध - पूर्वोक्त इस नियम को जानकर, ज्ञानीपने का ध्यान करना चाहिए और अज्ञान-स्वभाव का त्याग करना चाहिए।।१९७।।

अब, ज्ञानी का ज्ञातृत्व स्पष्ट करते हैं—

वसन्ततिलका : **ज्ञानी करे न भोगे नहिं कर्म को यह,**
उनके स्वभाव को केवल जानता वह।
करना व वेदन नहीं यों ज्ञानमात्र,
नित मुक्त ही परम शुद्ध स्वभाव स्थिर।।१९८।।

टीकार्थ : ज्ञानी=ज्ञानी जीव; **कर्म**=शुभ और अशुभ कर्म को; **न करोति**=नहीं करता है; **न वेदयते**=कर्म-फल को भोगता नहीं है; **किल**=ऐसा निश्चित है। **अयं**=यह ज्ञानी; **केवलं**=कर्तृत्व और भोक्तृत्व से रहित होने के कारण, मात्र; **तत्स्वभावं**=उस कर्म के मधुर, कटुक आदि स्वभाव=स्वरूप को; **जानाति**=उनके स्वभाव का भली-भाँति जानकार होता है। **हि**=और; **सः**=वह आत्मा; **मुक्त एव**=कर्म-फल से रहित ही; **परं**=मात्र; **जानन्**=विश्व को भली-भाँति जानता हुआ; **शुद्धस्वभावनियतः**=शुद्ध और वह स्वभाव=स्वरूप, वहाँ नियत=निश्चलता को प्राप्त। नियत कैसे/क्यों है? **करणवेदनयोः**=

वेदनं कर्मफलभोक्तृत्वं च तयोः ***अभावात्*** कर्तृत्वभोक्तृत्वस्वभावराहित्यात् ॥६ ॥

अथात्मनः कर्तृत्वं दूषयति—

अनुष्टुप् : **ये तु कर्तार-मात्मानं, पश्यन्ति तमसावृताः ।**
सामान्य-जन-वत्तेषां, न मोक्षोऽपि मुमुक्षताम् ॥७ ॥१९९ ॥

टीका : ***ये तु*** जिनसिद्धान्ताभासाः; ***तमसावृताः*** अज्ञानव्याप्ताः, विचारराहित्यात्; ***आत्मानं; कर्तारं*** कर्मकारकं; ***पश्यन्ति*** ईक्षन्ते; तेषां जैनाभासानां; ***मुमुक्षतामपि*** मोक्षमिच्छतामपि; ***न मोक्षः*** कर्ममोचनलक्षणो मोक्षो न स्यात् आत्मनः कर्तृत्वाभ्युपगमात् तदभ्युपगमे च सदैव बद्धत्वप्रसङ्गः । क इव ? ***सामान्यजनवत्*** सामान्यजनानां वैशेषिकादीनां

करण=कर्मों का कर्तृत्व और वेदन=कर्मों के फल का भोक्तृत्व, उन दोनों का; **अभावात्**= अभाव होने से, कर्तृत्व-भोक्तृत्व स्वभाव से रहितता होने के कारण।

अर्थात्, ज्ञानी-जीव, शुभ और अशुभ कर्म को करता भी नहीं है तथा उनके फल को भोगता भी नहीं है; कर्तृत्व और भोक्तृत्व से रहित होने के कारण, यह ज्ञानी उन कर्मों के मधुर, कटुक आदि स्वभाव को भली-भाँति मात्र जानता ही है - यह सुनिश्चित है। विश्व को भली-भाँति मात्र जानता हुआ, कर्मों के कर्तृत्व और भोक्तृत्व स्वभाव से रहित होने के कारण, अपने शुद्ध-स्वभाव में निश्चित यह ज्ञानी आत्मा, वास्तव में कर्म-फल से रहित, मुक्त ही है।।१९८।।

अब, आत्मा के कर्तृत्व को दूषित करते हैं—

अनुष्टुप् : **अज्ञान से आवृत जो, कर्ता देखे आत्म को।**
सामान्यजन सम मुक्ति, चाहे पर न मोक्ष हो।।१९९।।

टीकार्थ : ये तु=जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त के आभास-युक्त/ सिद्धान्त को नहीं जाननेवाले जो; **तमसावृताः**=विचार-रहित होने के कारण, अज्ञान से व्याप्त; **आत्मानं कर्तारं**=आत्मा को कर्म करनेवाला; **पश्यन्ति**=देखते हैं; **तेषां**=उन जैनाभासों के; **मुमुक्षतामपि**=मोक्ष की इच्छा होने पर भी; **न मोक्षः**=कर्मों से मोचन/ छूटना लक्षण मोक्ष नहीं है, आत्मा का कर्तृत्व स्वीकार होने के कारण और उसरूप स्वीकृति में सदा ही बद्धपने का प्रसङ्ग आता है। किसके समान बन्धन का प्रसङ्ग आता है? **सामान्यजनवत्**=सामान्य-जनों के समान।

जैसे, वैशेषिक आदि कहते हैं कि 'शिव, तीनों लोकों का कर्ता है।' इसका

यथा ''कर्ता शिवस्त्रिजगतां'' तथा च प्रयोगः—सर्वं उर्वीपर्वततरुतन्वादिकं धीमद्धेतुकं कार्यत्वात् अचेतनोपादानत्वात् सन्निवेशविशिष्टत्वात् वा वस्त्रादिवदिति। यस्तु धीमान् स ईश्वरः। तस्य विचार्यमाणस्य मुक्तत्वायोगात् स हि अशरीरः सशरीरो वा करोति? न तावदाद्यः अशरीरस्य कर्तृत्वव्याघातात् मुक्तात्मवत्। सशरीरमात्रकर्तृत्वे उपक्षीणशक्तिकत्वात् तदकारणे साधनस्य व्यभिचारात्, सकर्मकत्वे संसारिजनवदकर्तृकत्वाच्च तद्वद-मुक्तत्वम्॥ ७॥

अथ तथैव कर्तृत्वं व्याहन्ति—

अनुमान-प्रयोग इस प्रकार है - सभी पृथ्वी, पर्वत, वृक्ष, शरीर आदि बुद्धिमान-हेतुक के द्वारा किए गए हैं; कार्यपना होने से, उपादान के अचेतनपना होने से या आकार-प्रकार की विशिष्ट विविधता होने से, वस्त्र आदि के समान। जो बुद्धिमान है, वह ईश्वर है।

(अब, इसकी मीमांसा करते हैं -) विचार के विषयभूत उस ईश्वर की मुक्ति नहीं होने के कारण, शरीर के विना वह करता है या शरीर-सहित वह करता है। पहला पक्ष तो सम्भव नहीं है; क्योंकि मुक्तात्मा के समान, शरीर के विना, कर्तृत्व का अभाव है। शरीर-सहित का कर्तृत्व स्वीकार करने पर, शरीर बनाने में ही शक्ति क्षीण हो जाने के कारण, अन्य का कारण नहीं हो पाने पर, साधन/कारण दूषित हो जाने से और कर्म-सहितपने में संसारी-जन के समान कर्तापना नहीं बन पाने से उसके, इनके समान अमुक्तत्व ही सिद्ध होता है।

अर्थात्, प्रत्येक वस्तु अनन्त-अनन्त वैभव-सम्पन्न होने के कारण, उसे अपना कार्य करने के लिए अन्य की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है। अन्य को भी इसके सहयोग की रंचमात्र आवश्यकता नहीं है। पर से पूर्ण निरपेक्ष रहकर, सभी पूर्ण व्यवस्थित पद्धति से प्रति समय अपना-अपना कार्य कर रही हैं। जिनेन्द्र भगवान ने भी विश्व की और वस्तु की इसी स्वतन्त्र कार्य-व्यवस्था का प्रतिपादन किया है।

इस स्वाधीन परिणमन-व्यवस्था को स्वीकार नहीं कर, विचार-रहित हो, अज्ञानरूपी अन्धकार से आवृत जो आत्मा को कर्मादि अन्य का कर्ता मानते हैं, वे मोक्ष के इच्छुक होने पर भी, उन्हें मोक्ष नहीं होता है; क्योंकि कर्तृत्व-बुद्धि से कर्मों का बन्ध ही होता है; अतः उन्हें कर्मों से छूटनेरूप मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है। मोक्ष नहीं चाहनेवाले सामान्य-जनों के समान इन मोक्ष की इच्छा करनेवालों को भी बन्ध ही होता है।।१९९।।

अब, उसी कर्तृत्व का निषेध करते हैं—

अनुष्टुप् : **नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः, परद्रव्यात्मतत्त्वयोः।**
कर्तृकर्मत्व-सम्बन्धाभावे तत्कर्तृता कुतः ॥८॥२००॥

टीका : *परद्रव्यात्मतत्त्वयोः* पुद्गलद्रव्यजीवद्रव्ययोः; ***सर्वोऽपि*** तादात्म्यादि-लक्षणः; ***सम्बन्धः नास्ति। कर्तृकर्मत्वसम्बन्धाभावे*** तयोर्मध्ये आत्मनः कर्तृत्वं, कर्मणां कर्मत्वं, एतल्लक्षणसम्बन्धाभावे सति; ***तत्कर्तृता*** तेषां कर्मणामात्मनः कर्तृत्वं; कुतः ? न कुतोऽपि स्यात् ॥ ७ ॥

अथ परद्रव्यात्मतत्त्वयोः सम्बन्धं निवारयति—

वसन्ततिलका : **एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण सार्धं,**
सम्बन्ध एव सकलोऽपि यतो निषिद्धः।

अनुष्टुप् : **आत्मा और पर-वस्तु, में कोई सम्बन्ध नहीं।**
कर्ता-कर्म सम्बन्ध, विना वह कर्तृता नहीं।।२००।।

टीकार्थ : परद्रव्यात्मतत्त्वयोः=पुद्गल-द्रव्य और जीव-द्रव्य में; **सर्वोऽपि**= तादात्म्य आदि लक्षण कोई; **सम्बन्धः नास्ति**=सम्बन्ध नहीं है। **कर्तृकर्मत्वसम्बन्धा-भावे**=उन दोनों के बीच में आत्मा का कर्तापना और कर्मों का कर्मपना - इस लक्षणमय सम्बन्ध का अभाव होने पर; **तत्कर्तृता**=आत्मा के उन कर्मों का कर्तापना; **कुत**ः=कैसे हो? किसी भी प्रकार से नहीं है।

अर्थात्, प्रत्येक वस्तु पूर्ण स्वतन्त्र होने के कारण, वास्तव में किसी एक वस्तु का, अन्य वस्तु के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है; अतः जीव-द्रव्य और पुद्गल-द्रव्य में भी तादात्म्य आदि लक्षणवाला कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार आत्मा, कर्ता और पुद्गल-पर्यायें, आत्मा के कर्म - इस कर्ता-कर्म सम्बन्ध का अभाव होने से, आत्मा कर्मों का कर्ता नहीं है।।२००।।

अब, पर-द्रव्य और आत्म-तत्त्व में परस्पर सम्बन्ध का निवारण करते हैं—

वसन्ततिलका : **नित एक वस्तु का अन्य पदार्थ साथ,**
सम्बन्ध मात्र सब ही जग में निषिद्ध।
यों भिन्न वस्तु में सम्भव नहीं कर्ता,
कर्म अतः मुनि जन वेदें अकर्ता।।२०१।।

तत्कर्तृकर्मघटनास्ति न वस्तुभेदे,
पश्यन्त्वकर्तृ मुनयश्च जनाः स्वतत्त्वम् ॥९ ॥२०१ ॥

टीका : ***इह*** जगति; ***यतः*** कारणात्; ***एकस्य वस्तुनः*** चेतनस्य, अचेतनस्य वा; ***अन्यतरेण सार्धं*** सह; ***सकलोऽपि*** समस्तोऽपि; ***सम्बन्धः*** तादात्म्यलक्षणः, गुणगुणि-भावलक्षणः, लक्ष्यलक्षणभावः, वाच्यवाचकभावलक्षणः, विशेष्यविशेषणभावलक्षणः इत्यादिः सम्बन्धो भिन्नवस्तुनोः; ***निषिद्ध एव*** प्रतिषिद्ध एव। ***तत्*** तस्मात्कारणात्; ***वस्तुभेदे*** वस्तुनोः जीवपुद्गलयोः भेदे पृथक्त्वे सति; ***कर्तृकर्मघटना*** कर्तृकर्मणोः जीवपुद्गलयोः, कर्तृत्वं कर्मत्वमिति घटना सम्भावना; ***नास्ति। च*** पुनः ***मुनयो जनाः*** मुनीश्वरलक्षणा लोकाः; ***अकर्तृ*** कर्तृत्वव्यपदेशरहितं; ***स्वतत्त्वं*** स्वात्मस्वरूपं; ***पश्यन्तु*** अवलोकयन्तु ॥९ ॥

अथाज्ञानिस्वभावं नेनेक्ति—

टीकार्थ : इह=यहाँ इस जगत में; **यतः**=जिस कारण; **एकस्य वस्तुनः**=एक चेतन या अचेतन वस्तु का; **अन्यतरेण सार्धं**=किसी अन्य के साथ; **सकलोऽपि**=सभी प्रकार का; **सम्बन्धः**=तादात्म्य लक्षण, गुण-गुणी भाव लक्षण, लक्ष्य-लक्षण भावरूप; वाच्य-वाचक भाव लक्षण; विशेष्य-विशेषण भाव लक्षण इत्यादि सम्बन्ध, भिन्न/पृथक् वस्तु के साथ; **निषिद्ध एव**=प्रतिषिद्ध ही है। **तत्**=उस कारण; **वस्तुभेदे**=जीव-पुद्गल, वस्तु के भेद=पृथक्ता होने पर; **कर्तृकर्मघटना**=जीव-पुद्गल में कर्तापने और कर्मपने की घटना=सम्भावना; **नास्ति**=नहीं है। **च**=और/तब; **मुनयः जनाः**=मुनीश्वर लक्षण लोक/मुनि आदि सभी जीव; **अकर्तृ**=कर्तापने के नाम से रहित; **स्वतत्त्वं**=अपने आत्म-स्वरूप को; **पश्यन्तु**=देखें=अवलोकन/अनुभव करें।

अर्थात्, वास्तव में इस जगत में, चेतन-अचेतन आदि किसी भी वस्तु का, किसी अन्य वस्तु के साथ तादात्म्यात्मक, गुण-गुणी भावमय, लक्ष्य-लक्षण भावरूप, वाच्य-वाचक भावात्मक, विशेष्य-विशेषण भावमय इत्यादि किसी भी प्रकार के सम्बन्ध का पूर्णतया निषेध है; इस कारण जीव, पुद्गल आदि पृथक्-पृथक् वस्तुओं में कर्ता-कर्म भावरूप सम्बन्ध की सम्भावना ही नहीं है। वस्तु का ऐसा स्वरूप जानकर, मुनि आदि सभी जीव, अन्य के कर्तापने से पूर्णतया रहित अपने आत्म-स्वभाव का अनुभव करें।।२०१।।

अब, अज्ञानी के स्वभाव को व्यक्त करते हैं—

वसन्ततिलका : **ये तु स्वभावनियमं कलयन्ति नेम-**
मज्ञानमग्नमहसो बत ते वराकाः।
कुर्वन्ति कर्म तत एव हि भावकर्म-
कर्ता स्वयं भवति चेतन एव नान्या ॥१० ॥२०२ ॥

टीका : ***तु*** पुनः; ***ये*** सांख्यादयो वादिनः; ***इमं*** प्रसिद्धं; ***स्वभावनियमं*** स्वभावः चेतनत्वं अचेतनत्वं तस्य नियमं; ***न कलयन्ति*** न मन्यन्ते सांख्यादीनां प्रकृत्यादि-तत्त्वानामेकत्वघटनात्। कीदृशास्ते? ***अज्ञानमग्नमहसो*** अज्ञाने मग्नं अज्ञानाच्छादितं, महः ज्ञानज्योतिः येषां ते। ***बत*** इति खेदयन्ति; ***ते*** वादिनः; ***वराकाः*** स्वतत्त्वव्याघातात् स्वस्वरूपं स्थापयितुमसमर्थाः सन्तः; ***कुर्वन्ति*** केवलं कर्मज्ञानावरणादिप्रकृतिं उपार्जयन्ति। ***हि*** इति स्फुटं; ***तत एव*** अज्ञानादेव भावकर्म करोति न द्रव्यकर्म करोति यतः तत एव; ***स्वयं*** अज्ञानादिः; ***भावकर्मकर्ता*** भावकर्मणां रागद्वेषादीनां कर्ता कारकः भवति। ***अन्यः*** अज्ञानादि-

---

वसन्ततिलका : **स्व भावमय नियम यह जो नहीं मानें,**
अज्ञान मग्न तेजोमय वे विचारे।
करते करम यों स्वयं बनता है कर्ता,
इन भाव कर्म का चेतन अन्य है ना।।२०२।।

टीकार्थ : तु=और; **ये**=सांख्य-वादी आदि जो; **इमं**=यह प्रसिद्ध; **स्वभावनियमं**= चेतनता, अचेतनतारूप स्वभाव, उसके नियम को; **न कलयन्ति**=सांख्य आदि द्वारा मान्य प्रकृति आदि तत्त्वों के मात्र एक पक्ष घटित होने से, नहीं मानते हैं। वे कैसे हैं? **अज्ञानमग्नमहसः**=अज्ञान में मग्न=अज्ञान से आच्छादित है, महस्=ज्ञान ज्योति जिनकी, वे। **वत**=इस प्रकार खेद व्यक्त करते हैं; **ते**=वे वादी; **वराकाः**=अपने तत्त्व को बाधित करने के कारण, अपने स्वरूप को स्थापित करने के लिए असमर्थ होते हुए **कुर्वन्ति**=मात्र ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृति का ही उपार्जन करते हैं। **हि**=यह स्पष्ट अर्थ का वाचक अव्यय है। **तत एव**=उस अज्ञान से ही, भाव-कर्म को करता है; द्रव्य-कर्म (भाव-कर्म) को नहीं करता है जिस कारण उससे ही; **स्वयं**=स्वतः अज्ञान आदि; **भावकर्मकर्ता**=राग, द्वेष आदि भाव-कर्मों का कर्ता कारक/उन्हें करनेवाला होता है। **अन्यः**=अज्ञान आदि स्वभाव से भिन्न; **चेतन एव**=अपने स्वरूप को चेतता है - ऐसा चेतन ही भाव-कर्म का कर्ता; **न**

स्वभावाद्भिन्नः; ***चेतन एव*** चेतयति स्वस्वरूपमिति चेतन एव भावकर्मकर्ता; ***न भवति***॥ १०॥

अर्थ कर्मणः कार्यत्वं कीर्तयति—

शार्दूलविक्रीडित : **कार्यत्वादकृतं न कर्म न च तज्जीवप्रकृत्योर्द्वयो-**
रज्ञायाः प्रकृतेः स्वकार्यफलभुग्भावानुषङ्गाकृतिः।
नैकस्याः प्रकृतेरचित्त्वलसनाज्जीवोऽस्य कर्ता ततो,
जीवस्यैव च कर्म तच्चिदनुगं ज्ञाता न यत्पुद्गलः॥११॥२०३॥

टीका : ***कर्म*** भावकर्म पक्षः; ***अकृतं न*** भवितुमर्हति इति साध्यो धर्मः; ***कार्यत्वात्*** हेतुः तत्रान्वयव्याप्तिः यद् यत्कार्यं तत्तदकृतं न भवति, यथा घटादिः, कार्यं च भावकर्म

भवति=नहीं होता है।

अर्थात्, प्रकृति आदि तत्त्वों के मात्र एक पक्ष को ही स्वीकार करनेवाले जो सांख्य आदि मतवादी; चेतनता, अचेतनता आदि इस प्रसिद्ध स्वाभाविक नियम को स्वीकार नहीं करते हैं; खेद है कि अपने तत्त्व को बाधित करने के कारण, अपने स्वरूप को स्थापित करने में असमर्थ वे बेचारे, मात्र ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतियों का ही बन्ध करते हैं। इससे यह निश्चित हुआ कि अज्ञान के कारण, स्वयं अज्ञान ही राग, द्वेष आदि भाव-कर्मों को करता है। अज्ञानादि स्वभाव से भिन्न, अपने स्वरूप को चेतनेवाला चेतन, उन भाव-कर्मों का कर्ता नहीं है।।२०२।।

अब, कर्म के कार्यपने का वर्णन करते हैं —

शार्दूलविक्रीडित : **कार्यपना होने से कर्म अकृत हैं न प्रकृति जीव द्वय,**
कृत क्योंकि चित् विन करम न करे वेदन कभी कर्मफल।
चित् विन प्रकृति एक ही करे नहिं यों जीव कर्ता उन्हें,
वे चित् अनुगामी अबोध पुद्गल करता कभी नहिं उन्हें।।२०३।।

टीकार्थ : कर्म=भाव-कर्मरूपी पक्ष; **अकृतं न**=विना किए होने के योग्य नहीं हैं - यह साध्यरूप धर्म; **कार्यत्वात्**=कार्यपना होने से - यह हेतु; जो-जो कार्य है, वह-वह अकृत/विना किया नहीं है; जैसे, घट आदि, क्योंकि भाव-कर्म कार्य है; अत: वह अकृत नहीं है - यह अन्वय व्याप्ति; जो अकृत है, वह कार्य नहीं है; जैसे, आकाश आदि - यह

तस्मादकृतं न; व्यतिरेकव्याप्तिश्च यदकृतं तन्न कार्यं यथा व्योमादिः, न च तथेदं, तस्मान्न तथेति।

कस्य कार्यमिति प्रश्ने ***तच्च कर्म जीवप्रकृत्योः*** जीवश्च प्रकृतिश्च तयोः; ***द्वयोः;*** कार्यं ***न।*** कुतः ? ***अज्ञायाः*** अचेतनायाः; ***प्रकृतेः; स्वकार्यफलभुग्भावानुषङ्गाकृतिः*** स्वस्य स्वभावकर्मणः कार्यं सुखदुःखादि तस्य फलं इष्टानिष्टावाप्तिपरिहारपूर्वकसुख–दुःखानुभवनं भुनक्तीति स्वकार्यफलभुग्, तस्य भावस्तस्यानुषङ्गाकृतिः सम्पर्कप्रसङ्गः स्यात्। ननु द्वयोर्मा भवतु कार्यं; ***एकस्याः प्रकृतेः*** द्रव्यकर्मणः सांख्यपरिकल्पितायाः सत्त्वरजस्तमसां समावस्थायाः प्रकृतेर्वा कार्यम्? इति चेन्न; ***अचित्त्वलसनात्*** प्रकृतेः अचेतनत्वस्वभावात् तत्कार्यत्वे च तस्याचेतनत्वानुषङ्गात्; ***ततो*** द्वयोरेकस्याः कार्यकारणा–योगात्।

व्यतिरेक व्याप्ति; यह उस प्रकार/अकृत नहीं है (उपनय); अतः उस प्रकार/अकार्य नहीं है (निगमन)। (इस प्रकार अनुमान के क्रमशः प्रतिज्ञा, हेतु, अन्वय–व्यतिरेक उदाहरण, उपनय, निगमन – ये पाँच अङ्ग घटित किए।)

किसका कार्य है – ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं – **तच्च कर्म जीवप्रकृत्योः**=और वह कर्म, जीव और प्रकृति उन; **द्वयोः**=दोनों का कार्य; **न**=नहीं है। उन दोनों का कार्य कैसे/क्यों नहीं है? **अज्ञायाः**=अचेतन होने से; **प्रकृतेः**=प्रकृति के; **स्वकार्यफल–भुग्भावानुषंगाकृतिः**=अपने स्वभावरूप कर्म का सुख–दुःखादिरूप कार्य, उसके फल को इष्ट की प्राप्ति, अनिष्ट के परिहार पूर्वक, क्रमशः सुख–दुःख के अनुभवनरूप भोगता है – ऐसा स्वकार्यफलभुग्, उसका भाव, उसका अनुषङ्गाकृति=सम्पर्क का प्रसङ्ग आता है; इससे उन दोनों का वह कार्य हो।

यहाँ शंका है कि वह दोनों का कार्य नहीं हो; **एकस्याः प्रकृतेः**=द्रव्य–कर्म का अथवा सांख्य द्वारा मान्य सत्त्व, रज, तमो की सम अवस्थामय एक प्रकृति का कार्य है – यदि ऐसा कहें तो उसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि **न**=ऐसा नहीं है; **अचित्त्वलसनात्**=प्रकृति का अचेतनत्व स्वभाव होने के कारण, उसके कार्य में उसकी अचेतनता का प्रसङ्ग होने से; **ततो**=इसलिए दोनों में से एक के कार्य–कारण का अयोग होने से, वह मात्र प्रकृति का कार्य नहीं है।

अस्य भावकर्मण: ***जीवस्यैव कर्ता*** जीवति दशभि: प्राणैरिति जीव: संसार्यात्मा कर्ता कारक:; ***च*** पुन:; ***तत् कर्म*** तत् प्रसिद्धं, भावकर्म जीवस्यैव नान्यस्य। किं भूतं? ***चिदनुगं*** चेतनासहितं; तथा चोक्तं श्रीमदाप्तपरीक्षायां—

भावकर्माणि चैतन्यविवर्तात्मानि भान्ति नु:।
क्रोधादीनि स्ववेद्यानि, कथञ्चिच्चिदभेदत: ॥११४॥

यत् यस्मात् कारणात् ***पुद्गल:; ज्ञाता*** ज्ञायक:; ***न;*** अचेतनत्वात् ॥११॥

अस्य=इस भाव-कर्म का; **जीवस्यैव कर्ता**=जो दश प्राणों से जीता है, वह जीव=संसारी आत्मा, कर्ता=करनेवाला है; **च**=और; **तत् कर्म**=वह प्रसिद्ध भाव-कर्म, जीव का ही कार्य है; अन्य किसी का कार्य नहीं है। वह कर्म कैसा है? **चिदनुगं**=चेतना-सहित/चेतना का अनुसरण करनेवाला है; उसी प्रकार आप्त-परीक्षा, कारिका ११४ में कहा है —

'चैतन्य के विकार-स्वरूप, स्वयं के द्वारा अनुभव-योग्य, क्रोधादि भाव-कर्म चेतन से कथंचित् अभिन्न होने के कारण, आत्मा में ही होते प्रतीत होते हैं।'

यत:=जिस कारण; **पुद्गल:**=पुद्गल-द्रव्य; **ज्ञाता**=जाननेवाला; **न**=नहीं है; अचेतन होने के कारण।

अर्थात्, अनुमान के पाँचों अङ्गों के प्रयोग द्वारा यह तथ्य सिद्ध है कि कार्य होने से, भाव-कर्म, विना किए नहीं हैं और वे जीव तथा प्रकृति - दोनों के कार्य भी नहीं हो सकते हैं; क्योंकि इससे अचेतन-प्रकृति को भी उनके सुख, दु:ख आदिरूप फल को, इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार पूर्वक, क्रमश: सुख, दु:ख के अनुभवन को भोगने का प्रसङ्ग प्राप्त होता है; परन्तु यह सम्भव नहीं है; अत: भाव-कर्म, दोनों का कार्य नहीं मान सकते हैं।

इन भाव-कर्मों को मात्र एक द्रव्य-कर्म का या सांख्य द्वारा मान्य सत्त्व, रज, तमो की सम अवस्थामय एक प्रकृति का कार्य मानने पर, उनके अचेतनता होने से, भाव-कर्मों के भी अचेतनता का प्रसङ्ग प्राप्त होगा, जो उचित नहीं है।

वास्तव में चेतना का अनुसरण करनेवाले ये प्रसिद्ध भाव-कर्म, दश प्राणों से जीनेवाले इस संसारी आत्मा के कार्य हैं। इनका कर्ता, यह संसारी आत्मा है; पुद्गल-द्रव्य, अचेतन होने के कारण जानता नहीं है; अत: इनका कर्ता भी नहीं है।।२०३।।

अथ प्रकृतिवादिनं सांख्यं प्रतिक्षिपति —

शार्दूलविक्रीडित : **कर्मैव प्रवितर्क्य कर्तृहतकैः क्षिप्त्वात्मनः कर्तृतां,**
कर्तात्मैष कथञ्चिदित्यचलिता कैश्चिच्छ्रुतिः कोपिता।
तेषामुद्धत-मोह-मुद्रित-धियां बोधस्य संशुद्धये,
स्याद्वादप्रतिबन्धलब्धविजया वस्तुस्थितिः स्तूयते॥१२॥२०४॥

टीका : *कैश्चित्* सांख्यमतानुसारिभिः इति पूर्वोक्ता; ***श्रुतिः*** जिनोक्तं सूत्रं; ***कोपिता*** विराधिता। किंभूता श्रुतिः ? ***अचलिता*** प्रमाणादिभिश्चलयितुमशक्या। किम्भूतैस्तैः ? ***हतकैः*** आत्मनोऽकर्तृत्वप्रतिपादकैः आत्मा चेतयिता, कर्ता तु प्रकृतिः। किं कृत्वा ? ***कर्मैव*** प्रकृतिरेव ***कर्तृ*** सुखदुःखादिकारकं; ***प्रवितर्क्य*** प्रविचिन्त्य, कर्मैवात्मान-मज्ञानिनं करोति ज्ञानावरणाख्यकर्मोदयमन्तरेण तदनुपपत्तेः, कर्मैव ज्ञानिनं करोति तत्कर्मक्षयोपशममन्तरेण तदनुपपत्तेः, तथैव निद्रासुखदुःखमिथ्यादृष्ट्यसंयतोर्ध्वाधस्तिर्यग्लोक

अब, प्रकृति-वादी सांख्यों के प्रति आक्षेप करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **माना यों कर्ता सभी करम ही कर्तृत्व तज जीव का,**
उन आतमहत ने ये जीव कर्ता स्यात् अचल श्रुति को किया।
कोपित उद्धत मोह मुद्रित मति मय ज्ञान की शुद्धि के,
हेतु से स्याद्वाद युक्त विजयी वस्तु स्थिति बताते।।२०४।।

टीकार्थ : कैश्चित्=सांख्य-मत का अनुसरण करनेवाले पूर्वोक्त कोई; **श्रुतिः**= जिनेन्द्र-कथित सूत्र की; **कोपिता**=विराधना करते हैं। वह श्रुति कैसी है? **अचलिता**=प्रमाण आदि के द्वारा चलित करने के लिए अशक्य है। वे कैसे हैं? **हतकैः**=आत्मा चेतयिता/ज्ञाता है; प्रकृति, कर्ता है - इस प्रकार आत्मा के कर्तृत्व का प्रतिपादन नहीं करनेवाले वे आत्म-घाती हैं। क्या करके वे ऐसे हैं? **कर्मैव कर्तृ**=सुख, दुःख आदि को करनेवाली प्रकृति ही कर्ता है; **प्रवितर्क्य**=ऐसा विचार कर, ज्ञानावरण नामक कर्म के उदय-विना उसकी सिद्धि नहीं होने से, कर्म ही आत्मा को अज्ञानी करता है; उस कर्म के क्षयोपशम-विना उसकी सिद्धि नहीं होने से, कर्म ही ज्ञानी करता है; उसी प्रकार निद्रा, सुख, दुःख, मिथ्यादृष्टि, असंयत, ऊर्ध्व-लोक, अधो-लोक, तिर्यक्/मध्य-लोक, शुभ, अशुभ, प्रशस्त, अप्रशस्त आदि उस-उस सम्बन्धी कर्मोदय के विना सिद्ध नहीं होने से, कर्म ही इन सबका कर्ता है; उसी

-शुभाशुभप्रशस्ताप्रशस्तादिकं तत्तत्सम्बन्धि कर्मोदयमन्तरेण तदनुपपत्तेः; तथा च जैनी श्रुतिः — पुंवेदाख्यं कर्म स्त्रियमभिलषति स्त्रीवेदाख्यं कर्म नरं च तथा यत्परं हन्ति येन च परेण हन्यते तत्परघातकर्मेति वाक्येन जीवस्याब्रह्मपरघातादिनिषेधात् कर्मण एव तत्समर्थनात्।

आत्मनः जीवस्य; कर्तृतां भावकर्मकारित्वं; ***क्षिप्त्वा*** निराकृत्य, प्रकृतेरेव कर्तृत्वे तस्य सर्वेषां जीवानामकर्तृत्वे भोक्तृत्वादीनामपि कर्तृत्वाभावात् अकिंचित्करत्वमेव पुरुषत्वव्याघातात्। इति किं? ***एष आत्मा कथञ्चित् कर्ता*** केनचित् कारणेन कारकः अन्यथा मुक्तात्मनां कर्तृत्वप्रसङ्गात्।

तेषां प्रकृतेः कर्तृत्वादिनां; ***बोधस्य*** ज्ञानस्य; ***संशुद्धये*** निर्मलीकरणाय; ***वस्तुस्थितिः*** वस्तुनः व्यवस्था; ***स्तूयते*** प्रशस्यते। किम्भूता सती? ***स्याद्वादप्रतिबन्धलब्ध-विजया*** स्याद्वादेन कथञ्चिद्वादेन प्रकृत्यादीनां नित्यत्वादेः, प्रतिबन्धः प्रतिषेधः। तत्कथं? प्रधानं व्यक्तादपैति नित्यत्वनिराकरणात् अपेतमप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात् इत्येकान्तनिषेधः

प्रकार जिनागम में वर्णित पुरुष-वेद नामक कर्म, स्त्री को चाहता है; स्त्री-वेद नामक कर्म, पुरुष को चाहता है; उसी प्रकार जो दूसरों को मारता है और जिसके द्वारा दूसरे मारे जाते हैं, वह परघात कर्म है - इस प्रकार के वाक्य से जीव के अब्रह्म, परघात आदि का निषेध होने के कारण; और कर्म ही उन्हें करता है - इसका समर्थन होने से, वे आत्मा को अकर्ता मानते हैं।

आत्मनः=जीव के; **कर्तृतां**=भाव-कर्मों के कर्तापने का; **क्षिप्त्वा**=निराकरण करके; प्रकृति को ही कर्तृत्वरूप में स्वीकार करने पर, सभी जीवों के अकर्तृत्व होने पर, भोक्तृत्व आदि के भी कर्तृत्व का अभाव होने से, पुरुषत्व/आत्मा का व्याघात हो जाने के कारण, आत्मा की अकिंचित्करता ही सिद्ध होती है। इससे क्या? **एष आत्मा कथञ्चित् कर्ता**=यह आत्मा किसी कारण/अपेक्षा से कर्ता है - ऐसा मानना चाहिए; यदि ऐसा नहीं माना तो (सर्वथा कर्ता मान लेने पर), मुक्तात्माओं को कर्तापने का प्रसङ्ग आएगा।

तेषां=प्रकृति के उन कर्तृत्व आदि के; **बोधस्य**=ज्ञान को; **संशुद्धये**=निर्मल करने के लिए; **वस्तुस्थितिः**=वस्तु की व्यवस्था का; **स्तूयते**=वर्णन या प्रशंसा करते हैं। वह व्यवस्था कैसी है? **स्याद्वादप्रतिबन्धलब्धविजया**=स्याद्वाद=कथंचित् वाद/किसी अपेक्षा कथन के द्वारा प्रकृति आदि के नित्यत्व आदि का, प्रतिबन्ध=प्रतिषेध। वह कैसे/किस प्रकार? प्रधान=आत्मा, व्यक्त=प्रकृति से पृथक् होता है - इससे नित्यत्व का निराकरण

तेन लब्धो विजयो यया सा, अथवा स्याद्वाद एव प्रतिबन्धः कारणं वस्तुस्थितेः, तेन लब्धो विजयो यया सा। कीदृशानां तेषां ? ***उद्धतमोहमुद्रितधियां*** उद्धतः उत्कटः चासौ मोहश्च मोहनीयं कर्म, तेन मुद्रिता आच्छादिता, धीः धारणावती बुद्धिर्येषां तेषाम् ॥१२॥

अथ निश्चयेनाकर्तृत्वमात्मनो वक्ति—

शार्दूलविक्रीडित : **मा कर्तारममी स्पृशन्तु पुरुषं सांख्या इवाप्यार्हताः,**
कर्तारं कलयन्तु तं किल सदा भेदावबोधादधः।
ऊर्ध्वं तूद्धत-बोध-धाम-नियतं प्रत्यक्षमेनं स्वयं,
पश्यन्तु च्युतकर्तृभावमचलं ज्ञातारमेकं परम् ॥१३॥२०५॥

और पृथक् होने पर भी विद्यमान है – इससे विनाश का निषेध हो जाने के कारण; इस प्रकार एकान्त का निषेध, उससे प्राप्त हुई है विजय जिसे, वह; अथवा स्याद्वाद ही वस्तु-स्थिति का प्रतिबन्ध/यथार्थ कारण है, उससे प्राप्त हुई है विजय जिसे, वही कैसे उनकी शुद्धि के लिए? **उद्धतमोहमुद्रितधियां**=उद्धत=उत्कट और वह मोह=मोहनीय-कर्म, उससे मुद्रित= आच्छादित है धी=धारणावान बुद्धि जिनकी, उनकी शुद्धि के लिए स्याद्वाद-शैली द्वारा वस्तु-स्थिति का वर्णन करते हैं।

अर्थात्, आत्मा, मात्र ज्ञाता है; कर्ता तो प्रकृति है – इस प्रकार आत्मा के कर्तृत्व का प्रतिपादन नहीं करनेवाले, आत्म-घाती, सांख्य आदि किन्हीं ने, आत्मा का भाव-कर्मों के कर्तृत्व का निराकरण कर, कर्मों को ही सुख, दुःख आदि का कर्ता मानकर, 'यह आत्मा किसी अपेक्षा से रागादि भावों का कर्ता है' – ऐसा बतानेवाले, प्रमाण आदि के द्वारा चलित नहीं होनेवाले, अचलित, जिनेन्द्र-कथित सूत्र की विराधना की है। उद्दण्ड मोहनीय-कर्म से आच्छादित बुद्धिवाले, प्रकृति के कर्तृत्व आदि को स्वीकार करनेवाले, उनके ज्ञान को निर्मल करने के लिए, स्याद्वाद-शैली से वस्तु का यथार्थ प्रतिपादन कर विजय प्राप्त करनेवाली, वस्तु की व्यवस्था का वर्णन करते हैं।।२०४।।

अब, निश्चय से आत्मा के अकर्तृत्व का प्रतिपादन करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **न देखो सांख्यों समान जैनो यह आत्मा अकर्ता,**
कर्ता मानो भेदज्ञान पहले निश्चित इसे सर्वदा।
उससे आगे एक उद्धत स्वयं सुस्थिर प्रगट ज्ञान में,
परमोत्कृष्ट अचल प्रत्यक्ष ज्ञाता मानो अकर्ता इसे।।२०५।।

टीका : ***अमी आर्हताः*** अर्हतः भगवत इमे, अर्हन् देवो येषां ते आर्हताः; ***पुरुषं*** आत्मानं; ***कर्तारं*** भावकर्मकर्तारं; ***मा स्पृशन्तु*** माङ्गीकुर्वन्तु। के इव? ***सांख्या इव*** यथा सांख्या आत्मनोऽकर्तृत्वं प्रतिपादयन्ति तथा साक्षात् ज्ञानरूपेण जैना अपि। ***किल*** इत्यागमोक्तौ; ***भेदावबोधाद्*** भेदज्ञानाद्; ***अधः*** अभेदज्ञानावस्थायां; ***तं*** आत्मानं, तदा संसारावस्थापर्यन्तम्। ***कर्तारं*** भावकर्मकारकं; ***कलयन्तु*** जानन्तु। ***तु*** पुनः; ***ऊर्ध्वं*** अज्ञानादुपरि भेदविज्ञानावस्थायां; ***एनं*** आत्मानं; ***स्वयं*** स्वभावतः; ***प्रत्यक्षं*** अध्यक्षं यथा भवति तथा; ***च्युतकर्तृभावं*** त्यक्तकर्तृस्वभावं; ***पश्यन्तु*** अवलोकयन्तु मुनयः। किम्भूतः? ***उद्धतबोधधामनियतं*** उद्धतं च तद्बोधधामज्ञानज्योतिः, तत्र नियतं नियन्त्रितं; पुनः कथम्भूतं? ***अचलं*** निष्कम्पं; पुनः कथम्भूतं? ***ज्ञातारं*** ज्ञायकं; पुनश्च कथम्भूतं ***एकं*** कर्मद्वैतरहित्वादद्वैतं; पुनः कथम्भूतं? ***परं*** जगच्छ्रेष्ठम्॥ १३॥

टीकार्थ : अमी आर्हताः=अरहन्त भगवान के ये, अरहन्त हैं देव जिनके, वे आर्हत; **पुरुषं**=आत्मा को; **कर्तारं**=भाव-कर्मों का कर्ता; **मा स्पर्शन्तु**=स्वीकार नहीं करें। किनके समान नहीं करें? **सांख्या इव**=जैसे सांख्य, आत्मा के अकर्तृत्व का प्रतिपादन करते हैं; उस प्रकार ज्ञानरूप से साक्षात् जैन भी स्वीकार नहीं करें। **किल**=यह आगम के कथनानुसार - इस अर्थ का वाचक अव्यय है; **भेदावबोधात्**=भेद के ज्ञान से; **अधः**=नीचे/पहले अभेद-ज्ञान की अवस्था में; **तं**=उस आत्मा को, तब संसार-अवस्था पर्यन्त; **कर्तारं**=भाव-कर्मों को करनेवाला; **कलयन्तु**=जानें। **तु**=और; **ऊर्ध्वं**=अज्ञान से ऊपर/आगे, भेद-विज्ञान की अवस्था में; **एनं**=इस आत्मा को; **स्वयं**=स्वभाव से; **प्रत्यक्षं**=अध्यक्ष/साक्षात् जैसे होता है, उस प्रकार; **च्युतकर्तृभावं**=कर्ता-स्वभाव से रहित; **पश्यन्तु**=देखें, मुनि। वह आत्मा कैसा है? **उद्धतबोधधामनियतं**=उद्धत और वह बोध-धाम=ज्ञान-ज्योति, उसमें नियत=नियन्त्रित/स्थिर है। वह और कैसा है? **अचलं**=निष्कम्प है; और कैसा है? **ज्ञातारं**=ज्ञायक है; और कैसा है? **एकं**=कर्मरूपी द्वैत से रहित होने के कारण, अद्वैत एक है; और कैसा है? **परं**=जगत में श्रेष्ठ है।

अर्थात्, आत्मा के अकर्तृत्व का प्रतिपादन करनेवाले सांख्यों के समान, अरहन्त भगवान को देव माननेवाले ये आर्हत/जैन, आत्मा को भाव-कर्मों का अकर्ता स्वीकार नहीं करें। वास्तव में आगम के उल्लेखानुसार ये संसार-अवस्था पर्यन्त, उस आत्मा को भेद-ज्ञान से पूर्व, अभेद-ज्ञान की अवस्था में, भाव-कर्मों का कर्ता स्वीकार करें और उससे आगे

अथ क्षणक्षयस्वलक्षणवादिनं सौगतं निराचष्टे—

मालिनी : **क्षणिक-मिदमिहैकः कल्पयित्वात्मतत्त्वं,**
निज-मनसि विधत्ते कर्तृ-भोक्त्रोर्विभेदम्।
अपहरति विमोहं तस्य नित्यामृतोघैः,
स्वयमयमभिषिंचंश्चिच्चमत्कार एव॥१४॥२०६॥

टीका : ***इह*** भरतक्षेत्रे, भावमिथ्यात्वापेक्षया सर्वत्र वा; ***एकः*** सौगतवादी; ***कर्तृभोक्त्रोर्विभेदं*** कर्ता च भोक्ता च तयोर्विभेदं भिन्नत्वं ''सौगतानां कर्ताऽन्यः, भोक्ता अन्यः''; ***निजमनसि*** स्वचेतसि; ***विधत्ते*** करोति। किं कृत्वा? ***कल्पयित्वा*** प्रकल्प्य; किं? ***इदं*** प्रसिद्धं; ***आत्मतत्त्वं*** जीवतत्त्वं; ***क्षणिकं*** क्षणस्थायि ''सर्वं क्षणिकं सत्त्वात् प्रदीपवत्'' इत्यनुमाने।

भेद-ज्ञान की अवस्था में, उद्धत/तीव्र वेग से व्यक्त ज्ञान-ज्योति में स्थिर, कर्ता-भाव से रहित, निष्कम्प, प्रत्यक्ष, जगत में सर्व-श्रेष्ठ, कर्मरूपी द्वैत से रहित, अद्वैत एक इस आत्मा को, स्वभाव से ज्ञाता देखें।।२०५।।

अब, क्षण में नष्ट होने को अपना लक्षण कहनेवाले/क्षणिक-वादी सौगत/बौद्ध का निराकरण करते हैं—

मालिनी : **क्षणिक यहाँ सब ही सोचकर अपने मन में,**
कर्ता भोक्तामय जीव भिन्न-भिन्न मानें।
सदामृत समूह से बता नित्यता नित,
स्वयं चित्चमत्कृत ही हरे उनका मोह।।२०६।।

टीकार्थ : इह=इस भरत-क्षेत्र में अथवा भाव-मिथ्यात्व की अपेक्षा से सर्वत्र; **एकः**=एक सौगत-वादी; **कर्तृभोक्त्रोर्विभेदं**=कर्ता और भोक्ता, उन दोनों का विभेद= भिन्नत्व/पृथक्-पृथक् होना, 'सौगतों का कर्ता, अन्य है; भोक्ता, अन्य है'; **निजमनसि**=अपने मन में; **विधत्ते**=करता है। क्या करके ऐसा करता है? **कल्पयित्वा**=कल्पना करके; क्या कल्पना करके? **इदं**=यह प्रसिद्ध; **आत्मतत्त्वं**=जीव-तत्त्व; **क्षणिकं**=क्षण-स्थायी है, 'सभी क्षणिक हैं, सत्त्व होने से, प्रदीप के समान' - इस अनुमान में कल्पना करके, दोनों को पृथक्-पृथक् मानता है।

सर्वथानित्यादिपक्षे अर्थक्रियाभावं प्रकल्प्य दूषयति। ***अयं*** प्रसिद्धः, प्रत्यभिज्ञानादि –लक्षणः; ***चिच्चमत्कार एव*** चितः ज्ञानस्य, चमत्कारः; ***तस्य*** सौगतस्य; ***विमोहं*** क्षणिकत्वं बुद्धिव्यामोहं; ***अपहरति*** निराकरोति। ***स्वयं*** स्वभावात् एव; ***नित्यामृतोघैः*** आत्मादौ यन्नित्यत्वं तदेवामृतं तस्य ओघैः समूहैः; ***अभिषिञ्चन्*** अभिषेकं कुर्वन् सर्वं नित्यस्वरूपं प्रतिदर्शयन् सन् इत्यर्थः।

सर्वं कथञ्चिन्नित्यं प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्, न चैतदसिद्धं य एव बालः स एव युवा स एव च वृद्धः इत्यबाधितायाः प्रतीतेः सद्भावात् तथा व्यवहाराच्च क्षणिकत्वेऽर्थ–क्रियाविरोधाच्च। क्षणिकं यदि स्वसत्तायामपरक्षणोत्पादलक्षणामर्थक्रियां करोति तदा सकलस्य जगतः क्षणिकत्वं रुणद्धि कार्यकालं प्राप्नुवतः क्षणिकत्वविरोधात्। स्वयं अविद्यमानं सत् करोति यदा तदा कालान्तरे पूर्वं पश्चाच्च तत्कुर्यादसत्वाविशेषात् इत्यर्थक्रियाविरोधः॥ १४॥

(यहाँ) सर्वथा अनित्य आदि के पक्ष में अर्थ–क्रिया के अभाव का विचार कर, दोष दिखाते हैं। **अयं**=प्रत्यभिज्ञान आदि लक्षणरूप यह प्रसिद्ध; **चिच्चमत्कार एव**=ज्ञान का चमत्कार ही; **तस्य**=उस सौगत के; **विमोहं**=क्षणिकत्व बुद्धि के व्यामोह का; **अपहरति**= निराकरण करता है। **स्वयं**=स्वभाव से ही; **नित्यामृतोघैः**=आत्मा आदि में जो नित्यता, वही है अमृत, उसके ओघ=समूह से; **अभिषिंचन्**=अभिषेक करते हुए, सभी के नित्य–स्वरूप को दिखाते हुए – ऐसा अर्थ है।

सभी कथंचित् नित्य हैं, प्रत्यभिज्ञान के विषय होने से; जो यह बालक है, वही युवा और वही वृद्ध होता है – इस प्रकार की बाधा–रहित प्रतीति का सद्भाव होने से, यह असिद्ध भी नहीं है; उसी प्रकार क्षणिकता में अर्थ–क्रिया का विरोध होने के कारण, व्यवहार से भी यह सिद्ध है। यदि क्षणिक, दूसरे क्षण में उत्पाद लक्षणरूप अपनी सत्ता–विद्यमानतामय अर्थ–क्रिया को करता है, तब अपने कार्य–काल में उपलब्ध रहनेवाले के क्षणिकता का विरोध होने से, सम्पूर्ण जगत की क्षणिकता रुक जाती है। जब स्वयं अविद्यमान सत् करता है, तब कालान्तर में भी असत्त्व की समानता होने से, पूर्व और पश्चात् भी वह कार्य करे; इस प्रकार अर्थ–क्रिया का विरोध है।

अर्थात्, इस भरत–क्षेत्र में या भाव–मिथ्यात्व की अपेक्षा सर्वत्र, एक सौगत–वादी, इस प्रसिद्ध जीव–तत्त्व की क्षणिक/नश्वर कल्पना कर, अपने मन में कर्ता और भोक्ता की पृथक्ता करता है/दोनों को सर्वथा पृथक्–पृथक् मानता है। उसके क्षणिकत्व बुद्धि के इस व्यामोह को, स्वयं स्वभाव से आत्मा आदि की नित्यतारूपी अमृत के प्रवाह–समूह से

अथ क्षणिकैकान्तान् छिनत्ति पद्यत्रयेण—

अनुष्टुप् : **वृत्त्यंश-भेदतोऽत्यन्तं, वृत्ति-मन्नाश-कल्पनात्।**
अन्यः करोति भुङ्क्तेऽन्य, इत्येकांतश्चकास्तु मा॥१५॥२०७॥

शार्दूलविक्रीडित : **आत्मानं परिशुद्धमीप्सुभिरतिव्याप्तिं प्रपद्यांधकैः,**
कालोपाधिबलादशुद्धिमधिकां तत्रापि मत्वा परैः।
चैतन्यं क्षणिकं प्रकल्प्य पृथुकैः शुद्धर्जुसूत्रेरतै-
रात्मा व्युज्झित एष हारवदहो निस्सूत्रमुक्तेक्षिभिः॥१६॥२०८॥

शार्दूलविक्रीडित : **कर्तुर्वेदयितुश्च युक्तिवशतो भेदोऽस्त्वभेदोऽपि वा,**
कर्ता वेदयिता च मा भवतु वा वस्त्वेव सञ्चिन्त्यताम्।
प्रोता सूत्र इवात्मनीह निपुणैर्भर्तुं न शक्या क्वचित्,
चिच्चिन्तामणिमालिकेयमभितोऽप्येका चकास्त्येव नः॥१७॥२०९॥

अभिषेक करते हुए/सभी की नित्यता स्पष्ट करते हुए, यह चैतन्य चमत्कार ही समाप्त करता है।

प्रत्यभिज्ञान के विषयभूत प्रत्येक पदार्थ की नित्यता स्वत:सिद्ध है। सर्वथा क्षणिक पदार्थ, नित्य नहीं होने से अपनी प्रयोजनभूत-क्रिया करने में असमर्थ है। लोक-व्यवहार में भी नित्यानित्यात्मक पदार्थ सभी के अनुभव-गोचर है; अत: सर्वथा क्षणिकता पूर्णतया निषिद्ध है।।२०६।।

अब, अनित्य-एकान्त का निषेध करते हुए, तीन पद्य कहे जाते हैं—

अनुष्टुप् : **वृत्त्यंश भेद से पूर्ण, नाश वृत्तिमान का।**
मान अन्य करे भोगे, अन्य मानो न सर्वथा।।२०७।।

शार्दूलविक्रीडित : **आत्मा की परिशुद्धता के इच्छुक अतिव्याप्ति को प्राप्तकर,**
कालोपाधि शक्ति से अशुद्धि आधिक्य बौद्ध मानकर।
चेतन को नश्वर विचार रत वे नित शुद्ध ऋजु सूत्र में,
सूत्र रहित मणि इच्छु हार सम यह नित आत्मा छोड़ते।।२०८।।

शार्दूलविक्रीडित : **युक्ति वश से भेद या अभेद कर्ता रु भोक्ता का हो,**
कर्ता भोक्ता हो या होवें नहीं पर ध्याओ नित वस्तु को।
प्रोता सूत्र समान आत्म में नहिं भेदन कभी कहीं भी,
चित् चिन्तामणि मालिका ही हमें सब ओर नित शोभती।।२०९।।

टीका : ***इति*** ईदृशः; ***एकान्तः*** सौगतोपकल्पितक्षणिकैकान्तः; ***मा चकास्तु*** मा प्रतिभासताम्। इति किं? ***अन्यः*** भिन्नः क्षणः; ***करोति*** कार्यं निष्पादयति; ***अन्यः*** तदनन्तरभावी अन्यः भिन्नः क्षणः पूर्वक्षणकृतं कार्यं; ***भुंक्ते*** भुनक्ति। कुतः ? ***वृत्त्यंशभेदतः*** वृत्तेः वर्तनायाः, अंशाः ज्ञानादिपर्यायाः, तेषां भेदात्, द्रव्याभावे सति पूर्वोत्तरपर्यायाणामत्यन्तभिन्नत्वात्। कुतो भेदः ? ***अत्यन्तं*** अन्तर्द्रव्यादिस्वरूपेणापि। ***वृत्तिमन्नाशकल्पनात्*** वृत्तिः वर्तना अस्ति येषां ते वृत्तिमन्तः पर्यायाः, तेषां नाशः अत्यन्तमुच्छेदः, तस्य कलनात् इत्येकान्ते यो हिंसाभिसंधाता स न हिनस्ति सोऽहिंसकः सन् बध्नाति पापकर्मणा यस्तु बध्यते स न मुच्यते अन्यो ध्याता अन्यो ध्यानचिन्तक अन्यो मुक्तः इति पूर्वोत्तरपर्यायाणामत्यन्त-भेदात्॥ १५॥

अहो आश्चर्ये; ***परैः*** स्याद्वादानवद्यविद्याविचारचोरकैः; ***अन्धकैः*** बौद्धैः; ***आत्मा*** आत्माख्यं द्रव्यं; ***व्युज्झितः*** त्यक्तः, ज्ञानपर्यायमन्तरेणात्मनोऽभावात्। किं कृत्वा? ***अतिव्याप्तिं*** अतिव्याप्तिनामदूषणं; ***प्रपद्य*** अङ्गीकृत्य। तथाहि—यदेव वस्तु स्याद्वादि-

---

टीकार्थ : इति=इस प्रकार; **एकान्तः**=सौगतों के द्वारा कल्पित किया गया, क्षणिक एकान्त; **मा चकास्तु**=प्रकाशित नहीं हो। इस प्रकार क्या? **अन्यः**=भिन्न क्षण; **करोति**=कार्य को निष्पन्न करता है; **अन्यः**=उसके बाद होनेवाला अन्य=भिन्न क्षण, पहले क्षण में किए गए कार्य को; **भुंक्ते**=भोगता है। कैसे/क्यों भोगता है? **वृत्त्यंशभेदतः**=वृत्ति=वर्तना/परिणमन की, अंश=ज्ञानादि पर्यायें; उनके भेद से, द्रव्य का अभाव होने पर, पूर्वोत्तर पर्यायों के अत्यन्त भिन्नता होने से। कैसा भेद? **अत्यन्तं**=द्रव्य आदि के अन्तरङ्ग-स्वरूप से भी अत्यन्त भेद। **वृत्तिमन्नाशकल्पनात्**=वृत्ति=वर्तना है जिनकी वे, वृत्तिमान=पर्यायें, उनका नाश=अत्यन्त उच्छेद, उसके कलन=सम्बन्ध से; - इस प्रकार के एकान्त में जो हिंसा का अभिसंधाता/विचार करता है, वह मारता नहीं है, अहिंसक होता हुआ, वह पाप-कर्म से बँधता है; जो बँधता है, वह छूटता नहीं है; इस प्रकार पहले और आगे की पर्यायों में अत्यन्त भेद होने से, ध्याता अन्य है, ध्यान का चिन्तक अन्य है, मुक्त अन्य है।

अहो=आश्चर्य अर्थ में अव्यय है; **परैः**=स्याद्वादरूपी निर्दोष विद्या के विचार से पूर्णतया रहित, अन्य; **अन्धकैः**=बौद्धों द्वारा; **आत्मा**=आत्मा नामक द्रव्य; **व्युज्झितः**=ज्ञान-पर्याय के विना, आत्मा का अभाव होने से छोड़ दिया गया है। उन्होंने क्या कर ऐसा किया है? **अतिव्याप्तिं**=अतिव्याप्ति नामक दोष को; **प्रपद्य**=स्वीकार करके ऐसा किया है। वह

नामात्मादि तदेव अनेकपर्यायाक्रान्तं गुणपर्यायाक्रान्तं 'गुणपर्ययवद् द्रव्यं' इतिसूत्रकारवचनात्।

"नयोपनयैकान्तानां, त्रिकालानां समुच्चयः।
अविभ्राट्भावसम्बन्धो, द्रव्यमेकमनेकधा॥ १०७॥"

इति स्वामिसमन्तभद्राचार्यवर्यवचनाच्च। ननु त एव पर्याया अवस्तुभूता:, वस्तुभूता वा? प्राक्पक्षे अवस्तुभूतैः पर्यायैर्जीवस्य वस्तुत्वाघटनात् कृत्रिमस्फुटत्वतोऽवस्तुभूततानवघटनात्। अथ वस्तुभूताश्चेत् तेऽपि पर्यायाक्रान्ताः अन्यथा वस्तुत्वाघटनात्, पुनरुत्तरपर्यायाणां वस्तुत्वापत्तावनवस्था, एकस्मिन्ननेकवस्तुत्वापत्तिश्च ततो नैकद्रव्यव्यवस्था। अतिव्याप्तिसद्भावात् इति चेन्न प्रदीपक्षणस्यैकस्य तैलाकर्षणवर्तिकामुखदाहाद्यनेककार्यं कुर्वतः कार्यस्यासत्यत्वे कार्याकारित्वाद्वस्तुव्यवस्थानायोगात् तत्सत्यत्वे प्रतिकार्यं क्षणिकवस्तुत्वापत्तिरिति कथमेकक्षणिकवस्तुत्वस्थितिरिति।

इस प्रकार – स्याद्वादियों द्वारा मान्य आत्मा आदि जो भी वस्तु हैं, वे ही *'द्रव्य-गुण-पर्ययवान हैं'* – ऐसा सूत्रकार का वचन होने से, अनेक पर्यायों से सहित, गुण-पर्यायों से सहित हैं।

तथा *'तीनों कालवर्ती, नय और उपनय के एकान्तों के समूहरूप (जन-साधारण को) अप्रकाशित-भाव सम्बन्धवाला द्रव्य, एक और अनेक प्रकार का है।'* इस प्रकार आचार्यवर्य समन्तभद्रस्वामी के (आप्त-मीमांसा, १०७ वीं कारिका में) वचन होने से।

यहाँ कोई शंका करता है कि वे ही पर्यायें अवस्तुभूत हैं या वस्तुभूत हैं। पहला पक्ष स्वीकार करने पर, अवस्तुभूत पर्यायों से जीव के वस्तुत्व की घटना/संरचना नहीं हो सकेगी। कृत्रिम स्फुटता से रचना करने पर, अवस्तु-भूतता ही घटित होगी; वह वस्तुरूप नहीं हो सकेगी। अब यदि वस्तुभूत स्वीकार करते हैं तो वह उन सभी पर्यायों से सम्पन्न होगी। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो वस्तुत्व घटित नहीं होगा और आगे की पर्यायों के वस्तुत्व की आपत्ति/प्राप्ति होने पर, अनवस्था-दोष होगा तथा एक में अनेक वस्तुत्व की आपत्ति होगी; उससे अनेक द्रव्यों की व्यवस्था सिद्ध होगी।

अतिव्याप्ति का सद्भाव होने से ऐसा नहीं होगा – यदि यह कहो तो यह भी उचित नहीं है; तेल का आकर्षण, वर्तिका के मुख का दाह इत्यादि अनेक कार्य करते हुए, एक क्षणवर्ती दीपक के कार्य को असत्य मानने पर, कार्य-कारी न होने से, वस्तु की व्यवस्था नहीं बन सकेगी। उन्हें सत्य मानने पर, प्रत्येक कार्य को क्षणिक-वस्तुत्व की आपत्ति आएगी; तब फिर एक क्षणिक-वस्तुत्व की स्थिति कैसे बनेगी?

कीदृशैः ? ***आत्मानं*** स्वं चैतन्यं; ***परिशुद्धं*** संसारदशातो ध्यानादिभिर्निर्मलं; ***ईप्सुभिः*** वाञ्छकैः क्षणिकत्वे कस्याशुद्धित्वं कस्य पुनर्ध्यानं कस्य च मुक्तावस्थायां शुद्धिरिति सर्वं गगनारविन्दमिव निर्विषयत्वादसदाभाति। आत्माभावात् शुद्धिरशुद्धिश्च कस्य पुनः एकक्षणस्य द्विधर्माधारत्वाघटनात् अन्यथा निरंशत्वपक्षघातप्रसक्तेः। ***अपि*** पुनः; किं कृत्वा ? ***तत्र*** आत्मनि; ***अधिकां*** दूषणाधानाद्बहुतरां; ***अशुद्धिं*** अशुद्धतां; ***मत्वा*** ज्ञात्वा। कुतः ? ***कालोपाधिबलात्*** कालः समयादिस्थायित्वरूपः स एव उपाधिः विशेषणं तस्य बलं सामर्थ्यं तस्मात्।

तथाहि - एकं वस्तु अनेकक्षणस्थायि सदनेकक्षणविशिष्टं भवेत्तदविशिष्टं वा ? प्राक्तने पक्षे प्रथमक्षणोऽनेकक्षणविशिष्टत्वं भवेत् अन्यथा अनेकक्षणविशिष्टत्वाभावप्रसंगात् एवं द्वितीयादिक्षणेष्वपि। द्वितीयपक्षे कालावशिष्टं वस्तु क्रमयौगपद्याभ्यां व्यतिरिक्तमवस्त्वेव स्यात्।

कैसे बौद्धों ने ऐसा माना है ? **आत्मानं**=अपने चैतन्य को; **परिशुद्धं**=ध्यान आदि के द्वारा संसार-दशा से निर्मल करने के; **ईप्सुभिः**=वांछक, उनके द्वारा क्षणिकता स्वीकृत होने पर, किसका अशुद्धपना, किसका ध्यान और मुक्त-दशा में किसकी शुद्धि ? - इस प्रकार सभी कुछ आकाश-कमल के समान, निर्विषय होने के कारण, असत् ही प्रतिभासित होता है। आत्मा का अभाव होने से, शुद्धि और अशुद्धि किसकी ? एक क्षण के दो धर्मों का आधारत्व घटित नहीं होने से; अन्यथा निरंशत्वरूप पक्ष के समाप्त होने का प्रसङ्ग प्राप्त होता है। **अपि**=और भी; क्या करके ? **तत्र**=उस आत्मा में; **अधिकां**=दूषणों को धारण करने से अत्यधिक; **अशुद्धिं**=अशुद्धता को; **मत्वा**=जानकर। कैसे जानकर ? **कालोपाधिबलात्**= समय आदि स्थायीत्वरूप काल, वही है उपाधि=विशेषण, उसका बल=सामर्थ्य, उससे।

वह इस प्रकार - एक वस्तु, अनेक क्षण-स्थायी होती हुई, अनेक क्षणों से विशिष्ट/सहित है या अविशिष्ट/रहित है। प्रथम पक्ष में पहला क्षण, अनेक क्षणों से सहित हो जाएगा; अन्यथा अनेक क्षणों से सहितपने के अभाव का प्रसङ्ग होगा; इसी प्रकार दूसरे आदि क्षणों में भी समझ लेना चाहिए। द्वितीय पक्ष में काल से रहित वस्तुक्रम और युगपत्ता से पृथक्, अवस्तु ही सिद्ध होगी।

और क्या करके ? **प्रकल्प्य**=कल्पना करके; क्या कल्पना करके ? **क्षणिकं**=क्षण-

पुन: किं विधाय ? ***प्रकल्प्य*** कल्पयित्वा; किं ? ***क्षणिकं*** क्षणस्थायि; ***चैतन्यं*** ज्ञानं ''सर्वं क्षणिकं सत्त्वात् प्रदीपवत्'' नित्ये क्रमाक्रमाभावादर्थक्रियाभावात्सत्त्वाभाव: इति।

कै: ? ***पृथुकै:*** बालिशै:, वस्तुन: क्वचित्कदाचित्क्षणिकत्वाभावात्। पुन: कीदृशै: ? ***रतै:*** रक्तै:; क्व ? ***शुद्धर्जुसूत्रे*** शुद्ध: द्रव्यनिरपेक्ष:, स चासौ ऋजुसूत्रश्च अर्थपर्यायग्राहको नय:, तत्र। क इव ? ***निस्सूत्रमुक्तेक्षिभि:*** अप्रोतसूत्रे ईहितहारमुक्ताफलावलोकिभि: पुरुषै: हारवत् यथा हारस्त्यक्त: अन्वयिसूत्रद्रव्यानङ्गीकारात्॥ १६ ॥

कर्तु: कारकस्य; ***वेदयितुश्च*** कर्मभोजकस्य च; ***भेद:*** परस्परं कथञ्चिद्भिन्नत्वं; ***अस्तु;*** सर्वथा भेदे तयो: केवलं कर्तृत्वं भोक्तृत्वं वा स्यात् य: कर्ता स एव भोक्ता इति जीवान्तरवेदकसन्तानेऽपि न स्यात्। कुत: ? ***युक्तिवशत:*** नयप्रमाणात्मिका युक्ति:, तस्य

स्थायी की कल्पना करके; **चैतन्यं**=ज्ञान 'सभी क्षणिक हैं, सत्त्व होने से, दीपक के समान'; नित्य में क्रम, अक्रम का अभाव होने से, अर्थ-क्रिया का अभाव होने के कारण, सत्त्व का अभाव है।

किन बौद्धों द्वारा? **पृथुकै**:=अज्ञानी, वस्तु के कहीं भी, कभी भी सर्वथा क्षणिकत्व का अभाव होने से, उस प्रकार माननेवाले बालिश हैं। वे और कैसे हैं? **रतै**:=रक्त/आसक्त हैं; कहाँ रत हैं? **शुद्धर्जुसूत्रे**=शुद्ध=द्रव्य निरपेक्ष, वह और वह ऋजु-सूत्र=अर्थ-पर्याय को ग्रहण करनेवाला नय, उसमें रत हैं। वहाँ किसके समान रत हैं? **निस्सूत्रमुक्तेक्षिभि**:=सूत्र=धागे में नहीं पिरोए गए, इच्छित हार के मुक्ताफल/मोती का अवलोकन करनेवाले व्यक्ति द्वारा, हार के समान; जैसे, अन्वयि सूत्ररूपी द्रव्य को स्वीकार नहीं करने के कारण, हार छोड़ दिया जाता है; उसी प्रकार अन्वयि द्रव्य को स्वीकार नहीं करने के कारण, उन्हें वस्तु की प्राप्ति नहीं होती है।

कर्तु:=करनेवाले का; **वेदयितुश्च**=और कर्म को भोगनेवाले का; **भेद**:=परस्पर कथंचित् भिन्नत्व; **अस्तु**=हो; सर्वथा भेद होने पर, उन दोनों में मात्र कर्तृत्व या भोक्तृत्व हो, जो कर्ता है, वही भोक्ता है - इस प्रकार सन्तान=परम्परा में भी, जीवान्तर वेदक नहीं हो सकेगा। कैसे/क्यों नहीं हो सकेगा? **युक्तिवशत**:=नय और प्रमाण-स्वरूपवाली युक्ति है, उसके वश से द्रव्यार्थिक-नय की अपेक्षा, एकत्व का प्रतिभासन होने के कारण 'मैं-मैं एक आत्मा' इस स्वरूप पर्यायों का अनुभव करता हुआ, **सर्वलोकानां**=सभी लोगों के अपने लक्षण का प्रत्यक्षरूप से प्रतिभासन होने के कारण, चित्र-ज्ञान के समान सर्वथा भेद घटित

वशतः द्रव्यार्थादेशादेकत्वप्रतिभासनात् अहमहमिकात्मा विवर्तात्माननुभवन् सर्वलोकानां स्वलक्षणप्रत्यक्षत्वप्रतिभासनाच्च चित्रज्ञानवत्सर्वथा भेदाघटनात्। ***तु*** पुनः ***कथञ्चित् अभेदो*** वास्तु सर्वथाऽभेदे तयोरुभयव्यपदेशाभावः केवलं कर्तैव भोक्तैव वा स्यात्। ततस्तद्वतस्ताभ्यां परस्परं व्यावृत्तिरेकानेकस्वभावत्वात् घटरूपादिवत्। ततः य एव करोति स एव अन्यो वा वेदयते य एव वेदयते स एव अन्यो वा करोति इति नास्त्येकान्तः।

कर्ता वेदयिता भोक्ता चात्मा; ***भवतु वा*** अथवा; ***मा भवतु*** कर्ता भोक्ता मास्तु। ***वस्त्वेव*** शुद्धात्मैकद्रव्यरूपं वस्तु वसति गुणपर्यायानिति वस्तु पर्यायानपेक्षया द्रव्यमेव शुद्धं ***सञ्चिन्त्यतां*** ध्यायतां विचार्यतां वा। ***निपुणैः*** भेदज्ञैः पुरुषैः; ***इह*** आत्मनि चिद्रूपे। ***क्वचित्*** कस्मिंश्चित् काले; ***भर्तुं*** धर्तुं, कर्ता भोक्ता चेति धर्तुं; ***न शक्य*** तस्यैकरूपत्वात्। दृष्टान्तयतीत्यत्र — ***इव*** यथा; ***सूत्रे*** गुणे तन्तौ; ***प्रोता*** अनुस्यूतो हारो मुक्तामणिरिति भर्तुं न शक्यः; ***अपि*** पुनः; ***नः*** अस्माकं स्याद्वादिनां; ***अभितः*** सामस्त्येन; ***इयं*** प्रसिद्धा; ***एका*** अद्वितीया ***चिच्चिन्तामणिमालिका*** चित् चेतना, सैव चिन्तामणिः, तस्य मालिकापंक्तिः,

---

नहीं होने से, उनमें कथंचित् एकता है – यह सिद्ध होता है। **तु**=और; **कथञ्चित् अभेदः**= सर्वथा अभेद में उन दोनों के, दोनों नामों का अभाव है या तो मात्र कर्ता ही हो या मात्र भोक्ता ही हो; अतः उन कर्तृत्व-भोक्तृत्व-युक्त आत्मा के, एक और अनेक स्वभाव होने के कारण, उनकी अपेक्षा परस्पर पृथक्ता है, घट में रूपादि के समान। इसीलिए जो कर्ता है, वही या अन्य भोगता है; जो भोगता है, वही या अन्य करता है – ऐसा एकान्त नहीं है।

कर्ता वेदयिता=कर्ता और भोक्ता आत्मा; **भवतु वा**=हो अथवा; **मा भवतु**=कर्ता-भोक्ता नहीं हो। **वस्त्वेव**=गुण और पर्यायों की वसति/जिसमें गुण और पर्याय रहते हैं वह, वस्तु है, शुद्धात्मा नामक एक द्रव्यरूप वस्तु, पर्यायों की अपेक्षा से रहित इस शुद्ध-द्रव्य का ही; **संचिन्त्यतां**=ध्यान करे या विचार करे। **निपुणैः**=भेद जाननेवाले जीव; **इह**=यहाँ चिद्रूप आत्मा में; **क्वचित्**=किसी काल में; **भर्तुं**=कर्ता और भोक्ता का भेदन करने के लिए; **न शक्यः**=समर्थ नहीं है, उसकी एकरूपता होने के कारण। यहाँ दृष्टान्त देते हैं – **इव**=समान/जैसे; **सूत्रे**=गुण=तन्तु/धागा में; **प्रोता**=अनुस्यूत/पिरोया गया मुक्तामणि का हार, भेदन करने के लिए समर्थ नहीं है; **अपि**=और भी; **नः**=हम स्याद्वादियों के; **अभितः**=पूर्णरूप से; **इयं**=यह प्रसिद्ध; **एका**=एक अद्वितीय; **चिच्चिन्तामणिमालिका**= चित्=चेतना, वही है चिन्तामणि, उसकी मालिका=पंक्ति, अनुस्यूत मुक्ताफलों की पंक्ति के

अनुस्यूतमुक्ताफलानां पंक्तिरिव। ***चकास्त्येव*** द्योतत एव; क्षणक्षणिकपक्षदूषणैरष्टसहस्र्यां क्षणिकज्ञानस्य निराकृतत्वात् ॥१५-१७॥

समान। **चकास्त्येव**=प्रकाशित ही है; अष्टसहस्री में क्षण-क्षणिक पक्ष के दोषों द्वारा क्षणिक-ज्ञान का निराकरण किया होने से।

अर्थात्, बौद्ध लोग सभी पदार्थों को क्षण-क्षयी/क्षणभर में नष्ट हो जानेवाले, क्षणिक सत्तावान मानते हैं। प्रस्तुत तीन पद्यों द्वारा इसमें दोष बताते हुए, इस मान्यता का निराकरण किया गया है; जो इस प्रकार है —

वृत्ति के अंशमय प्रति-क्षणवर्ती पर्यायों के सर्वथा भेद से, वृत्तिवान पदार्थ के विनाश की कल्पना के कारण, कार्य को कोई अन्य करता है और कोई अन्य भोगता है - ऐसा एकान्त सिद्धान्त शोभित/घटित नहीं होता है; क्योंकि ऐसा मानने पर, हिंसा करने का भाव करनेवाला, हिंसा नहीं करता है; हिंसा करनेवाला, बँधता नहीं है; उससे आगे का हिंसा नहीं करनेवाला, बँधता है; जो बँधता है, वह छूटता नहीं - इस प्रकार सभी कुछ पूर्णतया पृथक्-पृथक् होने से, किसी भी प्रकार की व्यवस्था नहीं बन सकेगी; धार्मिक जीवन तो दूर, लौकिक जीवन भी अव्यवस्थित हो जाएगा; अत: वस्तु को सर्वथा क्षणिक मानना उचित नहीं है।

आश्चर्य है कि स्याद्वादरूपी निर्दोष विद्या के विचार से पूर्णतया रहित, अपने चैतन्य-स्वभावी आत्मा को ध्यान आदि के द्वारा संसार-दशा से परिपूर्ण शुद्ध करने के इच्छुक इन बौद्धों ने अतिव्याप्ति-दोष को स्वीकार कर, उस आत्मा में काल की उपाधि की सामर्थ्य से/प्रति समय उत्पाद-व्ययरूप पर्यायों की अपेक्षा, अधिक अशुद्धि को मानकर, द्रव्य से निरपेक्ष मात्र अर्थ-पर्याय को ग्रहण करनेवाले शुद्ध ऋजुसूत्र-नय में आसक्त हो, चैतन्य को ही सर्वथा क्षणिक मान लिया है। जैसे सूत्र/धागे से रहित, मात्र मोतियों का इच्छुक, हार को छोड़ देता है; उसी प्रकार ऐसा माननेवाले, उन्होंने नित्यानित्यात्मक आत्मा को ही छोड़ दिया है।

नय-प्रमाणात्मक युक्ति के वश से द्रव्यार्थिक-नय की अपेक्षा एकत्व और पर्यायार्थिक-नय की अपेक्षा अनेकत्व का ज्ञान होने के कारण, कर्ता और भोक्ता के परस्पर में कथंचित् अभिन्नत्व और कथंचित् भिन्नत्व हो तो भले हो; अथवा आत्मा, कर्ता और भोक्ता हो या नहीं हो - स्याद्वाद शैली में विवक्षा-वश सभी कथन स्वीकृत हैं। गुण और पर्यायों की

अथ व्यावहारिकदृशा तयोर्भिन्नत्वं चिन्त्यते—

रथोद्धता : **व्यावहारिकदृशैव केवलं, कर्तृ कर्म च विभिन्नमिष्यते।**
निश्चयेन यदि वस्तु चिन्त्यते, कर्तृ कर्म च सदैकमिष्यते॥१८॥२१०॥

टीका : *च* पुन:; ***कर्तृ*** कारकं; ***कर्म च*** कार्यं; ***विभिन्नं*** परस्परे भिन्नं; ***इष्यते।*** कया ? ***केवलं*** परं; ***व्यावहारिकदृशैव*** व्यवहारदृष्ट्यैव यथा सुवर्णकारादि: कुण्डलादि-परद्रव्यपरिणामात्मकं कर्म करोति तत्फलं च भुंक्ते न तु तन्मयो भवति तथात्मापि

निवास-स्थली, पर्यायों की अपेक्षा से रहित इस शुद्धात्मा का ही ध्यान या विचार, भेद/रहस्य को जाननेवाले, भेद-विज्ञानी चतुर जीव करें।

जैसे, सूत्र/धागे में पिरोई गयी मणियों के हार में सूत्र, मोती या हार का निषेध सम्भव नहीं है; उसमें ये तीनों सतत विद्यमान हैं। मुख्य-गौण की व्यवस्था से प्रयोजन-वश कभी भी, किसी को भी देखा जा सकता है; उसी प्रकार शाश्वत आत्मा में गुँथी हुई यह चैतन्यरूपी चिन्तामणिमय पर्यायों की मालिका/पंक्ति कभी भी, कहीं भी, किसी के द्वारा भी खण्डित नहीं की जा सकती है। वह सब ओर से हम स्याद्वादियों को एक अखण्डरूप में सदा प्रकाशित ही है। मुख्य-गौण की व्यवस्था से प्रयोजन-वश किसी को भी देखा जा सकता है। वस्तु में सभी, सर्वदा, पूर्णरूप से विद्यमान हैं।

इस प्रकार चैतन्यात्मक आत्मा आदि सभी वस्तुओं को सामान्य-विशेषात्मक, भेदाभेदात्मक, नित्यानित्यात्मक, एकानेकात्मक आदि अनन्त धर्मात्मक स्वीकार कर, सुखी होने के लिए अन्य सभी को गौण कर, एक शाश्वत चिद्रूप स्वयं शुद्धात्मा में स्थिर रहना चाहिए; किसी भी पक्ष का सर्वथा एकान्त स्वीकार नहीं करना चाहिए।।२०७-२०९।।

अब, व्यवहार दृष्टि से उन दोनों/कर्ता और भोक्ता में भेद का चिन्तन करते हैं—

रथोद्धता : **व्यावहारिक विवक्षा मात्र से, भिन्न कर्ता करम हैं स्वीकृत।**
यदि वह निश्चय से विचारते, कर्तृ कर्म नित एक स्वीकृत।।२१०।।

टीकार्थ : च=और; **कर्तृ**=कर्ता=करनेवाला; **कर्म च**=और कार्य; **विभिन्नं**=परस्पर में पृथक्; **इष्यते**=स्वीकार किए गए हैं। किसके द्वारा स्वीकार हैं? **केवलं**=मात्र; **व्यावहारिकदृशैव**=व्यावहारिक दृष्टि से ही; जैसे सुवर्णकार आदि, कुण्डल आदि पर-द्रव्य के परिणमनरूप कर्म को करता है और उसके फल को भोगता है; परन्तु उनसे तन्मय नहीं होता है; उसी प्रकार आत्मा भी पुण्य, पाप आदि पुद्‌गलात्मक-कर्म करता है औ उसके

पुण्यपापादिकं पुद्गलात्मकं कर्म करोति, तत्फलकुलं च कवलयति न तु तन्मयः मीमांस्यते।

यदि चेत्; ***निश्चयेन*** निश्चयनयेन; ***वस्तु एकं*** द्रव्यमात्रं केवलं; ***चिन्तयते*** तदा ***सदा*** नित्यं; ***कर्तृ कर्म च*** आत्मनः कर्तृत्वकर्मत्वयोरैक्यं ***इष्यते।*** यथा च स नाडिंधमादि-चिकीर्षुः, चेष्टारूपमात्मपरिणामात्मकं कर्म करोति आत्मपरिणामात्मकं दुःखलक्षणं चेष्टारूपं कर्मफलं भुंक्ते ततोऽनन्यत्वे सति तन्मयश्च भवति; तथात्मापि चिकीर्षुश्चेष्टारूपं स्वपरिणामात्मकं कर्म करोति चेष्टारूपमात्मपरिणामात्मकं दुःखलक्षणं फलं च भुंक्ते ततोऽनन्यत्वे सति तन्मयश्चेव स्यात्॥ १८॥

फल-समूह को भोगता है; परन्तु उनसे तन्मय नहीं होता है - इसकी मीमांसा करते हैं।

यदि=यदि; **निश्चयेन**=निश्चय-नय से; **वस्तु एकं**=केवल द्रव्यमात्र एक; **चिन्त्यते**=स्वीकार किया जाए तो; **सदा**=नित्य; **कर्तृ कर्म च**=आत्मा के कर्तृत्व और कर्मत्व में एकता; **इष्यते**=स्वीकार की गयी है। जैसे नाडिंधम/नाड़ी के संचालन आदि की इच्छा करनेवाला वह, चेष्टारूप अपने परिणमन-स्वरूप कर्म को करता है, अपने परिणमन-स्वरूप दुःख लक्षण चेष्टारूप कर्म-फल को भोक्ता है और उससे अनन्यता होने पर तन्मय होता है; उसी प्रकार करने का इच्छुक आत्मा भी चेष्टारूप अपने परिणमनमय कर्म करता है; चेष्टारूप अपने परिणाममय दुःख लक्षण फल को भोगता है और उससे अनन्यता होने पर तन्मय भी हो।

अर्थात्, जैसे सुवर्णकार, कुण्डल आदि बनाता है, उनके फल को भोगता है; परन्तु उनसे तन्मय नहीं होता है; उसी प्रकार आत्मा, पुण्य, पाप आदि कार्य करता है, उनके फल को भी भोगता है; परन्तु उनसे तन्मय नहीं होता है - इस प्रकार की कर्ता और कर्म में परस्पर पृथक्ता, मात्र व्यावहारिक-दृष्टि से ही स्वीकृत है। निश्चय-नय से तो द्रव्यमात्र एक वस्तु स्वीकृत होने से, कर्ता और कर्म में सदा अभिन्नता ही है। कार्य करने का इच्छुक आत्मा, परिणमनरूप अपना कार्य करता है, दुःखरूप उसके फल को भी भोगता है और अनन्यता के कारण उनसे तन्मय भी होता है - इस प्रकार वे सभी एकरूप हैं।।२१०।।

इस प्रस्तुत पद्य पर टीकाकार का कुछ भी उपलब्ध नहीं हुआ है।

नर्दटक : **वास्तव में निश्चय से कर्म परिणाम ही है,**
वह नित परिणामी का नहीं अन्य का है।

नर्दटक : **ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयतः,**
स भवति नापरस्य परिणामिन एव भवेत्।
न भवति कर्तृशून्यमिह कर्म न चैकतया,
स्थितिरिह वस्तुनो भवतु कर्तृ तदेव ततः ॥१९॥२११॥

....

अथ वस्त्वन्तरप्रवेशं वस्तुनो न निर्लुठतीति पद्यत्रयेण प्राह —

पृथ्वी : **बहिर्लुठति यद्यपि स्फुटदनन्तशक्तिः स्वयं,**
तथाप्यपर-वस्तुनो विशति नान्य-वस्त्वन्तरम्।

कर्ता विन कर्म नहीं एक स्थिति,
वस्तु की नहिं हो यों वही कर्म करती।।२११।।

सामान्यार्थ : निश्चय से वास्तव में परिणाम ही कर्म है, और वह अपने आश्रयभूत परिणामी का ही होता है; किसी अन्य का नहीं होता है। कर्ता के विना कर्म नहीं होता है, और वस्तु की स्थिति एकरूप (कूटस्थ) नहीं रहती है; इससे वस्तु स्वयं ही अपने परिणामरूप कार्य की कर्ता है।।२११।।

* **ननु किल**=वास्तव में **परिणामः एव**=परिणाम ही **विनिश्चयतः**=निश्चय से **कर्म**=कर्म है और **सः परिणामिनः एव भवेत्, अपरस्य न भवति**=परिणाम अपने आश्रयभूत परिणामी का ही होता है, अन्य का नहीं (क्योंकि परिणाम, अपने-अपने द्रव्य के आश्रित हैं; अन्य के परिणाम का अन्य आश्रय नहीं होता); और **कर्म कर्तृशून्यं इह न भवति**=कर्म, कर्ता के विना नहीं होता, **च**=तथा **वस्तुनः एकतया स्थितिः इह न**=वस्तु की एकरूप (कूटस्थ) स्थिति नहीं होती (क्योंकि वस्तु, द्रव्य-पर्याय स्वरूप होने से, सर्वथा नित्यत्व बाधा-सहित है); **ततः**=इसलिए **तत् एव कर्तृ भवतु**=वस्तु स्वयं ही अपने परिणामरूप कर्म की कर्ता है (यह निश्चित सिद्धान्त है)।।२११।।

अब, किसी वस्तु का, किसी अन्य वस्तु के अन्दर प्रवेश सम्भव नहीं है, इसे तीन पद्यों द्वारा प्रगट करते हैं—

पृथ्वी : **बाह्य लोटे यद्यपि स्वयं अनन्त शक्तिमय,**
तथापि अन्य वस्तु का अन्य में प्रवेश न।

** इस श्लोक पर टीकाकार की संस्कृत टीका अनुपलब्ध होने से, ग्रन्थपूर्ति-हेतु पाण्डे राजमलजी कृत टीका यहाँ दी गयी है।*

स्वभावनियतं यतः सकलमेव वस्त्विष्यते,
स्वभावचलनाकुलः किमिह मोहितः क्लिश्यते॥२०॥२१२॥

रथोद्धता : **वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुनो, येन तेन खलु वस्तु वस्तु तत्।**
निश्चयोऽयमपरोऽपरस्य कः, किं करोति हि बहिर्लुठन्नपि॥२१॥२१३॥

रथोद्धता : **यत्तु वस्तु कुरुतेऽन्यवस्तुनः, किञ्चनापि परिणामिनः स्वयम्।**
व्यावहारिकदृशैव तन्मतं, नान्यदस्ति किमपीह निश्चयात्॥२२॥२१४॥

टीका : ***यद्यपि स्वयं*** स्वभावतः; ***बहिः*** बाह्ये; ***स्फुटदनन्तशक्तिः*** स्फुटन्ती व्यक्ता चासावनन्तशक्तिः द्विकवारानन्ताविभागप्रतिच्छेदश्च। ***लुठति*** स्फुटीभवति, यथा सेटिकाया: सेटिकत्वादिः। ***तथापि अन्यवस्त्वन्तरं*** सेटिकादि परवस्तुनो मध्ये; ***न विशति*** कुड्यादिलक्षणस्य मध्ये न प्रविशति। ***यतः*** यस्मात् कारणात्; ***सकलमेव*** समस्तमेव; ***वस्तु*** चेतनलक्षणं द्रव्यं; ***स्वभावनियतं*** स्वस्य भावे स्वस्वरूपे, नियतं स्थितं जीवस्य ज्ञानात्मकं लक्षणं अजीवस्य अचेतनस्य अचैतन्यं तद्विपरीतं; ***इष्यते*** अभिलष्यते। अतः

स्वभाव नित नियत सभी वस्तु के मान्य हैं,
स्वभाव बदल व्याकुल मोहि क्यों दुखी है?।।२१२।।

रथोद्धता : **एक वस्तु नहिं अन्य वस्तु की, वह वस्तु नित स्वयं स्वयं की।**
निश्चय यह तब बाह्य लोटते, अन्य अन्य का करता कैसे?।।२१३।।

रथोद्धता : **स्वयं परिणमित अन्य वस्तु का, अन्य द्रव्य है कुछ भी करता।**
यह सब मत व्यवहार दृष्टि का, निश्चय से नहिं अन्य अन्य का।।२१४।।

टीकार्थ : यद्यपि स्वयं=यद्यपि स्वयं स्वभाव से; **बहिः**=बाह्य में/बाहर; **स्फुट-दनन्तशक्तिः**=स्फुट=व्यक्त और वह अनन्त शक्ति=दो बार अनन्त अविभागी प्रतिच्छेद। **लुठति**=व्यक्त होता है; जैसे, सेटिका का सेटिकत्व आदि। **तथापि अपर-वस्तुनः अन्यवस्त्वन्तरं**=तो भी अन्य वस्तु का, अन्य वस्तु के बीच में, सेटिका आदि पर-वस्तु के मध्य; **न विशति**=कुड्य/दीवाल आदि लक्षण के मध्य, प्रवेश नहीं करती है। **यतः**=जिस कारण; **सकलमेव**=समस्त ही; **वस्तु**=चेतन-लक्षण द्रव्य; **स्वभावनियतं**=स्व के भाव= अपने स्वरूप में, नियत=स्थित, जीव का ज्ञानात्मक लक्षण; अजीव, अचेतन का उससे विपरीत अचैतन्य, **इष्यते**=स्वीकृत है। इसलिए **इह**=इस जगत में; **मोहितः**=मोह से आक्रान्त/युक्त जीव; **किं क्लिश्यते**=अन्य के अभिप्राय को बदलने से व्यर्थ क्यों क्लेश

इह जगति; ***मोहितः*** मोहाक्रान्तः पुमान्; ***किं क्लिश्यते*** किं वृथा क्लेशं करोति पराभिप्रायपरिवर्तनेन। किम्भूतः सन्? ***स्वभावचलनाकुलः*** स्वभावस्य वस्तुस्वरूपस्य, चलना चापल्यं कर्तरि कर्मप्रवेशत्वं कर्मणि कर्तृप्रवेशत्वमित्यादिलक्षणं, तत्राकुलः व्याकुलतां गतः सन्, स्वरूपस्य ज्ञानादेः स्वरूपिणि जीवादौ व्यवस्थिततत्वात्, अन्यथा द्रव्योच्छेदः स्यात्॥ २०॥

इह जगति; ***येन*** कारणेन; ***एकं*** चेतनादिलक्षणं; ***वस्तु*** द्रव्यं; ***अन्यवस्तुनः*** अपरवस्तुनः चेतनादेः स्वरूपं न भवति। ***खलु*** इति निश्चितम्। ***तेन*** वस्तुनः परवस्तु-स्वभावाभावेन कारणेन; ***अयं*** प्रसिद्धः; ***निश्चयः*** परमार्थः। अयं कः? ***यद्वस्तु*** स्वगुण-पर्यायैर्द्रव्यं तत्स्वगुणपर्यायैरेव ***वस्तु*** चेतनादि द्रव्यं नान्यथा परस्वरूपेण वस्तु भवत्यति-प्रसङ्गात्। ***हि*** इति तस्मात् कारणात्। ***कः अपरः*** अन्यः पदार्थः सेटकादिर्जीवादिश्च। ***अपरस्य*** कुड्यादेः कर्मपुद्गलस्य च, ***किं*** श्वेतत्वं ज्ञानित्वं च; ***करोति*** अपि तु न करोतीत्यर्थः। ***बहिः*** बाह्ये; ***लुठन्नपि*** भित्त्यादीनां श्वेतत्वं कुर्वन्नपि परस्वरूपेण न भवति

करता है? कैसा होता हुआ? **स्वभावचलनाकुलः**=स्वभाव का=वस्तु के स्वरूप का, चलना=चापल्य, कर्ता में कर्म की प्रवेशता, कर्म में कर्ता की प्रवेशता इत्यादि लक्षणमय चंचलता, उसमें आकुल=व्याकुलता को प्राप्त होता हुआ, स्वरूप ज्ञानादि का स्वरूपी जीवादि में व्यवस्थित होने के कारण, अन्यथा द्रव्य का विनाश है।

इह=इस जगत में; **येन**=जिस कारण से; **एकं**=चेतनादि लक्षण एक; **वस्तु**=द्रव्य; **अन्यवस्तुनः**=चेतन आदि का स्वरूप, किसी दूसरी वस्तु का नहीं होता है। **खलु**=यह निश्चित अर्थ का वाचक अव्यय है। **तेन**=इस वस्तु में, अन्य वस्तु के स्वभाव का अभाव है, उस कारण; **अयं**=यह प्रसिद्ध; **निश्चयः**=परमार्थ। यह कौन? **यद्वस्तु**=जो वस्तु, अपने गुण-पर्यायों से सम्पन्न द्रव्य है, वह अपने गुण-पर्यायों से सम्पन्न ही; [वस्तु] चेतन आदि द्रव्य है, यदि ऐसा न माना जाए तो वस्तु पर-स्वरूप से होती है - ऐसा मानने पर अति प्रसङ्ग होने के कारण। **हि**=इस प्रकार उस कारण। **कः अपरः**=कौन दूसरा, सेटिका आदि और जीव आदि अन्य पदार्थ। **अपरस्य**=कुड्य आदि का और कर्म-पुद्गल का; **किं**=क्या श्वेतपना और ज्ञानीपना; **करोति**=करता है? अपितु नहीं करता है - ऐसा अर्थ है। **बहिः**= बाहर में; **लुठन्नपि**=दीवाल आदि का श्वेतपना करते हुए भी, पर-स्वरूप से नहीं होती है,

अन्यथा स्वद्रव्योच्छेदः, आत्मापि परद्रव्यस्य ज्ञेयस्य ज्ञायकः बहिर्भवन्नपि तत्स्वरूपेण न भवति॥ २१ ॥

यत्तु ***तत् मतं*** कथितम्। कया? ***व्यावहारिकदृशैव*** व्यवहार-दृष्ट्यैव न तु परमार्थतः। तत् किं? ***तु*** विशेषे; ***यद्वस्तु*** सेटिकादिः; ***परिणामिनः*** परिणमनशीलस्य; ***अन्यवस्तुनः*** कुड्यादेः; ***स्वयं*** स्वभावतः; ***किञ्चन*** धवलत्वादिकं; ***कुरुते*** विदधाति; तथात्मापि परद्रव्यं स्वकेन भावेन ज्ञातापि, जानाति पश्यति विजहाति श्रद्धत्ते चैतत्सर्वं व्यवहारतः इह जगति। ***निश्चयात्*** परमार्थतः; ***किमपि*** सेटिकादिद्रव्यं चेतनद्रव्यं वा; ***अन्यत्*** कुड्यादेः श्वेतकत्वं, आत्मनः परद्रव्यज्ञातृत्वं च; ***न*** नास्ति॥ २०-२२ ॥

अन्यथा अपने द्रव्य का विनाश हो जाएगा; आत्मा भी बाह्य में पर-द्रव्यरूप ज्ञेय का ज्ञायक होता हुआ भी, उस स्वरूप से नहीं होता है।

और जो **तत् मतं**=वह कहा गया है। किसके द्वारा कहा गया है? **व्यावहारिकदृशैव**= व्यवहार-दृष्टि से ही कहा गया है; परमार्थ से नहीं। वह क्या कहा गया है? **तु**=विशेष अर्थ में अव्यय है; **यद्वस्तु**=जो सेटिका आदि वस्तु; **परिणामिनः**=परिणमनशील; **अन्यवस्तुनः**=दीवाल आदि अन्य वस्तु के; **स्वयं**=स्वभाव से; **किञ्चन**=कुछ भी धवलता आदि को; **कुरुते**=करती है; उसी प्रकार ज्ञाता आत्मा भी अपने भाव से पर-द्रव्य को जानता है, देखता है, छोड़ता है और उनकी श्रद्धा करता है - यह सब इस जगत में व्यवहार से कहा जाता है। **निश्चयात्**=परमार्थ से; **किमपि**=कोई भी सेटिका आदि द्रव्य या चेतन-द्रव्य; **अन्यत्**=दीवाल आदि की श्वेतता और आत्मा की पर-द्रव्य सम्बन्धी ज्ञातृता आदि अन्य की; **न**=नहीं है।

अर्थात्, यद्यपि अनन्तानन्त अविभागी-प्रतिच्छेद की व्यक्तता-सम्पन्न वस्तु, स्वयं स्वभाव से ही अन्य वस्तु के बाहर लोटती/व्यक्त रहती है; तथापि अन्य वस्तु का, किसी अन्य वस्तु के मध्य प्रवेश नहीं होता है; क्योंकि सभी चेतन-अचेतन वस्तुएँ अपने-अपने स्वभाव में नियत/स्थिर मानी गयी हैं। तब फिर इस जगत में; ज्ञानादि-स्वरूप का, जीवादि स्वरूपवान में व्यवस्थित होने पर भी, कर्ता में कर्म का प्रवेश, कर्म में कर्ता का प्रवेश इत्यादिरूप में वस्तु के स्वरूप सम्बन्धी चंचलता से आकुलित होता हुआ, मोह से आक्रान्त यह जीव, अन्य के अभिप्राय आदि को बदलने की भावना से व्यर्थ क्लेश क्यों करता है?

इस जगत में जिस कारण चेतन आदि लक्षणमय कोई एक वस्तु, वास्तव में अन्य

अथ द्रव्ये द्रव्यान्तरनिषेधं निधत्ते—

शार्दूलविक्रीडित : **शुद्धद्रव्य-निरूपणार्पित-मतेस्तत्त्वं समुत्पश्यतो,**
नैकद्रव्यगतं चकास्ति किमपि द्रव्यान्तरं जातुचित्।
ज्ञानं ज्ञेय-मवैति यत्तु तदयं शुद्ध-स्वभावोदयः,
किं द्रव्यान्तरचुम्बनाकुलधियस्तत्त्वाच्च्यवन्ते जनाः॥२३॥२१५॥

टीका : ***जातुचित्*** कदाचित्; ***किमपि द्रव्यान्तरं*** चेतनमचेतनं वा, चेतनादचेतनं वस्त्वन्तरं, अचेतनाच्चेतनं वा वस्त्वन्तरम्। ***एकद्रव्यगतं*** एकस्मिन् द्रव्ये चेतने चेतनं अचेतनं च अचेतने वा चेतनमचेतनं च गतं सम्प्राप्तम्। ***न चकास्ति*** न द्योतते। कस्य? ***तत्त्वं*** वस्तुयाथात्म्यं; ***समुत्पश्यतः*** अवलोकयतो मुनेः। किं भूतस्य? ***शुद्धद्रव्य-***

किसी वस्तु की नहीं होती है; किसी एक वस्तु में अन्य वस्तु के स्वभाव का पूर्णतया अभाव होने के कारण, वह वस्तु स्वयं में एक, पर से पृथक् पारमार्थिक वस्तु है - यह वास्तविक स्थिति है। तब फिर कोई अन्य, किसी अन्य के बाहर लोटता/व्यक्त रहता हुआ भी उसका क्या कर सकता है? किसी भी रूप में कुछ भी नहीं कर सकता है।

स्वयं स्वभाव से परिणमित होती हुई एक वस्तु का, अन्य वस्तु कुछ करती है; सेटिका, दीवाल को धवल करती है; ज्ञाता आत्मा, अपने भाव से पर को जानता है, देखता है, छोड़ता है, उनकी श्रद्धा करता है इत्यादि जो यह कहा जाता है; वह सब व्यवहार-दृष्टि से ही मान्य है। परमार्थ से वास्तव में कोई अन्य वस्तु, किसी अन्य वस्तु की कुछ भी नहीं है।।२१२-२१४।।

अब, एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का निषेध बताते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **शुद्ध द्रव्य प्ररूपणा में बुद्धि अर्पित सुजान तत्त्व के,**
उनको कोई द्रव्य अन्य में है ऐसा कभी न लगे।
जाने ज्ञान सभी पदार्थ विकसित स्व भाव की शुद्धता,
यह तब च्युत हो तत्त्व से पर छुए यों मान क्यों व्यग्रता?।।२१५।।

टीकार्थ : जातुचित्=कभी भी; **किमपि द्रव्यान्तरं**=चेतन या अचेतन कोई भी दूसरे द्रव्य, चेतन से अचेतन वस्त्वन्तर/दूसरा द्रव्य है या अचेतन से चेतन, दूसरा द्रव्य है। **एकद्रव्यगतं**=एक द्रव्य में=चेतन में चेतन और अचेतन अथवा अचेतन में चेतन और अचेतन, गत=प्राप्त हुआ। **न चकास्ति**=प्रकाशित नहीं होता है। किसे प्रकाशित नहीं होता है? **तत्त्वं**=वस्तु के याथात्म्य/वास्तविक स्वरूप को; **समुत्पश्यतः**=देखनेवाले मुनि को

निरूपणार्पितमतेः शुद्धं द्रव्यं निरुपाधिस्वात्मादिद्रव्यं, तस्य निरूपणे प्रतिपादने, अर्पिता आरोपिता, मतिः बुद्धिः येन, तस्य। ***तु*** पुनः; ***यत्*** यस्माद्धेतोः; ***ज्ञानं ज्ञेयं*** पदार्थं; ***अवैति*** जानाति न तु ज्ञेयं स्वस्वरूपेण करोति नत्विदं तत्स्वरूपेण भवति, किन्तु केवलं परिच्छिनत्ति। ***तत्*** तस्मात् कारणात्; ***अयं*** ज्ञेयपरिच्छेदकत्वलक्षणः; ***शुद्धस्वभावोदयः*** शुद्धः कर्मोपाधिनिरपेक्षः, स्वभावः स्वरूपं, तस्य उदयः प्राकट्यं, ततः। ***जनाः*** जिनागमानभिज्ञाः लोकाः; ***तत्त्वात्*** वस्तुयाथात्म्यात्; ***किं च्यवन्ते*** कथं चलंति ? कीदृशाः सन्तः ? ***द्रव्यान्तर-चुम्बनाकुलधियः*** द्रव्यात् द्रव्यान्तरे परद्रव्ये, चुम्बनं आश्लेषणं, तेनाकुलाः सेटिकया कथं श्वेतत्वं कुड्यादेः, ज्ञानेन कथं ज्ञेयं ज्ञातमित्यादिरूपा धीः बुद्धिः येषां ते यथोक्ताः सन्तः ॥२३॥

प्रकाशित नहीं होता है। कैसे मुनि को प्रकाशित नहीं है? **शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पितमते**ः= शुद्धद्रव्य=उपाधि से पूर्णतया रहित, अपना आत्मा आदि द्रव्य, उसके निरूपण=प्रतिपादन में, अर्पिता=आरोपित/लगायी है, मति=बुद्धि जिसने, उसे प्रकाशित नहीं होता है। **तु**=और; **यत्**=जिस कारण से; **ज्ञानं ज्ञेयं**=ज्ञान, ज्ञेयरूप पदार्थ को; **अवैति**=जानता है, न तो ज्ञेय को अपने स्वरूप से करता है, न ही यह उस स्वरूप से होता है; वरन् मात्र जानता है। **तत्**= उस कारण से; **अयं**=ज्ञेय की परिच्छेदकता/ज्ञेय को जाननेरूप लक्षणवाला यह; **शुद्ध-स्वभावोदय**ः=शुद्ध=कर्म की उपाधि से पूर्णतया रहित, स्वभाव=स्वरूप, उसका उदय= व्यक्तपना, उस कारण; **जना**ः=जिनागम को नहीं जाननेवाले जीव; **तत्त्वात्**=वस्तु के यथार्थ स्वरूप से; **किं च्यवन्ते ?**=चलायमान कैसे/क्यों होते हैं? कैसे होते हुए चलित हैं? **द्रव्यान्तरचुम्बनाकुलधिय**ः=द्रव्य से अन्य द्रव्य=पर-द्रव्य में, चुम्बन=आश्लेषण/स्पर्श/ एक-क्षेत्रावगाही सम्बन्ध, उससे आकुल; सेटिका से दीवाल आदि का श्वेतपना कैसे हुआ, ज्ञान से ज्ञेय ज्ञात कैसे हुआ? इत्यादिरूप धी=बुद्धि है जिनकी, वे कहे गए अनुसार, आकुलित होते हुए चलायमान क्यों होते हैं?

अर्थात्, अन्य की उपाधि से पूर्णतया रहित, अपने आत्मा आदि द्रव्यों के प्रतिपादन में अपनी बुद्धि लगानेवाले, वस्तु के वास्तविक स्वरूप को देखनेवाले जीव को कभी भी, कोई भी चेतन या अचेतन द्रव्य, अन्य चेतन या अचेतन द्रव्य में गया हुआ, प्रतिभासित नहीं होता है। तब फिर, ज्ञान, ज्ञेय को जानता है - यह कर्म की उपाधि से पूर्ण-रहित, शुद्ध-स्वभाव की व्यक्तता है - इस प्रकार जिनागम को नहीं जाननेवाले जीव, पृथक् द्रव्यों के

अथ स्वभावस्वभाविनोर्भेदं चकास्ति—

मन्दाक्रान्ता : **शुद्धद्रव्यस्वरसभवनात्किं स्वभावस्य शेष-**
मन्यद् द्रव्यं भवति यदि वा तस्य किं स्यात्स्वभावः।
ज्योत्स्नारूपं स्नपयति भुवं नैव तस्यास्ति भूमिः,
ज्ञानं ज्ञेयं कलयति सदा ज्ञेय-मस्यास्ति नैव॥२४॥२१६॥

टीका : ***शुद्धद्रव्यस्वरसभवनात्*** शुद्धद्रव्यं दर्शनज्ञानचारित्रात्मकनिरुपाधि-जीवद्रव्यादि, तस्य स्वरसः स्वभावः, तेन भवनात्; ***स्वभावस्य*** चैतन्यादिलक्षणस्य स्वरूपस्य; ***शेषं*** द्रव्यात्परं; ***अन्यत्द्रव्यं*** चेतनं वा; ***किं भवति ?*** अपि तु परद्रव्यस्य स्वभावि-नस्तदन्यद्रव्यस्वभावः स्वरूपं न भवति, परद्रव्यं तस्य स्वभावि न भवतीति तात्पर्यम्। ***यदि वा*** अथवा सः; ***स्वभावः*** चेतनादिलक्षणः; ***तस्य*** अचेतनाद्यन्यद्रव्यस्य स्वरूपं; ***किं स्यात् ?*** अपि तु न स्यादेव। अथ स्वरूपस्वरूपिणोः परस्वरूपस्वरूपिभ्यां सङ्करव्यति

साथ सम्बन्ध हो जाने की बुद्धि से आकुलित होते हुए, वस्तु के यथार्थ स्वरूप से चलायमान क्यों होते हैं? वास्तव में वस्तु के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर, आकुलित हो चंचल होने का कोई कारण ही शेष नहीं रहता है।।२१५।।

अब, स्वभाव और स्वभावी में भेद प्रदर्शित करते हैं—

मन्दाक्रान्ता : **शुद्ध द्रव्य स्व रस परिणत अन्य द्रव्य स्वभाव,**
न हो किंचित् अन्य का भी नहीं यह सु स्व भाव।
जैसे ज्योत्स्ना फैलती भू भू न हो उसकी वह न,
भू की जाने ज्ञान ज्ञेय पर नहीं ज्ञेय ज्ञान।।२१६।।

टीकार्थ : शुद्धद्रव्यस्वरसभवनात्=शुद्धद्रव्य=पर की उपाधि से पूर्णतया रहित, दर्शन, ज्ञान, चारित्र स्वभाववाला जीव-द्रव्य आदि, उसका अपना रस=स्वभाव, उससे भवन=उसरूप परिणमित होने से; **स्वभावस्य**=चैतन्य आदि लक्षणमय स्वरूप का; **शेषं**=शेष अन्य द्रव्य से; **अन्यत्द्रव्यं**=अन्य कोई दूसरा द्रव्य या चेतन; **किं भवति ?**=क्या होता है? अपितु पर-द्रव्यमय स्वभाववान का, वह अन्य द्रव्य का स्वभाव=स्वरूप नहीं होता है; पर-द्रव्य उस स्वभाववान का नहीं होता है - ऐसा तात्पर्य है। **यदि वा**=अथवा वह; **स्वभावः**=चेतन आदि लक्षणमय स्वभाव; **तस्य**=उस अचेतन आदि अन्य द्रव्य का स्वरूप; **किं स्यात्**=कैसे हो सकता है? अपितु नहीं ही होता है। अब, स्वरूप-स्वरूपी का, परस्वरूप-

-करादिदोषापत्तेः न किञ्चिच्चेतनमचेतनं वा स्यात्। इममेवार्थं दृष्टान्तयति—

ज्योत्स्नारूपं सेटिकादिद्रव्यस्य श्वेतस्वरूपं; ***भुवं*** भूतलं; ***स्नपयति*** धवलीकरोति; ***एव*** निश्चयेन; तथापि ***भूमिः*** विश्वम्भरा; ***तस्य*** ज्योत्स्नारूपस्य स्वभावो; ***नास्ति,*** तस्य स्वभाविनो ज्योत्स्ना स्वरूपं न, ज्योत्स्नायाः सेटिकास्वभावत्वात्। दृष्टान्तेन स्पष्टं दार्ष्टान्तं दर्शयति — ***ज्ञानं*** स्वपरावभासः; ***ज्ञेयं*** कर्मतापन्नं परपदार्थं; ***कलयति*** परिच्छिनत्ति जानाति; ***सदा*** नित्यं; तथापि ***अस्य*** ज्ञानस्य ज्ञेयं स्वरूपं ***नैवास्ति,*** ज्ञेयस्य स्वरूपस्य ज्ञानं स्वरूपि नैवास्ति तयोः परस्परमत्यन्तभेदात्॥२४॥

परस्वरूपी के साथ सम्बन्ध होने पर, संकर-व्यतिकर आदि दोषों की आपत्ति होने से, रंचमात्र भी चेतन या अचेतन परस्पर में एक-दूसरेरूप नहीं होते हैं। इसी अर्थ को दृष्टान्त-पूर्वक स्पष्ट करते हैं—

ज्योत्स्नारूपं=चाँदनीरूप, सेटिका आदि द्रव्य का श्वेत-स्वरूप; **भुवं**=भूतल को; **स्नपयति**=धवल/सफेद करता है; **एव**=ही वास्तव में; तथापि **भूमिः**=विश्वंभरा/पृथ्वी; **तस्य**=उस ज्योत्स्नारूप का स्वभाव; **नास्ति**=नहीं है, ज्योत्स्ना के सेटिका स्वभावपना होने के कारण, उस स्वभाववान का ज्योत्स्ना-स्वरूप नहीं है। दृष्टान्त से स्पष्ट दार्ष्टान्त को दिखाते हैं - **ज्ञानं**=स्व और पर का अवभासक ज्ञान; **ज्ञेयं**=कर्मता को प्राप्त पर-पदार्थ को; **कलयति**=भली-भाँति सब ओर से जानता है; **सदा**=नित्य, तथापि **अस्य**=इस ज्ञान का, ज्ञेय-स्वरूप; **नैवास्ति**=नहीं है, ज्ञेय-स्वरूप का ज्ञान-स्वरूप नहीं है, उन दोनों का परस्पर में अत्यन्त भेद होने के कारण।

अर्थात्, अन्य की उपाधि से पूर्णतया रहित, दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वभाववाला जीव-द्रव्य, अपने रसरूप स्वभाव से परिणमित होने के कारण शेष रहे अन्य द्रव्य, क्या चैतन्य आदि स्वभाव के हो सकते हैं? नहीं। अथवा क्या चेतन आदि स्वभाव, अचेतन आदि द्रव्य का हो सकता है? नहीं। यदि ये एक-दूसरेरूप हो जाएँ तो संकर-व्यतिकर आदि दोष व्यक्त हो जाएंगे; परन्तु कोई किसीरूप होता नहीं है। इसे दृष्टान्त पूर्वक स्पष्ट करते हैं—

जैसे सेटिका द्रव्य कलई आदि का श्वेत स्वरूप भूतल को धवल करता है; परन्तु श्वेतस्वभाव सेटिका का होने से वह भूतल का नहीं होता है, भूतल भी उसका नहीं होता है; अथवा चाँदनी, भूतल पर पड़ने पर भी, वह भूतलरूप कभी भी नहीं होती है; वह भूतल भी उस चाँदनीरूप कभी भी नहीं होता है; उसी प्रकार स्व-पर प्रकाशक ज्ञान, ज्ञेयरूप पर-

अथ ज्ञानस्वभावं वावच्यते—

मन्दाक्रान्ता : **राग-द्वेष-द्वय-मुदयते तावदेतन्न यावत्-**
ज्ञानं ज्ञानं भवति न पुनर्बोध्यतां याति बोध्ये।
ज्ञानं ज्ञानं भवतु तदिदं न्यक्कृताज्ञानभावं,
भावाभावौ भवति तिरयन् येन पूर्णस्वभावः ॥२५॥२१७॥

टीका : ***यावत्***पर्यन्तं ***ज्ञानं*** बोधः; ***ज्ञानं*** ज्ञायकं स्वपरावभासकं शुद्धं; ***न भवति*** न जायते; ***तावत्***कालं; ***एतत्*** जगत्प्रसिद्धं; ***रागद्वेषद्वयं*** रागद्वेषयोर्द्वयं; ***उदयते*** अनुभाग-रूपेणोदयं धत्ते; उदिते ज्ञाने तस्योदयाभावात्। पुनः यावज्***ज्ञानं ज्ञानं*** प्राकट्यप्राप्तं न, तावत् ***बोध्ये*** ज्ञेये बहिः पदार्थे; ***बोध्यतां*** ज्ञेयतां; ***न याति*** न प्राप्नोति ज्ञाते ज्ञाने स्वपर-बोध्यप्रकाशकत्वात्। ***येन*** ज्ञानेन कृत्वा आत्मा; ***पूर्णस्वभावः भवति*** जायते। कीदृशः सन्? ***तिरयन्*** आच्छादयन्; कौ? ***भावाभावौ*** अस्तिनास्तिस्वभावौ विभावपर्यायौ उत्पाद-

---

पदार्थों को भली-भाँति सब ओर से जानता है; परन्तु दोनों में अत्यन्त पृथक्ता होने के कारण, परस्पर में दोनों एक-दूसरे रूप नहीं होते हैं। ज्ञान, सदा ज्ञानरूप ही रहता है और ज्ञेय, सदा ज्ञेयरूप ही रहते हैं।।२१६।।

अब, ज्ञान के स्वभाव का विवेचन करते हैं—

मन्दाक्रान्ता : **तब तक राग द्वेष द्वय प्रगटें न हो ज्ञान जब तक,**
ज्ञान रूप ज्ञान ज्ञेय ज्ञेय मात्र लगने लगें जब।
ज्ञान ज्ञान रूप यदि हो तो तिरस्कृत अज्ञान,
भाव भावाभाव ढ़क हो पूर्ण स्व भाव ज्ञान।।२१७।।

टीकार्थ : यावत्=जब तक; **ज्ञानं**=बोध; **ज्ञानं**=स्व-पर अवभासक शुद्ध/मात्र ज्ञायक; **न भवति**=नहीं होता है; **तावत्**=तब तक; **एतत्**=यह जगत-प्रसिद्ध; **रागद्वेषद्वयं**= राग और द्वेष का द्वित्व; **उदयते**=अनुभागरूप से उदित रहता है, ज्ञान का उदय होने पर, उसके उदय का अभाव होने के कारण। और जब तक **ज्ञानं ज्ञानं**=ज्ञान, ज्ञान की प्रगटता को प्राप्त नहीं होता है, तब तक **बोध्ये**=ज्ञेय में=बाह्य पदार्थ में; **बोध्यतां**=ज्ञेयता को; **न याति**=प्राप्त नहीं होता है; ज्ञान में ज्ञात होने पर, स्व-पर ज्ञेय की प्रकाशकता होने के कारण। **येन**=जिस ज्ञान से आत्मा; **पूर्णस्वभावः भवति**=पूर्ण स्वभावरूप होता है। कैसा होता हुआ ऐसा होता है? **तिरयन्**=आच्छादन करता/ढ़कता हुआ; किन्हें? **भावाभावौ**=

विनाशौ वा। ***तत् इदं*** प्रसिद्धं; ***ज्ञानं*** संसारावस्थासंभवात् रागद्वेषकल्मषीकृतं; ***ज्ञानं*** शुद्धं स्वभावबोधो; ***भवतु*** अस्तु। कीदृशं? ***न्यक्कृताज्ञानभावं*** न्यक्कृतः तिरस्कृतः, अज्ञानलक्षणो भावः स्वभावः, येन तत्॥२५॥

अथ सम्यग्दृष्टेस्तत्क्षयमाशंसति—

मन्दाक्रान्ता : **रागद्वेषाविह हि भवति ज्ञान-मज्ञान-भावात्,**
तौ वस्तुत्वप्रणिहितदृशा दृश्यमानौ न किञ्चित्।
सम्यग्दृष्टिः क्षपयतु ततस्तत्त्वदृष्ट्या स्फुटं तौ,
ज्ञानज्योतिर्ज्वलति सहजं येन पूर्णाचलार्चिः॥२६॥२१८॥

टीका : ***हि*** स्फुटं। ***ज्ञानं*** बोधः; ***इह*** जगति; ***रागद्वेषौ*** रागद्वेषस्वभावौ; ***भवति***

अस्ति-नास्ति स्वभाव को, विभाव-पर्यायों को या उत्पाद-विनाश को ढ़कता हुआ, पूर्ण स्वभावरूप होता है। **तत् इदं**=वह यह प्रसिद्ध; **ज्ञानं**=संसार अवस्था की उत्पत्ति के कारणभूत, राग-द्वेष से मलिन हुआ ज्ञान; **ज्ञानं**=शुद्ध-स्वभावभूत ज्ञान; **भवतु**=हो। वह कैसा है? **न्यक्कृताज्ञानभावं**=न्यक्कृत=तिरस्कृत, अज्ञान लक्षण युक्त, भाव=स्वभाव, जिसके द्वारा, वह।

अर्थात्, जब तक स्व-पर अवभासक ज्ञान, ज्ञानरूप से और ज्ञान में ज्ञात होने पर ही स्व-पर ज्ञेय की प्रकाशकता होने से, जब तक बाह्य पदार्थरूप ज्ञेय, ज्ञेयता को प्राप्त नहीं होते हैं; तब तक यह जगत प्रसिद्ध राग-द्वेष का द्वित्व अनुभागरूप से उदित रहता है। ज्ञान प्रगट होने पर, उस द्वित्व के उदय का अभाव हो जाने से, संसार-दशा की उत्पत्ति के कारणभूत राग-द्वेष से मलिन हुआ ज्ञान, अज्ञान-भाव का तिरस्कार करनेवाला ज्ञान, शुद्ध-स्वभावभूत ज्ञानरूप से व्यक्त हो; जिससे आत्मा अस्ति-नास्ति स्वभाव, विभाव-पर्यायों या उत्पाद-विनाश को आच्छादित करता हुआ, पूर्ण स्वभावरूप से व्यक्त हो जाता है।।२१७।।

अब, सम्यग्दृष्टि के उन (राग-द्वेष) के क्षय की प्रशंसा करते हैं—

मन्दाक्रान्ता : **हेय राग द्वेष परिणत ज्ञान अज्ञान भाव,**
वस्तु स्थापित दृष्टि देखे तो नहीं वे हैं किंचित्।
इससे तात्त्विक दृष्टि द्वारा क्षय करे समकिति नित,
जिससे पूर्ण अचल तेज सहज ज्ञान ज्योति प्रगटित।।२१८।।

टीकार्थ : हि=स्पष्ट अर्थ का वाचक अव्यय है। **ज्ञानं**=बोध; **इह**=इस जगत में;

जायते। कुतः ? ***अज्ञानभावात्*** अज्ञानमयस्वभावत्वात्। ननु कथं ज्ञानं रागद्वेषौ भवति; ज्ञानस्य ज्ञानावरणकर्मणः क्षयोपशमात्, तयोर्मोहनीयकर्मविवर्तत्वात्; कथं ज्ञाने रागद्वेषसद्भाव इति चेत्? सत्यं; रागद्वेषयोर्भावकर्मणोश्चैतन्यविवर्तत्वात् ज्ञानस्वभावत्वं तथाग्रे समर्थयिष्यमाणत्वात्; तदप्यभ्यधायि श्रीमद्विद्यानन्दिसूरिणा आप्तपरीक्षायां—

''भावकर्मणि चैतन्यविवर्तात्मानि भान्ति नुः।
क्रोधादीनि स्ववेद्यानि कथञ्चिच्चिदभेदतः॥ ११४॥'' इति।

तौ रागद्वेषौ; ***दृश्यमानौ*** अन्तर्दृष्ट्यावलोक्यमानौ सन्तौ; ***न किञ्चित्*** न किमपि ज्ञानिना दृश्येते। कया? ***वस्तुत्वप्रणिहितदृशा*** वस्तुत्वे चैतन्यलक्षणे वस्तुस्वरूपे, प्रणिहितदृशा समारोपिदृष्ट्या। ***ततः*** अन्तर्दृष्ट्या दृश्यमानत्वात्; ***स्फुटं*** निश्चितं; ***सम्यग्दृष्टिः*** तत्त्वदर्शीपुमान्; ***तौ*** रागद्वेषौ; ***क्षपयतु*** निर्जरादिभिर्निराकरोतु। ***तत्त्वदृष्ट्या*** वस्तुयाथात्म्य

रागद्वेषौ=राग और द्वेष स्वभावरूप; **भवति**=हो जाता है। उसरूप कैसे हो जाता है? **अज्ञानभावात्**=अज्ञानमय स्वभावता के कारण हो जाता है।

प्रश्न : ज्ञान, राग-द्वेषरूप कैसे हो सकता है, क्योंकि ज्ञान तो ज्ञानावरण-कर्म के क्षयोपशम से व्यक्त होता है और वे दोनों, मोहनीय-कर्म के उदय में होनेवाली दशाएँ हैं; तब ज्ञान में राग-द्वेष का सद्भाव कैसे हो सकता है?

उत्तर : ऐसा कहना सत्य है; राग-द्वेषरूपी भाव-कर्मों के, चैतन्य की विवर्तता होने के कारण, ज्ञान-स्वभावत्व है; आगे उसी प्रकार समर्थन किया गया होने से; आप्तपरीक्षा ग्रन्थ की कारिका ११४ में श्रीमद् विद्यानन्दसूरि के द्वारा वही कहा गया है —

'स्व-सम्वेदन-गम्य, चैतन्य के विवर्त-स्वरूप क्रोधादि भाव-कर्म, चेतन से कथंचित् अभेद होने के कारण, आत्मा में ही होते हुए प्रतिभासित होते हैं।' इस प्रकार।

तौ=वे राग और द्वेष; **दृश्यमानौ**=अन्तरङ्ग-दृष्टि से अवलोकन किए जाते हुए; **न किञ्चित्**=ज्ञानी के द्वारा कुछ भी दिखायी नहीं देते हैं। किससे दिखायी नहीं देते हैं? **वस्तुत्वप्रणिहितदृशा**=वस्तुत्व=चैतन्य-लक्षण वस्तु के स्वरूप में, प्रणिहितदृक्=समारोपित / स्थापित-दृष्टि से देखने पर, कुछ भी नहीं हैं। **ततः**=उस अन्तर्दृष्टि से दृश्यमानता के कारण; **स्फुटं**=निश्चित; **सम्यग्दृष्टिः**=तत्त्वदर्शी जीव; **तौ**=उन राग-द्वेष का; **क्षपयतु**=निर्जरा आदि के द्वारा निराकरण करें। **तत्त्वदृष्ट्या**=वस्तु के यथार्थ-स्वरूप के दर्शन से; **येन**=उन

-दर्शनेन; ***येन*** रागद्वेषक्षपणेन; ***सहजं*** स्वाभाविकं; ***ज्ञानज्योतिः*** ज्ञानविभागप्रतिच्छेदसमूहं धाम; ***ज्वलति*** प्रकाशते। किं भूतं तत्? ***पूर्णाचलार्चिः*** पूर्णं निरावरणत्वात्सम्पूर्णं, अचलं अक्षोभं, प्रतिपक्षकर्माभावात्, अर्चिः ज्ञानशक्तिः, यस्य तत् 'स्त्रीनपुंसकयोरर्चिः' इति भट्टिः ॥२६॥

अथ रागद्वेषोत्पादककारणं सङ्गच्छते—

शालिनी : **रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्ट्या,**
नान्यद् द्रव्यं वीक्ष्यते किञ्चनापि।

राग-द्वेष का क्षय हो जाने से; **सहजं**=स्वाभाविक; **ज्ञानज्योतिः**=ज्ञान के अविभागी प्रतिच्छेदों के समूहरूप धाम/तेज; **ज्वलति**=प्रकाशित होता है। वह कैसा है? **पूर्णाचलार्चिः**=पूर्ण निरावरण होने के कारण, सम्पूर्ण, अचल=प्रतिपक्षी-कर्मों का अभाव हो जाने से, क्षोभ-रहित, अर्चि=ज्ञान-शक्ति है जिसकी, वह; *'अर्चि शब्द स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग में आता है'* - ऐसा भट्टकृत व्याकरण का सूत्र है।

अर्थात्, इस जगत में ज्ञान, अज्ञानमय-स्वभाव के कारण, राग-द्वेषरूप परिणमित हो जाता है। यद्यपि ज्ञान की प्रगटता में ज्ञानावरण के क्षयोपशम और राग-द्वेष की प्रगटता में मोहनीय-कर्म के उदय की निमित्तता होती है; तथापि ये राग-द्वेषरूपी भाव-कर्म चैतन्य के विवर्त होने से, इनमें कथंचित् ज्ञान-स्वभावत्व भी स्वीकार किया गया है। यहाँ इसी अपेक्षा से यह कथन है।

चैतन्यमय आत्मा में स्थापित-दृष्टि से देखने पर, वे दोनों कुछ भी नहीं हैं; अतः तत्त्व-दर्शी सम्यग्दृष्टि जीव, वस्तु के वास्तविक स्वरूप को देखनेरूप तत्त्व-दृष्टि द्वारा उन राग-द्वेष का, निर्जरा आदि के द्वारा निराकरण कर दें। उनका क्षय हो जाने से, पूर्णतया निरावरण होने के कारण, सम्पूर्ण प्रतिपक्षी-कर्मों का अभाव हो जाने से, क्षोभ-रहित अचल ज्ञान-शक्तिमय, सहज स्वाभाविक ज्ञान के अविभागी प्रतिच्छेदों के समूहमय, ज्ञान-तेज प्रकाशित हो जाता है।।२१८।।

अब, राग, द्वेष को उत्पन्न करनेवाले कारण का प्ररूपण करते हैं—

शालिनी : **तात्त्विक दृष्टि से नहीं अन्य द्रव्य,**
किंचित् दीखे राग-द्वेष जन्म-दाता।
स्व स्व भावों से सभी व्यक्त पूर्ण,
अन्दर भासें नित्य उत्पत्ति कर्ता।।२१९।।

सर्वद्रव्योत्पत्तिरन्तश्चकास्ति,
व्यक्तात्यन्तं स्वस्वभावेन यस्मात्॥२७॥२१९॥

टीका : ***रागद्वेषोत्पादकं*** रागद्वेषयोरुत्पादकं कारणं; ***अन्यत्द्रव्यं*** आत्मद्रव्यं विहाय परद्रव्यमचेतनादि; ***न वीक्ष्यते*** नावलोक्यते। कया? ***तत्त्वदृष्ट्या*** वस्तुयाथात्म्य-दर्शनेन। कुतः? ***यस्मात्***कारणात्; ***सर्वद्रव्योत्पत्तिः*** सर्वेषां द्रव्याणां चेतनानां, उत्पत्तिः उत्पादः; ***अन्तः*** अभ्यन्तरे; ***स्वस्वभावेन*** स्वस्वरूपेण; ***अत्यन्तं*** निश्चितं; ***व्यक्ता*** स्फुटा; ***चकास्ति*** द्योतते। ननु सर्वद्रव्याणां नित्यत्वात् कथमुत्पत्तिः अन्यथा सौगतमतस्यागतिः? इति चेन्न 'स्वस्वभावेन' इति वचनात् स्वपरिणामेन स्वपर्यायेणैवोत्पत्तिर्न तु द्रव्यरूपेण।

यथा मृत्तिका कुम्भभावेनोत्पद्यमाना किं कुम्भकारस्वरूपेण, किं मृत्स्वरूपेण वा? यदि प्राक्तनः पक्षः तदा कुम्भकाराहङ्कारनिर्भरपुरुषाधिष्ठितप्रसारितकरतच्छरीराकारः कुम्भः स्यात्, न च तथास्ति, अत एवोत्तरः पक्षः श्रेयान् मृदेव कुम्भस्योत्पादिका न तु कुम्भकारः।

टीकार्थ : रागद्वेषोत्पादकं=राग-द्वेष का उत्पादक-कारण; **अन्यत्द्रव्यं**=आत्म-द्रव्य को छोड़कर, अचेतन आदि पर-द्रव्य; **न वीक्ष्यते**=नहीं देखते हैं। किससे नहीं देखते? **तत्त्वदृष्ट्या**=वस्तु के यथार्थ-स्वरूप के दर्शन से नहीं देखते हैं। कैसे/क्यों नहीं देखते हैं? **यस्मात्**=जिस कारण से; **सर्वद्रव्योत्पत्तिः**=सभी चेतन-द्रव्यों का, उत्पत्ति=उत्पाद; **अन्तः**= अभ्यन्तर में; **स्वस्वभावेन**=अपने स्वरूप से; **अत्यन्तं**=निश्चित; **व्यक्ता**=स्पष्ट प्रगट; **चकास्ति**=प्रकाशित होता है।

सभी द्रव्यों के नित्यता होने से, उत्पत्ति कैसे हो सकती है? यदि नित्य होने पर भी उत्पत्ति मानेंगे तो बौद्ध-मत की उपस्थिति हो गयी - यदि ऐसा प्रश्न हो तो उत्तर देते हुए कहते हैं कि ऐसा नहीं है; 'स्वस्वभावेन=अपने स्वरूप से' - ऐसा वचन होने के कारण अपने परिणाम से=अपनी पर्यायरूप से ही उत्पत्ति होती है; द्रव्यरूप से नहीं। जैसे कुम्भ-भाव से उत्पन्न होती हुई मिट्टी, क्या कुम्भकार के स्वरूप से उत्पन्न होती है या मिट्टी के स्वरूप से?

यदि पहला पक्ष स्वीकार किया जाए तो घड़ा बनाने के अहंकार से परिपूर्ण पुरुष से अधिष्ठित/सहित, फैलाए हुए हाथरूप उस शरीर के आकारमय घड़ा हो; परन्तु ऐसा तो होता नहीं है; अतः उत्तर/दूसरा पक्ष ही कल्याणमय है/स्वीकार के योग्य है; मिट्टी ही कुम्भ की उत्पादिका है; कुम्भकार नहीं। उसी प्रकार पुद्गल के स्वभाव से नहीं उत्पन्न होते हुए

तथा रागद्वेषौ पुद्गलस्वभावेनानुत्पद्यमानौ केवलमात्मनः स्वभावौ अन्योऽन्यस्योत्पादकत्वे तत्त्वव्यवस्थानाभावात् सर्वोच्छेदः स्यात् ॥२७॥

अथ तद्धेतुत्वमात्मनः सङ्गिरते—

मालिनी : **यदिह भवति राग-द्वेष-दोष-प्रसूतिः,**
कतर-दपि परेषां दूषणं नास्ति तत्र।
स्वय-मय-मपराधी तत्र सर्पत्यबोधो,
भवतु विदितमस्तं यात्वबोधोऽस्मि बोधः ॥२८॥२२०॥

टीका : ***यत्*** यस्मात्कारणात्; ***इह*** आत्मनि; ***रागद्वेषदोषप्रसूतिः*** रागश्च द्वेषश्च

राग-द्वेष, मात्र आत्मा के स्वभाव हैं; अन्य से अन्य की उत्पादकता मानने पर, तात्त्विक व्यवस्था का अभाव हो जाने से, सभी का उच्छेद हो जाएगा।

अर्थात्, वस्तु के वास्तविक स्वरूप की दृष्टि से आत्म-द्रव्य को छोड़कर, अन्य कोई अचेतन आदि पर-द्रव्य, राग-द्वेष को उत्पन्न करनेवाला कारण दिखायी नहीं देता है; क्योंकि चेतन आदि सभी द्रव्यों की उत्पत्ति अन्तरङ्ग में अपने स्वभाव से ही होती हुई स्पष्टरूप से प्रकाशित होती है।

वास्तव में कोई भी वस्तु, सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य नहीं है, वरन् कथंचित् नित्यानित्यात्मक है; अतः जैसे मिट्टी स्थायी रहती हुई, स्वयं अपने स्वभाव से घटरूप परिणमित होती है; उसी प्रकार पुद्गल आदि के विना ही, आत्मा स्थायी रहता हुआ, अपने (विभाव) स्वभाव से रागादिरूप परिणमित हो जाता है। किसी अन्य द्रव्य से, किसी अन्य द्रव्य की उत्पादकता मानने पर, वस्तु की यथार्थ व्यवस्था नहीं बन पाने के कारण, सभी के विनाश का प्रसङ्ग प्राप्त होता है।।२१९।।

अब, उन रागादि की हेतुता, आत्मा के है, यह स्वीकार करते हैं—

मालिनी : **यह जो है राग रु द्वेष दोषोत्पत्ति,**
उसमें न दोष रंच है अन्य का भी।
फैले उनमें खुद बोध विन दोषमय ही,
जाना अज्ञान नष्ट हो ज्ञान हूँ ही।।२२०।।

टीकार्थ : यत्=जिस कारण से; **इह**=यहाँ आत्मा में; **रागद्वेषदोषप्रसूतिः**=राग और द्वेष - राग-द्वेष, अपने स्वरूप की आच्छादकता होने से, वे ही दोष, उनकी प्रसूति=

रागद्वेषौ तावेव दोषौ स्वस्वरूपाच्छादकत्वात् तयोः प्रसूतिः उत्पत्तिः स्यात्। ***तत्र*** तथा सति; ***परेषां*** अचेतनद्रव्याणां; ***कतरदपि*** किमपि; ***दूषणं*** दोषः; ***नास्ति*** अचेतनद्रव्यस्य तदुत्पादकत्वाभावात् न तस्य दूषणं केवलमात्मनो दूषणम्। ***तत्र*** रागद्वेषे, आत्मनि; ***सर्पति*** व्याप्नुवति सति आत्मा; ***स्वयं*** स्वरूपेण; ***अपराधी*** दोषवान्; ***भवतु*** अस्तु। किं भूतः सः ? ***अबोधः*** बोधरहितः सन्; ***विदितं*** मया ज्ञातं; ***अयं अबोधः*** अज्ञानं; ***अस्तं*** विनाशं; ***यातु*** प्राप्नोतु। पुनः ***बोधः*** अहं ज्ञानं; ***अस्मि*** भवामि॥ २८॥

अथान्यनिमित्तत्वं तयोस्तीर्यते—

रथोद्धता : **रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते।**
उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनीं शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धयः॥२९॥२२१॥

टीका : ***ये*** वस्तुस्वरूपानभिज्ञपक्षाः सांख्याः; ***रागजन्मनि*** रागद्वेषोत्पत्तौ; ***परद्रव्यमेव*** आत्मान्यद्रव्यं रागोत्पत्तौ मणिकनककामिनीप्रमुखं, द्वेषोत्पत्तौविषविपक्षकर्कशकण्टकादिद्रव्यं,

---

उत्पत्ति हो। **तत्र**=वहाँ उस प्रकार होने पर; **परेषां**=अन्य अचेतन-द्रव्यों का; **कतरदपि**=कुछ भी; **दूषणं**=दोष; **नास्ति**=नहीं है; अचेतन-द्रव्य के उनकी उत्पादकता का अभाव होने से, उसका दोष नहीं है; मात्र आत्मा का दोष है। **तत्र**=वहाँ राग-द्वेष के आत्मा में; **सर्पति**=व्याप्त होने पर, आत्मा; **स्वयं**=अपने स्वरूप से; **अपराधी**=दोषवान; **भवतु**=हो। वह आत्मा कैसा है? **अबोधः**=बोध से रहित हुआ; **विदितं**=मेरे द्वारा/मुझे ज्ञात है; **अयं अबोधः**=यह अज्ञान; **अस्तं**=विनाश को; **यातु**=प्राप्त हो। और **बोधः**=मैं ज्ञानमय; **अस्मि**=हूँ।

अर्थात्, इस आत्मा में अपने स्वरूप के आच्छादक राग-द्वेषरूप जिन दोषों की उत्पत्ति होती है, अचेतन-द्रव्यों के उनकी उत्पादकता का अभाव होने से, उस उत्पत्ति में उन अचेतनमय अन्य द्रव्यों का कुछ भी दोष नहीं है; वरन् उनके विस्तार में यह अज्ञानी जीव अपने (विभाव) स्वभाव से स्वयं अपराधी होता है - ऐसा मैंने जाना है। अब यह अज्ञान, विनष्ट हो जाए और मैं मात्र ज्ञानमय हूँ।।२२०।।

अब, उन दोनों की उत्पत्ति में अन्य की निमित्तता का निषेध करते हैं—

रथोद्धत्ता : **राग-जन्म में अन्य द्रव्य की ही निमित्तता है जो मानते।**
शुद्ध बोध से विधुर अन्ध-धी मोह-नदी वे तैर न सकें।।२२१।।

टीकार्थ : **ये**=वस्तु-स्वरूप से अनभिज्ञ जो, पक्ष में सांख्य; **रागजन्मनि**=राग-द्वेष की उत्पत्ति में; **परद्रव्यमेव**=आत्मा से पृथक् मणि, स्वर्ण, स्त्री आदि प्रमुख द्रव्य, राग की

एव निश्चयेन; ***निमित्ततां*** हेतुतां; ***कलयन्ति*** प्रतिपादयन्ति। 'कलि वलि कामधेनुः' इति कामधेनावुक्तत्वात्कलेः प्रतिपादनार्थः। ***तु*** पुनः; ***ते*** जडधियः; ***हि*** निश्चितं; ***मोहवाहिनीं*** महामोहनिम्नगां; ***नोत्तरन्ति*** उत्तर्तुं न शक्नुवन्ति स्वरूपानभिज्ञत्वात्। कीदृशाः सन्तः ? ***शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धयः*** शुद्धबोधेन कर्ममलकलङ्करहितेन ज्ञानेन, विधुरा रहिता अन्धा, स्वरूपदर्शनाभावात्, बुद्धिर्मतिः येषां ते; तत्कथं न कारणम् ? तथाहि–यद्धि यत्र भवति तद्घातेन तद्धन्यते एव यथा प्रदीपघाते प्रकाशो हन्यते, न हन्यते च स्त्र्यादीनां विनाशे रागादिः तस्मात्तथा न; तथा च यत्र हि यद्भवति तत्तद्घाते हन्यते एव यथा प्रकाशघाते प्रदीपो हन्यते एव, न हन्यते च रागादीनां विनाशे कमनीयकामिन्यादिः तस्मान्न तत्तथा। यत्तु न यत्र भवति तत्तद्घाते न हन्यते यथा घटघाते घटप्रदीपो न हन्यते, न हन्यते स्त्रीघाते रागादिः। यत्र

उत्पत्ति में; विष, विरोधी, कठोर, काँटे आदि द्रव्य, द्वेष की उत्पत्ति में निश्चय से ही; **निमित्ततां**=हेतुता का; **कलयन्ति**=प्रतिपादन करते हैं। 'कल, वल में कामधेनु है' – इस प्रकार इन्हें कामधेनु कहे जाने के कारण, 'कल' का अर्थ प्रतिपादन हुआ। **तु**=और; **ते**=वे जड़-बुद्धि; **हि**=निश्चित; **मोहवाहिनीं**=महा-मोहरूपी नदी को; **नोत्तरन्ति**=स्वरूप से अनभिज्ञता के कारण, पार करने के लिए समर्थ नहीं हैं। कैसे होते हुए? **शुद्धबोध-विधुरान्धबुद्धयः**=शुद्ध-बोध=कर्मरूपी मलमय कलंक से रहित, ज्ञान से विधुर=रहित, स्वरूप को देखने का अभाव होने से, अन्ध-बुद्धि=मति है जिनकी, वे उस नदी को पार करने में असमर्थ हैं।

प्रश्न : वे अन्य-द्रव्य उनकी उत्पत्ति में कारण कैसे/क्यों नहीं हैं?

उत्तर : वह इस प्रकार – जो जिसमें होता है, उसके घात से वह नष्ट ही हो जाता है; जैसे, दीपक के घात में, प्रकाश नष्ट हो जाता है। स्त्री आदि के नष्ट होने पर, रागादि नष्ट नहीं होते हैं; इसलिए वे उनके कारण नहीं हैं; और उसी प्रकार वास्तव में जहाँ जो होता है, वह उसके घात में नष्ट ही हो जाता है; जैसे, प्रकाश के घात में, दीपक नष्ट होता ही है; परन्तु रागादि के विनाश में, सुन्दर स्त्री आदि नष्ट नहीं होती हैं; इसलिए वे उनके कारण नहीं हैं।

जो जिसमें नहीं होता है, वह उसके घात में नष्ट नहीं होता है; जैसे, घट के नष्ट होने पर, घट का दीपक नष्ट नहीं होता है; उसी प्रकार स्त्री का घात हो जाने पर, रागादि नष्ट नहीं होते हैं। जो जहाँ नहीं होता है, वह उसके घात में नष्ट नहीं होता है; जैसे, घट के दीपक

हि यन्न भवति तत्तद्घाते न हन्यते यथा घटप्रदीपघाते घटो न हन्यते, न रागादिघाते च स्त्र्यादिर्हन्यते तस्मान्न तत्तथेति ॥२८॥

अथ बोधाबोधयोरन्यत्वमुन्नीयते—

शार्दूलविक्रीडित : **पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा बोधो न बोध्यादयं,**
यायात्कामपि विक्रियां तत इतो दीपः प्रकाश्यादिव।
तद्वस्तुस्थितिबोधबन्ध्यधिषणा एते किमज्ञानिनो,
रागद्वेषमया भवन्ति सहजां मुञ्चन्त्युदासीनताम्॥३०॥२२२॥

टीका : ***इव*** यथा; ***इतः*** अस्मात्; ***प्रकाश्यात्*** प्रकाशयितुं योग्यात् घटपटादेः; ***दीपः*** कज्जलध्वजः; ***कामपि विक्रियां*** न याति देवदत्तो हि यज्ञदत्तमिव हस्ते गृहीत्वा मां

का घात हो जाने पर, घट नष्ट नहीं होता है; उसी प्रकार रागादि नष्ट हो जाने पर, स्त्री आदि पदार्थ नष्ट नहीं होते हैं; अत: वे उनके कारण नहीं हैं।

अर्थात्, वस्तु के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ या सांख्य आदि जो राग की उत्पत्ति में मणि, स्वर्ण, स्त्री आदि और द्वेष की उत्पत्ति में विष, विरोधी, कठोर, काँटे आदि; आत्मा से पृथक्, अन्य-द्रव्य को कारण मानते हैं; वास्तव में कर्मरूपी मलमय कलंक से रहित शुद्ध-ज्ञान से शून्य; आत्म-स्वरूप को नहीं देखने के कारण, अन्ध; स्वरूप से अनभिज्ञता के कारण, जड़-बुद्धि-युक्त, वे महा-मोहरूपी नदी को पार करने में असमर्थ हैं।

जो जिसका या जिसमें होता है, उसके समाप्त होने पर, वह भी समाप्त हो जाता है अथवा उसके रहने पर, वह रहता है। रागादि के समाप्त होने पर, स्त्री आदि पर-द्रव्यों की समाप्ति का और उनके होने पर, इन पर-द्रव्यों के रहने का नियम नहीं होने के कारण, वे पर-द्रव्य इन रागादि की उत्पत्ति के कारण नहीं हैं।।२२१।।

अब, बोध और अबोध की पृथक्ता को स्पष्ट करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **जैसे दीपक दीप्य से न विकृत त्यों पूर्ण एक अच्युत,**
शुद्ध ज्ञान महिम सुज्ञान किंचित् न ज्ञेय से विकृत।
इस वस्तु-स्थिति बोध शून्य-धी से अज्ञानि क्यों हो रहे?
राग द्वेषमयी सहज सुखमयी मध्यस्थता छोड़ते।।२२२।।

टीकार्थ : इव=जैसे; **इतः**=इस; **प्रकाश्यात्**=प्रकाशित होने के योग्य घट, पट आदि से; **दीपः**=काजल की ध्वजावाला/दीपक; **कामपि विक्रियां**=किसी भी विक्रिया

प्रकाशयेति घटपटादिः स्वप्रकाशने दर्शेंधनं न प्रयोजयति प्रदीपोऽपि न चायः कान्तोपला-कृष्टायःसूचीवत् स्वस्थानात्प्रच्युत्य तं प्रकाशयितुमायाति वस्तुस्वभावस्य परेणोत्पादयितुम-शक्यत्वात् परमुत्पादयितुमशक्यत्वाच्च तदसन्निधाने तत्सन्निधाने च स्वरूपेणैव स प्रकाशते।

तथा ***अयं बोधः*** ज्ञानं; ***ततः*** तस्मात् बहिरर्थात् शब्दरूपगन्धरसस्पर्शगुणद्रव्यादेः; ***बोध्यात्*** बोद्धुं ज्ञातुं योग्यात् कामपि विक्रियां देवदत्तो यज्ञदत्तमिव करे गृहीत्वा मां शृणु मां पश्येत्यादिनि स्वज्ञाने नात्मानं प्रेरयति। न चात्माप्ययःसूचीवत् स्वस्थानात् तान् ज्ञातुमायाति किं तु स्वभावत एव जानाति इति विक्रियां ***न यायात्*** न गच्छेत्।

कीदृशो बोधः ? ***पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा*** पूर्णः स्वगुणपर्यायैः सम्पूर्णः, एकः अच्युतः अक्षोभ्यः, शुद्धः कर्ममलरहितः, स चासौ बोधश्च, तस्य तेन वा महिमा माहात्म्यं यस्य सः। ततः तस्मात्; ***एते*** प्रसिद्धा बौद्धा ज्ञानेन तदाकार-तदुत्पत्ति-तदध्यवसाय-

---

को प्राप्त नहीं होता है; जैसे देवदत्त, यज्ञदत्त का हाथ पकड़कर कहता है कि मुझे प्रकाशित करो; उस प्रकार घट, पट आदि अपने प्रकाशन में दीपक को प्रयोजित/लगाते नहीं हैं और चुम्बक-पाषाण से खींची गई सूई के समान, दीपक भी अपने स्थान से च्युत होकर, उसे प्रकाशित करने के लिए नहीं आता है। वस्तु के स्वभाव का दूसरों के द्वारा उत्पादित होने के लिए और दूसरों को उत्पन्न करने के लिए अशक्य होने से, उनके अविद्यमान और विद्यमान होने पर, वह स्वरूप से ही प्रकाशित होता है।

उसी प्रकार **अयं बोधः**=यह ज्ञान; **ततः**=उस बाह्य-पदार्थ से; शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श गुणमय द्रव्यादि से; **बोध्यात्**=जानने के लिए योग्य पदार्थ से कुछ भी विक्रिया को प्राप्त नहीं होता है। जैसे देवदत्त, यज्ञदत्त का हाथ पकड़कर 'मुझे सुनो, मुझे देखो' - इत्यादिरूप अपने ज्ञान में, स्वयं आत्मा को प्रेरित नहीं करता है; और आत्मा भी, लोहे की सुई के समान, अपने स्थान से उन्हें जानने के लिए नहीं आता है; किन्तु स्वभाव से ही जानता है - इस प्रकार विक्रिया को **न यायात्**=प्राप्त नहीं हो।

कैसा ज्ञान ऐसा नहीं हो? **पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा**=पूर्ण=अपने गुण-पर्यायों से सम्पूर्ण, एक, अच्युत=अक्षोभ्य, शुद्ध=कर्मरूपी मल से रहित, वह और वह ज्ञान, उसका या उससे, महिमा=माहात्म्य है जिसका, वह विक्रिया को प्राप्त नहीं हो। उससे; **एते**=ये प्रसिद्ध ज्ञान के साथ तदाकार, तदुत्पत्ति, तदध्यवसाय कहनेवाले बौद्ध; **अज्ञानिनः**=अज्ञानी;

वादिनः; ***अज्ञानिनः किं*** किमु; ***रागद्वेषमया भवन्ति।*** कीदृशाः ? ***वस्तुस्थितिबोध-बन्ध्यधिषणा*** वस्तुनः स्थितिः नयोपनयैकान्त-समुच्चयरूपा तस्या बोधेन बन्ध्या रहिता धिषणा मतिर्येषां ते। पुनः ***सहजां*** स्वभावजां; ***उदासीनतां*** रागद्वेषाभावलक्षणां माध्यस्थ्यं कथं ***मुञ्चन्ति***॥ ३०॥

अथ निश्चयप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानालोचनाचारित्रं विन्दति—

शार्दूलविक्रीडित : **रागद्वेषविभावमुक्तमहसो नित्यं स्वभावस्पृशः,**
पूर्वागामिसमस्तकर्मविकला भिन्नास्तदात्वोदयात्।

किं=क्यों; **रागद्वेषमया भवन्ति**=राग-द्वेषमय होते हैं। वे कैसे हैं? **वस्तुस्थितिबोध-बन्ध्यधिषणा**=नय और उपनय सम्बन्धी एकान्तों के समुच्चयरूप वस्तु की स्थिति, उसके बोध से बन्ध्या=रहित है, धिषणा=बुद्धि जिनकी, वे; और **सहजां**=स्वभाव से उत्पन्न; **उदासीनतां**=राग और द्वेष के अभाव-लक्षणमय माध्यस्थ्य को कैसे/क्यों **मुञ्चन्ति**=छोड़ते हैं?

अर्थात्, जैसे प्रकाशित होने-योग्य घट, पट आदि पदार्थों द्वारा, दीपक किसी भी प्रकार से विकृति को प्राप्त नहीं होता है। न तो वह पदार्थों के पास जाता है और न ही पदार्थ उसके पास आते हैं; प्रकाशित करने-हेतु पदार्थ, उसे प्रेरित भी नहीं करते हैं। उसी प्रकार अपने गुण-पर्यायों से परिपूर्ण, एक, अच्युत, कर्मरूपी मल से रहित, शुद्ध-ज्ञान से महिमावान यह ज्ञान, उन जानने-योग्य शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श गुणमय द्रव्य आदि ज्ञेय-पदार्थों द्वारा किसी भी प्रकार से विकृति को प्राप्त नहीं होता है। यह जानने के लिए पदार्थों के पास न तो जाता है और न ही पदार्थ इसके पास आते हैं; जानने-हेतु इसे पदार्थ प्रेरित भी नहीं करते हैं। यह सहज-स्वभाव से ही यथा-स्थान रहता हुआ, उन्हें जान लेता है।

पर से पूर्णतया निरपेक्ष, ऐसी सहज स्वाभाविक स्थिति होने पर भी, नय और उपनय सम्बन्धी एकान्तों के समुच्चयरूप वस्तु की स्थिति के ज्ञान से शून्य बुद्धिवाले; ज्ञान के साथ तदुत्पत्ति, तदाकार, तदध्यवसाय कहनेवाले ये प्रसिद्ध अज्ञानी बौद्ध, राग-द्वेषमय क्यों हो रहे हैं और सहज स्वभाव से उत्पन्न, राग-द्वेष के अभावरूप मध्यस्थता को क्यों छोड़ रहे हैं?।।२२२।।

अब, निश्चय-प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचनारूप चारित्र का प्रतिपादन करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **राग द्वेष विभाव शून्य तेजोमय नित्य स्व भाव के,**
ध्याता भिन्न भविष्य भूत सांप्रत कर्मोदयों सभी से।

दूरारूढचरित्रवैभवबलां चञ्चच्चिदर्चिर्मयीं,
विन्दन्ति स्वरसाभिषिक्तभुवनां ज्ञानस्य सञ्चेतनाम्॥३१॥२२३॥

टीका : ***रागद्वेषविभावमुक्तमहसो*** रागद्वेषौ तौ च तौ विभावौ च विभावपर्यायौ ताभ्यां मुक्तं महो येषां ते पुरुषाः। ***ज्ञानस्य सञ्चेतनां*** सम्यग्ज्ञायकत्वं; ***विन्दन्ति*** लभन्ते। कीदृशां तां? ***चञ्चच्चिदर्चिर्मयीं*** चञ्चत् देदीप्यमाना, चित् दर्शनज्ञानं, सैवार्चिः प्रकाशः; तेन निर्वृताम्। ***स्वरसाभिषिक्तभुवनां*** स्वस्य रसेन स्वभावेन, अभिषिक्तं सिञ्चितं, लक्षणया ज्ञातं, भुवनं त्रैलोक्यं यया ताम्। कीदृशास्ते? ***नित्यं*** अविच्छिन्नतया निरन्तरं; ***स्वभावस्पृशः*** स्वभावं चैतन्यस्वरूपं; ***नित्यस्वभावं*** इति पाठः; नित्यश्चासौ स्वभावश्च शुद्धज्ञानस्वभावः तं स्पृशन्ति ध्यानविषयीकुर्वन्ति इति।

पूर्वागामिसमस्तकर्मविकला पूर्वसमस्तकर्मभिर्विकलाः यत्पूर्वकृतं शुभाशुभं कर्म तस्मान्निवर्तयत्यात्मानं तु यः स प्रतिक्रमणं; भविष्यत्समस्तकर्मविकलाः यद्भविष्य-

---

अतिशयतायुत व्यक्त वैभव चरित्र सामर्थ्य से दीप्तिमय,
वेदें निज रस से सभी की ज्ञायक ज्ञान चेतना चिन्मय।।२२३।।

टीकार्थ : रागद्वेषविभावमुक्तमहसो=राग और द्वेष, वे और वे विभाव=विभाव-पर्यायें, उनसे मुक्त है तेज जिनका, वे जीव। **ज्ञानस्य संचेतनां**=सम्यग्ज्ञायकपना; **विन्दन्ति**= प्राप्त करते हैं। उसे कैसे पाते हैं? **चंचच्चिदर्चिर्मयीं**=चंचत्=देदीप्यमान, चित्=दर्शन-ज्ञान, वही है अर्चि=प्रकाश, उससे निर्वृत्त/रचित को पाते हैं। **स्वरसाभिषिक्तभुवनां**=अपने रस= स्वभाव द्वारा, अभिषिक्त=सिंचित=लक्षणा पद्धति से अर्थ हुआ ज्ञात, भुवन=तीन लोक जिसके द्वारा, उसे प्राप्त करते हैं। प्राप्त करनेवाले वे कैसे हैं? **नित्यं**=अविच्छिन्नरूप से निरन्तर; **स्वभावस्पर्शः**=स्वभाव=चैतन्य-स्वरूप; **नित्यस्वभाव**=ऐसा भी पाठ है; नित्य और वह स्वभाव, शुद्ध-ज्ञान-स्वभाव, उसका स्पर्श करते हैं, उसे ध्यान का विषय करते हैं/ उसका ध्यान करते हैं - ऐसा अर्थ है।

पूर्वागामिसमस्तकर्मविकला=पूर्व-कालीन समस्त कर्मों से रहित, जो पूर्वकृत शुभ और अशुभ-कर्म, उनसे जो आत्मा को निवृत्त करता है, वह प्रतिक्रमण है; भविष्य-कालीन समस्त कर्मों से रहित, जो भविष्य-सम्बन्धी शुभ और अशुभ-कर्म हैं, उनसे जो आत्मा को निवृत्त करता है, वह प्रत्याख्यान है; इससे आत्मा का प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान

च्छुभाशुभं कर्म तस्मान्निवर्तते य आत्मानं स प्रत्याख्यानं; अनेनात्मनः प्रतिक्रमणप्रत्याख्याने निगदिते, तदात्वोदयात् तदातनोदीर्णकर्मणः भिन्नाः, अनेनालोचनमुक्तं; यच्छुभाशुभं कर्मोदीर्णं सम्प्रति चानेकविस्तरविशेषं यश्च नित्यमालोचयति स खल्वालोचना चेतयतेति।

कुतः लभन्ते तां ? ***दूरारूढचरित्रवैभवबलां*** दूरारूढं नित्यं प्रत्याख्यानप्रतिक्रमणा-लोचनात्स्वभावात् दूरं अतिशयेन, आरूढं सम्प्राप्तं, चरित्रं तत्त्रितयलक्षणं, तस्य वैभवं माहात्म्यं, तस्य बलात् सामर्थ्यात्, इति स्वरूपं चारित्रं निगदितम्॥ ३१॥

अथ ज्ञानसञ्चेतनां चेतयते—

कहा गया है; वर्तमान-सम्बन्धी उदय से, वर्तमान-सम्बन्धी उदीरणारूप कर्मों से भिन्न, इससे आलोचना को कहा है; अनेक प्रकार से विस्तार और विशेषरूप उदय या उदीरणा को प्राप्त जो शुभ और अशुभ-कर्म, उनकी जो नित्य आलोचना करता है, वह वास्तव में आलोचना का वेदन करता है।

उन्हें कैसे प्राप्त करते हैं? **दूरारूढचरित्रवैभवबला**=नित्य प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण और आलोचनारूप स्वभाव से, दूर=अधिकता द्वारा, आरूढ़=भली-भाँति प्राप्त, वह तीन लक्षणरूप चारित्र, उसका वैभव=माहात्म्य, उसके बल=सामर्थ्य से - इस प्रकार चारित्र का स्वरूप कहा है।

अर्थात्, भूत-कालीन शुभ, अशुभरूप सभी कर्मों से स्वयं को पृथक् करना, प्रतिक्रमण है; भविष्य-कालीन शुभ-अशुभरूप सभी कर्मों से स्वयं को पृथक् करना, प्रत्याख्यान है; वर्तमान में अनेक रूपों में विस्तृत, विविध विशेषरूप और उदय या उदीरणा को प्राप्त शुभ-अशुभरूप सभी कर्मों से स्वयं को पृथक् करना, आलोचना है।

इन प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना द्वारा, क्रमशः भूत, भावी और वर्तमान सम्बन्धी सभी कर्मों से पूर्णतया पृथक्; राग, द्वेषरूप विभाव-पर्यायों से रहित, तेज-सम्पन्न; सदा, अविच्छिन्नरूप से निरन्तर अपने चैतन्यमय शुद्ध-ज्ञान-स्वभाव का ध्यान करनेवाले जीव; नित्य प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, आलोचना की अधिकता से भली-भाँति व्यक्त चारित्ररूपी वैभव की सामर्थ्य से देदीप्यमान दर्शन-ज्ञानमय प्रकाश से रचित, अपने स्वभाव द्वारा तीन लोकों को जाननेवाली ज्ञान की सम्यक्-चेतना का वेदन/अनुभव करते हैं।।२२३।।

अब, ज्ञान-संचेतना का वेदन बताते हैं—

उपजाति : **ज्ञानस्य सञ्चेतनयैव नित्यं, प्रकाशते ज्ञानमतीव शुद्धम्।**
अज्ञानसञ्चेतनया तु धावन् बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि बन्धः ॥३२॥२२४॥

टीका : ***ज्ञानस्य*** आत्मनः, गुणे गुणिन उपचारः; ***सञ्चेतनया*** सम्यग्ध्यानेन; ***एव*** निश्चयेन; ***ज्ञानं*** बोधः; ***नित्यं*** निरन्तरं; ***प्रकाशते*** चकास्ति। किं? ***अतीव शुद्धं*** अत्यन्तं निरावरणं; ***तु*** पुनः; ***अज्ञानसञ्चेतनया*** ज्ञानादन्यत्र इदमहमिति चेतनं अज्ञानचेतना; सा द्विधा—कर्मचेतना कर्मफलचेतना च। तत्र ज्ञानादन्यत्र इदमहं करोमीति चेतनमाद्या, वेदयेऽहं ततोऽन्यत्रेदमिति चेतनं द्वितीया, तया; ***बन्धः*** अष्टविधकर्मणां बन्धः; ***धावन्*** आस्कन्दन् सन्; ***बोधस्य*** ज्ञानस्य; ***शुद्धिं निरुणद्धि*** आच्छादयति अतो मोक्षार्थिना सा हेया॥ ३१ ॥

उपजाति : **निज ज्ञान संचेतन से ही नित्य, हो ज्ञान विकसित अत्यन्त शुद्ध।**
अज्ञान संचेतन से रुके नित, निज ज्ञान शुद्धि हो अधिक बन्ध।।२२४।।

टीकार्थ : ज्ञानस्य=गुण में गुणी के उपचाररूप आत्मा के; **सञ्चेतनया**=सम्यक्-ध्यान से; **एव**=ही, निश्चय से; **ज्ञानं**=बोध; **नित्यं**=निरन्तर; **प्रकाशते**=प्रकाशित होता है। वह ज्ञान कैसा है? **अतीव शुद्धं**=आवरण से पूर्णतया रहित, अत्यन्त शुद्ध है; **तु**=और; **अज्ञानसञ्चेतनया**=ज्ञान से भिन्न 'यह मैं' - इस प्रकार का संचेतन, अज्ञान-चेतना है; वह दो प्रकार की है - कर्म-चेतना और कर्म-फल-चेतना। वहाँ ज्ञान से भिन्न 'यह मैं करता हूँ' - इस प्रकार का संचेतन, पहली/कर्म-चेतना है; उसी ज्ञान से भिन्न 'यह मैं भोगता हूँ' - इस प्रकार का संचेतन, दूसरी कर्म-फल-चेतना है, उसके द्वारा; **बन्धः**=आठ प्रकार-युक्त कर्मों का बन्ध; **धावन्**=दौड़ता/प्राप्त होता हुआ; **बोधस्य**=ज्ञान की; **शुद्धिं**=शुद्धि को; **निरुणद्धि**=आच्छादित करता है; अतः मोक्षार्थियों के लिए वह हेय है।

अर्थात्, चेतने/वेदन करने को चेतना कहते हैं। वह तीन प्रकार की है - १. ज्ञान-चेतना, २. कर्म-चेतना, ३. कर्म-फल-चेतना। सहज ज्ञान-स्वभाव का वेदन, ज्ञान-चेतना है। मैं यह करता हूँ - इस प्रकार कर्तृत्वरूप वेदन, कर्म-चेतना है। मैं यह भोगता हूँ - इस प्रकार भोक्तृत्वरूप वेदन, कर्म-फल-चेतना है। कर्म और कर्म-फल-चेतना को अज्ञान-चेतना भी कहते हैं। यहाँ इस ज्ञान और अज्ञान-चेतना की मीमांसा की गयी है, जो इस प्रकार है —

गुण में गुणी का उपचार कर, ज्ञानमय आत्मा के संचेतन/सम्यक्-ध्यान से ही वास्तव में सदा आवरण से पूर्णतया रहित, परिपूर्ण शुद्ध-ज्ञान प्रकाशित होता है और ज्ञान

अथ नैष्कर्म्यमवलम्बते—

आर्या : **कृतकारितानुमननैस्त्रिकालविषयं मनोवचनकायैः।**
परिहृत्य कर्म सर्वं, परमं नैष्कर्म्यमवलम्बे॥३३॥२२५॥

टीका : ***परमं*** उत्कृष्टतमं; ***नैष्कर्म्यं*** कर्मस्वभावातिक्रान्तं स्वं; ***अवलम्बे*** अहमवलम्बयामि। किं कृत्वा? ***त्रिकालविषयं*** अतीतानागतवर्तमानविषयं; ***सर्वं कर्म; कृतकारितानुमननैः*** कृतं स्वयं, कारितं परैः, अनुमनितं परकृतानुमोदितं; ***मनोवचनकायैः परिहृत्य*** निराकृत्य मनोवचनकायैः कृतकारितानुमननैः यदतीतकर्मनिराकरणं तत्प्रतिक्रमणं, यत्तैस्तैर्वर्तमानकर्म निराकरणमालोचना, यद्भविष्यत्कर्म तैस्तैर्निराकरणं, तत्प्रत्याख्यानं, तदक्षसञ्चारिणा नीयते 'पढमक्खो अन्तगतो आदिगदो सङ्कमेदि विदियक्खो' इति सूत्रेण। तथाहि—

यन्मनसा कृतं दुष्कृतं मे मिथ्येति, यन्मनसा कारितं मिथ्या मे दुष्कृतमिति,

---

से भिन्न कर्म और कर्म-फल-चेतनामय अज्ञान-चेतना द्वारा आठ कर्मों का बन्ध हो, ज्ञान की शुद्धि आच्छादित होती है; अत: मोक्षार्थियों को यह अज्ञान-चेतना हेय है।।२२४।।

अब, निष्कर्मता का अवलम्बन करते हैं—

आर्या : **कृतकारितानुमत से, मन वच तन से त्रिकाल सम्बन्धी।**
सब कर्म छोड़ उत्तम निष्कर्मकता का आश्रय ही।।२२५।।

टीकार्थ : परमं=उत्कृष्टतम; **नैष्कर्म्यं**=कर्म-स्वभाव से पूर्णतया रहित, स्वयं आत्मा का; **अवलम्बे**=मैं अवलम्बन लेता हूँ। क्या करके अवलम्बन लेता हूँ? **त्रिकाल-विषयं**=अतीत=भूत, अनागत=भविष्य, वर्तमान सम्बन्धी; **सर्वं कर्म**=सभी कर्म को; **कृतकारितानुमननैः**=कृत=स्वयं करना, कारित=दूसरों से कराना, अनुमनित=दूसरों के द्वारा किए हुए की अनुमोदना करना; **मनोवचनकायैः**=मन, वचन, काय से; **परिहृत्य**= निराकरण कर; मन, वचन, काय पूर्वक कृत, कारित, अनुमोदना से जो भूत-कालीन कर्मों का निराकरण है, वह प्रतिक्रमण है; उन-उन से जो वर्तमान-कर्मों का निराकरण है, वह आलोचना है; उन-उन से जो भविष्य-कालीन कर्मों का निराकरण है, वह प्रत्याख्यान है; वह *'प्रथम अक्ष अन्त को प्राप्त हो, जब आदि स्थान पर आता है, तब द्वितीय अक्ष परिवर्तित होता है'* - इस सूत्र से अक्ष-संचार द्वारा लाया जाता है। वह इस प्रकार -

जो मन के द्वारा किया गया मेरा दुष्कृत है, वह मिथ्या हो; जो मन से कराया गया

यन्मनसानुमनितं मिथ्या मे दुष्कृतमिति यन्मनसा कृतं कारितं मिथ्या मे दुष्कृतं इति। एकसंयोगद्विसंयोगत्रिसंयोगोत्पन्नभेदा एकोनपञ्चाशत्प्रतिक्रमणभेदा जायन्ते ॥३३ ॥

अथ स्वस्वरूपप्रतिक्रमणं चंक्रम्यते—

आर्या : **मोहाद्यदह-मकार्षं, समस्त-मपि कर्म तत्प्रतिक्रम्य।**
आत्मनि चैतन्यात्मनि, निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥३४॥२२६ ॥

टीका : ***आत्मनि*** चिद्रूपे; ***आत्मना*** ज्ञानेन कृत्वा; ***नित्यं वर्ते*** सततमहं प्रवर्तयामि। कीदृशे? ***चैतन्यात्मनि*** चेतनास्वरूपे। पुनः कीदृशे? ***निष्कर्मणि*** कर्ममलातीते। किं कृत्वा? ***तत्*** पूर्वनिबद्धं; ***समस्तमपि; कर्म प्रतिक्रम्य*** निराकृत्य। तत् किं? ***यत्*** कर्म; ***अहं*** अहकं; ***मोहात्*** भ्रान्तिविजृम्भणात्; ***अकार्षं*** कृतवान् यदहमचीकरं यदहं कुर्वन्तमप्यन्यं

मेरा दुष्कृत है, वह मिथ्या हो; जो मन से अनुमोदना किया गया मेरा दुष्कृत है, वह मिथ्या हो; जो मन से कृत और कारित मेरा दुष्कृत है, वह मिथ्या हो; इस प्रकार प्रतिक्रमण के एक संयोग, दो संयोग, तीन संयोग से उत्पन्न भेद की अपेक्षा उनंचास भेद हो जाते हैं।

अर्थात्, भूत, भविष्य, वर्तमान सम्बन्धी सभी कर्मों को स्वयं करनेरूप कृत, दूसरों से करानेरूप कारित, दूसरों के द्वारा किए गए की अनुमोदना करनेरूप अनुमनित पूर्वक मन, वचन, काय से निराकरणमय प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना पूर्वक मैं कर्म-स्वभाव से पूर्णतया रहित, उत्कृष्टतम नैष्कर्म्यमय स्वयं आत्मा का अवलम्बन लेता हूँ।

इनमें से अक्ष-संचार पूर्वक एक संयोगी, दो संयोगी, तीन संयोगी भङ्गों से उत्पन्न प्रत्येक के उनंचास-उनंचास भेद हो जाते हैं। मैं इन सभी से पूर्णतया रहित हूँ।।२२५।।

अब, अपने स्वरूप में प्रतिक्रमण को प्रस्तुत करते हैं—

आर्या : **जो मोह से किए थे, उन सब कर्मों का प्रतिक्रमण करके।**
निष्कर्म चेतनात्मक, स्व में नित वर्तता स्व से।।२२६।।

टीकार्थ : आत्मनि=चिद्रूप आत्मा में; **आत्मना**=अपने ज्ञान के द्वारा; **नित्यं वर्ते**=मैं सतत प्रवृत्ति करता हूँ। कैसे आत्मा में करता हूँ? **चैतन्यात्मनि**=चेतना-स्वरूप आत्मा में करता हूँ। और कैसे मैं करता हूँ? **निष्कर्मणि**=कर्मरूपी मल से रहित, आत्मा में करता हूँ। ऐसा क्या करके करता हूँ? **तत्**=उन पहले बँधे हुए; **समस्तमपि कर्म प्रतिक्रम्य**=सभी कर्मों का निराकरण कर। वह कर्म कैसा है? **यत्**=जो कर्म; **अहं**=मैंने; **मोहात्**=भ्रान्ति के विस्तार से; **अकार्षं**=किया था; जो मैंने कराया था, और जो मैंने करते

समन्वज्ञासं मनसा वचसा वपुषा च एतत्स्वस्वरूपप्रतिक्रमणम् ॥३४॥

इति प्रतिक्रमणकल्पः समाप्तः।

अथालोचनामालोचयति—

आर्या : **मोहविलासविजृम्भितमिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य।**
आत्मनि चैतन्यात्मनि, निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते॥३५॥२२७॥

टीका : *आत्मनि आत्मना नित्यं वर्ते चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि च।* किं कृत्वा? ***इदं*** प्रसिद्धं; ***सकलं*** समस्तं; ***उदयत्*** उदयनिषेकावस्थापन्नं; ***कर्म*** ज्ञानावरणादि; ***आलोच्य*** सम्यग्विवेच्य। किं भूतं? ***मोहविलासविजृम्भितं*** मोहस्य रागद्वेषरूपस्य, विलासः विलासनं, तेन विजृम्भितं निष्पादितम्।

अत्राप्यक्षसञ्चारः—करोमि कारयामि समनुजानामि, मनसा वचसा कायेन। मनसा

हुए अन्य की अनुमोदना की थी, मन से, वचन से और काया से - यह अपने स्वरूप से प्रतिक्रमण है।

अर्थात्, मैंने भ्रान्ति के विस्ताररूप मोह से मन, वचन, काय पूर्वक जो कर्म किए थे, अन्य से कराए थे और स्वयं करते हुए अन्य की अनुमोदना की थी; उन पहले बँधे हुए सभी कर्मों का प्रतिक्रमणरूप निराकरण कर, मैं कर्मरूपी मल से पूर्णतया रहित निष्कर्म, चैतन्यात्मक चिद्रूप आत्मा में, अपने ज्ञान के द्वारा सतत प्रवृत्ति करता हूँ।।२२६।।

इस प्रकार प्रतिक्रमण-कल्प समाप्त हुआ।

अब, आलोचना का विवेचन करते हैं—

आर्या : **मोह विलास से विस्तृत, उदयागत सब करम का आलोचन।**
कर स्व में स्व से नित, वर्तूं निष्कर्म चैतन्य।।२२७।।

टीकार्थ : आत्मनि आत्मना नित्यं वर्ते चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि च=चैतन्यात्मक और निष्कर्म आत्मा में अपने ज्ञान के द्वारा नित्य वर्तता हूँ। क्या करके वर्तता हूँ? **इदं**=इस प्रसिद्ध; **सकलं**=सम्पूर्ण; **उदयत्**=उदयरूप निषेक अवस्था को प्राप्त; **कर्म**=ज्ञानावरणादि कर्म की; **आलोच्य**=सम्यक् विवेचना कर। कैसे कर्म की? **मोहविलास-विजृम्भितं**= राग-द्वेषरूप मोह का; विलास=विलासन, उससे विजृम्भित=निष्पादित/विस्तृत कर्म की आलोचना कर।

यहाँ भी अक्ष-संचार इस प्रकार घटित होगा - मन, वचन, काय से करता हूँ,

कर्म न करोमि, मनसा न कारयामि, मनसा कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि; मनसा न करोमि, न कारयामि; मनसा न करोमि, कुर्वतमप्यन्यं न समनुजानामि एवमेकद्वित्रिसंयोगेन आलोचनभेदा एकोनपञ्चाशत् सम्बोभवन्ति ॥३५ ॥

इत्यालोचनाकल्पः समाप्तः ॥

अथ स्वप्रत्याख्यानमाख्याप्यते—

आर्या : **प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म समस्तं निरस्त-सम्मोहः।**
आत्मनि चैतन्यात्मनि, निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥३६ ॥२२८ ॥

टीका : *चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि आत्मनि नित्यं, आत्मना* कृत्वा; ***वर्ते*** ध्यानरूपेणाहम्। कीदृशोऽहं? ***निरस्तसम्मोहः*** दूरीकृतरागद्वेषः। किं विधाय? ***समस्तं***

कराता हूँ, अनुमोदना करता हूँ; (इस प्रकार के वर्तमान-कालीन दुष्कृत की आलोचना करते हुए) मैं मन से कर्म नहीं करता हूँ, मन से नहीं कराता हूँ, करते हुए किसी अन्य की मन से अनुमोदना नहीं करता हूँ; मन से न करता हूँ और न कराता हूँ; मन से न करता हूँ और करते हुए किसी अन्य की मन से अनुमोदना नहीं करता हूँ (इत्यादि; मन से न करता हूँ, न कराता हूँ और न अन्य की अनुमोदना करता हूँ) – इस प्रकार एक, दो, तीन संयोग द्वारा आलोचना के उनंचास भेद हो जाते हैं।

अर्थात्, राग-द्वेषरूप मोह के विलास से विस्तृत, उदयरूप निषेक अवस्था को प्राप्त इस प्रसिद्ध सम्पूर्ण ज्ञानावरणादि कर्म की आलोचना/सम्यक् विवेचना कर, मैं कर्मों से पूर्णतया रहित निष्कर्म चैतन्यात्मक चिद्रूप-आत्मा में अपने ज्ञान द्वारा सतत प्रवृत्ति करता हूँ।

अक्ष-संचार विधि से पद-परिवर्तन पूर्वक एक, दो, तीन संयोगी भङ्गों द्वारा इसके भी उनंचास भेद हो जाते हैं।।२२६।।

इस प्रकार आलोचना-कल्प समाप्त हुआ।

अब, अपने प्रत्याख्यान को प्रसिद्ध करते हैं—

आर्या : **भावी सब कर्म का ही, प्रत्याख्यान कर मोह विन अब मैं।**
निष्कर्म चेतनात्मक, स्व में नित वर्तता स्व से।।२२८।।

टीकार्थ : चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि आत्मनि नित्यं आत्मना=चैतन्य-स्वभावी, कर्मों से पूर्णतया रहित आत्मा में, सदा आत्मा के द्वारा; **वर्ते**=मैं ध्यानरूप से वर्तता हूँ। मैं कैसा हूँ? **निरस्तसम्मोहः**=राग-द्वेषमय मोह को दूर किया है/उससे रहित हूँ। क्या करके

भविष्यत्कर्म प्रत्याख्याय निराकृत्य-करिष्यत् करिष्यमाणं समनुज्ञास्यन्मनोवचनकायैः निरुध्य।

तथा चाक्षसञ्चारोऽत्र—करिष्यामि कारयिष्यामि समनुज्ञास्यामि मनसा वचसा कायेन। मनसा कर्म न करिष्यामि, मनसा न कारयिष्यामि, मनसा कुर्वन्तमन्यं न समनुज्ञास्यामि; मनसा न करिष्यामि, न कारयिष्यामि; मनसा न करिष्यामि, कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुज्ञास्यामि एवमेकद्वित्रिसंयोगजाः एकोनपञ्चाशत्प्रत्याख्यानभेदा जायन्ते ॥३६ ॥

इति प्रत्याख्यानकल्पः समाप्तः।

अथैतत्त्रयं त्रायते—

उसे दूर किया है? **समस्तं भविष्यत्कर्म प्रत्याख्याय**=भविष्य सम्बन्धी सभी कर्मों का प्रत्याख्यान/निराकरण कर - आगे स्वयं किए जानेवाले कर्म का, दूसरों द्वारा किए जानेवाले कर्म का, दूसरों द्वारा किए जानेवाले की अनुमोदना की जानेवाले कर्म का, मन, वचन, काय पूर्वक निरोध कर, ध्यानरूप से वर्तता हूँ।

यहाँ भी उसी प्रकार से अक्ष-संचार घटित करते हैं - मन, वचन, काय से करूँगा, कराऊँगा, अनुमोदना करूँगा (इस प्रकार से भविष्य-काल सम्बन्धी दुष्कृत्यों का अब प्रत्याख्यान करता हूँ)। मन से कर्म नहीं करूँगा, मन से नहीं कराऊँगा; मन से न करूँगा, अन्य करते हुए की अनुमोदना भी नहीं करूँगा (इत्यादि; मन से न करूँगा, न कराऊँगा और न अन्य की अनुमोदना करूँगा) - इस प्रकार प्रत्याख्यान के एक, दो, तीन संयोग से उत्पन्न उनंचास भेद हो जाते हैं।

अर्थात्, राग-द्वेषमय मोह से रहित मैं, भविष्य सम्बन्धी सभी कर्मों का प्रत्याख्यान कर; चैतन्य-स्वभावी, कर्मों से पूर्णतया रहित आत्मा में, आत्मा के द्वारा, सदा ध्यानरूप से वर्तता हूँ।

एक, दो, तीन संयोगी भङ्गों द्वारा अक्ष-संचार की पद्धति पूर्वक इसके भी उनंचास भेद हो जाते हैं।।२२८।।

इस प्रकार प्रत्याख्यान-कल्प समाप्त हुआ।

अब, ये तीनों आत्मा की सुरक्षा करते हैं, ऐसा स्पष्ट करते हैं—

उपजाति : **पूर्वोक्त से त्रैकालिक करम सब, कर दूर अवलम्बी शुद्धनय का।**
हूँ मोह विरहित मैं ध्यान करता, विकार विरहित चिन्मात्र आत्मा।।२२९।।

उपजाति : **समस्तमित्येवमपास्य कर्म, त्रैकालिकं शुद्धनयावलम्बी।**
विलीनमोहो रहितं विकारैश्चिन्मात्रमात्मानमथावलम्बे॥३७॥२२९॥

टीका : ***अथ*** प्रतिक्रमणादिकथनादनन्तरं; ***चिन्मात्रं*** चेतनामयं; ***आत्मानं*** स्वचिद्रूपं; ***अवलम्बे*** ध्यायामि अहम्। कीदृशं ? ***विकारैः*** कर्मोत्पन्नप्रकृतिभिः ***रहितम्।*** कीदृशोऽहं ? ***शुद्धनयावलम्बी*** शुद्धं स्वस्वरूपं, नयति प्राप्नोति, इति शुद्धनयः, आत्मानं अवलम्बत इत्येवंशीलः। पुनः कीदृशः ? ***विलीनमोहः*** विनष्टरागद्वेषमोहः। किं कृत्वा ? ***इत्येवं*** पूर्वोक्तं प्रतिक्रमणादिकथनरूपेण; ***समस्तं*** निखिलं; ***त्रैकालिकं*** त्रिकाले अतीतानागतवर्तमाने भवं त्रैकालिकं; ***कर्म*** ज्ञानावरणादि; ***अपास्य*** निराकृत्य॥ ३७॥

अथ सकलकर्मफलसन्न्यासभावनां नाटयति—

आर्या : **विगलन्तु कर्मविषतरुफलानि मम भुक्तिमन्तरेणैव।**
सञ्चेतयेऽह-मचलं, चैतन्यात्मान-मात्मानम्॥३८॥२३०॥

टीकार्थ : अथ=अब, प्रतिक्रमण आदि के प्ररूपण के बाद; **चिन्मात्रं**=चेतनामय; **आत्मानं**=स्वयं चिद्रूप आत्मा का; **अवलम्बे**=मैं ध्यान करता हूँ। कैसे आत्मा का ध्यान करता हूँ? **विकारैः**=कर्मरूप से उत्पन्न प्रकृतिरूप विकारों से; **रहितं**=रहित। मैं कैसा हूँ? **शुद्धनयावलम्बी**=शुद्ध=अपने शुद्ध-स्वरूप को, ले जाता है=प्राप्त होता है - ऐसा शुद्ध-नय, आत्मा का अवलम्बन लेता है - इस प्रकार के स्वभाववाला मैं हूँ। मैं और कैसा हूँ? **विलीनमोहः**=राग, द्वेष, मोह के अभावरूप हूँ। क्या करके मैं ऐसा हूँ? **इत्येवं**=इस प्रकार पहले कहे गए प्रतिक्रमण आदि के निरूपण द्वारा; **समस्तं**=सम्पूर्ण; **त्रैकालिकं**=अतीत/भूत, अनागत/भविष्य और वर्तमानरूप त्रिकाल में होना, त्रैकालिक; **कर्म**=ज्ञानावरणादि कर्म का; **अपास्य**=निराकरण कर।

अर्थात्, पूर्वोक्त प्रतिक्रमण आदि द्वारा तीन काल सम्बन्धी, ज्ञानावरणादि सभी कर्मों को दूर कर, शुद्ध-नय के विषयभूत अपने शुद्ध-स्वभाव का अवलम्बन लेनेवाला; राग, द्वेष, मोह के अभावरूप मैं, अब, कर्मरूप से उत्पन्न प्रकृतिमय विकारों से रहित, चेतनामय, स्वयं चिद्रूप आत्मा का ध्यान करता हूँ।।२२९।।

अब, सभी कर्मों के फलों के संन्यास की भावना को प्रगट करते हैं—

आर्या : **कर्म विष वृक्ष के फल, खिर जाएं भोग विन ही नित मुझसे।**
अचल चैतन्य आत्मक, आतम को चेतता नित मैं।।२३०।।

टीका : ***मम*** आत्मनः ***कर्मविषतरुफलानि*** कर्म एव विषतरुः विषवृक्षः चेतनाच्छादकत्वात् तस्य फलानि शुभाशुभानि। ***विगलन्तु*** स्वयं गलित्वा पतन्तु प्रलयं यांत्वित्यर्थः। कथं? ***भुक्तिमन्तरेण*** उदयदानं विना। ***अहं आत्मानं सञ्चेतये*** ध्यायामि। कीदृशं? ***अचलं*** अक्षोभ्यं; ***चैतन्यात्मानं*** दर्शनज्ञानचेतनास्वरूपं; तथाहि—

नाहं मतिज्ञानावरणीयफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये, नाहं श्रुतज्ञानावरणीयफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये एवं ज्ञानावरणपञ्चके, दर्शनावरणनवके, वेदनीयद्विके, दर्शनमोहनीयत्रिके, चारित्रवेदनीयाख्यमोहनीयपञ्चविंशतिके, आयुश्चतुष्के, नामकर्मणस्त्रयोनवतिप्रकृतौ, गोत्रद्विके, अन्तरायपञ्चके योजनीयं विस्तरभयात् सुगमत्वाच्च न लिखितमत्र॥ ३८॥

टीकार्थ : मम=मुझ आत्मा के; **कर्मविषतरुफलानि**=चेतना के आच्छादक होने के कारण, कर्म ही है विष-तरु=विष-वृक्ष, उसके फल शुभ और अशुभ; **विगलन्तु**=स्वयं गलकर गिर जाएँ, प्रलय को प्राप्त हो जाएँ - ऐसा अर्थ है। कैसे समाप्त हो जाएँ? **भुक्तिमन्तरेण**=उदय-दान के विना/भोगे-विना समाप्त हो जाएँ। **अहं आत्मानं सञ्चेतये**=मैं आत्मा का ध्यान करता हूँ। कैसे आत्मा का ध्यान करता हूँ? **अचलं**=क्षोभ से रहित/निष्कम्प; **चैतन्यात्मानं**=दर्शन, ज्ञान चेतना-स्वरूप आत्मा का ध्यान करता हूँ।

वह इस प्रकार—

मैं मतिज्ञानावरण सम्बन्धी फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्य-स्वरूप आत्मा का ही ध्यान करता हूँ; मैं श्रुतज्ञानावरण सम्बन्धी फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्य-स्वरूप आत्मा का ही ध्यान करता हूँ; इस प्रकार पाँचों ज्ञानावरण में, नौ प्रकार के दर्शनावरण में, दो प्रकार के वेदनीय में, तीन प्रकार के दर्शन-मोहनीय में, पच्चीस प्रकार के चारित्र-वेदनीय नामक मोहनीय में, चार प्रकार के आयुष्क में, तेरानवै प्रकृतिवाले नामकर्म में, दो भेदवाले गोत्रकर्म में, पाँच प्रकार के अन्तराय में घटित कर लेना चाहिए; विस्तार भय से और सुगम होने से यहाँ नहीं लिखा है।

अर्थात्, चेतना के आच्छादक होने से कर्मरूपी विष-वृक्ष के शुभ और अशुभरूप फल; मुझ आत्मा द्वारा भोगे-विना ही, स्वयं गलकर समाप्त हो जाएँ। मैं तो क्षोभ-रहित अचल, दर्शन-ज्ञान चेतना-स्वरूप आत्मा का ध्यान करता हूँ। यहाँ भेद-विज्ञान की भावना को दृढ़ करने के लिए 'मैं कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्य-स्वरूप आत्मा का ही

अथात्मतत्त्वे कालावलीं सफलामभिरमयति—

वसन्ततिलका : **निश्शेषकर्मफलसन्न्यसनान्ममैवं,**
सर्वक्रियान्तरविहारनिवृत्तवृत्तेः।
चैतन्यलक्ष्म भजतो भृशमात्मतत्त्वं,
कालावलीयमचलस्य वहत्वनन्ता॥३९॥२३१॥

टीका : *मम* मे; ***इयं*** प्रसिद्धा; ***कालावली*** कालसमयपंक्तिः; ***अनन्ता*** अनन्त-समयावच्छिन्ना; ***वहतु*** यातु। कीदृशस्य मे? ***भृशं*** अत्यर्थं; ***आत्मतत्त्वं*** स्वस्वरूपं; ***भजतः*** आश्रयतः। कीदृशं? ***चैतन्यलक्ष्म*** चैतन्यमेव लक्ष्म लक्षणं यस्य तत्। ***अचलस्य*** अचल ***एवं*** पूर्वोक्तप्रकारेण। ***निश्शेषकर्मफलसन्न्यसनात्*** निश्शेषाणि समस्तानि तानि च तानि कर्मफलानि च अज्ञानत्वशुभाशुभादीनि तेषां, सं सम्यक् प्रकारेण, न्यसनं परित्यजनं, तस्मात्। पुनः किम्भूतस्य मे? ***सर्वक्रियान्तरविहारनिवृत्तवृत्तेः*** स्वक्रियाया अन्या क्रिया क्रियान्तरं,

---

ध्यान करता हूँ' – इस प्रकार से कर्म की मूल आठ और उत्तर एक सौ अड़तालीस प्रकृतियों में पृथक्-पृथक् घटित कर लेना चाहिए; इससे उपयोग विशेष विशुद्ध होता है।।२३०।।

अब, आत्म-तत्त्व के चिन्तन में सम्पूर्ण कालावली को रमाने/लगा देने में उसकी सफलता का उपदेश देते हैं—

वसन्ततिलका : **सम्पूर्ण कर्म-फल त्याग सभी क्रियान्तर,**
में वृत्ति से निवृत निश्चल चेतनात्मक।
निज आत्म-तत्त्व ध्याते बहु काल सब यह,
जाए सदा अधिकतर नित जो अनन्त।।२३१।।

टीकार्थ : मम=मुझे; **इयं**=यह प्रसिद्ध; **कालावली**=काल के समय की पंक्ति; **अनन्ता**=अनन्त समय से सहित; **वहतु**=प्राप्त हो। कैसे मुझे प्राप्त हो? **भृशं**=अत्यधिकरूप से; **आत्मतत्त्वं**=अपने स्वरूप को; **भजतः**=भजते हुए=उसका आश्रय लिए मुझे प्राप्त हो। कैसे तत्त्व को भजते हुए? **चैतन्यलक्ष्म**=चैतन्य ही है लक्ष्म=लक्षण जिसका, उस तत्त्व को भजते हुए। **अचलस्य**=धीर-वीर को; **एवं**=पहले कहे अनुसार। **निश्शेषकर्मफलसन्न्य-सनात्**=निश्शेष=सम्पूर्ण; वे और वे अज्ञानत्व, शुभ, अशुभ आदि कर्म-फल, उनका, सं=सम्यक् प्रकार से, न्यसन=परित्यजन/त्याग, उससे। और कैसे मुझे? **सर्वक्रियान्तर-विहारनिवृत्तवृत्तेः**=अपनी क्रिया से अन्य क्रिया=क्रियान्तर, सभी क्रियान्तरों में विहार=विचरण

सर्वस्मिन् क्रियान्तरे विहार: विहरणं, तत्र निवृत्ता वृत्तिः प्रवर्तनं यस्य तस्य ॥ ३९ ॥

अथ कर्मफलभुक्तिं भनक्ति—

वसन्ततिलका : **यः पूर्वभावकृतकर्मविषद्रुमाणां,**
भुंक्ते फलानि न खलु स्वत एव तृप्तः।
आपातकालरमणीयमुदर्करम्यं,
निष्कर्मशर्ममयमेति दशान्तरं सः ॥४०॥२३२॥

टीका : *खलु* निश्चितम्। ***यः*** पुमान्; ***स्वत एव*** स्वस्वभावत एव; ***तृप्तः*** सन्तृप्तः। ***पूर्वभावकृतकर्मविषद्रुमाणां*** पूर्वभावैः पूर्वोदयितविभावपरिणामैः कृतानि कर्माणि तान्येव विषद्रुमाः विषवृक्षाः तेषाम्। ***फलानि*** सुखदुःखादीनि; ***न भुंक्ते*** ततो भिन्नत्वेन तत्फला-स्वादको न भवति। ***सः*** योगी; ***दशान्तरं*** संसारावस्थातः अवस्थान्तरं मोक्षं; ***एति*** प्राप्नोति।

करना, वहाँ से निवृत्त हो गयी है वृत्ति=प्रवर्तन जिसका, ऐसे मुझे प्राप्त हो।

अर्थात्, अज्ञानता, शुभ, अशुभ आदि सभी प्रकार के कर्म-फलों के सम्यक् प्रकार से त्याग पूर्वक, आत्मिक-क्रिया के अतिरिक्त अन्य सभी क्रियान्तरों में विहार करने से निवृत्त भाववाले, अत्यधिकरूप में चैतन्य-स्वरूपी अपने आत्म-तत्त्व का सेवन करनेवाले अचल मुझे, यह प्रसिद्ध अनन्त समय-सहित काल के समय की पंक्ति, सतत आत्म-तत्त्व के आश्रयरूप में प्रवाहित होती रहे/मैं सदा आत्मा में ही स्थिर रहूँ।।२३१।।

अब, कर्म-फल के भोगने का विरोध करते हैं—

वसन्ततिलका : **जो पूर्व भाव कृत विष-तरुमय सुकर्मज,**
फल नहीं भोगे सतत स्व भाव तृप्त।
वह प्राप्त काल रमणीय भविष्य रम्य,
निष्कर्म सुखमय दशान्तर पाए मुक्त।।२३२।।

टीकार्थ : खलु=निश्चित अर्थ का वाचक अव्यय है। **यः**=जो जीव; **स्वत एव**= अपने स्वभाव से ही; **तृप्तः**=सन्तुष्ट है। **पूर्वभावकृतकर्मविषद्रुमाणां**=पूर्व भाव=पहले उदय में आए विभाव-परिणामों से किए गए कर्म, वे ही हैं विषद्रुम=विषवृक्ष, उनके; **फलानि**=सुख-दु:ख आदिरूप फल; **न भुंक्ते**=उनसे भिन्नता होने के कारण, उनके फल का स्वाद लेनेवाला नहीं होता है। **सः**=वह योगी; **दशान्तरं**=संसार अवस्था से अन्य अवस्था=मोक्ष को; **एति**=प्राप्त होता है। कैसे मोक्ष को प्राप्त होता है? **आपातकालरमणीयं**=आपात

कीदृशं ? ***आपातकालरमणीयं*** आपातकाले तत्प्राप्तिकाले, रमणीयं मनोज्ञम्। ननु प्राप्तिकाले भोगसुखवद्रमणीयं तदानादरणीयमित्याकांक्षायां ***उदर्करम्यं*** उदर्के उत्तरकाले, रम्यं मनोज्ञम्। ***निष्कर्मशर्ममयं*** निष्कर्म कर्मातीतं, तच्च तच्छर्म च, तेन निर्वृत्तम्॥४०॥

अथ प्रशमरसपानं पाययति—

स्रग्धरा : **अत्यन्तं भावयित्वा विरतिमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च,**
प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञानसञ्चेतनायाः।
पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसञ्चेतनां स्वां,
सानन्दं नाटयन्तः प्रशमरसमितः सर्वकालं पिबन्तु॥४१॥२३३॥

टीका : ***इतः*** कर्मतत्फलविरक्तिभजनादनन्तरं; ***सर्वकालं*** सर्वदा; ***प्रशमरसं*** साम्यपीयूषं; ***पिबन्तु*** आस्वादयन्तु योगिनः। कीदृशास्ते ? ***स्वां*** स्वकीयां; ***ज्ञानसञ्चेतनां***

काल=उसकी प्राप्ति के काल में रमणीय=मनोज्ञ।

प्रश्नकार कहता है कि 'भोग-सुख के समान, यदि यह भी मात्र प्राप्ति-काल में रमणीय है, तो आदर करने/प्रगट करने-योग्य नहीं है।' - इसका उत्तर देने की आकांक्षा से कहते हैं कि **उदर्करम्यं**=उदर्क=उत्तर/आगामी काल में, रम्य=मनोज्ञ है। **निष्कर्मशर्ममयं**= निष्कर्म=कर्म से रहित, वह और वह सुख, उससे निर्वृत्त/रचित मोक्ष को प्राप्त होता है।

अर्थात्, वास्तव में अपने स्वभाव से ही तृप्त/सन्तुष्ट जो ज्ञानी, पहले उदय में आए विभाव-भावों से किए गए कर्मरूपी विष-वृक्षों के सुख-दुःख आदिरूप फल को, स्वयं से भिन्न होने के कारण, नहीं भोगता है; वह संसार अवस्था से पूर्णतया पृथक्, प्राप्ति-काल में रमणीय, आगामी-काल में मनोज्ञ, कर्मों से पूर्णतया रहित, परिपूर्ण सुखमय मोक्ष अवस्था को प्राप्त होता है।।२३२।।

अब, प्रशम-रस का पान कराते हैं—

स्रग्धरा : अधिकाधिक भावना कर सदा विरक्ति करम करम फल से,
व्यक्त सम्पूर्ण अज्ञान संचेतन हो नित विनष्ट सु जिससे।
पूर्ण कर स्व भाव निज रस से परिपूर्ण ज्ञान संचेतना स्व,
सानन्द व्यक्त नित ही अब से वेदें वे स्वयं साम्य रस बस।।२३३।।

टीकार्थ : इतः=कर्म और उसके फल से विरक्ति का वेदन करने के बाद; **सर्वकालं**=सर्वदा; **प्रशमरसं**=समतारूपी अमृत; **पिबन्तु**=योगीजन पिएँ=आस्वादें। वे

ज्ञानं मे ज्ञानस्याहमिति भावनां; ***सानन्दं*** हर्षोद्रेकं यथा भवति तथा; ***नाटयन्तः*** कुर्वन्तः। किं कृत्वा? ***स्वरसपरिणतं*** स्वस्य आत्मनः, रसः, तत्र परिगतं प्राप्तम्। ***स्वभावं*** स्वरूपं; ***पूर्णं*** सम्पूर्णं; ***कृत्वा*** विधाय।

तदपि किं कृत्वा? ***प्रस्पष्टं*** व्यक्तं यथा भवति तथा; ***अखिलाज्ञानसञ्चेतनायाः*** अखिला समस्ता चासावज्ञानचेतना च कर्मचेतना कर्मफलचेतना च तस्याः; ***प्रलयनं*** विनाशनं; ***नाटयित्वा*** विधाय। तदपि किं कृत्वा? ***अविरतं*** निरन्तरं; ***कर्मणः*** ज्ञानावरणादेः; ***च*** पुनः; ***तत्फलात्*** तेषां कर्मणां फलात् रागद्वेषादेः; ***अत्यन्तं*** निश्शेषं; ***विरतिं*** विरक्तिं; ***भावयित्वा*** सम्भाव्य कृत्वेत्यर्थः ॥ ४१ ॥

अथेतो ज्ञानं विवेचयति—

कैसे हैं? **स्वां**=स्वकीय/अपनी; **ज्ञानसञ्चेतनां**=ज्ञान, मेरा है; मैं, ज्ञान का हूँ - इस प्रकार की भावनामय ज्ञान की संचेतना को; **सानन्दं**=हर्ष की अधिकता जैसे होती है, उस प्रकार आनन्द-सहित; **नाटयन्तः**=करते हुए। क्या कर ऐसा करते हुए? **स्वरसपरिगतं**=स्व=अपने आत्मा का, रस, उसमें परिगत=प्राप्त। **स्वभावं**=स्वरूप; **पूर्णं**=सम्पूर्ण; **कृत्वा**=करके आनन्द-सहित होते हुए।

वह भी क्या कर? **प्रस्पष्टं**=व्यक्त जैसे होता है, उस प्रकार; **अखिलाज्ञान-सञ्चेतनायाः**=अखिल=समस्त वह और वह कर्म-चेतना और कर्म-फल-चेतनारूप अज्ञान-चेतना, उसका; **कर्मणः**=ज्ञानावरणादि कर्मों से; **च**=और; **तत्फलात्**=उन कर्मों के फलमय राग-द्वेष आदि से; **अत्यन्तं**=निश्शेष/पूर्णतया; **विरतिं**=विरक्ति की; **भावयित्वा**= भली-भाँति भावना कर - ऐसा अर्थ है।

अर्थात्, ज्ञानावरणादि कर्मों से और उन कर्मों के फलमय राग, द्वेष आदि से, पूर्णतया विरक्ति की निरन्तर भली-भाँति भावना कर; सम्पूर्ण कर्म-चेतना और कर्म-फल-चेतनारूप अज्ञान-चेतना को अत्यन्त स्पष्टरूप में पूर्णतया विनष्ट कर, अपने आत्मिक-रस से व्याप्त स्वभाव को परिपूर्ण करके; 'ज्ञान, मेरा है; मैं, ज्ञान का हूँ' - इस प्रकार की भावनामय अपनी ज्ञानमय संचेतना को हर्ष की अधिकतामय आनन्द पूर्वक नचाते हुए, कर्म और उसके फल से विरक्ति का वेदन करने के बाद, अब सदैव समतारूपी अमृतमय प्रशम-रस का आस्वादन/सेवन करें।।२३३।।

अब, यहाँ से ज्ञान का विवेचन करते हैं—

वंशस्थ : **इतः पदार्थप्रथनावगुंठनात् विना कृतेरेकमनाकुलं ज्वलत्।**
समस्तवस्तुव्यतिरेकनिश्चयाद्विवेचितं ज्ञानमिहावतिष्ठते॥४२॥२३४॥

टीका : ***इह*** आत्मनि जगति वा; ***ज्ञानं*** बोधः; ***विवेचितं*** भिन्नं; ***अवतिष्ठते*** आस्ते। कुतः ? ***इतः*** अस्मात्; ***पदार्थप्रथनावगुंठनात्*** पदार्थानां शास्त्रशब्दरूपरसगन्धवर्णस्पर्श-कर्मधर्माधर्मकालाकाशाध्यवसायादीनां, प्रथनं विस्तारः, तस्य अवगुंठनात् न श्रुतं ज्ञानं अचेतनत्वात् ततो ज्ञानश्रुतयोर्व्यतिरेकः एवं शब्दादिषु योज्यम्। ***कृतेः*** कारणं तस्य; ***विना*** अन्तरेण क्रियाया अन्तरेण स्वभावादित्यर्थः। ***एकं*** अद्वितीयं; पुनः कीदृशं ? ***अनाकुलं*** आकुलतारहितं; पुनः कीदृशं ? ***ज्वलत्*** देदीप्यमानम्। कुतः ? ***समस्तवस्तुव्यतिरेक-निश्चयात्*** समस्तानां निखिलानां, वस्तूनां शास्त्रशब्दादीनां, व्यतिरेकः भिन्नत्वं, ज्ञानान्यार्थयो-र्भिन्नत्वं, तस्य निश्चयः निर्णयः, तस्मात्॥ ४२॥

वंशस्थ : **पदार्थ विस्तृत स्व से गुथित सब, अतः सभी पूर्ण पृथक् परस्पर।**
अतः विना इनके एक ज्योतित, अनाकुली ज्ञान यहाँ अवस्थित।।२३४।।

टीकार्थ : इह=इस आत्मा में या जगत में; **ज्ञानं**=बोध; **विवेचितं**=भिन्न; **अवतिष्ठते**=स्थित रहता है। किससे स्थित रहता है? **इतः**=इस; **पदार्थप्रथनावगुण्ठनात्**= शास्त्र, शब्द, रूप, रस, गन्ध, वर्ण, स्पर्श, कर्म, धर्म, अधर्म, काल, आकाश, अध्यवसाय आदि पदार्थों का; प्रथन=विस्तार, उसके अवगुण्ठन/सम्बन्ध से श्रुत-ज्ञान नहीं होता है, क्योंकि ये अचेतन हैं; अतः ज्ञान और श्रुत/शास्त्र में पृथक्ता है; इसी प्रकार शब्दादि में घटित करना चाहिए। **कृतेः**=कृति का कारण, उसके; **विना**=विना, क्रिया के विना स्वभाव से है - ऐसा अर्थ है। **एकं**=एक अद्वितीय; और कैसा है? **अनाकुलं**=आकुलता से रहित; और कैसा है? **ज्वलत्**=देदीप्यमान है। वह ऐसा कैसे/क्यों है? **समस्तवस्तुव्यतिरेक-निश्चयात्**=शास्त्र, शब्द आदि सम्पूर्ण वस्तुओं का, व्यतिरेक=भिन्नत्व, ज्ञान और अन्य पदार्थों में भिन्नता, उसका निश्चय=निर्णय, उससे ऐसा है।

अर्थात्, शास्त्र, शब्द, रूप, रस, गन्ध, वर्ण, स्पर्श, कर्म, धर्म, अधर्म, काल, आकाश, अध्यवसाय आदि पदार्थों के विस्तार से गुँथित होने के कारण, इनकी क्रिया के विना ही एक, अद्वितीय, अनाकुल, देदीप्यमान ज्ञान; शास्त्र, शब्द आदि सम्पूर्ण वस्तुओं से पूर्णतया पृथक्ता का निर्णय हो जाने के कारण, इनसे अति भिन्न रह, आत्मा में या जगत में अवस्थित रहता है।

अथ ज्ञानस्य मध्याद्यन्तराहित्यमर्हते—

शार्दूलविक्रीडित : **अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं बिभ्रत्पृथग्वस्तुता-**
मादानोज्झनशून्यमेतदमलं ज्ञानं तथावस्थितम्।
मध्याद्यन्तविभागमुक्तसहजस्फारप्रभाभासुरः,
शुद्धज्ञानघनो यथास्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति॥४३॥२३५॥

टीका : ***तथा*** तेनैव प्रकारेण; ***एतत्*** प्रसिद्धं; ***ज्ञानं*** बोधः; ***अवस्थितं*** व्यवस्थितम्। कीदृशं ? ***अन्येभ्यः*** सर्वपरद्रव्येभ्यः, ***व्यतिरिक्तं*** भिन्नं, अनेनातिव्याप्तिः परिहृता। ***आत्मनियतं*** सर्वदर्शनादिजीवस्वप्रतिष्ठं, अनेनाव्याप्तिः परिहृता ज्ञानस्य। पुनः कीदृशम् ? ***पृथग्वस्तुतां*** परपदार्थेभ्यो भिन्नस्वभावं परिच्छेदकलक्षणं; ***बिभ्रत्*** दधत् अनेन असम्भवः परिहृतः।

आदानोज्झनशून्यं परवस्तुनः आदानं ग्रहणं, उज्झनं त्यजनं च, ताभ्यां शून्यं

शास्त्र आदि सभी पर-पदार्थ अचेतन होने के कारण, वे इस ज्ञान से पूर्णतया पृथक् हैं; अतः इसकी प्रगटता आदि के कारण नहीं हैं। इन सभी से पूर्णतया निरपेक्ष रहकर, ज्ञान अपने स्वभाव से ही प्रगट होकर सदा विद्यमान रहता है।।२३४।।

अब, ज्ञान का मध्य, आदि, अन्त से रहितपना व्यक्त करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **अन्यों से परिपूर्ण भिन्न आतम में नियत भिन वस्तुता,**
धारी त्याग ग्रहण रहित अमल इस ज्ञान की तथा व्यवस्था।
मध्याद्यन्त विभाग विन सहज ही विस्तृत प्रभा दीप्तियुत,
शुद्ध ज्ञान घनी सदा उदित ही महिमा यथा स्थित।।२३५।।

टीकार्थ : तथा=उसी प्रकार से; **एतत्**=यह प्रसिद्ध; **ज्ञानं**=बोध; **अवस्थितं**=व्यवस्थित है। वह कैसा है? **अन्येभ्यः**=सभी पर-द्रव्यों से; **व्यतिरिक्तं**=भिन्न है; इससे अतिव्याप्ति का निराकरण हो गया। **आत्मनियतं**=दर्शन आदि सभी जीव में स्व-प्रतिष्ठ/भली-भाँति विद्यमान है; इससे ज्ञान की अव्याप्ति का निराकरण हो गया। वह और कैसा है? **पृथग्वस्तुतां**=पर-द्रव्यों से पूर्णतया पृथक् परिच्छेदक/जाननेवाला लक्षणमय स्वभाव को; **बिभ्रत्**=धारण करनेवाला है; इससे असम्भव-दोष का निराकरण हुआ।

आदानोज्झनशून्यं=पर-वस्तुओं का आदान=ग्रहण और उज्झन=त्याग, उन दोनों से शून्य=रहित है। **अमलं**=कर्मरूपी मल से पूर्णतया रहित है। वह ऐसा कैसे/क्यों है? **यथा**

रहितम्। ***अमलं*** कर्ममलातिक्रान्तम्। तथा कथं? ***यथा अस्य*** ज्ञानस्य; ***नित्योदितः*** नित्यमुदीयमानः प्रकाशमानः; ***महिमा*** माहात्म्यं ***तिष्ठति।*** कीदृशः सः? ***मध्याद्यन्तविभाग -मुक्तसहजस्फारप्रभाभासुरः*** मध्यं च आदिश्च अन्तश्च मध्याद्यन्ताः, तेषां विभागः, भेदः; तैः मुक्ता रहिता सा चासौ सहजा स्वाभाविकी, स्फारा विस्तीर्णा, प्रभा दीप्तिश्च लक्षणया ज्ञायकत्वं तया भासुरः प्रकाशनशीलः। पुनः कीदृशः? ***शुद्धज्ञानघनो*** शुद्धज्ञानेन घनः निरन्तरः ॥४३ ॥

अथात्मधारणामनुमोदते—

उपजाति : **उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्तथात्तमादेयमशेषतस्तत्।**
यदात्मनः संहृतसर्वशक्तेः पूर्णस्य संधारणमात्मनीह ॥४४ ॥२३६ ॥

अस्य=जैसे इस ज्ञान का; **नित्योदितः**=नित्य उदीयमान=प्रकाशमान; **महिमा**=माहात्म्य, **तिष्ठति**=विद्यमान रहता है। वह महिमा कैसी है? **मध्याद्यन्तविभागमुक्तसहजस्फार-प्रभाभासुरः**=मध्य और आदि और अन्त - मध्याद्यन्त, उनका विभाग=भेद, उनसे मुक्त=रहित, वह और वह सहज=स्वाभाविक, स्फार=विस्तीर्ण/विस्तृत, प्रभा=दीप्ति और लक्षणा शैली से ज्ञायकत्व, उससे भासुर=प्रकाशन-शील/प्रकाशित है। वह और कैसी है? **शुद्धज्ञानघनो**= शुद्ध-ज्ञान से घन=अन्तर-रहित/ठोस है।

अर्थात्, सभी पर-पदार्थों से पूर्णतया पृथक्, अपने आत्मा में ही भली-भाँति सुनिश्चितरूप में स्थित, परिच्छेदकतामय दर्शन-ज्ञानरूप सामान्य-विशेषात्मक वस्तुत्व को धारण करनेवाला, पर-पदार्थों के ग्रहण-त्याग से रहित, कर्मरूपी मल से पूर्णतया रहित, यह प्रसिद्ध ज्ञान उस प्रकार से व्यवस्थित है; जिस प्रकार से इसकी मध्य, आदि और अन्त के भेद से रहित, सहज, स्वाभाविक, विस्तृत दीप्ति या ज्ञायकता से प्रकाशमान, शुद्ध-ज्ञान-घनरूप महिमा नित्य उदित रहती है।

यह ज्ञानरूप लक्षण, पर-पदार्थों में नहीं होने के कारण, अतिव्याप्ति; आत्मा में सदा सर्वाङ्ग व्याप्त होने से, अव्याप्ति; सामान्य-विशेषात्मक ज्ञायकतामय निज वस्तुत्व को पर से पूर्णतया पृथक् करने का कारण होने से, असम्भव - इस प्रकार तीनों दोषों से पूर्णतया रहित, निर्दोष, यथार्थ लक्षण है।।२३५।।

अब, आत्मा की इस ज्ञान-धारणा का अनुमोदन/समर्थन करते हैं—

उपजाति : **सब हेय छूटे हैं ग्रहण सब ही आदेय का है जो पूर्ण आतम।**
का शक्ति सबसे कर दूर अन्य, एकाग्र होना आतम में आतम।।२३६।।

टीका : ***इह*** अस्मिन्; ***आत्मनि*** चिद्रूपे; ***आत्मनः*** ज्ञानस्वरूपस्य; ***तत्*** प्रसिद्धं; ***संधारणं*** धारणं, एकाग्रताप्रापणम्। कीदृशस्य ? ***संहृतसर्वशक्तेः*** संहृता निवारिता, सर्वा कर्मोपाधिजा, शक्तिः सामर्थ्यं येन तस्य। ***पूर्णस्य*** सम्पूर्णज्ञानशक्तिविशिष्टस्य; ***तत् यत्*** संधारणं तदेव; ***अशेषतः*** सामस्त्येन; ***उन्मोच्यं*** उन्मोक्तुं त्यक्तुं योग्यं; शरीरादि ***उन्मुक्तं*** त्यक्तं; ***तथा*** येन प्रकारेण सर्वं त्यक्तं तेनैव प्रकारेण तत् आत्मसंधारणम्। ***अशेषतः आदेयं*** गृहीतुं योग्यं दर्शनज्ञानादि; ***आत्तं*** गृहीतं, आत्मन उपादानमेव हेयोपादेययोः परित्याग-ग्रहणाभिप्रायः ॥ ४४ ॥

अथास्यानाहारकत्वं शंक्यते—

अनुष्टुप् : **व्यतिरिक्तं परद्रव्या-देवं ज्ञान-मवस्थितम्।**
कथमाहारकं तत्स्याद्येन देहोऽस्य शंक्यते ॥४५॥२३७॥

टीकार्थ : **इह**=इस; **आत्मनि**=चिद्रूप आत्मा में; **आत्मनः**=आत्मा के ज्ञान-स्वरूप का; **तत्**=वह प्रसिद्ध; **संधारणं**=धारण=एकाग्रता को प्राप्त होना। कैसे आत्मा के? **संहृतसर्वशक्तेः**=संहृत=निवारित है, कर्म की उपाधि से उत्पन्न सभी, शक्ति=सामर्थ्य जिसके द्वारा, उसके। **पूर्णस्य**=सम्पूर्ण ज्ञान-शक्ति विशिष्ट पूर्ण आत्मा के; **तत् यत्**=जो वह संधारण है, वह ही, **अशेषतः**=सम्पूर्णरूप से; **उन्मोच्यं**=उन्मोक्त=छोड़ने के योग्य; शरीरादि **उन्मुक्तं**=छोड़ना है; **तथा**=जिस प्रकार से सभी को छोड़ना है; उसी प्रकार से वह आत्मा का संधारण है। **अशेषतः आदेयं**=ग्रहण करने के योग्य दर्शन-ज्ञान आदि सभी को; **आत्तं**=ग्रहण किया; आत्मा को ग्रहण करना ही, हेय और उपादेय का क्रमशः त्याग और ग्रहण है - ऐसा अभिप्राय है।

अर्थात्, अपनी सामर्थ्य द्वारा कर्म की उपाधि से उत्पन्न सभी का निवारण करनेवाले ज्ञान-स्वरूप आत्मा का, इस चिद्रूप आत्मा में, जो सम्पूर्ण ज्ञान-शक्ति विशिष्ट पूर्ण आत्मा का भली-भाँति एकाग्रता को प्राप्त होना है, वह सम्पूर्णरूप से त्याग करने-योग्य शरीर आदि का त्याग है और सम्पूर्णरूप से ग्रहण करने-योग्य दर्शन-ज्ञान आदि सभी का ग्रहण है। इस प्रकार आत्मा में परिपूर्ण स्थिरता से, ग्रहण-योग्य सभी का ग्रहण और त्याग-योग्य सभी का त्याग हो जाता है।।२३६।।

अब, इस ज्ञान के अनाहारकता की शंका करते हैं—

अनुष्टुप् : **पृथक् सब पर-द्रव्यों से, यों सुनिश्चित ज्ञान तब।**
उन्हें कैसे ग्रहे जिससे, तन उसका शंका हो यह।।२३७।।

टीका : ***तत्*** ज्ञानं; ***आहारकं*** आहार्यवस्तुग्राहकं; ***कथं स्यात्***? केन प्रकारेण स्यात्? न केनापि, तस्यामूर्तत्वात् आहारकस्य मूर्तत्वात्। तत् किं? यत् ज्ञानं, ***एवं*** अन्येभ्य इत्यादि-पूर्वोक्तयुक्त्या; ***परद्रव्यात् व्यतिरिक्तं*** भिन्नं; ***अवस्थितं*** सुप्रतिष्ठम्। ***अस्य*** ज्ञानस्य; ***देहः*** शरीरं; ***येन कथं शंक्यते*** आरेक्यते सम्भाव्यते? न कथमपि अस्याना-हारकत्वात्॥ ४५॥

अथालिङ्गमालिंग्यते—

अनुष्टुप् : **एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य देह एव न विद्यते।**
ततो देहमयं ज्ञातुर्न लिङ्गं मोक्षकारणम्॥४६॥२३८॥

टीका : ***एवं*** मूर्तत्वामूर्तत्वप्रकारेण यतः; ***शुद्धस्य*** निष्कल्मषस्य; ***ज्ञानस्य; देह एव*** निश्चयेन ***न विद्यते*** नास्ति। ***ततः*** तस्माद्देहाभावात्; ***ज्ञातुः*** ज्ञायकस्य, पुंसः; ***लिङ्गं***

टीकार्थ : तत्=वह ज्ञान; **आहारकं**=आहार्य वस्तु का ग्राहक/ग्रहण-योग्य वस्तु को ग्रहण करनेवाला; **कथं स्यात्**=किस प्रकार से हो सकता है? उस ग्रहण करनेवाले के अमूर्तता और ग्रहण-योग्य पदार्थों के मूर्तता होने के कारण, किसी भी प्रकार से नहीं हो सकता है। ग्रहण करनेवाला वह कौन है? जो ज्ञान; **एवं**=अन्येभ्यः - इत्यादि पद्यों में पूर्वकथित युक्ति द्वारा इस प्रकार; **परद्रव्यात् व्यतिरिक्तं**=पर-द्रव्य से पृथक्; **अवस्थितं**= सुप्रतिष्ठित है। **अस्य**=इस ज्ञान का; **देहः**=शरीर; **येन कथं शंक्यते**=जिस कारण कैसे हो सकता है? उसके अनाहारकता होने के कारण, किसी भी प्रकार से उसका होना सम्भव नहीं है।

अर्थात्, पहले कहे गए पद्यों द्वारा - 'ज्ञान, पर-पदार्थों से पूर्णतया पृथक् है' - यह सुनिश्चित हुआ। यह ग्रहण करनेवाला ज्ञान, अमूर्त है और ग्रहण-योग्य पदार्थ, मूर्त हैं; तब फिर वह ज्ञान, ग्रहण-योग्य वस्तुओं का ग्राहक कैसे हो सकता है? जिससे कि इस ज्ञान का शरीर है - ऐसी शंका की जाए।।२३७।।

अब, आत्मा के शरीर-सम्बन्धी लिङ्ग /चिह्न नहीं हैं, यह प्ररूपित करते हैं—

अनुष्टुप् : **यों तन ही नहीं शुद्ध ज्ञान का होता कभी।**
लिङ्ग तनमय आतम को, मोक्ष के कारण नहीं।।२३८।।

टीकार्थ : एवं=जिस कारण मूर्तता और अमूर्तता का भेद होने से; **शुद्धस्य**=कल्मष/ मलिनता से रहित; **ज्ञानस्य**=ज्ञान का; **देह एव**=वास्तव में देह ही; **न विद्यते**=नहीं है। **ततः**=उस देह का अभाव होने से; **ज्ञातुः**=ज्ञायक आत्मा के; **लिङ्गं**=पाषण्डी/मुनि-लिङ्ग

पाषंडिलिङ्गं गृहिलिङ्गं वा; ***न मोक्षकारणं*** न मुक्तेर्मार्गः। हेतुगर्भितविशेषणमाह — ***देहमयं*** देहनिर्वृत्तं, यदि देहः स्वकीयो न तर्हि तदाश्रितं लिङ्गं स्वकीयं कथं स्यात्? ॥४६॥

तर्हि को मोक्षमार्गः ? इति चेत्—

अनुष्टुप् : **दर्शन-ज्ञान-चारित्र-त्रयात्मा तत्त्वमात्मनः।**
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा॥४७॥२३९॥

टीका : ***मुमुक्षुणा*** मोक्तुमिच्छुना पुंसा; ***एक एव*** जिनोपदिष्ट एव, न मिथ्योपकल्पितः; ***मोक्षमार्गः*** मोक्षसाधनोपायः; ***सदा*** नित्यं; ***सेव्यः*** आश्रयणीयः। कीदृशः ? ***दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा*** स्वश्रद्धान-स्वज्ञान-स्वचरणत्रयस्वरूपः, एतत्त्रयमन्तरेण तस्यानुपलब्धेः। पुनः ***आत्मनः तत्त्वं*** स्वरूपं, दर्शनादित्रयमन्तरेणात्मस्वरूपाभावात् मोक्षमार्गस्य दर्शनादित्रयात्मकत्वात् च॥४७॥

या गृही/गृहस्थ श्रावक-लिङ्ग; **न मोक्षकारणं**=मोक्ष के मार्ग नहीं हैं। हेतु-गर्भित विशेषण कहते हैं - **देहमयं**=शरीर से रचित, यदि शरीर अपना नहीं है, तब फिर उसके आश्रित लिङ्ग अपना कैसे हो सकता है?

अर्थात्, मूर्तता और अमूर्तता का भेद होने के कारण, इस मलिनता से रहित शुद्ध-ज्ञान के वास्तव में शरीर ही नहीं है। ज्ञायक आत्मा के शरीर का अभाव होने के कारण, जब यह शरीर ही अपना नहीं है, तब फिर इस शरीर से रचित, शरीर के आश्रित मुनि-लिङ्ग या गृहस्थ-लिङ्ग मोक्ष के कारण कैसे हो सकते हैं? नहीं हो सकते हैं।।२३८।।

तब फिर मोक्ष-मार्ग क्या है? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं—

अनुष्टुप् : **आतम का तत्त्व दृग्ज्ञान, चारित्र त्रयात्मक।**
मोक्षमार्ग मुमुक्षु को, एक ही नित सेव्य यह।।२३९।।

टीकार्थ : मुमुक्षुणा=मुक्त होने की इच्छावाले आत्मा द्वारा; **एक एव**=मिथ्या उपकल्पित नहीं; वरन् जिनेन्द्र-भगवान द्वारा कहा गया यह एक ही; **मोक्षमार्गः**=मोक्ष को साधने का उपाय; **सदा**=नित्य; **सेव्यः**=आश्रय लेने-योग्य है। वह कैसा है? **दर्शनज्ञान-चारित्रत्रयात्मा**=अपना श्रद्धान, अपना ज्ञान, अपने में चरण - इन तीन स्वरूप है; इन तीन के विना, उसकी उपलब्धि नहीं होने के कारण। और **आत्मनः तत्त्वं**=दर्शन आदि तीन के विना, आत्मा के स्वरूप का अभाव होने से और मोक्ष-मार्ग के दर्शन आदि त्रयात्मकता होने से, यह आत्मा का तत्त्व=स्वरूप है।

अथ तमेव मोक्षमार्गं मार्गयति—

शार्दूलविक्रीडित : **एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मकः,**
तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति।
तस्मिन्नेव निरन्तरं विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्,
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विन्दति॥४८॥२४०॥

टीका : *यः* सर्वजनप्रसिद्धः; मोक्षमार्गः नानामिथ्यामतिविजृम्भितः, अनेकतां दधानोऽपि; ***एषः मोक्षपथः*** स; ***दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मकः*** दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मकः सन्; ***एकः*** न त्वनेकधा; ***नियतः*** अनेकप्रमाणनयोपन्यासैर्निश्चितः। ***यः*** पुमान्; ***तत्रैव*** मोक्षपथे दर्शनादिरूपे; ***स्थितिं*** निश्चलतां स्वात्मनः; ***एति*** प्राप्नोति; ***च*** पुनः; ***अनिशं*** निरन्तरं; ***तं*** रत्नत्रयरूपं मोक्षपथं एकाग्रो भूत्वा; ***ध्यायेत्*** ध्यानविषयीकुर्यात्।

अर्थात्, दर्शन-ज्ञान-चारित्र के विना, आत्मा का स्वरूप नहीं होने से और मोक्ष-मार्ग के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप त्रयात्मक होने से; मोक्ष के इच्छुक जीव को आत्मा का दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप त्रयात्मक यथार्थ तत्त्वमय यह एक ही जिनोपदिष्ट मोक्ष-मार्ग, आराधन करने-योग्य है; अन्य किन्हीं मिथ्या कल्पित साधनों से, मोक्ष की प्राप्ति कभी भी नहीं होती है।।२३९।।

अब, उसी मोक्ष-मार्ग का समर्थन करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **दृग्ज्ञप्ति चारित्रमय नियत ही यह एक जो मोक्ष-पथ,**
इसमें ही पा स्थिति इसी को ध्याते सुवेदें सतत।
इसमें ही करते विहार नित ही पर-द्रव्य आश्रय-रहित,
पाते शीघ्र निजात्म-सार निश्चित वे स्वयं नित ही उदित।।२४०।।

टीकार्थ : यः=सभी जनों में प्रसिद्ध जो; अनेक प्रकार की मिथ्या बुद्धियों से विस्तृत हो, अनेकता को धारण करता हुआ भी; **एषः मोक्षपथः**=वह मोक्ष-मार्ग; **दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मकः**=दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप त्रयात्मक होता हुआ; **एकः**=एक है; अनेक प्रकार का नहीं है; **नियतः**=यह अनेक प्रमाण और नय के यथार्थ कथनों से निश्चित है। **यः**=जो जीव; **तत्रैव**=दर्शन आदिरूप उस मोक्ष-मार्ग में ही; **स्थितिं**=अपने आत्मा की निश्चलता को; **एति**=प्राप्त होता है; **च**=और; **अनिशं**=निरन्तर; **तं**=रत्नत्रयरूप उस मोक्ष-मार्ग को एकाग्र होकर; **ध्यायेत्**=ध्यान का विषय करें।

पुन: य: तं मोक्षपथं, सकलकर्मफलचेतनासंन्यासेन शुद्धज्ञानचेतनामयी भूत्वा ***चेतति*** मुहुर्मुहुरनुभवति; ***निरन्तरं*** प्रतिक्षणं; ***तस्मिन्नेव*** दर्शनादित्रयात्मके मोक्षपथे; ***विहरति*** अनुचरति। कीदृश: सन्? ***द्रव्यान्तराणि*** परद्रव्याणि; ***अस्पृशन्*** अनाश्रयन् मनागपि स्वकीयान्यकुर्वन्; ***स:*** पुमान्; ***अचिरात्*** शीघ्रं तद्भवे तृतीयभवादौ वा; ***अवश्यं*** नियमत: ***समयस्य*** पदार्थस्य सिद्धान्तशासनस्य वा; ***सारं*** परमात्मानं टङ्कोत्कीर्णस्वभावं; ***विन्दति*** लभते, साक्षात् परमात्मा भवतीति यावत्। कीदृशं? ***नित्योदयं*** नित्यमुदीयमानम्॥४८॥

और जो समस्त कर्म-फल-चेतना के त्याग पूर्वक शुद्ध चेतनामयी होकर, उस मोक्ष-मार्ग का **चेतति**=बारम्बार अनुभव करता है; **निरन्तरं**=प्रतिक्षण; **तस्मिन्नेव**=उस दर्शनादि त्रयात्मक मोक्ष-मार्ग में ही; **विहरति**=अनुचरता/विहार करता है। कैसा होता हुआ वह उसमें विहार करता है? **द्रव्यान्तराणि**=पर-द्रव्यों का; **अस्पृशन्**=थोड़ा भी आश्रय नहीं लेता हुआ, उन्हें रंचमात्र भी अपना नहीं करता हुआ; **स**:=वह आत्मा; **अचिरात्**=उसी भव में या तीसरे भव आदि में शीघ्र; **अवश्यं**=नियम से; **समयस्य**=पदार्थ के या सिद्धान्त शासनरूप समय के; **सारं**=टंकोत्कीर्ण स्वभावमय परमात्मारूप सार को; **विन्दति**=प्राप्त करता है, साक्षात् परमात्मा हो जाता है। कैसे सार को प्राप्त करता है? **नित्योदयं**=नित्य उदित रहनेवाले सार को प्राप्त करता है।

अर्थात्, अनेक प्रकार की मिथ्या बुद्धियों से विस्तृत हो अनेक-रूपता को धारण करता हुआ भी, जो यह सभी जनों में प्रसिद्ध दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप त्रयात्मक होता हुआ भी एक रूप; अनेक प्रमाण और नयों के यथार्थ कथनों द्वारा सुनिश्चित मोक्ष-मार्ग है; कपोल-कल्पित अनेक प्रकार का नहीं है। जो जीव, दर्शन आदिरूप इस मोक्ष-मार्ग में ही अपने आत्मा की निश्चलता को प्राप्त होता है, रत्नत्रयरूप इस मोक्ष-मार्ग का एकाग्र होकर सदा ध्यान करता है, सभी प्रकार की कर्म-फल-चेतना के परित्याग पूर्वक शुद्ध चेतनामयी हो, उसी मोक्ष-मार्ग का बारम्बार अनुभव करता है; अन्य पर-पदार्थों का रंचमात्र भी आश्रय नहीं लेता हुआ, उन्हें अपना नहीं करता हुआ, इस दर्शनादि त्रयात्मक मोक्ष-मार्ग में ही निरन्तर विहार करता है; वह आत्मा, उसी भव में या तीसरे भव आदि में शीघ्र ही नित्य उदित रहनेवाले, पदार्थ के या सिद्धान्त शासनरूप समय के साररूप टंकोत्कीर्ण स्वभावी परमात्मा को अवश्य ही/नियम से प्राप्त करता है; साक्षात् परमात्मा हो जाता है।।२४०।।

अथ लिङ्गस्य वैयर्थ्यं सार्थयति—

शार्दूलविक्रीडित : **ये त्वेनं परिहृत्य संवृतिपथप्रस्थापितेनात्मना,**
लिङ्गे द्रव्यमये वहन्ति ममतां तत्त्वावबोधच्युताः।
नित्योद्योतमखण्डमेकमतुलालोकं स्वभावप्रभा-
प्राग्भारं समयस्य सारममलं नाद्यापि पश्यन्ति ते॥४९॥२४१॥

टीका : ***ते*** पुरुषाः; ***अद्यापि*** इदानीमपि, साक्षात्स्वरूपप्रकाशनावसरेऽपि; ***समयस्य सारं*** आत्मानं; ***न पश्यन्ति*** नेक्षन्ते। कीदृशं? ***नित्योद्योतं*** सदा प्रकाशमानं; ***अखण्डं*** सम्पूर्णं; ***एकं*** कर्मद्वैतरहितं; ***अतुलालोकं*** अनुपमेयप्रकाशं, तत्प्रकाशसदृशस्यापरस्याभावात्। पुनः कीदृशं? ***स्वभावप्रभाप्राग्भारं*** स्व एव भावः पदार्थः, तस्य प्रभा ज्ञानं, अथवा स्वभावज्ञानस्य प्रभा द्योतकत्वं तया प्राग्भारं पूर्वं भृतम्। पुनः कीदृशं? ***अमलं*** निर्मलम्।

ते के? ***ये*** पुरुषा; ***आत्मना*** कृत्वा; ***द्रव्यमये*** नाग्न्यत्रिदण्डिप्रमुखद्रव्यनिर्मापिते;

अब, लिङ्ग की व्यर्थता को सिद्ध करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **जो तजकर इस मार्ग को स्वयं से कल्पित पथों पर चलें,**
तात्त्विक बोध विहीन मोह करते वे द्रव्यमय लिंग में।
नित्योद्योत अखण्ड एक अनुपम आलोक स्व भाव की,
कांति से परिपूर्ण नित्य निर्मल निज सार देखें नहीं।।२४१।।

टीकार्थ : ते=वे जीव; **अद्यापि**=इस समय भी; साक्षात् स्वरूप-प्रकाशन के अवसर में भी; **समयस्य सारं**=समय के सारमय आत्मा को; **न पश्यन्ति**=नहीं देखते हैं। कैसे आत्मा को नहीं देखते हैं? **नित्योद्योतं**=सदा प्रकाशमान; **अखण्डं**=सम्पूर्ण; **एकं**=कर्म-सम्बन्धी द्वैत से रहित; **अतुलालोकं**=उस प्रकाश के समान, अन्य प्रकाश का अभाव होने के कारण, उपमा से रहित प्रकाशमय आत्मा को नहीं देखते हैं। और कैसे आत्मा को नहीं देखते हैं? **स्वभावप्रभाप्राग्भारं**=अपना ही भाव=पदार्थ, उसकी प्रभा=ज्ञान, अथवा स्वभाव-ज्ञान की प्रभा=द्योतकता, उससे प्राग्भार=पहले से ही भरे हुए/ओत-प्रोत आत्मा को नहीं देखते हैं। और कैसे को? **अमलं**=निर्मल आत्मा को नहीं देखते हैं।

नहीं देखनेवाले वे कौन हैं? **ये**=जो जीव; **आत्मना**=स्वयं आत्मा से; **द्रव्यमये**=नग्नता, त्रिदण्डी प्रमुख द्रव्य से रचित; **लिङ्गे**=वेष में; **ममतां**='मैं, श्रमण हूँ और मैं, श्रमणोपासक

लिङ्गे वेषे; ***ममतां*** 'अहं श्रमणः, अहं श्रमणोपासकश्च' इति ममत्वं; ***वहन्ति*** कुर्वन्ति। पुनः कीदृशाः ? ***तत्त्वावबोधच्युताः*** तत्त्वस्य वस्तुयाथात्म्यस्य, अवबोधः परिज्ञानं, तेन च्युताः। कीदृशेनात्मना ? ***सम्वृतिपथप्रस्थापितेन*** संवृतिपथे कल्पनापथे, प्रस्थापितेन आरोपितेन। किं कृत्वा ? ***एनं*** दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणं भावलिङ्गं; ***परिहृत्य*** मुक्त्वा, इतस्ततो द्रव्यलिङ्गे प्रवृत्तस्य न मुक्तिरित्यभिप्रायः ॥ ४९ ॥

अथ व्यवहारं विमूढ़यति—

वियोगिनी/ **व्यवहारविमूढदृष्टयः, परमार्थं कलयन्ति नो जनाः।**
वैतालीय : **तुषबोधविमुग्धबुद्धयः, कलयन्तीह तुषं न तण्डुलम्॥५०॥२४२॥**

टीका : *व्यवहारविमूढदृष्टयः* व्यवहारेण श्रमणश्रमणोपासकलक्षणाद्विविधेन लिङ्गेन

हूँ' - इस प्रकार के ममत्व को; **वहन्ति**=करते हैं। वे और कैसे हैं? **तत्त्वावबोधच्युताः**= तत्त्व=वस्तु के यथार्थ स्वरूप का; अवबोध=परिज्ञान, उससे च्युत/रहित हैं। कैसे स्वयं आत्मा से ऐसे हैं? **सम्वृतिपथप्रस्थापितेन**=सम्वृति-पथ=कल्पना के मार्ग में, प्रस्थापित= आरोपित/अपनी कल्पना के अनुसार चलनेवाले, स्वयं आत्मा से ऐसे हैं। क्या करके ऐसे हैं? **एनं**=दर्शन, ज्ञान, चारित्र लक्षणमय इस भाव-लिङ्ग को; **परिहृत्य**=छोड़कर ऐसे हैं; यहाँ-वहाँ से द्रव्य-लिङ्ग में प्रवृत्ति करनेवाले की मुक्ति नहीं होती है - ऐसा अभिप्राय है।

अर्थात्, वस्तु के यथार्थ स्वरूप के परिज्ञान से रहित जो जीव, दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक इस भाव-लिङ्ग को छोड़कर, अपनी कल्पना के अनुसार चलनेवाले स्वयं आत्मा से नग्नता, त्रिदण्डी आदि द्रव्य से रचित वेष में 'मैं, श्रमण हूँ; मैं, श्रमणोपासक हूँ' इत्यादि प्रकार से ममत्व करते हैं; वे जीव, सदा प्रकाशमान, परिपूर्ण अखण्ड, कर्मरूप द्वैत से रहित; उस प्रकाश के समान अन्य प्रकाश का अभाव होने के कारण, उपमा से रहित प्रकाशमय; अपने ही भाव की प्रभा अथवा स्वाभाविक-ज्ञान की प्रभामय द्योतकता से सदैव सम्पन्न; निर्मल, समय के सारमय आत्मा को साक्षात् स्वरूप-प्रकाशन के इस अवसर में भी नहीं देखते हैं।।२४१।।

अब, व्यवहार की विमूढ़ता का प्रतिपादन करते हैं—

वियोगिनी / **जो विमूढ़ व्यवहार दृष्टि से, वे नहीं परमार्थ पा सकें।**
वैतालीय : **मुग्ध बुद्धि तुष ज्ञान में यहाँ, तुष पाते अक्षत न पा सकें।।२४२।।**

टीकार्थ : व्यवहारविमूढ़दृष्टयः=व्यवहार से=श्रमण और श्रमणोपासक लक्षण

मोक्षमार्गः इति स्वरूपेण विमूढा मोहिता दृष्टिर्येषां ते; ***जनाः*** लोकाः; ***परमार्थं*** निश्चयं; ***न कलयन्ति*** न प्राप्नुवन्ति न जानन्ति वा तस्य स्वयमशुद्धद्रव्यानुभवनात्मकत्वे सति परमार्थत्वाभावात्। अत्र दृष्टान्तोपन्यासः—***इह*** जगति; ***तुषबोधविमुग्धबुद्धयः*** तुषबोधः तण्डुलाच्छादकत्वज्ञानं तेन विमुग्धा सर्वमिदं तुषमेवेति विमुग्धा विमोहिता बुद्धिर्येषां ते जनाः; ***तुषं*** तन्दुलाच्छादिकां त्वचं; ***कलयन्ति*** जानन्ति पुनस्तत्र स्थितं ***तण्डुलं*** अक्षतं ***न*** जानन्ति तत्र तस्य परिज्ञानाभावात्।

वैतालीयनाम छन्दः — ''षट् विषमेऽष्टौ समे कलास्ताश्च समे स्युर्नो निरन्तराः।

न समात्र पराश्रिता कला वैतालीये रलौ गुरुः॥'' इति छन्द उक्तलक्षण-सद्भावात्॥ ५०॥

की अपेक्षा दो प्रकार के लिङ्ग से मोक्ष-मार्ग है - इस प्रकार स्वरूप से, विमूढ़=मोहित है दृष्टि जिनकी, वे; **जनाः**=लोग; **परमार्थं**=निश्चय को; **न कलयन्ति**=अशुद्ध-द्रव्य की अनुभवनात्मकता होने पर, स्वयं उस व्यवहार के परमार्थत्व का अभाव होने के कारण, उसे प्राप्त नहीं होते हैं अथवा जानते नहीं हैं। यहाँ दृष्टान्त देते हैं - **इह**=इस जगत में; **तुषबोधविमुग्धबुद्धयः**=तुष-बोध=चावल की आच्छादकतावाला ज्ञान, उससे विमुग्ध=यह सब तुष (छिलका) ही है - इस प्रकार से विमुग्ध=विमोहित है बुद्धि जिनकी, वे व्यक्ति; **तुषं**=चावल को ढ़कनेवाली त्वचा (छिलका) को; **कलयन्ति**=जानते हैं और वहाँ स्थित **तण्डुलं**=अक्षत/चावल को; **न**=नहीं जानते हैं, वहाँ उसके परिज्ञान का अभाव होने से।

यह वैतालीय नामक छन्द है। *'विषम/प्रथम और तृतीय चरण में छह कला और सम/द्वितीय और चतुर्थ चरण में आठ कलाएँ होती हैं; सम पाद में वे कदाचित् निरन्तर नहीं होती हैं। यहाँ सम कला पराश्रित नहीं हैं। वैतालीय में* ***र*** *गण और* ***ल*** *गण गुरु होते हैं।'* इस कहे गए लक्षण का, इस छन्द में सद्भाव होने से।

अर्थात्, जैसे चावल को ढ़कनेवाले तुष के ज्ञान में मुग्ध-बुद्धि/तुष को ही चावल मान लेनेवाले, चावल को प्राप्त नहीं कर पाते हैं; उसी प्रकार श्रमण और श्रमणोपासक की अपेक्षा मोक्ष-मार्ग दो प्रकार का है - इस प्रकार व्यवहार के स्वरूप में मोहित दृष्टिवाले जीव, अशुद्ध-द्रव्य का ज्ञान करानेवाले व्यवहार में परमार्थता का अभाव होने से, उस परमार्थ को प्राप्त नहीं कर पाते हैं।।२४२।।

द्रव्यलिङ्गिना कुतः स्वरूपाप्राप्तिः ? इति चेत्—

स्वागता : **द्रव्यलिङ्ग-ममकार-मीलितैर्दृश्यते समयसार एव न।**
द्रव्यलिङ्गमिह यत्किलान्यतो ज्ञानमेकमिदमेव हि स्वतः ॥५१ ॥२४३ ॥

टीका : ***समयसारः*** समयेषु पदार्थेषु सारः; ***एव*** निश्चितं; ***न दृश्यते*** नेक्ष्यते। कैः ? ***द्रव्यलिङ्गममकारमीलितैः*** द्रव्यलिङ्गे श्रमणोऽहं, श्रमणोपासकोऽहमिति यः; ममकारः अहङ्कारः, तेन मीलितैः आच्छादितैः, पुम्भिः। कुतः ? ***यत्*** यस्मात्कारणात्; ***किल*** इति स्पष्टं; ***इह*** जगति; ***द्रव्यलिङ्गं*** वेषधारणादिचिह्नं, ***अन्यतः*** परद्रव्याच्छरीरादेः भवति। ***हि*** इति निश्चितं; ***इदं*** प्रसिद्धं; ***एकं*** अद्वितीयं; ***ज्ञानमेव*** परमात्मज्ञानमेव; ***स्वतः*** स्वरूपात् जायते नान्यतस्तत् नान्यत्ततः ॥५१ ॥

द्रव्य-लिङ्गी को अपने स्वरूप की प्राप्ति क्यों नहीं होती है? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं—

स्वागता : **द्रव्य-लिङ्ग में मुग्ध अन्ध को, समयसार दिखता नहिं नित ही।**
द्रव्य-लिङ्ग है भिन्न सदा से, ज्ञानमात्र यह एक स्वयं ही।।२४३।।

टीकार्थ : समयसारः=समयरूप पदार्थों में सार; **एव**=ही है निश्चित; **न दृश्यते**=दिखाई नहीं देता है। किन्हें दिखाई नहीं देता है? **द्रव्यलिंगममकारमीलितै**ः=मैं, श्रमण हूँ; मैं, श्रमणोपासक हूँ - ऐसा जो द्रव्य-लिङ्ग में ममकार=अहंकार, उससे मीलित =आच्छादित जीवों को दिखाई नहीं देता है। कैसे/क्यों दिखाई नहीं देता है? **यत्**=जिस कारण; **किल**=यह स्पष्ट अर्थ का वाचक अव्यय है; **इह**=इस जगत में; **द्रव्यलिंगं**=वेष-धारण आदि चिह्न; **अन्यत**ः=शरीर आदि पर-द्रव्य से होता है। **हि**=यह निश्चित अर्थ का वाचक अव्यय है; **इदं**=यह प्रसिद्ध; **एकं**=अद्वितीय; **ज्ञानमेव**=परमात्मा का ज्ञान ही; **स्वत**ः=अपने स्वरूप से प्रगट होता है; वह अन्य से प्रगट नहीं होता है; अतः अन्य रूप नहीं है/आत्मामय ही है।

अर्थात्, मैं, श्रमण हूँ; मैं, श्रमणोपासक हूँ - इस प्रकार से द्रव्य-लिङ्ग में ममत्व करने से विवेक-रहित जीवों को समयरूप पदार्थों में सारभूत शुद्धात्मा दिखाई नहीं देता है; क्योंकि यहाँ वास्तव में वेष-धारण आदि चिह्नरूप द्रव्य-लिङ्ग, आत्मा से पृथक्, शरीर आदि पर-द्रव्यों से होता है और यह प्रसिद्ध एक अद्वितीय, परमात्मा का ज्ञान, अपने स्वरूप से ही प्रगट होता है; यह किसी अन्य से उत्पन्न नहीं होता है; अतः स्वयं से अभिन्न आत्मरूप ही है।।२४३।।

अथ शास्त्रे परममान्यते—

मालिनी : **अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पै-**
रयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः।
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रा-
न्न खलु समयसारादुत्तरं किञ्चिदस्ति॥५२॥२४४॥

टीका : ***अलमलं*** पूर्यतां पूर्यताम्। कैः ? ***अतिजल्पैः*** इदं मोक्षहेतुः, इदं नेत्यादि वचोजल्पनैः; पुनः कथम्भूतैः ? ***अनल्पैः*** प्रचुरैः; पुनः कथम्भूतैः ? ***दुर्विकल्पैः*** तत्तन्मानस-सङ्कल्पैः, अलमलं, अथवा तद्विशेषणं दुर्-दुष्टा विकल्पा यत्रातिजल्पे तैः, जल्पस्य विकल्प-पूर्वकत्वात्। ***इह*** जगति; ***नित्यं एकः अयं परमार्थः*** परा उत्कृष्टा, मा ज्ञानादिलक्ष्मीर्यस्य स चासावर्थः, आत्मार्थः। ***चेत्यतां*** ध्यायताम्। ***खलु*** निश्चितम्। कुतः ? ***समयसारात्*** परमात्मनः सकाशात्; ***उत्तरं*** अपरं; ***किञ्चित्*** किमपि ध्येयं नास्ति। कीदृशात् ? ***स्वरस-***

शास्त्र में परम/सर्वोत्तम का प्रतिपादन करते हैं—

मालिनी : **प्रचुर दुर्विकल्पों अधिक जल्पों से बस हो,**
अब निज यह एक नित्य परमार्थ ध्याओ।
आत्मिक रस पिण्ड पूर्ण ज्ञान पूर्ण विकसित,
सारमय समय से नहीं कुछ अधिक यह।।२४४।।

टीकार्थ : अलमलं=बस हो, बस हो। किनसे बस हो? **अतिजल्पैः**=यह मोक्ष का कारण है, यह नहीं है इत्यादि वचनात्मक जल्पों/कथनों से बस हो; और कैसे? **अनल्पैः**=प्रचुर/अत्यधिक; और कैसे? **दुर्विकल्पैः**=उन-उन मानसिक संकल्पों/दुर्विचारों से बस हो, बस हो; अथवा यह दुर्विकल्प उनका विशेषण है, जल्प की विकल्प-पूर्वकता होने के कारण, दुः=दुष्ट, जिस जल्प में अत्यधिक विकल्प हैं, उन दुष्ट विकल्पों से बस हो। **इह**=इस जगत में; **नित्यं एकः अयं परमार्थः**=परा=उत्कृष्ट, मा=ज्ञानादि लक्ष्मी जिसकी, वह और वह अर्थ=आत्मार्थ, यह नित्य एक परमार्थ। **चेत्यतां**=ध्यान के योग्य है। **खलु**=निश्चित अर्थ का वाचक अव्यय है। इसका ध्यान क्यों करें? **समयसारात्**=इस परमात्मा से; **उत्तरं**=अधिक दूसरा; **किञ्चित् न**=कुछ भी ध्येय नहीं है। कैसे समयसार से अन्य कुछ अधिक नहीं है? **स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रात्**=अपने आत्मा का रस, उसका विसर=समूह, उससे

विसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रात् स्वस्य आत्मनः, रसः, तस्य विसरः समूहः, तेन पूर्णं परिपूर्णं तच्च तत् ज्ञानं च विस्फूर्तिमात्रं विस्फुरणकार्त्स्न्यं यत्र, तस्मात् ॥५२ ॥

अथ शास्त्रं परिसमापयत् तन्माहात्म्यमावर्ण्यते—

अनुष्टुप् : **इदमेकं जगच्चक्षु-रक्षयं याति पूर्णताम्।**
विज्ञानघनमानन्दमय-मध्यक्षतां नयत्॥ ५३ ॥२४५ ॥

टीका : *इदं* अध्यात्मतरङ्गिणीनाम शास्त्रं, समयसारप्राभृतं वा; ***एकं*** सकलशास्त्रातिशायित्वात् परमात्मस्वरूपप्रकाशकत्वात्; ***अक्षयं*** आचन्द्रार्कं शाश्वतं सत्; ***पूर्णतां*** भव्यतां सम्पूर्णतां; ***याति*** प्राप्नोति। कीदृशं ? ***जगच्चक्षुः*** जगन्नेत्रं, तत्प्रकाशकत्वात्। पुनः कीदृशं ? ***विज्ञानघनं*** आत्मानं; ***अध्यक्षतां नयत्*** प्रापयत्। कीदृशं तं ? ***आनन्दमयं*** आत्यन्तिक-

---

पूर्ण=परिपूर्ण, वह और वह ज्ञान और विस्फूर्तिमात्र विस्फुरण की सम्पूर्णता जिसमें है, उससे अधिक कुछ अन्य नहीं है।

अर्थात्, यह मोक्ष का कारण है, यह नहीं है इत्यादि अनेक वचनात्मक जल्पों/कथनों और मानसिक संकल्पों, अथवा क्योंकि जल्प, विकल्प पूर्वक होते हैं; अतः दुर्विकल्प, अति जल्प का विशेषण भी हो सकता है। इस स्थिति में अर्थ होगा - दुष्टतामय विकल्पों/दुर्विचारों-युक्त अत्यधिक जल्पों से बस हो! बस हो!! इस जगत में वास्तव में नित्य, एक, इस उत्कृष्ट ज्ञानादि लक्ष्मी-सम्पन्न आत्मार्थमय परमार्थ का अनुभव करो! निश्चित ही आत्मिक-रस के समूह से परिपूर्ण, सम्पूर्ण विकसित ज्ञानमात्र इस समयसारमय परमात्मा से अधिक, अन्य कुछ भी यहाँ ध्येय नहीं है।।२४४।।

अब, शास्त्र को समाप्त करते हुए उसकी महिमा का वर्णन करते हैं—

अनुष्टुप् : **एक यह अक्षय चक्षु, जगत का पूर्ण हो रहा।**
विज्ञानघन आनन्दी, आत्म प्रत्यक्ष कर रहा।।२४५।।

टीकार्थ : इदं=यह अध्यात्म-तरंगिणी या समयसार-प्राभृत नामक शास्त्र; **एकं**=परमात्मा के स्वरूप की प्रकाशकता होने के कारण, सम्पूर्ण शास्त्रों में से अधिकता होने के कारण, यह एक; **अक्षयं**=चन्द्र, सूर्य पर्यन्त शाश्वत रहनेवाला; **पूर्णतां**=भव्यता, सम्पूर्णता को; **याति**=प्राप्त होता है। यह कैसा है? **जगच्चक्षुः**=जगत को प्रकाशित करनेवाला होने से, जगत का नेत्र है। और कैसा है? **विज्ञानघनं**=विज्ञान-घन आत्मा की; **अध्यक्षतां नयत्**=प्रत्यक्षता को प्राप्त करता हुआ। कैसे आत्मा की? **आनन्दमयं**=आत्यन्तिक

सुखनिर्वृत्तं, इदं शास्त्रं ब्रह्मप्रकाशकत्वात् शब्दब्रह्मायमाणमधीत्योत्तमं सौख्यं विन्दति इत्यभिप्राय: ॥५३ ॥

अथात्मतत्त्वोपसंहारं दंध्वन्यते—

अनुष्टुप् : **इतीदमात्मनस्तत्त्वं, ज्ञानमात्रमवस्थितम्।**
अखण्डमेकमचलं, स्वसंवेद्यमबाधितम्॥५४॥२४६ ॥

टीका : ***इति*** उक्तयुक्त्या; ***ज्ञानमात्रं*** ज्ञानमयं; ***इदं आत्मनस्तत्त्वं*** स्वरूपं; ***अवस्थितं*** सुप्रतिष्ठं ज्ञानादपरस्य तत्राभावात् तस्य तन्मयत्वाच्च अन्यथा अचेतनत्वप्रसङ्गात्। ***अखण्डं*** परवादिभि: प्रमाणै: खण्डयितुमशक्यत्वात्। पुन: कथम्भूत ? ***एकं*** कर्मोपाधि-निरपेक्षत्वात्; पुन: कथम्भूतं ? ***अचलं*** शाश्वतत्वात्; पुन: कथम्भूतं ? ***स्वसंवेद्यं*** स्वानुभव-

---

सुख से रचे हुए आत्मा की प्रत्यक्षता को प्राप्त करता हुआ, ब्रह्म की प्रकाशकता होने के कारण, शब्द ब्रह्म के समान आचरण करनेवाले इस शास्त्र का अध्ययन कर जीव, उत्तम सुख को प्राप्त होता है - ऐसा अभिप्राय है।

अर्थात्, आत्यन्तिक सुख से रचित आनन्दमय, विज्ञान-घन आत्मा की प्रत्यक्षता को प्राप्त कराता हुआ, परमात्मा के स्वरूप की प्रकाशकता के कारण, सभी शास्त्रों में अतिशयता-युक्त/विशेष होने से, एक; सकल जगत का ज्ञाता होने से, जगत का चक्षु; शाश्वत रहनेवाला; अध्यात्म-तरंगिणी या समय-प्राभृत नामक यह शास्त्र, भव्यता को - सम्पूर्णता को प्राप्त हो रहा है।।२४५।।

अब, आत्म-तत्त्व के उपसंहार को विशेषरूप से प्रगट करते हैं—

अनुष्टुप् : **यों यह जीव का तत्त्व, ज्ञानमात्र व्यवस्थित।**
अखण्ड एक निष्कम्प, स्वसम्वेद्य अबाधित।।२४६।।

टीकार्थ : इति=कही गयी युक्ति से; **ज्ञानमात्रं**=ज्ञानमय; **इदं आत्मनस्तत्त्वं**=यह आत्मा का स्वरूप; **अवस्थितं**=ज्ञान से पृथक्ता का उसमें अभाव होने से और उसकी तन्मयता होने से, वह ज्ञान, उस आत्मा में भली-भाँति स्थित है, ऐसा स्वीकार नहीं करने पर, अचेतनता का प्रसङ्ग होने से। **अखण्डं**=पर-वादियों द्वारा दिए गए प्रमाणों से खण्डित होने के लिए अशक्य होने के कारण, अखण्ड है। वह और कैसा है? **एकं**=कर्म की उपाधि से निरपेक्ष होने के कारण, एक है; वह और कैसा है? **अचलं**=शाश्वतपना होने के कारण, अचल है; वह और कैसा है? **स्वसम्वेद्यं**=स्वानुभव-प्रत्यक्षपना होने के कारण, स्व सम्वेद्य

प्रत्यक्षत्वात्; पुनः कथम्भूतं ? ***अबाधितं*** तत्स्वरूपबाधकस्य प्रमाणस्य कस्यचित्परमाणो-श्चासम्भवात् ॥५४॥

इति श्रीसमयसारपद्यस्य परमाध्यात्मतरङ्गिणीनामधेयस्य व्याख्यायां नवमोऽङ्कः समाप्तः ॥

है; और कैसा है? **अबाधितं**=उसके स्वरूप को बाधा देनेवाले किसी भी प्रमाण के परमाणुमात्र भी असम्भव होने से, अबाधित है।

अर्थात्, इस प्रकार कही गयी युक्ति से इस आत्मा का वास्तविक स्वरूप, पर-वादियों द्वारा दिए गए प्रमाणों से रंचमात्र भी खण्डित नहीं होने के कारण, अखण्ड; कर्मोपाधि से पूर्णतया निरपेक्ष होने के कारण, एक; शाश्वत होने के कारण, अचल; स्वानुभव-प्रत्यक्ष होने के कारण, स्व-सम्वेद्य; किसी भी प्रमाण द्वारा अपने स्वरूप में रंचमात्र भी बाधा नहीं आने के कारण, अबाधित; ज्ञान से पृथक् आत्मा का अभाव होने से, इस ज्ञान की आत्मा में तन्मयता होने के कारण, इस ज्ञान से ही आत्मा चेतन होने के कारण, ज्ञानमात्र ही अवस्थित है।।२४६।।

इस प्रकार श्री समयसार पद्य की परम-अध्यात्म-तरङ्गिणी नामक व्याख्या में नवमाँ अंक समाप्त हुआ।।९।।

स्याद्वादाधिकारः

अथ स्वरूपनिरूपणानन्तरं विशदस्याद्वादविद्यानवद्यवादविनोदवेदनाय पातिकापद्यं निगद्यते—

अनुष्टुप् : **अत्र स्याद्वादशुद्ध्यर्थं, वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिः।**
उपायोपेयभावश्च, मनाग्भूयोऽपि चिंत्यते॥५५॥२४७॥

टीका : ***अत्र*** समयसारपद्यपूर्णताप्रस्तावे; ***भूयोऽपि*** पुनरपि, पूर्वं तत्त्वस्वरूपमुक्तं ततोऽपि पुनः; ***मनाग्*** संक्षेपतः किञ्चित्; ***वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिः*** वस्तुनः तत्त्वं स्वरूपं, तस्य व्यवस्थितिः व्यवस्था; ***चिंत्यते*** विचार्यते। ***च उपायोपेयभावः*** उपायः स्वप्राप्तये दर्शनज्ञानचारित्रप्राप्तये उपायः, तेनोपायेन प्राप्यः आत्मा, तयोर्भावः स्वरूपं, चिन्त्यते। किमर्थं? ***स्याद्वादशुद्ध्यर्थं*** स्याद्वादः अनेकान्तवादः, तत्र यदेव तत् तदेवातत्, यदेकं तदेवानेकं द्रव्यपर्यायार्पणात्, यदेव सत् तदेवासत् स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावविवक्षातः, यदेव

अब, आत्मा के स्वरूप का निरूपण करने के बाद निर्मल स्पष्ट स्याद्वाद विद्या के निर्दोष कथन के आनन्द का अनुभव करने के लिए प्रारम्भिक पद्य कहते हैं—

अनुष्टुप् : **वस्तु तत्त्व व्यवस्था व उपायोपेयभाव का।**
स्याद्वाद शुद्धि हेतु कुछ विचार करते फिर यहाँ।।२४७।।

टीकार्थ : अत्र=यहाँ समयसार पद्य की पूर्णता के प्रसंग में; **भूयोऽपि**=और भी, पहले आत्म-तत्त्व का स्वरूप कहा था, उसके बाद अब फिर से; **मनाग्**=संक्षेप से कुछ; **वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिः**=वस्तु का तत्त्व=स्वरूप, उसकी व्यवस्थिति=व्यवस्था का; **चिन्त्यते**=विचार करते हैं। **च**=और; **उपायोपेयभावः**=उपाय=आत्मा की प्राप्ति-हेतु दर्शन, ज्ञान, चारित्र की प्राप्ति का उपाय; उस उपाय से प्राप्त होने-योग्य आत्मा उपेय, इन दोनों के भाव=स्वरूप का विचार करते हैं। किसलिए यह करते हैं? **स्याद्वादशुद्ध्यर्थं**=स्याद्वाद= अनेकान्तवाद; वहाँ द्रव्य और पर्याय की अपेक्षा से जो तत् है, वही अतत् है; जो एक है,

नित्यं तदेवानित्यं द्रव्यपर्यायार्पणात् इत्याद्यनेकान्तस्य युक्तितोऽष्टसहस्र्यां निरूपणात् तस्य शुद्ध्यर्थं प्रतिपाद्यचित्तध्वान्तनिवारणात् तस्य स्वतः शुद्धत्वाच्च ॥५५॥

अथ तत्र ज्ञानस्यातदात्मकत्ववादिवादमनूद्य तत्समाधानसंधानमादधते—

शार्दूलविक्रीडित : **बाह्यार्थैः परिपीतमुज्झितनिजप्रव्यक्तिरिक्तीभवद्,**
विश्रान्तं पररूप एव परितो ज्ञानं पशोः सीदति।

वही अनेक है; स्व और पर सम्बन्धी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की विवक्षा से क्रमशः जो सत् है, वही असत् है; द्रव्य और पर्याय की अर्पणा से क्रमशः जो नित्य है, वही अनित्य है इत्यादि अनेकान्त का युक्ति पूर्वक अष्ट-सहस्री में निरूपण होने से, उसकी शुद्धि के लिए, उसके स्वयं शुद्धता होने पर भी प्रतिपादन के योग्य वस्तु के सन्दर्भ में मन में उत्पन्न मिथ्या अन्धकार के निवारण-हेतु इसका प्रतिपादन करते हैं।

अर्थात्, प्रत्येक पदार्थ अनन्त धर्मात्मक होने से उसमें परस्पर विरुद्ध जैसे प्रतीत होनेवाले अनन्त धर्म युगल विद्यमान हैं। आत्मा भी ऐसा ही एक पदार्थ है। यद्यपि वास्तव में वे परस्पर विरोधी नहीं होने के कारण उनके एक साथ रहने में किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है; तथापि अपेक्षा नहीं समझनेवाले को विरोध-सा प्रतीत होता है। इस कल्पित विरोध के शमन-हेतु ही यह प्रकरण लिखा गया है। प्रारम्भिक पातनिका में ही आचार्यश्री इसे स्पष्ट कर रहे हैं। जो इस प्रकार है —

यद्यपि आत्म-तत्त्व का स्वरूप पहले कहा गया है; तथापि यहाँ समयसार पद्य की पूर्णता के प्रसंग पर; स्वयं से पूर्णतया शुद्ध होने पर भी अपेक्षा नहीं समझ पाने पर वस्तु को पूर्णतया निरपेक्ष एकान्तमय माननेरूप अशुद्धि को दूर करने रूप स्याद्वाद की शुद्धि के लिए वस्तु के वास्तविक स्वरूप की व्यवस्था और आत्मोपलब्धि के साधनभूत दर्शन, ज्ञान, चारित्रमय उपाय तथा प्राप्त होने-योग्य आत्मारूप उपेय भाव का संक्षेप में कुछ और भी विचार करते हैं।।२४७।।

अब, वहाँ ज्ञान का अतदात्मकत्व कहनेवाले/ज्ञान-स्वरूप नहीं माननेवाले वादियों के कथन का निरूपण कर उनके समाधान का संयोजन प्ररूपित करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **बाह्यार्थों से पी गया यों समझ स्व भाव से शून्य हो,**
नशता अज्ञानि का ज्ञान पर में सर्वांग से लीन हो।

यत्तत्तत्तदिह स्वरूपत इति स्याद्वादिनस्तत्पुनः,
दूरोन्मग्नघनस्वभावभरतः पूर्णं समुन्मज्जति॥५६॥२४८॥

टीका : ***पशोः*** पश्यते बध्यते कर्मेति पशुः, अज्ञानी तस्य अतत्स्वभाव-वादिनोऽज्ञानिनः; ***ज्ञानं*** बोधः; ***सीदति*** विशीर्णतां याति युक्तिबलाभावात्। कीदृशं तत्? ***बाह्यार्थैः*** अचेतनपदार्थैः ***परिपीतं*** ततः समुत्पत्तेस्तदाकारधारित्वात्तत्स्वरूपेण ज्ञानं; ***उज्झितनिजप्रव्यक्तिरिक्तीभवद्*** उज्झिता त्यक्ता, निजप्रव्यक्तिः स्वप्राकट्यं, तया रिक्तीभवत् स्वरूपावेदकत्वात्। पुनः ***परितः*** समन्तात्; ***पररूपे*** परात्मके अचेतनादौ द्रव्ये; ***विश्रान्तं एव*** निश्चयेन न स्वस्वरूपे; ज्ञानस्यार्थप्राकट्यं न तु स्वप्राकट्यं; ज्ञानं तु ज्ञायते खलु अर्थप्राकट्यान्यथानुपपत्त्या इत्यतदात्मकत्वं वदतो ज्ञानाभावप्रसङ्गात् अनवस्थादिदोषदुष्टत्वात्।

ननु स्वात्मनि क्रियाविरोधात्स्वरूपप्रकाशात्मकत्वं कथं? तदभावात् परस्वरूपेण

जो वह है वह वह स्वभाव से ही यों मान स्याद्वादि का,
नित्य प्रगट निज भाव पूर्ण पूरण यह ज्ञान विकसित सदा।।२४८।।

टीकार्थ : पशोः=जो कर्म देखता है, बाँधता है, वह पशु=अज्ञानी, उस अतत्स्वभाव-वादी अज्ञानी का; **ज्ञानं**=बोध; **सीदति**=युक्ति के बल का अभाव होने से विशीर्णता/विनाश को प्राप्त होता है। वह ज्ञान कैसा है? **बाह्यार्थैः**=बाह्य अचेतन पदार्थों द्वारा; **परिपीतं**=उससे उत्पन्न होने के कारण, उनके आकार का धारण-कर्ता होने से उस स्वरूप द्वारा ज्ञान पी लिया गया है; **उज्झितनिजप्रव्यक्तिरिक्तीभवद्**=उज्झित=छोड़ दी, निज प्रव्यक्ति=अपनी प्रगटता, अपने स्वरूप को नहीं जानने के कारण उससे रिक्त होता हुआ। और **परितः**=सब ओर से; **पररूपे**=परात्मक अचेतन आदि द्रव्य में; **विश्रान्तं एव**=विश्रान्त ही/विलीन हो जाता है, निश्चय से अपने स्वरूप में नहीं रहता है; ज्ञान के अर्थ की प्रगटता है, अपनी प्रगटता नहीं है; अर्थ-प्रगटता की अन्यथा असिद्धि होने से वास्तव में ज्ञान जानता है - इस प्रकार अतदात्मकता कहनेवाले के ज्ञान के अभाव का प्रसंग होने से, अनवस्था आदि दोषों की आपत्ति आने से ज्ञान तदात्मक ही है।

प्रश्न : अपने आप में क्रिया का विरोध होने से ज्ञान के अपने स्वरूप की प्रकाशात्मकता कैसे हो सकती है? उसका अभाव होने के कारण पर-स्वरूप से व्यवस्था है।

व्यवस्था इति चेन्न, प्रदीपस्य स्वपरप्रकाशनवत् ज्ञानस्यापि स्वपरप्रकाशात्मकत्वात्। का स्वात्मनि क्रिया विरुद्धा? न तावद्धात्वर्थलक्षणा भवनाभावप्रसङ्गात्, उत्पत्तिलक्षणायास्तस्या अनङ्गीकाराच्च ज्ञप्ति-लक्षणाया विरोधाभावात्।

पुनः भूयः; ***इति*** युक्त्या ***स्याद्वादिनः*** अनेकान्त-मतावलम्बिनः; ***तत्*** ज्ञानं; ***पूर्णं*** स्वगुणपर्यायैरभिन्नं सत्; ***समुन्मज्जति*** सर्वत्र स्वप्रकाशकत्वेन समुच्छलति। इति किं? ***इह*** जगति; ***यत्*** ज्ञानादि; ***तत्*** तत्स्वरूपं स्वपरप्रकाशात्मकम्। ***तत्*** ज्ञानादि; ***स्वरूपतः*** स्वभावतः; ***तत्*** तदात्मकं स्यात्। कुतः? ***दूरोन्मग्नघनस्वभावभरतः*** दूरं अनन्तकालं, उन्मग्नः स्वगुणिनि लयं गतः, घनः निरन्तरं, यः स्वभावः स्वरूपं, तस्य भरः अतिशयः, तस्मात् स्वरूपस्य स्वरूपिणि लीनत्वात्तदात्मत्वमेव ॥५६॥

उत्तर : ऐसा नहीं है। दीपक के स्व-पर प्रकाशन के समान ज्ञान के भी स्व-पर प्रकाशात्मकता होने के कारण पर-स्वरूप से व्यवस्था करने की आवश्यकता नहीं है। अपने आपमें कौन-सी क्रिया विरुद्ध है? भवन/होनेरूप क्रिया के अभाव का प्रसंग होने से धात्वर्थ/धातु के अर्थ मय लक्षणवाली क्रिया तो विरुद्ध नहीं है; उत्पत्ति लक्षणवाली क्रिया को स्वीकार नहीं किया होने से उसके साथ विरोध का प्रश्न ही नहीं है और विरोध का अभाव होने से ज्ञप्ति/जानकारी लक्षणवाली क्रिया का विरोध नहीं है।

पुनः=और फिर; **इति**=इस प्रकार युक्ति से; **स्याद्वादिनः**=अनेकान्त-मत का अवलम्बन लेनेवाले के; **तत्**=वह ज्ञान; **पूर्णं**=अपने गुण-पर्यायों से अभिन्न होता हुआ; **समुन्मज्जति**=सर्वत्र स्व-प्रकाशकतारूप से उछलता/व्यक्त होता है। **इति**=इस प्रकार क्या? **इह**=इस जगत में; **यत्**=जो ज्ञानादि है; **तत्**=उसका स्वरूप स्व-पर प्रकाशात्मक है। **तत्**=वह ज्ञानादि; **स्वरूपतः**=स्वभाव से; **तत्**=तदात्मक हो। वह ऐसा कैसे हो? **दूरोन्मग्न-घनस्वभावभरतः**=दूर=अनन्त काल को, उन्मग्न=अपने गुणी में लय को प्राप्त, घन=निरन्तर, जो स्वभाव=स्वरूप, उसका भर=अतिशय, उससे स्वरूप की स्वरूपी में लीनता होने से तदात्मकता ही है।

अर्थात्, कर्मों को देखनेवाला, बाँधनेवाला अतत्स्वभाव-वादी अज्ञानी ऐसा मानता है कि ज्ञान बाह्य-पदार्थों से उत्पन्न होता है/तदुत्पत्ति, उनके आकाररूप होता है/तदाकार, उन्हें जानता है/तदध्यवसाय; उन्हें जानता हुआ वह उन रूप ही हो गया है। इस प्रकार बाह्य

अथाभिन्नवादिनो मतमाशंक्य स्याद्भिन्नत्वं समाचेष्टते—

शार्दूलविक्रीडित : **विश्वं ज्ञानमिति प्रतर्क्य सकलं दृष्ट्वा स्वतत्त्वाशया,**
भूत्वा विश्वमयः पशुः पशुरिव स्वच्छंदमाचेष्टते।
यत्तत्तत्पररूपतो न तदिति स्याद्वाद-दर्शी पुनः,
विश्वाद्भिन्नमविश्वविश्वघटितं तस्य स्वतत्त्वं स्पृशेत्॥५७॥२४९॥

अचेतन पदार्थों द्वारा पी लिया/ज्ञेयरूपता को प्राप्त वह ज्ञान अपने प्रगट स्वभाव को नहीं जानने के कारण उससे रिक्त होता हुआ, सब ओर से परात्मक अचेतन आदि द्रव्य में विश्रान्त/समाप्ति को प्राप्त हो युक्ति के बल का अभाव होने से विनष्ट हो जाता है।

जैसे दीपक स्व-पर प्रकाशक होने पर भी अपने रूप/तदात्मक ही रहता है, अन्य पदार्थों रूप/अतदात्मक नहीं होता है; उसी प्रकार ज्ञान स्व-पर प्रकाशक होने पर भी अपने रूप/तदात्मक ही रहता है, अन्य ज्ञेयों रूप अतदात्मक नहीं होता है। अपने आपमें क्रिया का विरोध होने के कारण उसे स्व-प्रकाशक नहीं मानना, अनुचित है; क्योंकि स्वयं स्वयं से उत्पन्न रूप उत्पत्ति क्रिया तो असम्भव होने से मान्य ही नहीं है; अतः विरोध का प्रश्न ही नहीं है और धात्वर्थ, ज्ञप्तिरूप क्रिया लोक में भी विरुद्ध नहीं होने के कारण उनके साथ भी अपने आपमें क्रिया के विरोध का अभाव है। इस प्रकार ज्ञान अन्य-पदार्थों को जानता तो है; परन्तु उनरूप/तदात्मक नहीं होता है, उनसे भिन्न अपने रूप/तदात्मक रहता है।

इस जगत में जो ज्ञानादि वस्तु है, उसका स्व-पर प्रकाशात्मक स्वरूप उसके स्वभाव से, स्वरूप की स्वरूपी में स्थिरता होने के कारण तद्रूप/तदात्मक है। इस प्रकार युक्ति से स्याद्वादी, अनेकान्त मत का अवलम्बन लेनेवाले के वह ज्ञानादि अनादि-कालीन अनन्त काल से अपने गुणी/द्रव्य में व्याप्त, निरन्तर स्वभाव की परिपूर्णता से परिपूर्ण, अपने गुण-पर्यायों से अभिन्न होता हुआ सर्वत्र स्व-प्रकाशकतारूप से उछल रहा है/व्यक्त है।।२४८।।

अब, अभिन्न-वादी के मत की आशंका कर कथंचित् भिन्नता का प्रतिपादन करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित :**सब जग को ही ज्ञान मान सबको अपनत्व से देखकर,**
विश्वमयी हो पशूवत प्रवर्ते अज्ञानि नित निरर्गल।
जो वह वह पर रूप नहिं वही है यों मान स्याद्वाद से,
जगमय नहिं जग जानता पृथक् जग स्व तत्त्व को ज्ञान से।।२४९।।

टीका : ननु यदुक्तं स्याद्वादिभिरभिन्नं तदिष्टमेव। तथाहि — प्रतिभास एवेदं यत् प्रतिभासते तत् प्रतिभास एव यथा प्रतिभासस्वरूपं प्रतिभासमानं चेदं जगत्। न चात्र जगतः प्रतिभासमानत्वमसिद्धं साक्षादसाक्षाच्च तस्य प्रतिभासमानत्वे शब्दविकल्पगोचरातिक्रान्तत्वेन वक्तुमशक्तेः। प्रतिभासश्चिद्रूप एवान्यथा प्रतिभासविरोधात् तस्य पुरुषाद्वैतत्वात्। ***इति विश्वं ज्ञानं प्रतर्क्य*** विचार्य।

कया? ***स्वतत्त्वाशया*** स्वप्रतिभासान्तः प्रवेशाशया; ***सकलं दृष्ट्वा*** प्रतिभासमयं सर्वं विलोक्य; पुरुषाद्वैतमननं, तस्य च देशकालाकारतो विच्छेदानुपलब्धेः नित्यत्वं सर्वगतत्वं निराकारत्वं च व्यवतिष्ठते। न हि कश्चिद्देशः कालः आकारश्च प्रतिभासशून्यः प्रतिभास –विशेषाणां नीलमुखादीनां विच्छेदात् तेषामसत्यत्वात्। यदि ते न प्रतिभासन्ते तर्हि सन्तीति कथं ज्ञायते ततो न तैरनैकान्तिकः। यच्च कारकक्रियाभेदकर्मफललोकद्वैतविद्याविद्याबन्ध–

टीकार्थ : यहाँ कोई कहता है कि स्याद्वादियों द्वारा जो अभिन्न कहा है, वह इष्ट ही है। वह इस प्रकार – यह प्रतिभास ही है, जो प्रतिभासित होता है, वह प्रतिभास ही है और प्रतिभास के स्वरूप–जैसा यह प्रतिभासमान जगत है। यहाँ जगत की प्रतिभासमानता असिद्ध नहीं है; क्योंकि साक्षात्/प्रत्यक्ष और असाक्षात्/परोक्ष से उसकी प्रतिभासमानता में शब्द और विकल्प से अगोचरता होने के कारण उसे कहने के लिए असमर्थ हैं। वह प्रतिभास चिद्रूप ही है, अन्यथा प्रतिभास का विरोध होने से; उसके पुरुष अद्वैतपना होने के कारण, उसे चिद्रूप ही माना गया है। **इति विश्वं ज्ञानं प्रतर्क्य**=इस प्रकार विश्व को ज्ञान रूप विचार कर।

किससे इस रूप विचार कर? **स्वतत्त्वाशया**=अपने प्रतिभास के अन्दर प्रवेश के आशय से; **सकलं दृष्ट्वा**=सभी को प्रतिभासमय देखकर उसे पुरुषाद्वैतरूप स्वीकार करता है और उसका देश, काल, आकार से विनाश अनुपलब्ध होने के कारण नित्यता, सर्वगतता और निराकारता विद्यमान है। नील मुख आदि प्रतिभास–विशेषों का विच्छेद होने से उनकी असत्यता होने के कारण कोई भी देश, काल और आकार प्रतिभास से शून्य नहीं है। (यदि कोई कहे कि प्रतिभासमानरूप हेतु अनैकान्तिक दोष से दूषित है। इसका उत्तर देते हुए यहाँ कहते हैं कि) यदि वे प्रतिभासित नहीं होते हैं, तो वे हैं – इस प्रकार से ज्ञात कैसे होते हैं? इसलिए उनके साथ प्रतिभासमानरूप हेतु के अनैकान्तिक दोष भी नहीं आता है। और जो

मोक्षद्वयं तद्बाधकमभ्यधायि तदपि निरस्तं; तेषां प्रतिभासस्वभावत्वादन्यथा व्यवस्थानायोगात्।

यदपि पक्षहेतुदृष्टान्तानामुपनिषद्वाक्यानां च प्रतिभासनमप्रतिभासनमिति दूषणोद्भावनं; तदपि प्रत्याख्यातम्। प्रतिभासमात्रात्मत्वात्तेषाम्। पञ्चविंशतिसांख्योपकल्पितानां प्रकृत्यादीनां तथात्वे हेतुत्वे दोषाभावात्; स्याद्वादिनामनेकान्तात्मकत्वे साध्ये सत्त्वादिसाधनवत्। तत्त्वानां यमनियमानशनादीनां संप्रज्ञातासंप्रज्ञातयोगफलकैवल्यादीनां च प्रतिभासात्मकत्वेन तदन्तः प्रविष्टत्वसिद्धेः; नैयायिकोपकल्पितप्रमाणप्रमेयादिषोडशतत्त्ववत्।

एवं मीमांसोपकल्पितानां भट्टप्रभाकरोपकल्पितानां च वैशेषिकाङ्गीकृतद्रव्यगुण-कर्मादीनां षण्णां पदार्थानां; लौकायितकेष्टपृथ्व्यादीनां चतुर्णां; नास्तिकाध्यासितनास्तीति -तत्त्वस्य च गगनकुसुमादीनां च प्रतिभासमानत्वेन प्रतिभासान्तः प्रविष्टत्वसिद्धेः। अप्रतिभा

कारक-क्रिया भेद, कर्म-फल, लोक, द्वैत, विद्या-अविद्या, बन्ध-मोक्ष दो को उसका बाधक कहा जाता है, उसका भी निराकरण हो गया है; क्योंकि उनके प्रतिभास स्वभावपना है; यदि इसे नहीं माना जाए तो कोई भी व्यवस्था नहीं बन सकेगी।

पक्ष, हेतु, दृष्टान्तों के और उपनिषद वाक्यों के प्रतिभासन और अप्रतिभासन सम्बन्धी जो भी दूषण प्रगट हुए हैं; उन सभी का निराकरण इससे हो गया; क्योंकि उनका प्रतिभासमान स्वरूप है। सांख्यों के द्वारा स्वीकृत प्रकृति आदि पच्चीस तत्त्वों का उस प्रतिभासरूप होने से इस हेतुत्व में दोष का अभाव होने के कारण; जैसे स्याद्वादियों के अनेकान्तात्मकता रूप साध्य में सत्त्व आदि साधन निर्दोष है; उसी प्रकार यह प्रतिभासरूप हेतु भी निर्दोष है। तत्त्वों के; यम, नियम, अनशन आदि के और सम्प्रज्ञात, असम्प्रज्ञात, योग, फल, कैवल्य आदि के प्रतिभासात्मकता होने के कारण उसके अन्दर प्रविष्टता से उनकी सिद्धि हो जाने के कारण यह हेतु निर्दोष है; नैयायिकों के द्वारा मान्य प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह तत्त्वों के समान।

इसी प्रकार मीमांसकों के द्वारा मान्य और भट्ट प्रभाकर द्वारा स्वीकृत, वैशेषिकों द्वारा अंगीकार किए गए द्रव्य, गुण, कर्म आदि छह पदार्थों के; लौकायितक को इष्ट पृथ्वी आदि चारों के; नास्तिक के द्वारा अध्यासित 'नहीं है' - इस प्रकार के तत्त्व के और आकाश-कुसुम आदि के प्रतिभासमानता होने के कारण प्रतिभास के अन्दर प्रविष्टता से इनकी सिद्धि होने से प्रतिभासमय हेतु की निर्दोषता सिद्ध हो जाती है। अप्रतिभासमानता में

-समानत्वे तद्व्यवस्थाविरोधात् तथापि तदङ्गीकारेऽनिष्टतत्त्वसिद्धिप्रसङ्गात्; न केषाञ्चि-त्स्वेष्टतत्त्वसिद्धिरतः प्रतिभासमानत्वमेष्टव्यम्। तथा चोक्तं—

''सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन।
आरामं तस्य पश्यन्ति न तत्पश्यति कश्चन॥''

इति विश्वमयः भूत्वा कश्चिदद्वैतवादी ***पशुः पशुरिव*** अज्ञानीव, ***स्वच्छन्दं*** निरंकुशत्वेन; ***आचेष्टते*** स्वेच्छयेहते प्रतिभासविशेषाणां पररूपत्वेन सत्यत्वात्। ***पुनः स्याद्वाददर्शी*** कश्चित् युक्त्या; ***तस्य*** वस्तुनः; ***स्वतत्त्वं*** स्वस्वरूपतः स्वरूपं; ***स्पृशेत्।*** इति किं? ***यत्*** ज्ञानादि स्वरूपेण; ***तत्*** तत्त्वं; ***तत्*** ज्ञानादि; ***पररूपतः*** परस्वरूपतः तत्त्वं; ***न*** भवति; अन्यथा सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः —

'नोदितो दधि खादति किमुष्ट्रं चाभिधावति।'

उनकी व्यवस्था का विरोध होने से वह मानना उचित नहीं है; फिर भी उसे स्वीकार करने पर अनिष्ट तत्त्व की सिद्धि का प्रसंग होने से किन्हीं के भी अपने इष्ट-तत्त्व की सिद्धि नहीं हो सकेगी; अतः प्रतिभासमानता को स्वीकार कर लेना चाहिए। उसी प्रकार कहा भी है – ''वास्तव में यह सब निश्चितरूप से ब्रम्ह है; यहाँ कुछ भी अनेक नहीं है। उस ब्रम्ह की माया को ही देखते हैं, उस ब्रम्ह को कोई भी नहीं देखता है।''

इति विश्वमयः भूत्वा=इस प्रकार विश्वमय होकर कोई अद्वैत-वादी; **पशुः पशुरिव**=पशु के समान अज्ञानी; **स्वच्छन्दं**=निरंकुशता के कारण स्वच्छन्द; **आचेष्टते**= प्रतिभास-विशेषों की पररूपता से सत्यता होने के कारण अपनी इच्छानुसार चेष्टा करते हैं। **पुनः स्याद्वाददर्शी**=और स्याद्वाद को देखने/माननेवाला कोई युक्ति से; **तस्य**=उस वस्तु का; **स्वतत्त्वं**=अपने स्वरूप से स्वरूप; **स्पृशेत्**=जानता है/स्वीकार करता है। ऐसा क्यों है? **यत्**=स्वरूप से जो ज्ञानादि; **तत्**=वह तत्त्व है; **तत्**=वह ज्ञानादि; **पररूपतः**=पर-स्वरूप से तत्त्व; **न**=नहीं है; अन्यथा सभी के उभय-रूपता होने पर उनके विशेषों का निराकरण हो जाने से—

'प्रेरित किया गया दही नहीं खाता है और उष्ट्र की ओर क्यों दौड़ता है?'

इस प्रकार के अतिप्रसंग की दुर्निवारता होने से ऐसा मानना उचित नहीं है। तत्त्व कैसा है? **विश्वात्**=समस्त पदार्थों से; **भिन्नं**=पृथक् है; और **अविश्वविश्वघटितं**=अविश्व=

इत्यतिप्रसङ्गस्य दुर्निवारत्वात्। कीदृशं तत्त्वं? ***विश्वात्*** समस्तपदार्थाद्; ***भिन्नं*** पृथक्; पुनः ***अविश्वविश्वघटितं*** अविश्वं अविश्वस्वरूपं तच्च तद्विश्वेन विश्वपदार्थेन घटितं च निष्पादितं विश्वपदार्थपरिच्छेदकत्वात्॥५७॥

अथानेकत्ववादमारेक्यैकत्वमारेकते—

शार्दूलविक्रीडित : **बाह्यार्थग्रहणस्वभावभरतो विश्वग्विचित्रोल्लसत्,**
ज्ञेयाकारविशीर्णशक्तिरभितस्त्रुट्यन् पशुर्नश्यति।
एक-द्रव्यतया सदाप्युदितया भेद-भ्रमं ध्वंसयन्,
नैकं ज्ञानमबाधितानुभवनं पश्यत्यनेकांतवित्॥५८॥२५०॥

टीका : ***पशुः*** सौगताख्योऽज्ञानी; ***नश्यति*** नाशं याति, तत्कल्पितो ज्ञानक्षणो

विश्व-स्वरूप नहीं है, वह और वह विश्व से=विश्व के पदार्थ से घटित=निष्पादित है, विश्व के सभी पदार्थों की परिच्छेदकता होने से वह सभी को जानता है।

अर्थात्, ज्ञान लोकालोकात्मक विश्व को जानता होने से विश्व को ज्ञानमय विचार कर अपने प्रतिभास के अन्दर प्रवेश के आशय से सभी को प्रतिभास रूप ज्ञानमय देखकर निरंकुशता के कारण पशु के समान अज्ञानी हो कोई स्वेच्छानुसार चेष्टा करता है। कथंचित् वाद से वस्तु-स्वरूप का अवलोकन करनेवाले स्याद्वादी; वस्तु-स्वरूप से जो ज्ञानादि तत्त्व है, वह ज्ञानादि निज-स्वरूप है; पर-स्वरूप से नहीं है - ऐसा निर्णय कर उस वस्तु के अपने स्वरूप को विश्व के सभी पदार्थों से पूर्णतया पृथक् मान, विश्वरूप नहीं होता हुआ भी ज्ञेयाकार रूप से सम्पूर्ण विश्व को जान लेता है।।२४९।।

अब, अनेकत्व वाद की शंका कर एकत्व का निरूपण करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **बाह्यार्थों के ज्ञान भाव से ही सर्वत्र वैविध्यमय,**
ज्ञेयाकारों से विभक्त बल कम देखे नशे ज्ञान विन।
स्याद्वादी नित व्यक्त एक वस्तु से भेद भ्रम नष्ट कर,
निरबाधित अनुभवन युक्त देखे स्व को सदा ज्ञानमय।।२५०।।

टीकार्थ : पशुः=सौगत नामक अज्ञानी; **नश्यति**=नष्ट होता है, अपने द्वारा स्वीकृत ज्ञान-क्षण-युक्ति से व्यवस्था को प्राप्त नहीं होता है - ऐसा अर्थ है। वह कैसा है?

युक्त्या न व्यवस्थामेतीत्यर्थः। कीदृशः सः? ***अभितः*** समन्तात्; ***तुट्यन्*** विनश्यन् पूर्व-क्षणस्वलक्षणनिर्मूलं विनश्यदुत्तरमुत्पादयति। पुनः कीदृशः? ***विश्वग्विचित्रोल्ल-सज्ज्ञेयाकारविशीर्णशक्तिः*** विश्वक् सामस्त्येन, विचित्रा नीलपीताद्यनेकप्रकाराः, उल्लसन्तः स्वाकारार्पणेनोल्लसन्तः गच्छन्तः, ते च ते ज्ञेयानां ज्ञानविषयभूतानां नीलादिक्षणानां आकारा ज्ञाने स्वाकारार्पकत्वं, तैः विशीर्णा अनेकधा जाता, शक्तिः सामर्थ्यं, यस्य नीलपीता-दीनां क्षणिकत्वात् तदुत्पत्तितस्तदाकारमनुकुर्वाणं ज्ञानं तदध्यवसायतः प्रमाणं क्षणिकं कारकगुणानां कार्यसद्भावात् क्षणिकं हि सर्वं यत्सत्तत्क्षणिकं यथा घटः संति च नील-पीतानि च।

घटाद्यवयवो न कपालांशमन्तरेणोपलभ्यते। स हि अवयवी अवयवेषु वर्तमानः प्रत्यवयवं साकल्येन वर्तते एकदेशेन वा। यदि साकल्येन तदा यावन्तोऽवयवास्तावन्ता-ऽवयविनः। तत्रापि चावयवकल्पनायामनवस्था। एकदेशेन चेत् भङ्गित्वप्रसङ्गात् एकत्वं न स्यात् इत्यादियुक्त्या नीलपीताद्यवयवा एव।

अभितः=सब ओर से; **त्रुट्यन्**=नष्ट होता हुआ=अपने लक्षण मय पूर्व क्षण को निर्मूल नष्ट करता हुआ उत्तर/अगले को उत्पन्न करता है। और कैसा है? **विश्वग्विचित्रोल्लसज्ज्ञेयाकार-विशीर्ण-शक्तिः**=विश्वक्=सम्पूर्ण रूप से, विचित्र=नील-पीत आदि अनेक प्रकार, उल्लसत्= अपने आकार को अर्पित करने के कारण व्यक्त, वे और वे ज्ञेयों के=ज्ञान के विषयभूत नील आदि क्षणों के, आकार=ज्ञान में अपने आकार की अर्पकता, उनसे विशीर्ण=अनेक प्रकार की हुई, शक्ति=सामर्थ्य; नील, पीत आदि की क्षणिकता होने के कारण तदुत्पत्ति से उसके आकार का अनुसरण करनेवाला ज्ञान, तदध्यवसाय से क्षणिक प्रमाण कारक के गुणों का कार्य में सद्भाव होने से क्षणिक है; जो सत् है, वह सब क्षणिक है; जैसे घट और नील, पीत आदि हैं।

कपालरूप अंश के विना घट आदि अवयव प्राप्त नहीं होता है। अवयवों में प्रवर्तमान वह अवयवी प्रत्येक अवयव में पूर्णता से वर्तता है या एकदेश से वर्तता है। यदि पूर्ण रूप से वर्तता है, तब जितने अवयव हैं, उतने ही अवयवी हुए। वहाँ भी अवयव की कल्पना में अनवस्था दोष आता है। एक देश से वर्तता मानने पर भंगिता/खण्डित होने का प्रसंग होने के कारण एकत्व नहीं रहता है इत्यादि युक्ति से नील, पीत आदि अवयव हैं।

बाह्यार्थग्रहणस्वभावभरतो क्षणिकलक्षणानां बाह्यार्थानां ग्रहणं, तदेव स्वभावः स्वरूपं यस्य, भरतोऽतिशयात् ज्ञानमपि क्षणिकं; तदप्ययुक्तं; यतः ***अनेकान्तवित्*** स्याद्वादी; ***एकं*** पूर्वापरविवर्तव्यापितया अद्वितीयं; ***ज्ञानं पश्यति।*** कीदृशं तत्? ***अबाधितानुभवनं*** अबाधितं प्रमाणैरनुभवनं यस्य तत्, न च कस्यापीदृशी प्रतीतिर्मया क्षणिकं वस्तु लब्धमिति सर्वेषां साधारणस्थूलघटादीनां प्राप्तेः।

एकद्रव्यतया अहं मतिज्ञानी स एवाहं श्रुतज्ञानी यदेव मया दृष्टं तदेव मया लब्धमित्येकद्रव्यत्वेन; ***भेदभ्रमं*** भिन्नज्ञानभ्रान्तिं; ***ध्वंसयन्*** विनाशयन् अन्यथा जीवान्तरवत् स्वात्मन्यपि भेदप्रसङ्गात्। स्याद्वादी कीदृशया तया? ***सदाप्युदितया*** सदा नित्यं, आबाल–गोपालचाण्डालाबलादीनां प्रसिद्ध्या विद्यमानतया॥ ५८॥

बाह्यार्थग्रहणस्वभावभरतो=क्षणिक लक्षणमय बाह्य पदार्थों का ग्रहण, वही है स्वभाव=स्वरूप जिसका, भर=उसकी अधिकता से, ज्ञान भी क्षणिक है; वह कथन भी अनुचित है; क्योंकि **अनेकान्तवित्**=स्याद्वादी, अनेकान्त को जाननेवाला; **एकं**=पहले और आगे की विवर्त/पर्यायों में व्यापक होने से अद्वितीय; **ज्ञानं पश्यति**=ज्ञान को देखता है। वह ज्ञान कैसा है? **अबाधितानुभवनं**=प्रमाणों से अबाधित है अनुभवन जिसका वह; सभी को साधारणरूप में स्थूल घट आदि की प्राप्ति होने से किसी को भी ऐसी प्रतीति नहीं होती है कि मेरे द्वारा क्षणिक वस्तु प्राप्त की गयी।

एकद्रव्यतया=मैं मति-ज्ञानी, वही मैं श्रुत-ज्ञानी, जो मेरे द्वारा देखा गया, वही मेरे द्वारा प्राप्त किया गया है – इस प्रकार एक द्रव्यता होने से; **भेदभ्रमं**=भिन्न ज्ञान की भ्रान्ति को; **ध्वंसयन्**=नष्ट करता हुआ, अन्यथा अन्य जीव के समान अपने आत्मा में भी भेद का प्रसंग होने से। स्याद्वादी किससे यह करता है? **सदाप्युदितया**=सदा=नित्य, आबाल/बालक से लेकर, गोपाल, चाण्डाल, अबला/महिला आदि के विद्यमानतारूप से प्रसिद्धि होने के कारण इस स्थायीत्व से भेद का ध्वंस करता है।

अर्थात्, क्षणिकता-सम्पन्न बाह्य-पदार्थों को ग्रहण/जाननेरूप स्वभाव से परिपूर्ण; सम्पूर्ण रूप से नील, पीत आदि अनेक प्रकार के विचित्र अपने आकारों/ज्ञेयाकारों की अर्पकता के कारण स्वयं को क्षणिक मान क्षीण शक्तिवाला यह अज्ञानी सब ओर से स्वयं निर्मूल नष्ट होता हुआ अपने द्वारा स्वीकृत क्षणिक ज्ञान की व्यवस्था नहीं कर पाता है।

अथैकज्ञानमतमतिं निराचिकीर्षुरनेकतां ज्ञानस्य चिकीर्षति—

शार्दूलविक्रीडित : **ज्ञेयाकारकलङ्कमेचकचितिप्रक्षालनं कल्पयन्,**
नेकाकारचिकीर्षया स्फुटमपि ज्ञानं पशुर्नेच्छति।
वैचित्र्येऽप्यविचित्रतामुपगतं ज्ञानं स्वतः क्षालितं,
पर्यायैस्तदनेकतां परिमृशन् पश्यत्यनेकान्तवित्॥५९॥२५१॥

टीका : *पशुः* अज्ञानी सांख्यादिः कश्चित्; ***स्फुटमपि*** अनेकाकारतया व्यक्तमपि; ***ज्ञानं नेच्छति।*** कीदृशः सन्? ***एकाकारचिकीर्षया*** ज्ञानस्य एकाकारं एकत्वं, चिकीर्षया कर्तुमिच्छया। ***ज्ञेयाकारकलङ्कमेचकचितिप्रक्षालनं*** ज्ञेयस्य पदार्थस्य, आकारः ज्ञाने तदाकारः, स एव कलङ्कः कालिमा, ज्ञाने तदाकारस्याभावात् एकस्वभावत्वात्तस्य कूटस्थ-

---

अनेकान्त को जाननेवाला स्याद्वादी; मैं जो मति-ज्ञानी हूँ, वही श्रुत-ज्ञानी हूँ, मैंने जिसे देखा, उसे ही प्राप्त किया इत्यादि रूप में एक द्रव्यरूप से सदा ही सभी को प्रसिद्ध प्रगट प्रकाशित स्थायीत्व द्वारा क्षणिकतामय भिन्न ज्ञान की भ्रान्ति को नष्ट करता हुआ; पहले-आगे की सभी पर्यायों में व्यापक अद्वितीय एक, प्रमाणों से बाधा-रहित अनुभवनमय शाश्वत ज्ञान को ही देखता है।।२५०।।

अब, ज्ञान मात्र एक है, इस मान्यता-युक्त बुद्धि का निराकरण करने के लिए ज्ञान की अनेकता को स्थापित करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **ज्ञेयाकारों से विचित्र मैले इस ज्ञान की स्वच्छता,**
हेतु एकाकार इच्छुक प्रगट यह ज्ञान न चाहता।
स्याद्वादी वैचित्र्य में भी निर्मल एकत्व को प्राप्त हो,
पर्यायों से स्वयं ही विविध इक देखे सदा ज्ञान को।।२५१।।

टीकार्थ : पशुः=सांख्य आदि कोई अज्ञानी; **स्फुटमपि**=अनेक आकाररूप से व्यक्त होते हुए भी; **ज्ञानं नेच्छति**=ज्ञान को नहीं चाहता है। कैसा होता हुआ नहीं चाहता है? **एकाकारचिकीर्षया**=ज्ञान का एकाकार=एकत्व करने की इच्छा से नहीं चाहता है। **ज्ञेयाकारकलंकमेचकचितिप्रक्षालनं**=ज्ञेय पदार्थ का आकार=ज्ञान में तदाकार, वही है कलंक=कालिमा, ज्ञान में तदाकार का अभाव होने से, एक स्वभावता होने से, उसके कूटस्थ नित्यता होने से तदाकार मलिनता है; उससे मेचक=चित्रित/अनेक प्रकार का, चित्=ज्ञान,

नित्यत्वात्, तेन मेचकः चित्रितः, चित् ज्ञानं, तत्र प्रक्षालनं अनेकाकारनिवारणम्। ***कल्पयन्*** कुर्वन्।

तत्राह ***अनेकान्तवित् तत्*** ज्ञानं, ***पश्यति*** ईक्षते। कीदृशं तत्? ***पर्यायैः*** मतिश्रुतादि-ज्ञानविवर्तैः; ***अनेकतां*** कथञ्चिदनेकत्वं; ***परिमृशन्*** अङ्गीकुर्वन्, सर्वथैकत्वे नानाज्ञेयग्रहणं न स्यात् एकार्थज्ञानस्य नित्यमसम्भवात् तदभावः स्यात्। तदुक्तमाप्तमीमांसायां—

''**प्रमाणकारकैर्व्यक्तं, व्यक्तं चेदिन्द्रियार्थवत्।**
ते च नित्ये विकार्यं किं, साधोस्ते शासनाद्बहिः ॥३८॥'' इति

ननु ***ज्ञानं*** पर्यायैरनेकत्वं दधदशुद्धं स्यात् पर्यायस्याशुद्धत्वख्यापनात् इति चेन्न; ***स्वतः*** स्वभावतः; ***क्षालितं*** निर्मलं, यतः। ननु ज्ञानस्यानेकत्वमेवेष्टं दृष्टेष्टानां तद्विषयाना-मिष्टत्वात् जगतो विचित्रत्वात्? इति चेन्न। कुतः? पर्यायापेक्षया ***वैचित्र्येऽपि*** एकज्ञान-द्रव्यतया ***अविचित्रतां*** एकस्वरूपतां; ***उपगतं*** प्राप्तं; अतः कथञ्चिदेकं द्रव्यार्पणात्,

---

उसमें प्रक्षालन=अनेक आकारों के निवारण की चेष्टा को। **कल्पयन्**=करता हुआ।

वहाँ कहते हैं - **अनेकान्तवित्**=अनेकान्त को जाननेवाला; **तत्**=उस ज्ञान को; **पश्यति**=देखता है। वह कैसा है? **पर्यायैः**=मति, श्रुत आदि ज्ञान पर्यायों से; **अनेकतां**= कथंचित् अनेकता को; **परिमृशन्**=स्वीकार करता हुआ; सर्वथा एकत्व में अनेक ज्ञेयों को जानना नहीं हो सकता है; एकार्थरूप ज्ञान की नित्यता सम्भव नहीं होने से उसका अभाव हो जाता है। उसी प्रकार आप्तमीमांसा में कहा है—

''प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों और कर्ता आदि कारकों से वह ज्ञान व्यक्त है और इन्द्रिय, पदार्थ के समान भी वह व्यक्त है। यदि वे सर्वथा नित्य हों तो उनमें विकार्य/परिवर्तन कैसे होगा? अतः वे सर्वथा नित्य-वादी, हे साधो! आपके शासन से बाहर हैं।'' इस प्रकार—

यहाँ प्रश्न है कि **ज्ञानं**=पर्याय की अशुद्धता प्रसिद्ध होने के कारण, पर्यायों से अनेकता को धारण करता हुआ ज्ञान अशुद्ध हो जाएगा; (आचार्य उत्तर देते हैं कि) ऐसा नहीं है; **स्वतः**=स्वभाव से; **क्षालितं**=निर्मल है; क्योंकि। यहाँ प्रश्न है कि उसके दृष्ट और इष्ट विषयों की इष्टता होने से, जगत की विचित्रता होने से ज्ञान की अनेकता ही इष्ट है; आचार्य उत्तर देते हैं कि ऐसा नहीं है। ऐसा कैसे/क्यों नहीं है? पर्याय की अपेक्षा **वैचित्र्येऽपि**=विचित्रता/ अनेकता होने पर भी एक ज्ञान द्रव्य की अपेक्षा, **अविचित्रतां**=एक स्वरूपता को;

कथञ्चिदनेकं पर्यायार्पणात् ॥ ५९ ॥

अथ परद्रव्यास्तित्वन्यस्तं ज्ञानं निराकृत्यस्वास्तित्वास्तिक्यमागम्यते—

शार्दूलविक्रीडित : **प्रत्यक्षालिखितस्फुटस्थिरपरद्रव्यास्तितावञ्चितः,**
स्वद्रव्यानवलोकनेन परितः शून्यः पशुर्नश्यति।
स्वद्रव्यास्तितया निरूप्य निपुणं सद्यः समुन्मज्जता,
स्याद्वादी तु विशुद्धबोधमहसा पूर्णो भवन् जीवति॥६०॥२५२॥

टीका : ***पशुः*** परद्रव्येण सदिति प्रतिपद्यमानः कश्चित्; ***नश्यति*** स्वपक्षाक्षेपं लक्षयति। ***परितः*** सामस्त्येन; ***स्वद्रव्यानवलोकनेन*** स्वस्य आत्मनः, द्रव्यं द्रवति द्रोष्यति

उपगतं=प्राप्त है; अतः द्रव्य की अपेक्षा कथंचित् एक है और पर्याय की अर्पणा से कथंचित् अनेक है।

अर्थात्, वस्तु के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानने वाले कोई अज्ञानी एकाकार करने की/ज्ञान के एकत्व की इच्छा से; ज्ञान में तदाकार का अभाव, एक स्वभावता और कूटस्थ नित्यता होने के कारण ज्ञेय पदार्थों के आकार रूपी मलिनता से अनेक प्रकार के हुए ज्ञान से आकारों का निवारण करता हुआ अनेक आकार रूप से व्यक्त ज्ञान को नहीं चाहता है।

अनेकान्त का ज्ञाता तो मति, श्रुत आदि ज्ञान पर्यायों से अनेकता को स्वीकार करता हुआ, अनेक ज्ञेयाकारों की अपेक्षा पर्याय में विचित्रता होने पर भी ज्ञान द्रव्य की अपेक्षा अविचित्रता/एक स्वरूपता को प्राप्त, स्वभाव से ही निर्मल उस एक ज्ञान को ही देखता है।।२५१।।

अब, पर-द्रव्य के अस्तित्व के अधीन ज्ञान का निराकरण कर अपने अस्तित्व से उसका आस्तिक्य प्रगट करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **साक्षात् ज्ञात सुव्यक्त स्थिर पर द्रव्यास्तिता से छला,**
आतम द्रव्य न देखने से असत् अज्ञानि मिटता सदा।
आतम द्रव्य की अस्तिता से सही देखे प्रगट ज्योतिता,
स्याद्वादी शुध ज्ञान तेज से हो परिपूर्ण जीवित रहा।।२५२।।

टीकार्थ : पशुः=पर-द्रव्य से सत् है – ऐसा माननेवाला कोई अज्ञानी; **नश्यति**=नष्ट होता है; अपने पक्ष के आक्षेप को लक्षित करता है। **परितः**=सभी ओर से; **स्वद्रव्यानव-**

अदुद्रवत् स्वगुणपर्यायान् इति द्रव्यं, तस्यानवलोकनेन स्वामित्वावीक्षमाणेन; ***शून्यः*** पुनः कीदृशः ? ***प्रत्यक्षालिखितस्फुटस्थिरपरद्रव्यास्तितावञ्चितः*** प्रत्यक्षेण वैशद्यज्ञानेन, आलिखिता आज्ञाता, स्फुटा व्यक्ता, स्थिरा अनेककालस्थायित्वात्, सा चासौ परद्रव्यास्तिता च, न च घटास्तित्वं पटास्तित्वेऽस्ति सर्वस्य सर्वार्थक्रियाकरणात्, नहि पटादयः घटादय इव पय आहरणलक्षणामर्थक्रियां कुर्वंति घटादिज्ञानं वा इति परास्तित्वाभावेऽपि, तया वञ्चितः।

स्याद्वादी तु कथं व्यवतिष्ठते? अनेकान्तमतमतिः स्वतत्त्वं ***जीवति*** स्थिरं स्थापयतीत्यर्थः। कीदृशः ? ***विशुद्धबोधमहसा*** विशुद्धज्ञानतेजसा; ***पूर्णो भवन्*** स्वमनोरथं पूर्णीकुर्वन्। कीदृशेन तेन ? ***समुन्मज्जता*** समुच्छलता, जगति प्रकाशं गच्छता। किं कृत्वा ? ***सद्यः*** तत्कालं; ***स्वद्रव्यास्तितया*** स्वस्य आत्मनः द्रव्यास्तित्वं तया; ***निपुणं*** यथोक्तं अस्तित्वं; निरूप्य अवलोक्य॥ ६०॥

लोकनेन=स्व=अपना=आत्मा का, द्रव्य=अपने गुण-पर्यायों को द्रवता है, द्रवेगा, द्रवता था - ऐसा द्रव्य, उसको नहीं देखने से, उसका स्वामित्व स्वीकार नहीं करने से; **शून्यः**= अपने अस्तित्व से शून्य। वह और कैसा है? **प्रत्यक्षालिखितस्फुटस्थिरपरद्रव्यास्तिता-वञ्चितः**=प्रत्यक्ष=वैशद्य ज्ञान से, आलिखित भली-भाँति ज्ञात, स्फुट=व्यक्त, अनेक काल स्थायीत्व होने से स्थिर, वह और वह पर-द्रव्य का अस्तित्व, सबकी सबमें अर्थ-क्रिया नहीं होने के कारण घट का अस्तित्व, पट के अस्तित्व में नहीं है; पट आदि, घट आदि के समान जल-धारणरूप अर्थ-क्रिया को नहीं करते हैं अथवा घटादि का ज्ञान नहीं कराते हैं - इस प्रकार स्वयं में पर के अस्तित्व का अभाव होने पर भी उससे वंचित/छला गया है।

स्याद्वादी तु=और स्याद्वादी तो; वह कैसा रहता है? अनेकान्त मत में बुद्धिवाला अपने तत्त्व को **जीवति**=जीवित=स्थिर रखता है - ऐसा अर्थ है। वह कैसा है? **विशुद्धबोधमहसा**= विशुद्ध ज्ञानरूपी तेज द्वारा; **पूर्णो भवन्**=अपने मनोरथ को पूर्ण करता हुआ। कैसे उसके द्वारा पूर्ण करता हुआ? **समुन्मज्जता**=जगत में प्रकाश को प्राप्त, भली-भाँति उछलते हुए तेज द्वारा पूर्ण करता हुआ। क्या करके? **सद्यः**=तत्काल; **स्वद्रव्यास्तितया**=स्व=अपना= आत्मा का द्रव्यमय अस्तित्व, उससे; **निपुणं**=जैसा कहा है, उस अस्तित्व को निपुणता पूर्वक; **निरूप्य**=देखकर अपने मनोरथ पूर्ण करता हुआ स्थिर रखता है।

अथ परद्रव्यस्वरूपं ब्रह्मोऽस्तिवादिनं प्रति परद्रव्येणासदिति संन्यस्यते—

शार्दूलविक्रीडित : **सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य पुरुषं दुर्वासनावासितः,**
स्वद्रव्यभ्रमतः पशुः किल परद्रव्येषु विश्राम्यति।
स्याद्वादी तु समस्तवस्तुषु परद्रव्यात्मना नास्तितां,
जानन्निर्मलशुद्धबोधमहिमा स्वद्रव्यमेवाश्रयेत्॥६१॥२५३॥

टीका : ***पशुः*** अद्वैतैकान्तावलम्बी; ***स्वद्रव्यभ्रमतः*** स्वस्य द्रव्यं तस्य भ्रमतः भ्रान्ते; ***परद्रव्येषु*** समस्तचेतनाचेतनेष्वपरद्रव्येषु; ***किल*** निश्चितं; ***विश्राम्यति*** विश्रामं याति, परद्रव्यं सर्वं स्वद्रव्यमिति कृत्वा तिष्ठति। किं कृत्वा? ***पुरुषं*** ब्रह्म; ***सर्वद्रव्यमयं***

अर्थात्, सर्वतः विशद प्रत्यक्ष ज्ञान से भली-भाँति ज्ञात, व्यक्त, दीर्घ काल पर्यन्त स्थाई होने से स्थिर, पर-द्रव्य के अस्तित्व से ठगाया गया, अपने अस्तित्व को नहीं माननेवाला, पर-द्रव्य से सत् माननेवाला अज्ञानी सब ओर से अपने गुण-पर्यायों को द्रवता है, द्रवेगा, द्रवता था - ऐसे अपने द्रव्य को नहीं देखने, उसका स्वामित्व स्वीकार नहीं करने के कारण नष्ट होता है।

अनेकान्त मत को माननेवाला स्याद्वादी अपने आत्म-द्रव्य के अस्तित्व से स्वयं को भली-भाँति देखकर, तत्काल जगत में प्रकाश को प्राप्त देदीप्यमान विशुद्ध ज्ञानरूपी तेज द्वारा अपने मनोरथों को पूर्ण करता हुआ जीवित रहता है/आत्म-स्वरूप से स्वयं को सदा विद्यमान मानता है।।२५२।।

अब, आत्मा पर-द्रव्य-स्वरूप है, ऐसा कहने वाले के प्रति पर-द्रव्य से असत् है, यह निरूपण करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **दुर्वासनामय मूढ़ मान आतम सब द्रव्यमय हैं सभी,**
आतम के उनमें निमग्न रहता स्व द्रव्य भ्रम से सभी।।
निर्मल शुद्ध सुबोध युक्त महिमामय स्याद्वादी सदा,
आश्रय ले स्व द्रव्य का समझ सब पर वस्तु में नास्तिता।।२५३।।

टीकार्थ : पशुः=अद्वैत एकान्त का अवलम्बन लेनेवाला अज्ञानी; **स्वद्रव्यभ्रमतः**= अपने द्रव्य के भ्रम=भ्रान्ति से; **परद्रव्येषु**=चेतन, अचेतनरूप सभी पर-द्रव्यों में; **किल**= निश्चित अर्थ का वाचक अव्यय है; **विश्राम्यति**=विश्राम करता है, सभी पर-द्रव्य, अपना

समस्तचेतनेतरवस्तुमयं; ***प्रपद्य*** अङ्गीकृत्य। तदभ्युपगमे वेदवाक्यं ''पुरुष एवेदं यद्भूतं यच्च भाव्यं स एव हि सकललोकप्रलयस्थितिहेतुरिति'' सर्वेषां प्रतिभासमानत्वेन प्रतिभासान्तः प्रविष्टत्वम्। तस्यैकत्वे घटपटलकुटमुकुटशकटादीनां भेदस्तु; ***दुर्वासना-वासितः*** दुर्वासनया अविद्यया सदसन्नित्यानित्यैकानेकादिरूपेण प्रतिभासमानया वासितः कल्पितः इति वदन् अद्वैतदुर्वासनावासितः दुर्वासनया अनादिकालभूतमहामोहाख्ययाऽविद्यया वासितः वासनाविषयीकृतः।

स्याद्वादी तु समस्तवस्तुषु सर्वपदार्थेषु; ***स्वद्रव्यमेव*** स्वद्रव्येणास्तित्वमेव; ***आश्रयेत्*** भजेत्। किं कुर्वन्? तेषु ***परद्रव्यात्मना*** परस्वरूपेण; ***नास्तितां जानन्*** प्रमाण-बलान्नास्तित्वमभ्युपगच्छन्। कीदृशः सः? ***निर्मलशुद्धबोधमहिमा*** निर्मलः द्रव्यमल-कलङ्करहितः, शुद्धः भावकर्मविकलः, स चासौ बोधश्च तेन महिमा माहात्म्यं यस्य सः॥ ६१॥

द्रव्य है – ऐसा मान बैठता है। क्या करके ऐसा मानता है? **पुरुषं**=ब्रम्ह/आत्मा को; **सर्वद्रव्यमयं**=चेतन, अचेतनरूप सभी वस्तुमय; **प्रपद्य**=स्वीकार कर ऐसा मानता है। उसकी स्वीकृति में वेदवाक्य – ''जो हो गया है, है और जो होगा – यह पुरुष ही है; वह ही सम्पूर्ण लोक की प्रलय-स्थिति का कारण है।'' इस प्रकार है।

सभी के प्रतिभासमानता होने से प्रतिभास के अन्दर प्रविष्टता है। उसके एकत्व में घट, पट, लकुट/लाठी, मुकुट, शकट/गाड़ी आदि का भेद तो; **दुर्वासनावासितः**=सत्, असत्, नित्य, अनित्य, एक, अनेक आदिरूप प्रतिभासमान दुर्वासनामय अविद्या से वासित=कल्पित है – ऐसा कहनेवाले अद्वैत दुर्वासना से वासित=अनादि कालीन महा मोह नामक अविद्या से वासित=वासना के विषय किए गए हैं।

स्याद्वादी तु समस्तवस्तुषु=स्याद्वादी तो सभी पदार्थों में; **स्वद्रव्यमेव**=स्व-द्रव्य से अस्तित्व को ही; **आश्रयेत्**=स्वीकार करता है। क्या करता हुआ वह ऐसा करता है? उनमें **परद्रव्यात्मना**=पर-स्वरूप से; **नास्तितां जानन्**=प्रमाण बल से नास्तित्व को स्वीकार करता हुआ। वह कैसा है? **निर्मलशुद्धबोधमहिमा**=निर्मल=द्रव्य-मलरूपी कलंक से रहित, शुद्ध=भाव-कर्म से रहित, वह और वह बोध, उससे महिमा=माहात्म्य है जिसका, वह।

अर्थात्, सत्, असत्, नित्य, अनित्य, एक, अनेक आदिरूप प्रतिभासमान दुर्वासनामय

अथ परक्षेत्रास्तित्वं निराकुर्वन् स्वक्षेत्रास्तित्वं तुदति—

शार्दूलविक्रीडित : **भिन्नक्षेत्रनिषण्णबोध्यनियतव्यापारनिष्ठः सदा,**
सीदत्येव बहिः पतन्तमभितः पश्यन् पुमांसं पशुः।
स्वक्षेत्रास्तितया निरुद्धरभसः स्याद्वादवेदी पुनः,
तिष्ठत्यात्मनिखातबोध्यनियतव्यापारशक्तिर्भवन्॥६२॥२५४॥

टीका : कश्चिन्नैयायिकादिः ***पशुः*** अज्ञानी; ***सीदत्येव*** स्वस्थित्यभावाद्विषादं यात्येव। किं कुर्वन्? ***अभितः*** समन्तात्; ***बहिः पतन्तं*** स्वक्षेत्रात्परक्षेत्रे पतन्तं; ***पुमांसं*** आत्मानं; ***पश्यन्*** अवलोकयन्; ***सदा*** नित्यं आत्मनः व्यापकत्वाङ्गीकारात्। कीदृशः

अविद्या/अद्वैतमय दुर्वासना से वासित अथवा अनादि-कालीन महा मोह नामक अविद्यामय वासना का विषय हुआ, अद्वैत एकान्त का अवलम्बन लेनेवाला अज्ञानी; आत्मा को चेतन, अचेतनरूप सभी वस्तुमय स्वीकार कर वास्तव में उनमें अपने आत्म-द्रव्य के भ्रम से उन चेतन, अचेतनरूप सभी पर-द्रव्यों में विश्राम करता है/ ये सभी मैं हूँ - ऐसा मानता है।

प्रमाण बल से सभी पर-पदार्थों में पर-स्वरूप से नास्तित्व को स्वीकार करता हुआ, द्रव्य-मल रूपी कलंक से रहित निर्मल, भाव-कर्म से विहीन शुद्ध अपने ज्ञान से महिमावान स्याद्वादी तो स्व-द्रव्य से अस्तित्व मय स्वयं का ही आश्रय लेता है।।२५३।।

अब, पर-क्षेत्र की अपेक्षा आत्मा के अस्तित्व का निराकरण कर स्व-क्षेत्र की अपेक्षा अस्तित्व का समर्थन करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **भिन्न क्षेत्र गत ज्ञेय ज्ञान-हेतु सब ओर से बाह्य ही,**
जाता मानें ज्ञान को सदा ही अज्ञानि रहता दुखी।
बाहर जाने का निरोध स्व की स्व-क्षेत्र में अस्तिता,
आतम में प्रतिबिम्ब ज्ञेय निश्चित ज्ञान शक्ति निज में रहा।।२५४।।

टीकार्थ : कोई नैयायिक आदि **पशुः**=अज्ञानी; **सीदत्येव**=अपनी स्थिति के अभाव से विषाद को ही प्राप्त होता है। वह क्या करता हुआ ऐसा है? **अभितः**=सब ओर से; **बहिः पतन्तं**=अपने क्षेत्र से पर-क्षेत्र में गिरते हुए/उन्हें जानते हुए; **पुमांसं**=आत्मा को; **पश्यन्**=देखता हुआ; **सदा**=आत्मा की व्यापकता स्वीकार होने से नित्य विषाद को प्राप्त है। वह कैसा है? **भिन्नक्षेत्रनिषण्णबोध्यनियतव्यापारनिष्ठः**=भिन्न और वह क्षेत्र,

सः ? ***भिन्नक्षेत्रनिषण्णबोध्यनियतव्यापारनिष्ठः*** भिन्नं च तत् क्षेत्रं च, तत्र निषण्णं वर्तमानं, तच्च तद्बोध्यं ज्ञातुं योग्यं द्रव्यं च तत्र नियतः निश्चितः, व्यापारः सन्निकर्षादिक्रिया आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियं अर्थेन, इन्द्रियाणां प्राप्यकारित्वनियमात् इति सन्निकर्षादिव्यापारः बोध्यक्षेत्रगमनलक्षणः तत्र निष्ठः, तत्पक्षावलम्बी स्वव्यवस्थानाभावात्सीदत्येव।

स्याद्वादवेदी पुनः कथं तिष्ठति ? ***स्वक्षेत्रास्तितया*** स्वस्य क्षेत्रे अस्तिता अस्तित्वं तया; ***निरुद्धरभसः*** सन्निकर्षादीनां निरुद्धो, रभसः वेगः, येन सः, प्रमाणपरीक्षादौ सन्निकर्षस्य गतादावतिप्रसङ्गेन दूषितत्वात्। नायनसन्निकर्षस्य घटरूपयोः समवेतयोः सद्भावे समवेतयोर्घटरसयोः स कथं न स्यात् इति निरस्तत्वात्। तर्हि क्वचिदपि बोध्ये आत्मनो व्यापित्वं न स्यात् इति वदन्तं प्रति स्याद्वादवादी कीदृशो भवं ***तिष्ठति ? आत्मनिखातबोध्यनियत-व्यापारशक्तिः*** आत्मनि स्वस्मिन् निखातं व्यवस्थितं तच्च यद्बोध्यं च स्वरूपलक्षणं बोध्यमित्यर्थः, तत्र नियता निश्चिता व्यापारशक्तिः, येन स ईदृशो; ***भवन्*** सन्॥ ६२॥

वहाँ निषण्ण=वर्तमान/वर्तते हुए, वह और वह बोध्य=जानने-योग्य द्रव्य, वहाँ नियत=निश्चित, व्यापार=सन्निकर्ष आदि क्रिया, इन्द्रियों की प्राप्यकारिता का नियम होने से आत्मा मन के साथ जुड़ता है, मन इन्द्रिय से, इन्द्रिय पदार्थ से जुड़ती है - इस प्रकार बोध्य=जानने-योग्य क्षेत्र में गमन लक्षण सन्निकर्ष आदि व्यापार, उसमें निष्ठ, अपने व्यवस्थान का अभाव होने से उस पक्ष का अवलम्बी विषाद ही करता है।

स्याद्वादवेदी पुनः=और स्याद्वाद को जाननेवाला किस प्रकार रहता है? **स्वक्षेत्रास्तितया**=अपने क्षेत्र में अस्तिता=अस्तित्व, उसके द्वारा; **निरुद्धरभसः**=सन्निकर्ष आदि का निरोध, रभस=वेग पूर्वक जिसके द्वारा, वह; प्रमाण परीक्षा आदि ग्रन्थों में सन्निकर्ष के ज्ञान आदि में अतिप्रसंग द्वारा दूषितपना का वर्णन होने से। नेत्र सम्बन्धी सन्निकर्ष का घट और रूप में समवेत/समवाय का सद्भाव होने पर घट और रस के समवेत में वह कैसे नहीं होता है - इस प्रकार निराकरण किया होने से। तब किसी भी बोध्य/ज्ञेय में आत्मा का व्यापित्व नहीं होगा - ऐसा कहनेवाले के प्रति स्याद्वादी कैसा होता हुआ **तिष्ठति**=रहता है? **आत्मनिखातबोध्यनियतव्यापारशक्तिः**=अपने आत्मा में निखात=व्यवस्थित, वह और जो बोध्य, स्वरूप लक्षण बोध्य—ऐसा अर्थ है, उसमें नियत=निश्चित व्यापार शक्ति, जिसके द्वारा वह ऐसा; **भवन्**=होता हुआ रहता है।

अथ परक्षेत्रे नास्तित्वाभावं वदन्तं प्रति परक्षेत्रे नास्तित्वं क्वणति—

शार्दूलविक्रीडित : **स्वक्षेत्रस्थितये पृथग्विधपरक्षेत्रस्थितार्थोज्झनात्,**
तुच्छीभूय पशुः प्रणश्यति चिदाकारान् सहार्थैर्वमन्।
स्याद्वादी तु वसन् स्वधामनि परक्षेत्रे विदन्नास्तितां,
त्यक्तार्थोऽपि न तुच्छतामनुभवत्याकारकर्षी परान्॥६३॥२५५॥

टीका : ***पशुः*** कश्चिदज्ञानी; ***प्रणश्यति*** स्वक्षयं नयति। किं कृत्वा? ***पृथग्विध-परक्षेत्रस्थितार्थोज्झनात्*** पृथग् भिन्नं, विधिः प्रयोजनं येषां ते, ते च ते परक्षेत्रे स्वक्षेत्रादपरक्षेत्रे, स्थितार्थाश्च तेषां उज्झतं परिहरणं तस्मात्; ***तुच्छीभूय*** निस्स्वभावं भूत्वा। पुनः किं कुर्वन्?

अर्थात्, इन्द्रियों की प्राप्यकारिता का नियम होने के कारण आत्मा मन से, मन इन्द्रिय से, इन्द्रिय पदार्थ से जुड़ती है - इस प्रकार भिन्न-क्षेत्र में स्थित ज्ञेय को जानने-हेतु उनसे जुड़ने के लिए वहाँ गमनरूप निश्चित सन्निकर्ष आदि व्यापार/क्रिया में संलग्न अज्ञानी; आत्मा को सब ओर से बाह्य क्षेत्र में ज्ञानरूप से जाता देखता हुआ, आत्मा की व्यापकता स्वीकार होने से, अपनी स्थिति के अभाव में सदा विषाद को ही प्राप्त होता है।

अपने क्षेत्र में अस्तित्व होने के कारण वेग पूर्वक सन्निकर्ष-हेतु पर-क्षेत्र में गमन का निरोध करनेवाला स्याद्वादी; अपने आत्मा में व्यवस्थित/प्रतिबिम्बित पदार्थों को निश्चितरूप से जानने की शक्ति-सम्पन्न होता हुआ अपने आत्म-क्षेत्र में ही विद्यमान रहता है।।२५४।।

अब, पर-क्षेत्र में नास्तित्व का अभाव कहनेवाले के प्रति पर-क्षेत्र में नास्तित्व का प्रतिपादन करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **अपने क्षेत्र निवास-हेतु तजता पर क्षेत्र गत अर्थ को,**
तज अर्थों के चिदाकार मिटता अज्ञानि नित तुच्छ हो।
अपने क्षेत्र निवास स्याद्वादी पर क्षेत्र नास्ति समझ,
तज पर अर्थ न तुच्छता अनुभवे जाने चिदाकार नित।।२५५।।

टीकार्थ : पशुः=कोई अज्ञानी; **प्रणश्यति**=अपना नाश करता है। क्या कर वह ऐसा करता है? **पृथग्विधपरक्षेत्रस्थितार्थोज्झनात्**=पृथक्=भिन्न, विधि=प्रयोजन है जिनका वे, वे और वे पर-क्षेत्र=अपने क्षेत्र से पृथक् क्षेत्र में, स्थित अर्थ, उनका परिहार, उससे; **तुच्छीभूत**=तुच्छ=स्वभाव-रहित होकर। और क्या करता हुआ? **चिदाकारान्**=चेतन की

चिदाकारान् चित्पर्यायान्; ***वमन्*** उद्गिरन्; कैः ***सह***? ***अर्थैः*** पदार्थैः। किमर्थं? ***स्वक्षेत्र-स्थितये*** स्वक्षेत्रे भवनाय।

स्याद्वादी तु पुनः; ***परान्*** परिच्छेद्यपदार्थान्; ***आकारकर्षी*** आकारग्राही सन्; ***न तुच्छतां*** न तुच्छभावतां; ***अनुभवति।*** ननु पराकारकर्षी स्याद्वादादिबोधः परार्थग्राही स्यादित्याशङ्कायामाह— ***त्यक्तार्थोऽपि*** त्यक्तपरद्रव्योऽपि परिच्छिनत्ति। त्यक्तार्थत्वं कथं? ***परक्षेत्रे*** स्वक्षेत्रादपरक्षेत्रे; ***नास्तितां विदन्*** जानन् प्रतिपादयन्। ननु परक्षेत्र इव स्वक्षेत्रे मास्त्विति चेन्न यतः; ***स्वधामनि*** स्वक्षेत्रे; ***वसन्*** अस्तित्वं भजन्॥ ६३॥

अथ स्वकालास्तित्वं प्रीणाति—

पर्यायों को; **वमन्**=त्यागता हुआ; उन्हें किनके साथ त्यागता हुआ? **अर्थैः**=पदार्थों के साथ त्यागता हुआ। ऐसा वह किसलिए होता है? **स्वक्षेत्रस्थितये**=अपने क्षेत्र में रहने के लिए होता है।

स्याद्वादी तु=और स्याद्वादी तो; **परान्**=अन्य ज्ञेय पदार्थों का; **आकारकर्षी**= आकार-ग्राही होता हुआ; **न तुच्छतां**=तुच्छ-भावता का नहीं; **अनुभवति**=अनुभव करता है। यहाँ कोई कहता है कि पर-पदार्थों के आकारों को ग्रहण करनेवाले स्याद्वाद आदि का ज्ञान पर-पदार्थों को ग्रहण करता होगा - इस प्रकार की आशंका का (उत्तर देते हुए) कहते हैं - **त्यक्तार्थोऽपि**=पर-द्रव्यों को छोड़कर भी जानता है। उसका पर-द्रव्यों को छोड़नापना कैसे है? **परक्षेत्रे**=अपने क्षेत्र से पृथक् अन्य क्षेत्र में; **नास्तितां विदन्**=नास्तित्व को जानते, प्रतिपादन करते हुए उन्हें छोड़ता है। यहाँ कोई कहता है कि पर-क्षेत्र के समान स्व-क्षेत्र में भी वह नहीं हो; (इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि) **स्वधामनि**=अपने क्षेत्र में; **वसन्**=अस्तित्व को धारण करता हुआ (वह है)।

अर्थात्, अपने क्षेत्र में स्थित रहने के लिए, भिन्न-भिन्न पर-क्षेत्रों में स्थित पदार्थों के परित्याग से निज-स्वभाव-रहित हो, पर-पदार्थों के साथ चिदाकारों/चैतन्य की पर्यायों का भी त्याग करता हुआ अज्ञानी अपना नाश करता है।

अपने क्षेत्र में अस्तित्व को धारण करता हुआ, अपने क्षेत्र से पृथक् पर-क्षेत्र में नास्तित्व को जानता हुआ, पर-पदार्थों को छोड़ता हुआ भी उन ज्ञेय पदार्थों के आकारों को ग्रहण करता जानता हुआ स्याद्वादी तुच्छ-भाव का अनुभव नहीं करता है।।२५५।।

अब, अपने काल परक अस्तित्व को पुष्ट करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **पूर्वालम्बित-बोध्य-नाशसमये ज्ञानस्य नाशं विदन्,**
सीदत्येव न किञ्चनापि कलयन्नत्यन्त-तुच्छः पशुः।
अस्तित्वं निजकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुनः,
पूर्णस्तिष्ठति बाह्यवस्तुषु मुहुर्भूत्वा विनश्यत्स्वपि ॥६४॥२५६॥

टीका : ***पशुः*** कश्चिदज्ञानी; ***सीदत्येव*** विनश्यत्येव। किं कुर्वन्? ***पूर्वालम्बित-बोध्यनाशसमये*** पूर्वं स्वोत्पत्तिक्षणे, आलम्बितं ज्ञेयस्वरूपेण अवलम्बितं तच्च तद्बोध्यं च ज्ञेयं, तस्य नाशः क्षयः, तस्य समये क्षणे; ***ज्ञानस्य*** बोधस्य; ***नाशं*** विनाशं; ***विदन्*** जानन्; ***अत्यन्ततुच्छः*** अत्यन्तं निश्शेषं तुच्छः निस्स्वभावः सर्वेषां तुच्छस्वभावत्वात् निरन्वय-विनाशात्। सोऽपि वादी तुच्छस्वभावः तन्मध्ये पतितत्वात् ***किञ्चनापि*** किमपि, चेतनाचेतनं स्थिरं ***न कलयन्।***

पुनः स्याद्वादवेदी पूर्णः पूर्वापरकालस्थायित्वेन पूर्णमनोरथः ***तिष्ठति*** आस्ते।

शार्दूलविक्रीडित : **पूर्वालम्बित ज्ञेय नाश क्षण में मान ज्ञान के नाश को,**
कुछ भी देख न नित्य मूढ़ मिटता नित अत्यधिक तुच्छ हो।
नश्वर बाह्य पदार्थ में भी अपना अस्तित्व निज काल से,
स्याद्वादी माने है पूर्ण स्थित जाने क्षणिक ज्ञान से।।२५६।।

टीकार्थ : पशुः=कोई अज्ञानी; **सीदत्येव**=नष्ट ही होता है। वह क्या करता हुआ ऐसा होता है? **पूर्वालम्बितबोध्यनाशसमये**=पूर्व=पहले अपनी उत्पत्ति के क्षण में, आलम्बित =ज्ञेय-स्वरूप से अवलम्बित, वह और वह बोध्य=ज्ञेय, उसका नाश=क्षय, उसके समय=क्षण में; **ज्ञानस्य**=ज्ञान के; **नाशं**=विनाश को; **विदन्**=जानता हुआ; **अत्यन्ततुच्छः**=अत्यन्त= निःशेष/पूर्णरूप से, तुच्छ=स्वभाव-रहित, सभी का तुच्छ-स्वभावत्व और निरन्वय विनाश होने के कारण। वह तुच्छ-स्वभाव-वादी भी उनके बीच में गिर जाने/आ जाने के कारण **किञ्चनापि**=कुछ/किसी भी चेतन या अचेतन को स्थिर; **न कलयन्**=नहीं मानते हुए नष्ट होता है।

पुनः स्याद्वादवेदी पूर्णः=और स्याद्वाद को जाननेवाला, पूर्ण=पहले-आगे के काल में स्थायीत्व के कारण पूर्ण मनोरथ मय; **तिष्ठति**=स्थित रहता है। वह क्या करता हुआ ऐसा रहता है? **अस्य**=इस ज्ञान का; **निजकालतः**=अपने ज्ञान से; **अस्तित्वं**

किं कुर्वन्? ***अस्य*** ज्ञानस्य; ***निजकालतः*** स्वकालतः; ***अस्तित्वं कलयन्;*** किं कृत्वा? ***मुहुः*** पुनः; ***बाह्यवस्तुषु*** बहिः पदार्थेषु; ***भूत्वा*** तद्ग्राहकस्वरूपेणोत्पद्य। कीदृशेषु तेषु? ***विनश्यत्स्वपि*** पर्यायापेक्षया प्रतिक्षणं विनाशं गच्छत्सु, अपि शब्दात् द्रव्यादेशादविनश्यत्सु। बाह्यपदार्थेषु विनश्यत्स्वपि, ज्ञानं न विनश्यति स्वकाले सत्त्वात्॥ ६४॥

अथ परकाले नास्तित्वमाविभृते—

शार्दूलविक्रीडित : **अर्थालम्बनकाल एव कलयन् ज्ञानस्य सत्त्वं बहिः,**
ज्ञेयालम्बनलालसेन मनसा भ्राम्यन् पशुर्नश्यति।
नास्तित्वं परकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुनः,
तिष्ठत्यात्मनिखातनित्यसहजज्ञानैकपुञ्जीभवन्॥६५॥२५७॥

कलयन्=अस्तित्व को स्वीकार करता हुआ स्थित रहता है। क्या करके ऐसा करता है? **मुहुः**=बारम्बार; **बाह्यवस्तुषु**=बाह्य पदार्थों में; **भूत्वा**=उन्हें जानने के स्वरूप से प्रगट होकर स्थित रहता है। कैसे उन पदार्थों में? **विनश्यत्स्वपि**=पर्याय की अपेक्षा प्रतिक्षण विनाश को प्राप्त उनमें, अपि=भी शब्द से द्रव्य की अपेक्षा नष्ट नहीं होते हुए उनमें। नष्ट होते हुए बाह्य पदार्थों को जानता हुआ भी, अपने काल में सत्त्व होने के कारण ज्ञान नष्ट नहीं होता है।

अर्थात्, पहले अपनी उत्पत्ति के क्षण में ज्ञेय-स्वरूप से उपस्थित पदार्थ के नाश के समय ज्ञान का विनाश मानकर पूर्ण रूप से तुच्छ होता हुआ, चेतन या अचेतन किसी भी पदार्थ को स्थिर नहीं मानता हुआ अज्ञानी नष्ट ही होता है।

ज्ञान के अस्तित्व को अपने काल/ज्ञान से स्वीकार करता हुआ बारम्बार पर्याय की अपेक्षा प्रतिक्षण नष्ट होते हुए बाह्य पदार्थों में ज्ञानरूप से प्रवृत्ति करता/उन्हें जानता हुआ भी, सभी कालों में अपने स्थायीत्व के कारण स्याद्वाद का ज्ञाता पूर्ण मनोरथ-सम्पन्न हो स्थित रहता है। पर्याय की अपेक्षा क्षणिक होने पर भी प्रत्येक पदार्थ द्रव्य की अपेक्षा शाश्वत ही है।।२५६।।

अब, पर-काल में आत्मा के नास्तित्व को प्रगट करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **अर्थालम्बन काल में ही सत्ता मान ज्ञान की बाह्य के,**
ज्ञेयालम्बन चाह चित्त से भ्रम मय मूढ़ नित नष्ट है।
नास्ति है इस ज्ञान की पर समय से मान स्याद्वाद-विद,
पुंजीभूत सहज सदा अवस्थित ज्ञान आत्म में स्थित।।२५७।।

टीका : ***पशुः*** कश्चिदज्ञानी, परकाले वस्तुनोऽस्तित्ववादी; ***नश्यति*** स्वपक्षक्षयेण स्वयं क्षयं याति। कीदृशः सन्? ***मनसा*** चित्तेन कृत्वा; ***भ्राम्यन्*** अन्यथार्थस्यान्यथार्थ-कल्पनया भ्रमं गच्छन्। कीदृशेन तेन? ***बहिर्ज्ञेयालम्बनलालसेन*** बहिर्ज्ञेयं बाह्याचेतनादि-द्रव्यं, तदेवालम्बनं अवलम्बनं, तत्र लालसं यत्तेन। पुनः कीदृशः सः? ***अर्थालम्बनकाल एव*** अर्थस्य ज्ञेयस्य आलम्बनं तदुत्पत्त्यादिवशादवलम्बनं, तस्य काले समये एव। ***ज्ञानस्य सत्त्वं*** अस्तित्वं; ***कलयन्*** अङ्गीकुर्वन्; तदुक्तं तन्मते—

''अर्थस्यासम्भवे भावात्प्रत्यक्षे च प्रमाणता। प्रतिबद्धस्वभावस्य तद्धेतुत्वे समं द्वयम्॥'' इति

अर्थालम्बनलक्षणे परकाले सत्त्वे सर्वदा सत्त्वप्रसङ्गात्।

स्याद्वादवेदी पुनः अस्य ज्ञानस्य; ***परकालतः*** परकालेन; ***नास्तित्वं*** असत्त्वं; ***कलयन्*** अङ्गीकुर्वन्; ***तिष्ठति*** आस्ते। ननु यथा परकालेन नास्तित्वं स्याद्वादिनां तथा स्वकालेऽपि तदस्तु इति चेन्न यतः; ***आत्मनिखातनित्यसहजज्ञानैकपुञ्जीभवन्*** आत्मनि

टीकार्थ : पशुः=पर-काल में वस्तु का अस्तित्व कहनेवाला कोई अज्ञानी; **नश्यति**=अपने पक्ष के क्षय से स्वयं क्षय को प्राप्त होता है। कैसा होता हुआ ऐसा है? **मनसा**=मन के द्वारा; **भ्राम्यन्**=अन्य प्रकार के पदार्थ की अन्य प्रकार के पदार्थरूप कल्पना के द्वारा भ्रम को प्राप्त होता हुआ। कैसे उस मन से? **बहिर्ज्ञेयालम्बनलालसेन**=बाह्य-ज्ञेय=बाहर के अचेतन आदि द्रव्य, वही है आलम्बन=अवलम्बन, उसमें लालसा है जिसकी, उससे। वह अज्ञानी कैसा है? **अर्थालम्बनकाल एव**=अर्थ=ज्ञेय का, आलम्बन =उससे उत्पत्ति आदि के वश से अवलम्बन, उसके काल=समय में ही। **ज्ञानस्य सत्त्वं**=ज्ञान का अस्तित्व; **कलयन्**=स्वीकार करता हुआ; उनके मत में उसी प्रकार कहा है—

'पदार्थ के असम्भव होने पर भाव से और प्रत्यक्ष में प्रतिबद्ध स्वभाव की उसके हेतुत्व में—दोनों में प्रमाणता समान है।' इस प्रकार।

अर्थ का अवलम्बन लक्षण पर-कालरूप सत्त्व में सर्वदा सत्त्व का प्रसंग होने से।

स्याद्वादवेदी पुनः अस्य=और स्याद्वाद को जाननेवाला इस ज्ञान का; **परकालतः**= पर-काल से; **नास्तित्वं**=असत्त्व को; **कलयन्**=अंगीकार करता हुआ; **तिष्ठति**=स्थित रहता है। यहाँ कोई पूछता है कि जैसे स्याद्वादी का पर-काल से नास्तित्व है; उसी प्रकार स्व-काल में भी हो; (उसे समझाते हुए कहते हैं कि) ऐसा नहीं है; क्योंकि **आत्मनिखातनित्य-**

चिद्रूपे, निखातं आरोपितं, तच्च तन्नित्यं द्रव्यरूपतया शाश्वतं, सहजज्ञानं च चिद्रूपस्य शाश्वतिकत्वे ज्ञानस्यापि शाश्वतिकत्वात् तत्काले तस्य सद्भावः तस्य एकपुञ्जीभवन् अद्वितीयसमूहः सन् ॥ ६५ ॥

अथ स्वभावास्तित्वमनुभूयते—

शार्दूलविक्रीडित : **विश्रान्तः परभावभावकलनान्नित्यं बहिर्वस्तुषु,**
नश्यत्येव पशुः स्वभाव-महिमन्येकान्त-निश्चेतनः।
सर्वस्मिन्नियतस्वभावभवनज्ञानाद्विभक्तो भवन्,
स्याद्वादी तु न नाशमेति सहजस्पष्टीकृतप्रत्ययः ॥६६ ॥२५८ ॥

सहजज्ञानैकपुञ्जीभवन्=आत्मा=चिद्रूप स्वयं में, निखात=आरोपित, वह और वह नित्य=द्रव्यरूप से शाश्वत और सहज ज्ञान, चिद्रूप की शाश्वतिकता/अनादि-अनन्तता में ज्ञान की भी शाश्वतिकता होने से, उस काल में उसका सद्भाव, उसका एक पुंजी=अद्वितीय समूह होता हुआ।

अर्थात्, पदार्थ से उत्पत्ति आदि के वश ज्ञेयरूप अर्थ के अवलम्बन के समय में ही ज्ञान के अस्तित्व को स्वीकार करता हुआ अचेतन आदि द्रव्यरूप बाह्य-ज्ञेयों के अवलम्बन की लालसा वाले मन से अन्य स्वभाववाले पदार्थ की अन्य स्वभाववाले पदार्थरूप कल्पना द्वारा भ्रम को प्राप्त होता हुआ, पर-काल में वस्तु का अस्तित्व माननेवाला अज्ञानी, अपने पक्ष के नाश से स्वयं नाश को प्राप्त होता है।

इस ज्ञान का पर-काल से नास्तित्व स्वीकार करता हुआ, चिद्रूप आत्मा में आरोपित, द्रव्यरूप से शाश्वत, स्वाभाविक सहज शाश्वत ज्ञान का त्रिकाल सद्भाव होने से काल का एक पुंजीभूत अद्वितीय समूह होता हुआ स्याद्वाद का ज्ञाता सदा स्थित रहता है।।२५७।।

अब, स्व-भाव की अपेक्षा अस्तित्व का अनुभव करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **पर-भावों को आत्मसात् करने बाह्य वस्तु में नित मगन,**
अपनी महिमा ज्ञात न मिटे बन एकान्त निश्चेतन।
स्याद्वादी मिटता नहीं नित प्रगट सुज्ञानमय है सहज,
अपने में निश्चित स्वभाव ही है यह जान सबसे पृथक्।।२५८।।

टीकार्थ : पशुः=पर-भाव से आत्मा को माननेवाला कोई अज्ञानी; **नश्यत्येव**=नष्ट

टीका : ***पशुः*** परभावेनात्मानं मन्यमानः कश्चिदज्ञाता; ***नश्यत्येव।*** कीदृशः ? ***नित्यं*** निरन्तरं; ***बहिर्वस्तुषु*** नीलादिज्ञेयक्षणेषु; ***विश्रान्तः*** स्थितः। कुतः ? ***परभावभाव-कलनात्*** परे च ते भावाश्च नीलपीतादयस्तेषां भावः स्वभावः, तस्य कलना ग्रहणं, आत्मसात्करणं, तस्मात्। कीदृशः सः ? ***स्वभावमहिम्नि*** स्वस्य भावः पर्यायः, ज्ञानादि-लक्षणः, तस्य महिमा माहात्म्यं यत्र तस्मिन्नात्मनि; ***एकान्तनिश्चेतनः*** एकान्ततः सर्वथास्तित्व –नास्तित्वादेः निर्गतं चेतनं ज्ञानं, यस्य सः; आत्मनि एकान्तज्ञानाभावात् अनेकान्तज्ञानम्।

स्याद्वादी तु न नाशमेति विनाशं न प्राप्नोति। कीदृशः ? ***सहजस्पष्टीकृतप्रत्ययः*** सहजः स्वाभाविकः, स्पष्टीकृतः प्रत्ययः ज्ञानं, येन सः, स्वस्वभावनियतत्वात्; ***सर्वस्माद्*** ज्ञेयाद्; ***विभक्तः*** भिन्नः; ***भवन्*** सन् परभावस्वभावग्राहकत्वाभावात्। कुतः ? ***नियतस्वभाव –भवनज्ञानात्*** नियतः निश्चितः, स्वभावः चैतन्यादि स्वरूपं, तेन भवनं यस्य, तच्च तज्ज्ञानं च तस्माद् ॥६६ ॥

ही होता है। वह कैसा है? **नित्यं**=निरन्तर; **बहिर्वस्तुषु**=नील आदि बाह्य-वस्तुरूप ज्ञेयों के क्षणों में; **विश्रान्तः**=स्थित है। वह कैसे स्थित है? **परभावभावकलनात्**=पर और वे भाव नील, पीत आदि; उनका भाव=स्व-भाव, उसका कलना=ग्रहण=आत्मसात् करना, उससे स्थित है। वह कैसा है? **स्वभावमहिम्नि**=स्व का भाव=ज्ञानादि लक्षण पर्याय, उसकी महिमा=माहात्म्य जिसमें है, उस आत्मा में; **एकान्तनिश्चेतनः**=एकान्त से=सर्वथा अस्तित्व, सर्वथा नास्तित्व आदि से निकल गया है चेतन=ज्ञान जिसका, वह; एकान्त ज्ञान का अभाव होने से आत्मा में अनेकान्त ज्ञान है।

स्याद्वादी तु न नाशमेति=स्याद्वादी विनाश को प्राप्त नहीं होता है। वह कैसा है? **सहजस्पष्टीकृतप्रत्ययः**=अपने स्वभाव में नियतपना होने के कारण सहज=स्वाभाविक, स्पष्ट किया गया है प्रत्यय=ज्ञान जिसके द्वारा, वह। पर-भाव के स्व-भाव की ग्राहकता का अभाव होने से **सर्वस्माद्**=सभी ज्ञेयों से; अथवा **सर्वस्मिन्**=भी पाठ है; जिसका अर्थ है सभी ज्ञेयों में; **विभक्तः**=भिन्न; **भवन्**=होता हुआ। वह ऐसा कैसे है? **नियतस्वभावभवन-ज्ञानात्**=नियत=निश्चित, स्वभाव=चैतन्य आदि स्वरूप, उससे होना है जिसका, वह और वह ज्ञान, उससे विनाश को प्राप्त नहीं होता है।

अर्थात्, नील, पीत आदि पर-भावों के स्व-भाव को निरन्तर आत्मसात् करने से उन

अथापरपर्यायपरं ब्रह्म निषेधयन् परस्वरूपेण सदित्युद्घाटयति—

शार्दूलविक्रीडित : **अध्यास्यात्मनि सर्वभावभवनं शुद्धस्वभावच्युतः,**
सर्वत्राप्यनिवारितो गतभयः स्वैरं पशुः क्रीडति।
स्याद्वादी तु विशुद्ध एव लसति स्वस्य स्वभावम्भरा-
दारूढः परभावभावविरहव्यालोकनिष्कम्पितः ॥६७॥२५९॥

टीका : सर्वभावमयं पुरुषं कल्पयन् ***पशुः*** कश्चिदज्ञानी; ***स्वैरं*** स्वेच्छया, यमनियमासनाद्यभावात्; ***क्रीडति*** विहरति इतस्ततः। कीदृशः? ***गतभयः*** गतः नष्टः, भयः इहपरलोकादिलक्षणो यस्य सः, सर्वस्य ब्रह्ममयत्वादिहपरलोकाद्यभावः। पुनः

नील आदि बाह्य-वस्तुरूप ज्ञेयों के क्षणों में मग्न; ज्ञानादि लक्षणात्मक स्वभाव की महिमामय आत्मा में सर्वथा अस्तित्व, सर्वथा नास्तित्व आदिरूप में एकान्त से निश्चेतन/ज्ञान-रहित हुआ, पर-भाव से आत्मा माननेवाला अज्ञानी नष्ट ही होता है। एकान्त ज्ञान का अभाव होने से आत्मा में अनेकान्तात्मक ज्ञान ही है।

पर-पदार्थों के स्व-भाव को ग्रहण करने का अभाव होने से चैतन्य आदि निश्चित स्व-भावरूप परिणमित सभी ज्ञेयों के ज्ञान से विभक्त होता हुआ अपने स्व-भाव में नियतपना होने के कारण सहज स्वाभाविक स्पष्ट किया गया ज्ञानमय स्याद्वादी विनष्ट नहीं होता है। वह आत्म-श्रद्धावान होने से अविनष्ट ही रहता है।।२५८।।

अब, पर-स्वरूप से अन्य पर्यायमय आत्मा का निषेध करते हुए आत्म-स्वरूप से सत् को उद्घाटित करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **आतम में सब भाव मान भय विन सर्वत्र निर्बाधमय,**
स्वच्छन्दी अज्ञानि भटके सदा स्व भाव शुध से रहित।
आतमा को स्व भाव से भरित पा पर भाव के भाव से,
विरहित स्वतत्त्वावलोकि स्याद्वादि शोभे अचल शुद्ध से।।२५९।।

टीकार्थ : आत्मा को सभी भावमय मानता हुआ **पशुः**=कोई अज्ञानी; **स्वैरं**=यम, नियम, आसन आदि का अभाव होने से अपनी इच्छा पूर्वक; **क्रीडति**=यहाँ-वहाँ सर्वत्र क्रीड़ा करता है/भटकता है। वह कैसा है? **गतभयः**=सभी के ब्रम्हमयता होने से इह-लोक, पर-लोक आदि का अभाव है - (ऐसा मानकर) गत=नष्ट हो गया है, भय=इह-लोक भय,

सर्वत्रापि; कीदृशः ? ***अनिवारितः*** निषिद्धानुष्ठानेऽपि अनिवारितः, अलाबूनि मज्जन्ति। ग्रावाणः प्लवन्ते, अन्धो मणिमविन्दत्, तमनंगुलिरावतत्, उत्तानावदेवगावो वहन्तीत्यादीनां वेदवाक्यानां पूर्वापरविरुद्धानां मातृगमनादिप्ररूपकानां च सद्भावान्न तेषां कश्चिन्निवारकः। पुनः ***शुद्धस्वभावच्युतः*** शुद्धस्वभावे च्युतः शुभाशुभपर्यायमयत्वात्। किं कृत्वा ? ***आत्मनि*** चिद्रूपे; ***सर्वभावभवनं*** सर्वभावानां समस्तस्वभावानां, भवनं अस्तित्वं; ***अध्यास्य*** अध्यारोप्य।

स्याद्वादी तु विशुद्ध एव निर्मलस्वज्ञाननियत एव; ***लसति*** विलासं करोति दृष्टेष्टविरोधाभावात्। कीदृशः ? ***भरात्*** अतिशयेन; ***स्वस्य*** आत्मनः; ***स्वभावं*** स्वरूपं; ***आरूढः*** विश्रान्तः, स्वभावेन सत्त्वात्। तर्हि परस्वभावेनाप्यस्तु तन्निवारणार्थमाह ***परभाव-भावविरहव्यालोकनिष्कम्पितः*** परे च ते भावाश्च चेतनाचेतनादयश्च, तेषां भावाः पर्यायाः रागद्वेषनीलपीतादयः, तेषां विरहेण अभावेन, व्यालोकः स्वतत्त्वावलोकनं, तेन निष्कम्पितः

पर-लोक भय आदि लक्षणवाला भय जिसका वह। और **सर्वत्रापि**=सभी जगह ही; कैसा है? **अनिवारितः**=निषिद्ध अनुष्ठानों में भी निर्बाध प्रवृत्त है; आलाबू/तूम्बड़ी जल में डूबती हैं, पाषाण जल में तैरते हैं, अन्धा मणि को पिरोता है, अंगुली के विना तत आदि की ध्वनि करता है, ऊपर मुख किए देव-गाएं बहती हैं इत्यादि आगे-पीछे परस्पर विरुद्ध और माता के साथ गमन/काम-सेवन के प्ररूपक वेद-वाक्यों का सद्भाव होने से उन्हें रोकनेवाला कोई नहीं है। और **शुद्धस्वभावच्युतः**=शुभ, अशुभ पर्याय-मयता के कारण शुद्ध-स्वभाव से रहित है। वह क्या करके ऐसा है? **आत्मनि**=चिद्रूप आत्मा में; **सर्वभावभवनं**=सर्व भाव=सभी स्वभावों का; भवन=अस्तित्व; **अध्यास्य**=आरोपित कर।

स्याद्वादी तु विशुद्ध एव=स्याद्वादी तो अपने निर्मल ज्ञान में नियत ही; **लसति**=दृष्ट/प्रत्यक्ष, इष्ट/परोक्ष आदि से विरोध का अभाव होने के कारण विलास करता है। वह कैसा है? **भरात्**=अधिकता पूर्वक; **स्वस्य**=अपने आत्मा का; **स्वभावं**=स्वरूप; **आरूढः**=स्वभाव से सत्त्व होने के कारण विश्रान्त है। तब पर-स्वभाव से भी सत्त्व हो; उसका निराकरण करने के लिए कहते हैं - **परभावभावविरहव्यालोकनिष्कम्पितः**=पर और वे भाव चेतन, अचेतन आदि; उनके भाव=राग, द्वेष, नील, पीत आदि पर्यायें; उनके विरह=अभाव से, व्यालोक=स्व तत्त्व का अवलोकन, उससे निष्कम्पित=निश्चल, प्रमाण से सिद्ध हो जाने के कारण।

निश्चलः, प्रमाणप्रसिद्धत्वात् ॥६७॥

अथ सर्वस्य क्षणभङ्गाभोगभङ्गिसङ्गतस्य तत्त्वस्य निरसनव्यसनं नित्यत्वं पणायते—

शार्दूलविक्रीडित : **प्रादुर्भावविराममुद्रितवहज्ज्ञानांशनानात्मना,**
निर्ज्ञानात्क्षण-भङ्ग-सङ्ग-पतितः प्रायः पशुर्नश्यति।
स्याद्वादी तु चिदात्मना परिमृशंश्चिद्वस्तु नित्योदितं,
टङ्कोत्कीर्णघनस्वभावमहिमज्ञानं भवन् जीवति ॥६८॥२६०॥

टीका : *प्रायः* बाहुल्येन; ***पशुः*** सर्वक्षणिकवादी कश्चिदज्ञानी; ***नश्यति*** सीदति।

अर्थात्, चिद्रूप आत्मा में सभी पदार्थों का अस्तित्व स्वीकार कर; पूर्वापर परस्पर विरोधी, लोक-मर्यादा के भी विरुद्ध प्ररूपण करनेवाले वेद-वाक्यों का आश्रय लेकर निषिद्ध अनुष्ठानों में निर्बाध प्रवृत्ति करनेवाला, सभी जगह अबाध गति से प्रवृत्त होता हुआ, सभी कुछ ब्रम्हमय होने से इह-लोक, पर-लोक आदि का अभाव मानकर, सभी ओर से भय-रहित हो; शुभ और अशुभ पर्याय-मयता के कारण शुद्ध स्वभाव से रहित हो, आत्मा को सभी भाव मय मानता हुआ कोई अज्ञानी; यम, नियम, आसन आदि का अभाव होने से अपनी इच्छानुसार यहाँ, वहाँ, सर्वत्र स्वच्छन्द क्रीड़ा करता है/भटकता फिरता है।

अधिकता पूर्वक स्व-भाव से सत्त्व होने के कारण अपने आत्मा के स्वभाव को पूर्णतया सर्वांगीण स्वीकार कर; चेतन, अचेतन आदि पर-भावों के राग, द्वेष, नील, पीत आदि भावों/परिणमनों के अभाव पूर्वक, प्रमाण से सिद्ध स्व-तत्त्व के अवलोकन से निश्चल स्याद्वादी तो सभी प्रकार से विरोध का अभाव होने के कारण अपने निर्मल ज्ञान में ही सुशोभित होता है।।२५९।।

क्षण-भंगुर वैभव के समूह से युक्त सभी तत्त्वों की/पदार्थों की सर्वथा क्षण-भंगुरता के निषेध पूर्वक अब, नित्यता के प्रतिपादन की प्रतिज्ञा करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **उत्पत्ति व्यय चिन्ह युक्त बहु विध के ज्ञान से विविध हो,**
निश्चित ज्ञानमयी सभी क्षणिक ही मूढ नष्ट है मान यों।
स्याद्वादी चैतन्यरूप वस्तु को मान चैतन्य मय,
नित्योदित टंकोत्कीर्ण ज्योतित नित ही जिए ज्ञानमय।।२६०।।

टीकार्थ : प्रायः=अधिकतर; **पशुः**=सभी को क्षणिक कहनेवाला कोई अज्ञानी;

कीदृशः ? ***क्षण-भङ्ग-सङ्ग-पतितः*** क्षणे पदार्थानां भङ्गः विनाशः, तस्य सङ्गः सङ्गतिः, तत्र पतितः तदङ्गीकारपरवशीभूतः। कुतः ? ***निर्ज्ञानात्*** स्वपक्षसिद्धदृष्टेष्टप्रमाणनिर्णयात् कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षं स्वलक्षणमनिर्देश्यमित्यादिलक्षणसद्भावात्। ***ज्ञानांशनानात्मना*** ज्ञानानामंशाः पर्यायाः, सुखदुःखाहङ्कारादयः, तेषां नानात्मना परस्परं सर्वथा भिन्नस्वभावेन। ***प्रादुर्भावविराममुद्रितवहत्*** पीतादिज्ञानक्षणानां प्रादुर्भाव उत्पत्तिः, नीलादिज्ञानक्षणानां विरामः विनाशः, तेन मुद्रितं लांछितं वस्तु वहतीति।

ननु स्याद्वादिनां प्रतिक्षणं क्षणिकानां पर्यायाणां सद्भावात्सुगतगतिगमनमारमणमेव विभावपर्यायाणां तु नरकादीनां तु स्थायित्वाभ्युपगमेऽपि तेषामसत्त्वात्? इति चेन्न यतः ***स्याद्वादी तु जीवति*** समस्तमण्डनखण्डनेन विलासित्वात् उज्जीवति। कीदृशः ? ***चिदात्मना*** चेतनास्वरूपेण सर्वत्रावग्रहेहादौ चैतन्यस्वभावेन; ***नित्योदितं*** नित्यस्व-

---

नश्यति=नष्ट होता है। वह कैसा है? **क्षणभङ्गसङ्गपतितः**=क्षण में पदार्थों का भंग=विनाश, उसका संग=संगति, वहाँ पतित=उन्हें अंगीकार करने से पर-वश हुआ। वह ऐसा कैसे हुआ? **निर्ज्ञानात्**=अपने लक्षण का निर्देश नहीं कर इत्यादि लक्षण का सद्भाव होने से अपने पक्ष को सिद्ध करनेवाले दृष्ट, इष्ट प्रमाण का निर्णय करने के कारण 'कल्पना से रहित, अभ्रान्त प्रत्यक्ष है' - इस निर्ज्ञान से। **ज्ञानांशनानात्मना**=ज्ञान के अंश=सुख, दुःख, अहंकार आदि पर्यायें, उनके नानात्मा=परस्पर में सर्वथा भिन्न स्वभाव होने से अनेक रूपता के कारण। **प्रादुर्भावविराममुद्रितवहत्**=पीत आदि ज्ञान-क्षणों का प्रादुर्भाव=उत्पत्ति, नील आदि ज्ञान-क्षणों का विराम=विनाश, उससे मुद्रित=चिन्हित वस्तु को जानता हुआ।

प्रश्न : प्रति-क्षणवर्ती क्षणिक पर्यायों का सद्भाव होने से और नरक आदि विभाव पर्यायों का स्थायीत्व स्वीकार होने पर भी उनका असत्त्व होने के कारण स्याद्वादियों को सुगत/बुद्ध की, गति/मान्यता को स्वीकार करना ही पड़ेगा।

उत्तर : ऐसा नहीं है; क्योंकि **स्याद्वादी तु जीवति**=स्याद्वादी तो सभी प्रकार के मण्डन और खण्डन से सुशोभित होने के कारण उत्कृष्टता पूर्वक जीवित है। वह कैसा है? **चिदात्मना**=अवग्रह, ईहा आदि सभी में चैतन्य स्वभाव होने के कारण चेतना स्वरूप से; **नित्योदितं**=नित्य स्वरूप से उदित; **चिद्वस्तु**=चैतन्य द्रव्य को; **परिमृशन्**=स्वीकार करता

रूपेणोदितं; ***चिद्वस्तु*** चैतन्यद्रव्यं; ***परिमृशन्*** कलयन् प्रमाणबलादनुभवन्नित्यर्थः। पुनः ***टङ्कोत्कीर्णघनस्वभावमहिमज्ञानं*** टङ्केन उत्कीर्णघनस्वभावः निरन्तरप्रकाशमानस्वरूपं स एव महिमा माहात्म्यं यस्य तत्, टङ्कोत्कीर्णं च घनस्वभावमहिमा च तच्च तज्ज्ञानं च; ***भवन्*** जायमानः सन्॥६८॥

अथ सर्वथा सत्यनित्यचित्तशातनमनित्यत्वमात्मनो ज्ञानस्य विज्ञापयति—

शार्दूलविक्रीडित : **टङ्कोत्कीर्णविशुद्धबोधविसराकारात्मतत्त्वाशया,**
वांछत्युच्छल-दच्छ-चित्परिणतेर्भिन्नं पशुः किञ्चन।

हुआ; प्रमाण बल से अनुभव करता हुआ - ऐसा अर्थ है। और **टंकोत्कीर्णघनस्वभाव-महिमज्ञानं**=टाँकी से उत्कीर्ण घन-स्वभाव=निरन्तर प्रकाशमान स्वरूप, वही है महिमा= माहात्म्य जिसका वह, टंकोत्कीर्ण और घन-स्वभाव महिमा और वह ज्ञान; **भवन्**=प्रगट होता हुआ।

अर्थात्, पीत आदि ज्ञान-क्षणों की उत्पत्ति, नील आदि ज्ञान-क्षणों के विनाश से चिन्हित वस्तु को जानने वाले; सुख, दुःख, अहंकार आदि ज्ञान के अंशों में परस्पर सर्वथा पृथक् स्वभाव होने से अनेक रूपता के कारण अपने सिद्धान्त के निश्चयात्मक निर्णय से क्षण-भंगुर पदार्थों की संगति को स्वीकार करने से पर-वश हुआ, सभी को क्षणिक माननेवाला अज्ञानी प्रायः नष्ट होता है।

अवग्रह, ईहा आदि सभी पर्यायों में चेतना स्वरूप होने के कारण चैतन्य-द्रव्य को चेतना स्वरूप से स्वीकार करता हुआ, नित्य स्वरूप से उदित, टाँकी से उत्कीर्ण घन स्वभावरूप निरन्तर प्रकाशमान महिमा-सम्पन्न होता हुआ स्याद्वादी तो सभी प्रकार के मण्डन और खण्डन से सुशोभित होने के कारण उत्कृष्टता पूर्वक जीवित रहता है।।२६०।।

अब, आत्मा के ज्ञान की सर्वथा सत्य, नित्य, चैतन्य को व्यक्त करनेवाली अनित्यता का विशेष ज्ञान कराते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **टंकोत्कीर्ण विशुद्ध ज्ञान-घनमय आतम कि आशा से शठ,**
चाहे कुछ अतिरिक्त चिद् विवर्तन पावन प्रगट से पृथक्।
नश्वरता को जानता भी चिन्मय वृत्ति के अनुक्रमण से,
माने नश्वर शुद्ध नित्य पाता स्याद्वादि निज ज्ञान से।।२६१।।

ज्ञानं नित्य-मनित्यता-परिगमेऽप्यासादयत्युज्ज्वलं,
स्याद्वादी तदनित्यतां परिमृशंश्चिद्वस्तुवृत्तिक्रमात्॥६९॥२६१॥

टीका : ***पशुः*** कश्चिन्नित्यैकान्तवादी शठः; ***किञ्चनापि*** किमपि ज्ञानं; ***भिन्नं*** पृथक्; ***वांछति*** ईहते। कुतः ? ***उच्छलदच्छचित्परिणतेः*** उद् ऊर्ध्वमुच्छलन्ती, अच्छा निर्मला, सा चासौ चित्परिणतिः चित्पर्यायः तस्याः, पर्यायपर्यायिणोः परस्परं भेदात् ज्ञानस्य नित्यत्वम्। कया ? ***टङ्कोत्कीर्णविशुद्धबोधविसराकारात्मतत्त्वाशया*** टङ्केनोत्कीर्णः पर्यायाभावात् नित्यत्वात् स चासौ विशुद्धश्च पूर्वापरविवर्तकालिकाविकलत्वात्, सा चासौ बोधश्च, तस्य विसरः निवहः, स एवाकारः, तेनोपलक्षितं आत्मतत्त्वं, तस्य वांछा नित्यत्वात्म-ज्ञानाकांक्षा, तया।

स्याद्वादी स्यात् कथञ्चिच्छब्देनोपलक्षितो वादः जल्पनं, विद्यते यस्य सः, वस्तुनस्तथात्वात् तथा कांक्षायाः समुत्पत्तेः, तथा विवक्षायाः सद्भावात् अनेकान्तात्मकं सर्वं एकान्तस्वरूपानुपलब्धेरित्यनेकान्तवादी; ***ज्ञानं नित्यं*** पूर्वापरावग्रहेहादिषु व्याप्तज्ञानत्व -सामान्येन स्यान्नित्यं; ***आसादयति*** प्राप्नोति। कीदृशं ? ***उज्ज्वलं*** अवदातं; ***अनित्यता-***

टीकार्थ : पशुः=कोई नित्य एकान्त-वादी मूर्ख; **किञ्चनापि**=कुछ भी ज्ञान; **भिन्नं**=पृथक्; **वांछति**=चाहता है। कैसे चाहता है? **उच्छलदच्छचित्परिणतेः**=उद्=ऊर्ध्व/ विशेष रूप से, उछलती हुई, अच्छ=निर्मल, वह और वह चित्परिणति=चेतन की पर्याय, उसका, पर्याय और पर्यायी का परस्पर भेद होने से ज्ञान की नित्यता है। किससे ऐसा है? **टंकोत्कीर्णविशुद्धबोधविसराकारात्मतत्त्वाशया**=पर्याय का अभाव होने से, नित्यता होने के कारण टाँकी से उत्कीर्ण, पहले और आगे की पर्यायरूपी कालिमा से रहित होने के कारण वह और वह विशुद्ध, वह और वह ज्ञान, उसका विसर=समूह, वही है आकार, उससे सहित आत्म-तत्त्व, उसकी वांछा=नित्यता मय आत्म-ज्ञान की आकांक्षा, उससे ऐसा है।

स्याद्वादी=स्यात्=कथंचित् शब्द से सहित, वाद=जल्प जिसके विद्यमान है, वह; वस्तु के उसी प्रकार होने से, उसी प्रकार की कांक्षा की समुत्पत्ति होने से, उसी प्रकार की विवक्षा का सद्भाव होने से, एकान्त स्वरूप की अनुपलब्धि होने से सभी अनेकान्तात्मक हैं - इस प्रकार की मान्यतावाला अनेकान्त-वादी; **ज्ञानं नित्यं**=पहले, आगे के अवग्रह, ईहा आदि में व्याप्त ज्ञानत्व सामान्य से स्यात् नित्य को; **आसादयति**=प्राप्त होता है। कैसे

परिगमेऽपि वस्तुनोऽनित्यतापरिज्ञाने अपि शब्दान्न केवलं नित्यमेव अनित्यतापरिज्ञाने सत्यपि। नन्वनित्यतापरिज्ञानमात्रवस्तुशुक्तिकायां रजतपरिज्ञानवन्न पुनस्तथा वस्तुनः प्राप्तिरिति तदपि स्वमनोरथमात्रं; यतः ***अनित्यतां*** वस्तुगतानित्यत्वं; ***परिमृशन्*** अर्थक्रिययोपलभमानः। कुतः ? ***चिद्वस्तुवृत्तिक्रमात्*** चिद्वस्तुनः चेतनारूपवस्तुपर्यायस्य, वृत्तिः वर्तना, तस्याः क्रमात् अनुक्रमात्॥६९॥

नित्य को प्राप्त है? **उज्ज्वलं**=परिपूर्ण स्वच्छ; **अनित्यतापरिगमेऽपि**=वस्तु की अनित्यता का परिज्ञान होने पर भी; 'अपि/भी' शब्द से न केवल नित्य ही, अनित्यता का परिज्ञान होने पर भी।

प्रश्न : शुक्ति/सीप में रजत/चाँदी के परिज्ञान के समान वस्तु में अनित्यता का परिज्ञान मात्र है, उस प्रकार की/अनित्य वस्तु की प्राप्ति नहीं है।

उत्तर : ऐसा कहना भी अपना मनोरथ मात्र/अपना विचार है; क्योंकि **अनित्यतां**= वस्तुगत अनित्यता; **परिमृशन्**=अर्थ-क्रिया के द्वारा उपलब्ध है। वह कैसे है? **चिद्वस्तुवृत्ति-क्रमात्**=चित् वस्तु का=चेतनारूप वस्तु की पर्याय का, वृत्ति=वर्तना, उसके क्रम=अनुक्रम से होने के कारण उसकी अनित्यता सिद्ध है।

अर्थात्, पर्याय का अभाव होने से नित्यता होने के कारण टंकोत्कीर्ण, पहले और आगे की पर्यायों से रहित होने के कारण विशुद्ध, ज्ञान-समूह के आकारमय आत्म-तत्त्व की/नित्यतामय आत्म-ज्ञान की वांछा से नित्य एकान्त-वादी कोई मूर्ख; विशेष रूप से उछलती हुई/व्यक्त, स्वच्छ चेतन की पर्यायों से पृथक् कोई ज्ञान चाहता है; पर्याय और पर्यायी में कथंचित् भेद होने से उसे ज्ञान की उन पर्यायों में उस ज्ञान की नित्यता दिखायी नहीं देती है।

प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक होने से उस सम्बन्धी इच्छा, विवक्षा उसी प्रकार अनन्त धर्मात्मक है। वस्तु के सर्वथा एकान्त स्वरूप की उपलब्धि कहीं भी नहीं है। उसका प्रतिपादन 'स्यात्/कथंचित्' शब्द द्वारा होने से वह प्रतिपादन शैली स्याद्वाद कहलाती है। उसे स्वीकार करनेवाले अनेकान्त-वादी/स्याद्वादी; नित्यता के साथ अनित्यता का ज्ञान होने पर भी चेतनात्मक वस्तु का वर्तन क्रमशः होने के कारण अर्थ-क्रिया द्वारा उपलब्ध वस्तुगत अनित्यता को स्वीकार कर; परिपूर्ण स्वच्छ, पहले और आगे के अवग्रह, ईहा आदि में व्याप्त सामान्य ज्ञानत्व से स्यात् नित्य ज्ञान को प्राप्त होता है।।२६१।।

अथानेकान्तमतव्यवस्था सुघटेति सञ्जाघटीति इति पद्यद्वयेन—

अनुष्टुप् : **इत्यज्ञान-विमूढानां, ज्ञान-मात्रं प्रसाधयन्।**
आत्मतत्त्व-मनेकान्तः, स्वय-मेवानुभूयते॥७०॥२६२॥

अनुष्टुप् : **एवं तत्त्वव्यवस्थित्या, स्वं व्यवस्थापयन् स्वयम्।**
अलंघ्य-शासनं जैन-मनेकान्तो व्यवस्थितः॥७१॥२६३॥

टीका : ***इति*** अमुना प्रकारेण; ***स्वयमेव*** स्वयं प्रकाशमानत्वादिस्वरूपेण, आलोकाद्युपायेन च; ***आत्मतत्त्वं*** आत्मस्वरूपं; ***अनेकान्तः*** स्याद्भिन्नाभिन्नत्वसत्त्वासत्वैकानेकत्व-नित्यत्वानित्यतादयः; ***अनुभूयते*** स्वानुभवप्रत्यक्षीक्रियते। किं कुर्वन्? ***अज्ञानविमूढानां*** अज्ञानेन अनादिकालविजृम्भितमोहाज्ञानेन, विमूढानां मोहितानां; ***ज्ञानमात्रं*** ज्ञानसाकल्यं; ***प्रसाधयन्*** स्वरूपप्रकाशनादिभिर्दर्शयन्॥७०॥

अनेकान्तः कथञ्चिद्धर्मः; ***व्यवस्थितः*** प्रमाणनयोपन्यासैः सुप्रतिष्ठः। कया? ***एवं*** एवमुक्तप्रकारेण पूर्वं स्याद्वादसमर्थनेन; ***तत्त्वव्यवस्थित्या*** तत्त्वस्य वस्तुयाथात्म्यस्य

अब, अनेकान्त मत की व्यवस्था भली-भाँति घटित होती है; अतः उसे दो पद्यों द्वारा विशेषरूप से घटित करते हैं—

अनुष्टुप् : **यों अज्ञान मोहित को, साधता ज्ञानमात्र है।**
आत्म तत्त्व अनेकान्त, स्वयं ही अनुभूत है।।२६२।।

अनुष्टुप् : **यों वस्तु व्यवस्था से, कर स्वयं स्व व्यवस्थित।**
अलंघ्य जैनशासन को, अनेकान्त व्यवस्थित।।२६३।।

टीकार्थ : इति=इस प्रकार से; **स्वयमेव**=प्रकाशमानत्व आदि स्वरूप से और आलोक आदि उपाय से स्वयं; **आत्मतत्त्वं**=आत्म-स्वरूप को; **अनेकान्तः**=स्यात् भिन्न-अभिन्नत्व, सत्त्व-असत्त्व, एक-अनेकत्व, नित्यत्व-अनित्यत्व आदि अनेकान्त; **अनुभूयते**=स्वानुभव से प्रत्यक्ष किया जाता है। क्या करते हुए? **अज्ञानविमूढानां**=अज्ञान=अनादि-काल से विस्तृत मोहरूपी अज्ञान से विमूढ़=मोहितों को; **ज्ञानमात्रं**=ज्ञान की परिपूर्णता को; **प्रसाधयन्**=स्वरूप-प्रकाशन आदि के द्वारा दिखाता हुआ।

अनेकान्तः=कथंचित् धर्म; **व्यवस्थितः**=प्रमाण और नय के कथनों द्वारा भली-भाँति प्रतिष्ठित है। **एवं**=इस प्रकार पूर्व में कहे अनुसार स्याद्वाद के समर्थन से; **तत्त्व-**

आत्मतत्त्वस्य वा, व्यवस्थितिः व्यवस्थानं, तया। किं कुर्वन्? ***स्वयं*** आत्मना कृत्वा; ***स्वं*** आत्मानं; ***व्यवस्थापयन्*** सुस्थिरीकुर्वन्। पुनः ***जैनं*** सर्वज्ञभट्टारकप्रणीतं; ***शासनं*** मतं, व्यवस्थापयन् अथवा यतोऽनेकान्तात् इत्याध्याहार्यं जैनं शासनं; ***अलंघ्य*** एकान्तमत-मतिविजृम्भितमिथ्यादृष्टिकोटिभिर्न लंघितुं शक्यम्॥७१॥

अथानन्तशक्तियुक्तितां संवक्ति—

वसन्ततिलका : **इत्याद्यनेकनिजशक्तिषु निर्भरोऽपि,**
यो ज्ञानमात्रमयतां न जहाति भावः।

व्यवस्थित्या=तत्त्व=वस्तु के यथार्थ स्वरूप का या आत्म-तत्त्व का, व्यवस्थिति= व्यवस्थान, उससे। क्या करता हुआ? **स्वयं**=अपने द्वारा; **स्वं**=आत्मा को; **व्यवस्थापयन्**=सुस्थिर करता हुआ। और **जैनं**=सर्वज्ञ भट्टारक-प्रणीत; **शासनं**=मत को सुस्थिर करता हुआ अथवा यहाँ 'अनेकान्तात्' - इस प्रकार पंचमम्यन्त का अध्याहार करना; इस प्रकार इसका अर्थ हुआ कि अनेकान्त होने से जैन-शासन; **अलंघ्य**=एकान्त-मत की बुद्धि से विस्तृत करोड़ों मिथ्या-दृष्टियों/मान्यतायों द्वारा लाँघने के लिए समर्थ नहीं है।

अर्थात्, इस प्रकार अनादि-काल से विस्तृत मोहरूपी अज्ञान से मोहित जीवों को ज्ञान की परिपूर्णतामय आत्म-व्यवस्थित स्वरूप को स्वरूप-प्रकाशन आदि के द्वारा दिखाता हुआ; स्यात् भिन्नत्व-अभिन्नत्व, सत्त्व-असत्त्व, एकत्व-अनेकत्व, नित्यत्व-अनित्यत्व आदिरूप अनेकान्त प्रकाशमानत्व आदि स्वरूप से और आलोक आदि उपाय से स्वयं ही स्वानुभव द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव में आता है।

इस प्रकार पूर्व में कहे अनुसार स्याद्वाद के समर्थन से वस्तु के यथार्थ स्वरूप या आत्म-तत्त्व की व्यवस्था द्वारा स्वयं आत्मा को व्यवस्थित/सुस्थिर करता हुआ कथंचित् धर्मरूप अनेकान्त; सर्वज्ञ भगवान द्वारा प्रणीत और सर्वथा एकान्त मत की बुद्धि से विस्तृत करोड़ों मिथ्या मान्यताओं द्वारा भी खण्डित नहीं होने वाले अलंघ्य जैन-शासन को प्रतिष्ठित/सुस्थिर करता हुआ, प्रमाण और नय के कथनों द्वारा भली-भाँति स्वयं प्रतिष्ठित है।।२६२-२६३।।

अब, प्रत्येक पदार्थ की अनन्त शक्ति से युक्तता का निरूपण करते हैं—

वसन्ततिलका : **है यों निरन्तर भरा निज शक्तिओं से,**
पर ज्ञान मात्र मयता को नहीं छोड़े।

एवं क्रमाक्रमविवर्तिविवर्तचित्रं,
तद् द्रव्यपर्ययमयं चिदिहास्ति वस्तु॥७२॥२६४॥

टीका : ***यः भावः*** पदार्थः; ***ज्ञानमात्रमयतां*** ज्ञानमात्रकल्परूपतां; ***न जहाति*** न त्यजति। ननु क्रमाक्रमवृत्तानन्तधर्ममयस्यात्मनः कथं ज्ञानमात्रत्वमिति चेदुच्यते- परस्परव्यतिरिक्तानंतधर्मसमुदायपरिणतैकज्ञप्तिमात्रभावरूपेण स्वयमेव भवनात् ज्ञानमात्रत्वम्। कीदृशोऽपि? ***इत्याद्यनेकनिजशक्तिषु*** गत्याद्याः भिन्नाभिन्नत्वाद्याः, ताश्च ता अनेकनिज -शक्तयस्तासु सतीषु। ***निर्भरोऽपि*** अतिशयं गतोऽपि ज्ञानमात्र एव।

इह जगति; ***तत् चित्*** चेतना; ***वस्तु*** द्रव्यं; ***अस्ति*** विद्यते। कीदृशं? ***द्रव्यपर्ययमयं*** द्रव्यपर्यायात्मकं; ***एवं*** पूर्वोक्तप्रकारेण। ***क्रमाक्रमविवर्तिविवर्तचित्रं*** क्रमः कालकृतः अक्रमः युगपत्, क्रमश्चाक्रमश्च क्रमाक्रमौ, ताभ्यां विवर्तिनः वर्तनशीलाः, विवर्ताः पर्यायाः, तैः चित्रं चित्रतां नीतं यथा दीपः क्रमेण अक्रमेण तमोनाशपदार्थप्रकाशादिपर्यायात्मकः

यों क्रमाक्रम प्रवर्तित पर्यय विचित्र,
पर्याय द्रव्यमय चेतन वस्तु नित्य।।२६४।।

टीकार्थ : यः भावः=जो पदार्थ; **ज्ञानमात्रमयतां**=ज्ञान मात्र माने गए स्वभाव को अथवा कल्पान्त/अनन्त काल पर्यन्त भी ज्ञान मात्र स्वभाव को; **न जहाति**=नहीं छोड़ता है। यहाँ कोई पूछता है कि क्रम/पर्याय और अक्रम/गुण रूप वर्तने वाले अनन्त धर्ममय आत्मा के ज्ञान मात्रता कैसे है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं - परस्पर पृथक् अनन्त धर्मों के समूह रूप से परिणत एक ज्ञप्ति मात्र भावरूप से स्वयं ही होने के कारण इसके ज्ञान मात्रता है। कैसा होने पर भी इसके यह है? **इत्याद्यनेकनिजशक्तिषु**=गति आदि, भिन्नत्व, अभिन्नत्व आदि, वे और वे अपनी अनेक शक्तियाँ, उनके होने पर; **निर्भरोऽपि**=अधिकता पूर्वक भरा/परिपूर्ण होने पर भी ज्ञान मात्र ही है।

इह=इस जगत में; **तत् चित्**=वह चेतना; **वस्तु**=द्रव्य; **अस्ति**=है। वह कैसा है? **द्रव्यपर्ययमयं**=द्रव्य-पर्यायात्मक है; **एवं**=पहले कहे अनुसार। **क्रमाक्रमविवर्तिविवर्तचित्रं**= क्रम=काल-क्रम, अक्रम=युगपत्, क्रम और अक्रम= क्रमाक्रम, उनसे विवर्तित=प्रवृत्ति करने के स्वभाववाली विवर्त=पर्यायें, उनसे चित्र=चित्रता को प्राप्त, जैसे दीपक क्रम-अक्रम से अन्धकार का नाश, पदार्थों का प्रकाशन आदि पर्यायात्मक, तेल का शोषण, वृत्ति/बत्ती

तैलशोषणवृत्तिमुखदाहको ज्वालोत्पादनादिपर्यायात्मकस्तथात्मादिः ॥ ७२ ॥

अथ स्याद्वादतः शुद्धिं दीव्यति—

वसन्ततिलका : **नैकान्तसङ्गतदृशा स्वयमेव वस्तु-**
तत्त्वव्यवस्थितिमिति प्रविलोकयन्तः ।
स्याद्वादशुद्धिमधिकामधिगम्य सन्तो,
ज्ञानी भवन्ति जिननीतिमलंघयन्तः ॥७३ ॥२६५ ॥

टीका : ***सन्तः*** सत्पुरुषाः; ***ज्ञानी भवन्ति*** संसारवर्ति अज्ञानं ज्ञानं भवन्तीति ज्ञानी भवन्ति। किं कृत्वा ? ***इति*** पूर्वोक्तप्रकारेण; ***स्याद्वादशुद्धिं*** अनेकान्तशुद्धिं; ***अधिकां*** विचारतः प्रकर्षप्राप्तां; ***अधिगम्य*** ज्ञात्वा, निश्चित्य वा। कीदृशास्ते ? ***स्वयमेव*** स्वात्मना कृत्वा; ***वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिं*** वस्तुनः तत्त्वं स्वरूपं अनेकान्तात्मकं तस्य व्यवस्थितिः

के मुख का दाहक, ज्वाला का उत्पादन आदि पर्याय-स्वरूप है; उसी प्रकार आत्मा आदि हैं।

अर्थात्, इस जगत में गति आदि और भिन्नत्व, अभिन्नत्व आदि अपनी अनन्त शक्तिओं की अधिकता से परिपूर्ण होते हुए भी जो पदार्थ; परस्पर पृथक् अनन्त धर्मों के समूहरूप से परिणत एक ज्ञप्ति/जानकारी मात्र से स्वयं ही होने के कारण कभी भी अपने ज्ञान मात्र स्वभाव को नहीं छोड़ता है और पूर्वोक्त प्रकार से काल-क्रमरूप क्रम/पर्यायों, युगपत् रूप अक्रम/गुणों से प्रवृत्ति करनेवाली विचित्र/विविधता-सम्पन्न द्रव्य-पर्यायात्मक है, वह चेतनामय वस्तु है।।२६४।।

अब, स्याद्वाद से शुद्धि को प्रगट करते हैं—

वसन्ततिलका : **अनेकान्त संगत दृशी से सन्त देखें,**
वस्तु-स्वरूप सम्यक् स्थिति स्वयं से।
स्याद्वाद शुद्धि आधिक्य सुजान ज्ञानी,
होते जिनेन्द्र नीति नहिं लाँघते ही।।२६५।।

टीकार्थ : सन्तः=सत्पुरुष; **ज्ञानी भवन्ति**=संसार का कारणभूत अज्ञान ज्ञानरूप हो जाता है - इस प्रकार ज्ञानी होते हैं। वे क्या कर ज्ञानी होते हैं? **इति**=पूर्व कथनानुसार; **स्याद्वादशुद्धिं**=अनेकान्त की शुद्धि के; **अधिकां**=विचार से प्रकर्ष को प्राप्त को; **अधिगम्य**=

व्यवस्था, तां; ***प्रविलोकयन्तः*** ईक्षमाणाः। कया ? ***नैकान्तसङ्गतदृशा*** न एकान्तो नैकान्तः स्याद्वादः, क्वचिदस्य नाकादिमध्यपाठान्न नकारलोपः, तत्र सङ्गता सम्यक् प्राप्ता, दृक् दृष्टिः, तया। पुनः कीदृशाः ? ***जिननीतिं*** सर्वज्ञप्रकाशितमार्गं; ***अलंघयन्तः*** अनुल्लंघयन्तः ॥ ७३ ॥

अथास्योपायोपेयभावः सम्भाव्यते—

वसन्ततिलका : **ये ज्ञानमात्रनिजभावमयीमकम्पां,**
भूमिं श्रयन्ति कथमप्यपनीतमोहाः।
ते साधकत्वमधिगम्य भवन्ति सिद्धा,
मूढास्त्वमूमनुपलभ्य परिभ्रमन्ति॥७४॥२६६॥

टीका : *ये* साधवः; ***कथमपि*** केनापि प्रकारेण, महता कष्टेन वा। ***ज्ञानमात्र-***

जानकर या निश्चित कर। वे कैसे हैं? **स्वयमेव**=अपने आत्मा से; **वस्तु तत्त्वव्यवस्थितिं**= वस्तु का तत्त्व=स्वरूप अनेकान्तात्मक, उसकी व्यवस्थिति=व्यवस्था, उसे; **प्रविलोकयन्तः**= प्रकृष्टरूप से देखनेवाले हैं। किसके द्वारा देखते हैं? **नैकान्तसङ्गतदृशा**=एकान्त नहीं= नैकान्त=स्याद्वाद, कहीं नाकादि का मध्य पाठ होने से नकार का लोप नहीं होता है, उसमें संगत=भली-भाँति प्राप्त, दृक्=दृष्टि, उससे। वे और कैसे हैं? **जिननीतिं**=सर्वज्ञ के द्वारा प्रकाशित मार्ग का; **अलंघयन्तः**=उल्लंघन नहीं करनेवाले हैं।

अर्थात्, सत्पुरुष; पूर्व कथनानुसार अपने आत्मा से ही वस्तु के वास्तविक स्वरूप की अनेकान्तात्मक व्यवस्था को स्याद्वाद से भली-भाँति प्राप्त दृष्टि द्वारा प्रकृष्टरूप से देखते हुए, विचार से प्रकर्ष को प्राप्त अनेकान्त-वाद की शुद्धि को जानकर, उसका निश्चय कर, सर्वज्ञ भगवान के द्वारा प्रकाशित मार्गमय जिन-नीति का उल्लंघन नहीं करते हुए, संसार के कारणभूत अज्ञान को समाप्त कर ज्ञानी हो जाते हैं।।२६५।।

अब, इस ज्ञान का उपाय-उपेय भाव विचार करते हैं—

वसन्ततिलका : **कैसे भी साध पाते हो मोह हीन,**
भू ज्ञानमात्र निजभावमयी अकम्प।
वे साधकत्व पा होते सिद्ध नित्य,
न पा उसे भ्रमण करता मूढ़ नित्य।।२६६।।

टीकार्थ : ये=जो साधु; **कथमपि**=किसी भी प्रकार से अथवा महा कष्ट से।

निजभावमयीं ज्ञानमात्रः ज्ञानेन साकल्यः, स चासौ निजभावश्च स्वात्मपरिणामः, तेन निर्वृत्तां; ***भूमिं*** शुद्धोपयोगभूमिं; ***श्रयन्ति*** भजन्ते। कीदृशां तां? ***अकम्पां*** निश्चलां; ***अपनीतमोहाः*** अपनीतः निराकृतः, मोहः रागद्वेषाज्ञानादिर्यैः। ***ते*** योगिनः; ***साधकत्वं*** रत्नत्रयादिलक्षणमुपायत्वं; ***अधिगम्य*** आश्रित्य; ***सिद्धाः*** उपेयाः साध्याः; ***भवन्ति*** जायन्ते, आत्मनो ज्ञानमात्रत्वे उपायोपेयभावो विद्यत एव तस्यैकस्यापि स्वयं साधकसिद्धरूपो -भयपरिणामित्वात्।

मूढाः अज्ञानिनः; ***तु; अमूं*** अन्तर्नीतानेकान्तज्ञानमात्रैकभावरूपां भूमिं; ***अनुपलभ्य*** अप्राप्य; ***परिभ्रमन्ति*** संसारापारभूमिमण्डलीमाक्रमन्ते ॥७४॥

ज्ञानमात्रनिजभावमयीं=ज्ञान मात्र=ज्ञान से परिपूर्ण, वह और वह निज-भाव=अपना आत्म-परिणाम, उससे रचित; **भूमिं**=शुद्धोपयोग-भूमि को; **श्रयन्ति**=भजते हैं। कैसी उसे भजते हैं? **अकम्पां**=निश्चल; **अपनीतमोहा**ः=अपनीत=निराकृत, मोह=राग, द्वेष, अज्ञान आदि जिनके द्वारा। **ते**=वे योगी; **साधकत्वं**=रत्नत्रय आदि लक्षण उपायता को; **अधिगम्य**= प्राप्त कर; **सिद्धा**ः=उपेय=साध्य; **भवन्ति**=होते हैं; उस एक के ही स्वयं साधक और सिद्धरूप उभय परिणामीपना होने के कारण आत्मा की ज्ञान मात्रता में उपाय और उपेय भाव विद्यमान ही है।

मूढाः=अज्ञानी; **तु**=वास्तव में; **अमूं**=अन्तर्नीत/गर्भित है अनेकान्त जिसमें, उस ज्ञान मात्र एक भावरूप भूमि को; **अनुपलभ्य**=प्राप्त नहीं कर; **परिभ्रमन्ति**=अपार भूमि के समूहमय संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं।

अर्थात्, किसी भी प्रकार से अनन्त पुरुषार्थ पूर्वक मोह, राग, द्वेष, अज्ञान से रहित हो जो जीव निश्चल, ज्ञान से परिपूर्ण, अपने आत्म-परिणाम से रचित शुद्धोपयोगरूपी भूमि का आश्रय लेते हैं; उस एक के ही स्वयं साधक और सिद्धरूप उभय परिणामीपना होने के कारण आत्मा की ज्ञान मात्रता में उपाय और उपेय भाव विद्यमान ही है; अतः इसके आश्रय से वे रत्नत्रय आदि लक्षणरूप उपायतामय साधकत्व को प्राप्त कर साध्यरूप उपेयमय सिद्ध हो जाते हैं।

वास्तव में अनेकान्त-गर्भित इस ज्ञान मात्र एक भावरूपी भूमि को प्राप्त नहीं कर मूढ़ अज्ञानी तो अपार भूमि के समूहमय/चार गति-चौरासी लाख योनिओं के समूहरूप संसार में ही परिभ्रमण करते हैं।।२६६।।

अथ शुद्धोपयोगभूमिप्राप्त्युपायं लक्षयति—

वसन्ततिलका : **स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्यां,**
यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्तः।
ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्री-
पात्रीकृतः श्रयति भूमिमिमां स एकः ॥७५॥२६७॥

टीका : *स* एव; ***एकः*** अद्वितीयो मुनिः; ***इमां*** प्रत्यक्षां; ***भूमिं*** शुद्धोपयोगस्थानं; ***श्रयति*** भजति। कीदृशः? ***ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्रीपात्रीकृतः*** ज्ञानं स्वात्मज्ञानं, क्रियां स्वात्माचरणलक्षणं चारित्रं त्रयोदश-प्रकारलक्षणं वा, नयः नयति प्राप्नोति स्वात्मस्वरूपमिति नयः प्रमाणैकदेशो नैगमादि, दर्शनं वा, ज्ञानं च क्रिया च नयश्च, तेषां परस्परं अन्योन्यं, तीव्रमैत्री अत्यन्तसखित्वम्, तया, अपात्रं पात्रं कृत इति पात्रीकृतः। स कः? ***यः*** योगी; ***भावयति*** ध्यानविषयीकरोति। कथं? ***अहरहः*** दिने दिने, तत्सामर्थ्यात्प्रति-

---

अब, शुद्धोपयोग रूपी भूमि को प्राप्त करने के उपाय का प्ररूपण करते हैं—

वसन्ततिलका : **जो स्याद्वाद-कुशली संयम अचल से,**
हो सावधान प्रतिक्षण निज आत्म ध्याते।
ज्ञान क्रिया नय परस्पर तीव्र मैत्री,
से पात्र हो करें वेदन शुद्ध का ही।।२६७।।

टीकार्थ : सः=वह ही; **एकः**=अद्वितीय मुनि; **इमां**=इस प्रत्यक्ष; **भूमिं**=शुद्धोपयोग के स्थान का; **श्रयति**=आश्रय लेता है। आश्रय लेनेवाला वह कैसा है? **ज्ञानक्रियानयपरस्पर-तीव्रमैत्रीपात्रीकृतः**=ज्ञान=अपना आत्म-ज्ञान, क्रिया=अपने आत्मा में चरण लक्षणमय या तेरह प्रकार के लक्षणमय चारित्र; जो अपने आत्म-स्वरूप की ओर ले जाता है, उसे प्राप्त होता है, वह प्रमाण का नैगम आदि एकदेश रूप, नय है अथवा दर्शन; ज्ञान और क्रिया और नय, उनका परस्पर=अन्योन्य/एक-दूसरे के साथ, तीव्र मैत्री अत्यन्त सखीपना/मित्रता, उससे, अपात्र को पात्र किया - इस प्रकार पात्रीकृत। ऐसा वह कौन है? **यः**=जो योगी; **भावयति**=ध्यान का विषय करता है। कैसे करता है? **अहरहः**=प्रतिदिन, उसकी सामर्थ्य से प्रतिक्षण करता है। किसका करता है? **स्वं**=अपने आत्मा का करता है। कहाँ करता है?

क्षणम्। कं? ***स्वं*** आत्मानं; क्व? ***इह*** आत्मनि, स्वस्वरूपे। काभ्यां ***स्याद्वादकौशल-सुनिश्चलसंयमाभ्यां*** स्याद्वादः श्रुतज्ञानम्। तथा चोक्तं देवागमे—

''स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने। भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्॥१०५॥''

तत्र कौशल्यं निपुणता, सुनिश्चलः सुष्ठु अक्षोभ्यः, स चासौ संयमः चारित्रं च द्वन्द्वः, ताभ्याम्। कीदृशः सः? ***उपयुक्तः*** शुद्धोपयोगे सावधानः॥७५॥

अथात्मोदयमवगमयति—

वसन्ततिलका : **चित्पिण्डचण्डिमविलासिविकासहासः,**
शुद्धप्रकाशभरनिर्भरसुप्रभातः।

इह=यहाँ अपने आत्मा में, अपने स्वरूप में करता है। किनसे करता है? **स्याद्वादकौशल-सुनिश्चलसंयमाभ्यां**=स्याद्वाद=श्रुतज्ञान। उसी प्रकार देवागम स्तोत्र में कहा है—

''सभी तत्त्वों को प्रकाशित करनेवाले स्याद्वाद और केवलज्ञान में मात्र परोक्ष और प्रत्यक्ष का अन्तर है। यदि ऐसा नहीं माना जाए तो कोई एक वास्तव में अवस्तु सिद्ध होगा।''

वहाँ कौशल=कुशलता=निपुणता, सुनिश्चल=भली-भाँति क्षोभ-रहित, वह और वह संयम और चारित्र, इन सभी का द्वन्द्व, उनसे करता है। ध्यान करनेवाला वह कैसा है? **उपयुक्तः**=शुद्धोपयोग में सावधान है।

अर्थात्, जो स्याद्वाद में निपुणता और भली-भाँति क्षोभ-रहित निश्चल संयममय चारित्र द्वारा शुद्धोपयोग में सावधान हो अपनी सामर्थ्य के अनुसार प्रतिक्षण अपने आत्म-स्वरूप में अपने आत्मा का ध्यान करता है; वही एक अद्वितीय जीव; अपने आत्मा के ज्ञान और अपने आत्मा में चरणरूप या तेरह प्रकार की क्रियारूप चारित्र की ओर ले जानेवाले प्रमाण के एकदेश रूप नय या दर्शन - इनमें परस्पर तीव्र मित्रता/घनिष्ठ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होने से पात्र होता हुआ इस प्रत्यक्ष शुद्धोपयोगरूप स्थान का आश्रय/सेवन करता है।।२६७।।

अब, आत्मा के उदय का ज्ञान कराते हैं—

वसन्ततिलका : **चित्पिण्ड चण्ड विलसित सर्वांग विकसित,**
शुद्ध सुज्ञानघन सातिशयी प्रभात।
आनन्द सुस्थित सदा अविछिन्न एक,
अचलार्चि आतम उदित उसके ही शुद्ध।।२६८।।

आनन्दसुस्थितसदास्खलितैकरूप-
स्तस्यैव चायमुदयत्यचलार्चिरात्मा ॥७६ ॥२६८ ॥

टीका : *तस्यैव* मुनेः शुद्धोपयोगभूमिगतस्य न पुनरन्यस्य; ***अयं*** आत्मा चिद्रूपः; ***उदयति*** उदयं प्राप्नोति साक्षाद्भवतीत्यर्थः। कीदृशः सः? ***चित्पिण्डचण्डिमविलासिविकासहासः*** चित्पिण्डः ज्ञानपिण्डः, तस्य चण्डिमा प्रौढत्वं, तेन विलसतीत्येवं शीलो विकासः, स एव हासः झर्झरं यस्य सः अन्योऽप्युदये विकासहासो भवतीत्युक्तिलेशः।

पुनः कीदृशः? ***शुद्धप्रकाशभरनिर्भरसुप्रभातः*** शुद्धः कर्ममलकलङ्करहितः, स चासौ प्रकाशश्च ज्ञानोद्योतः, तस्य भरः समूहः स एव निर्भरप्रभातः सातिशयप्रातःकालो यस्य सः अन्यस्याप्युदये प्रातः कालो भवतीत्युक्तिलेशः। पुनः कीदृशः? ***आनन्दसुस्थितसदास्खलितैकरूपः*** आनन्दे अकर्मशर्मणि, सुस्थितं सुप्रतिष्ठं, सदा नित्यं, अस्खलितं स्खलितरहितं, एकं अद्वितीयं, स्वरूपं यस्य सः, अन्यस्याप्युदयस्यास्खलितस्वरूपं भवतीत्युक्तिलेशः। ***अचलार्चिः*** ॥ ७५ ॥

टीकार्थ : तस्यैव=शुद्धोपयोग रूपी भूमि को प्राप्त उन्हीं मुनि के, अन्य के नहीं; **अयं**=यह आत्मा; **उदयति**=उदय को प्राप्त है, साक्षात् होता है – ऐसा अर्थ है। वह आत्मा कैसा है? **चित्पिण्डचण्डिमविलासिविकासहास**ः=चित् पिण्ड=ज्ञान का पिण्ड, उसकी चण्डिमा=प्रौढ़ता, उससे विलसित होता है – इस प्रकार के स्वभाववाला, विकास, वही है हास=झर्झर/सर्वाधिकतामय आनन्द जिसके वह; उदय में/उत्कर्ष के समय अन्य भी आनन्दोल्लासरूप विकास हास होता है, उसकी उपमा यहाँ दी है – यह कथन का सार है।

वह और कैसा है? **शुद्धप्रकाशभरनिर्भरसुप्रभात**ः=शुद्ध=कर्म-मलरूपी कलंक से रहित, वह और वह प्रकाश=ज्ञान का उद्योत, उसका भर=समूह, वही है निर्भर प्रभात=सातिशय प्रातःकाल जिसका है वह; अन्य के भी उदय में प्रातःकाल होता है, उसकी उपमा यहाँ दी है – यह कथन का सार है। वह और कैसा है? **आनन्दसुस्थितसदास्खलितैकरूप**ः= आनन्द=कर्मों से रहित सुख में, सुस्थित=सुप्रतिष्ठ, सदा=नित्य, अस्खलित=स्खलन से रहित, एक=अद्वितीय स्वरूप है जिसका, वह; अन्य उदय का भी अस्खलित स्वरूप होता है; यहाँ उसकी उपमा दी है – यह कथन का सार है। **अचलार्चि**ः=निश्चल ज्योति।

अर्थात्, ज्ञान के पिण्ड की प्रौढ़ता से विलसित विकास का सर्वाधिकतामय, कर्म-

अथ स्वस्वभावविस्फुरणां काम्यति—

वसन्ततिलका : **स्याद्वाददीपितलसन्महसि प्रकाशे,**
शुद्धस्वभावमहिमन्युदिते मयीति।
किं बन्धमोक्षपथपातिभिरन्यभावै-
र्नित्योदयः परमयं स्फुरतु प्रभावः ॥७६ ॥२६९ ॥

टीका : ***इति*** हेतोः; ***अयं*** प्रसिद्धः; ***स्वभावः*** आत्मस्वरूपं; ***स्फुरतु*** प्रकाशं यातु; ***परं*** केवलं। कीदृशः सः? ***नित्योदयः*** नित्यं सदा उदयो यस्य सः। इति किं? ***मयि*** शुद्धभावे आत्मनि; ***उदिते*** उदयं प्राप्ते सति, ***अन्यभावैः*** शुभाशुभोपयोगैः; ***किं?*** न किमपि स्यात्। कीदृशैस्तैः? ***बन्धमोक्षपथपातिभिः*** कर्मणां बन्धश्च मोक्षश्च बन्धमोक्षौ तयोः, पन्थाः मार्गः, तत्र पातिभिः पतनशीलैः, अयं बन्धहेतुः, अयं मोक्षहेतुः इत्यादीनां

मलरूपी कलंक से रहित शुद्ध, ज्ञानरूपी उद्योत के समूह मय सातिशय प्रातःकाल-युक्त, कर्मों से रहित आनन्द में भली-भाँति स्थित, शाश्वत, स्खलन से रहित, एक, अद्वितीय स्वरूपवान, निश्चल ज्योति स्वरूप यह चिद्रूप आत्मा; पहले कहे गए उस शुद्धोपयोगरूपी भूमि को प्राप्त जीव को ही साक्षात् व्यक्त होता है।।२६८।।

अब, अपने स्वभाव के पूर्ण विकास की कामना करते हैं—

वसन्ततिलका : **स्याद्वाद दीप्त उलसित मह ज्ञानमय है,**
शुद्ध स्वभाव महिमा युत उदित मुझमें।
अब बन्ध मोक्ष पथ आगत अन्य-भावों,
से क्या मुझे नित उचित स्व भाव यह हो।।२६९।।

टीकार्थ : इति=इस कारण से; **अयं**=यह प्रसिद्ध; **स्वभावः**=आत्मा का स्वरूप; **स्फुरतु**=प्रकाश को प्राप्त हो; **परं**=केवल/मात्र। वह स्वरूप कैसा है? **नित्योदयः**=नित्य=सदा उदय है जिसका वह। इस कारण क्या? **मयि**=मुझ शुद्ध स्वभाव आत्मा के; **उदिते**=उदय को प्राप्त होने पर; **अन्यभावैः**=शुभोपयोग और अशुभोपयोग से; **किं**=क्या प्रयोजन है? कुछ भी नहीं है। कैसे उनसे कुछ भी प्रयोजन नहीं है? **बन्धमोक्षपथपातिभिः**=कर्मों का बन्ध और मोक्ष - बन्ध-मोक्ष, उनका पन्थ=मार्ग, उसमें पात=गिराने के स्वभाववालों से; यह बन्ध का कारण है, यह मोक्ष का कारण है इत्यादि भावों के प्रयोजन का अभाव होने

भावानां प्रयोजनाभावात्। कीदृशे तस्मिन्? ***स्याद्वाददीपितलसन्महसि*** स्याद्वादः श्रुतं भावश्रुतं, तेन दीपितं, लसन्महः उल्लसत्तेजः यस्य तस्मिन्। ***प्रकाशे*** स्वपरप्रकाशात्मके; पुनः ***शुद्धस्वभावमहिमनि*** शुद्धस्वभावे महिमा माहात्म्यं यस्य, तस्मिन्॥ ७७॥

अथ चिन्महो रोचते—

वसन्ततिलका : **चित्रात्मशक्तिसमुदायमयोऽयमात्मा,**
सद्यः प्रणश्यति नयेक्षणखण्ड्यमानः।
तस्मादखण्डमनिराकृतखण्डमेक-
मेकान्तशान्तमचलं चिदहं महोऽस्मि॥ ७८ ॥२७०॥

टीका : ***अयमात्मा*** चिद्रूपः; ***नयेक्षणखण्ड्यमानः*** नयानां द्रव्यपर्यायाणां, ईक्षणं

से अब उनसे कुछ सम्बन्ध नहीं है। कैसा आत्मा उदित होने पर इनसे कुछ प्रयोजन नहीं है? **स्याद्वाददीपितलसन्महसि**=स्याद्वाद=श्रुत=भाव-श्रुत, उससे दीपित/प्रकाशित, सर्वोत्कृष्ट तेज जिसका है, उसमें इनसे कुछ प्रयोजन नहीं है। **प्रकाशे**=स्व और पर को प्रकाशित करने के स्वभाववाले तेज में; और **शुद्धस्वभावमहिमनि**=शुद्ध स्वभाव में महिमा=माहात्म्य है जिसका, उसमें इनसे कुछ प्रयोजन नहीं है।

अर्थात्, पूर्व कथित भाव-श्रुतमय स्याद्वाद से प्रकाशित उत्कृष्ट तेजमय, शुद्ध स्वभाव में महिमावान, स्व और पर को प्रकाशित करनेवाले ज्ञान प्रकाशमय मुझ शुद्ध स्वभाव के उदित हो जाने पर; यह कर्मों से बन्ध का कारण है, यह उनसे मोक्ष का कारण है - इत्यादि रूप में बन्ध और मोक्ष मार्ग में पड़नेवाले शुभोपयोग और अशुभोपयोगरूप अन्य भावों से अब मुझे कुछ भी प्रयोजन नहीं है। मुझे तो अब मात्र यह प्रसिद्ध, नित्य उदयरूप आत्मा का स्वभाव ही प्रकाशित हो।।२६९।।

मुझे चैतन्यमय तेज ही रुचिकर है; अब, यह व्यक्त करते हैं—

वसन्ततिलका : **शक्ति विचित्र समुदायमयी निजात्मा,**
नय दृष्टि से सतत खण्डित हुआ दिखता।
इससे अखण्ड अनिराकृत खण्ड एक,
परिपूर्ण शान्त निश्चल मैं तेज चिन्मय।।२७०।।

टीकार्थ : अयमात्मा=यह चिद्रूप आत्मा; **नयेक्षणखण्ड्यमानः**=द्रव्य और पर्यायरूप

अवलोकनं, तेन खण्ड्यमानः भिद्यमानः; ***प्रणश्यति*** द्रव्यक्षेत्रकालभावेन खण्ड्यते इत्यर्थः। कीदृशः ? ***चित्रात्मशक्तिसमुदायमयः*** चित्राः नानाप्रकाराः, ताश्च ता आत्मशक्तयश्च जीवत्वशक्तिचितिशक्तिदृशिशक्तिज्ञानशक्तिसुखशक्तिवीर्यशक्तिप्रभुत्वशक्तिविभुत्व-शक्तिसर्वदर्शित्वशक्तिसर्वज्ञत्वशक्तिस्वच्छत्वशक्तिप्रकाशशक्त्यसंकुचितविकाशत्व-शक्त्यकार्यकारणत्वशक्तिपरिणम्यपरिणामकत्वशक्तित्यागोपादानशून्यत्वागुरुलघुत्वोत्पाद-व्ययध्रुवत्वपरिणामामूर्तत्वाकर्तृत्वाभोक्तृत्वनिष्क्रियत्वनियतप्रदेशत्वस्वधर्मव्यापकत्व-साधारणासाधारणसाधारणासाधारणधर्मत्वानन्तधर्मत्वविरुद्धधर्मत्वतत्त्वातत्त्वैकत्वानेकत्व-भावाभावभावाभावाभावभावभावभावाभावाभावभावक्रियाकर्मकर्तृकरणसम्प्रदानापादानाधि-करणत्वसम्बन्धादयः शक्तयः, तासां समुदायेन निर्वृत्तः; ***तस्मात्*** अस्मात्कारणात्; ***अहं चित्*** चेतना; ***महः*** धाम; ***अस्मि*** भवामि।

कीदृशं महः ? ***अखण्डं*** न खण्ड्यते केनापीत्यखण्डं; ***अनिराकृतखण्डं*** अनिराकृता न दूरीकृता व्यवहारनयापेक्षया खण्डाः पर्याया यस्य तत्; ***एकं*** अद्वितीयं कर्म व्यतिरिक्तत्वात्।

नयों का, ईक्षण=अवलोकन, उससे खण्डित भेद को प्राप्त हुआ; **सद्यः प्रणश्यति**=द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के द्वारा शीघ्र खण्डित होता है – ऐसा अर्थ है। वह आत्मा कैसा है? **चित्रात्मशक्तिसमुदायमयः**=चित्र=अनेक प्रकार, वे और वे आत्म-शक्तियाँ – जीवत्व शक्ति, चिति शक्ति, दृशि शक्ति, ज्ञान शक्ति, सुख शक्ति, वीर्य शक्ति, प्रभुत्व शक्ति, विभुत्व शक्ति, सर्वदर्शित्व शक्ति, सर्वज्ञत्व शक्ति, स्वच्छत्व शक्ति, प्रकाश शक्ति, असंकुचित विकासत्व शक्ति, अकार्यकारणत्व शक्ति, परिणम्य-परिणामकत्व शक्ति, त्यागोपादानशून्यत्व, अगुरुलघुत्व, उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व, परिणाम, अमूर्तत्व, अकर्तृत्व, अभोक्तृत्व, निष्क्रियत्व, नियतप्रदेशत्व, स्वधर्म-व्यापकत्व, साधारण-असाधारण-साधारणासाधारणधर्मत्व, अनन्त धर्मत्व, विरुद्धधर्मत्व, तत्त्व, अतत्त्व, एकत्व, अनेकत्व, भाव, अभाव, भावाभाव, अभाव-भाव, भाव-भाव, अभावाभाव, भाव, क्रिया, कर्म, कर्तृ, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरणत्व, सम्बन्ध आदि शक्तियाँ, उनके समूह से रचित हूँ; **तस्मात्**=उस कारण से; **अहं चित्**=मैं चेतना; **महः**=धाम; **अस्मि**=हूँ।

वह तेज कैसा है? **अखण्डं**=किसी से भी खण्डित नहीं होता है – इस प्रकार अखण्ड; **अनिराकृतखण्डं**=अनिराकृत=दूर नहीं किया व्यवहार-नय की अपेक्षा खण्ड=पर्याय

एकान्तशान्तं एकान्तेन अद्वितीयेन स्वभावेन, शान्तं समारूढं; पुन: ***अचलं*** स्वस्वभावत्वा-दविनश्वरत्वान्निश्चलम् ॥७८ ॥

अथ ज्ञानमात्रत्वं मन्त्र्यते आत्मन: —

शालिनी : **योऽयं भावो ज्ञानमात्रोऽहमस्मि, ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानमात्र: स नैव।**
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानकल्लोलवल्गन्, ज्ञानज्ञेयज्ञातृमद्वस्तुमात्र: ॥७९ ॥२७१ ॥

टीका : ***योऽयं*** प्रसिद्ध:; ***ज्ञानमात्र:*** ज्ञानस्य मात्रं कार्त्स्न्यं यत्र स; ***भाव:*** पदार्थ:; ***स एवाहं अस्मि*** भवामि। य: ***ज्ञेयज्ञानमात्र:*** ज्ञेयानां पदार्थानां, ज्ञानमात्र: तदुत्पत्त्यादिना पदार्थाकारमात्र: सोऽहं; ***नैव ज्ञेय:*** ज्ञातव्य:। तर्हि कीदृशोऽहं ? ***ज्ञेयज्ञानकल्लोल-वल्गन्ज्ञानज्ञेयज्ञातृमद्वस्तुमात्र:*** ज्ञेयश्च ज्ञानं च तत्परिच्छेदकं ज्ञेयज्ञाने, तयो: कल्लोला:

जिसका, वह; **एकं**=कर्म से पूर्णतया पृथक् होने के कारण अद्वितीय; **एकान्तशान्तं**=एकान्त अद्वितीय स्वभाव से शान्त भाव-सम्पन्न; और **अचलं**=अपनी स्वभाव-रूपता से अविनश्वरता के कारण निश्चल है।

अर्थात्, जीवत्व आदि अनन्त-अनन्त शक्तियों के समूहरूप यह चैतन्यात्मक आत्मा; द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक आदि नयों की दृष्टि से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा खण्डित होता हुआ शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, पृथक्-पृथक् दिखायी देने लगता है; उस कारण (मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि) किसी से भी खण्डित नहीं होनेवाला, व्यवहार नय की अपेक्षा भेदों का निषेध नहीं करनेवाला, कर्मों से पूर्णतया पृथक् एक अद्वितीय रूप, एकान्त/पूर्णतया शान्त-भाव-सम्पन्न, अपने अविनश्वर स्वभाव के कारण अचल, चेतना मात्र तेज पुञ्ज मैं हूँ।।२७०।।

अब, आत्मा की ज्ञान-मात्रता का विचार प्रस्तुत करते हैं—

शालिनी : **जो यह मैं हूँ भाव ज्ञानमात्र जानो, ज्ञेयों के ही ज्ञानवाला न जानो।**
ज्ञान ज्ञेय सर्व पर्याय जानें, ज्ञाता ज्ञेय ज्ञानमय वस्तु हूँ मैं।।२७१।।

टीकार्थ : योऽयं=जो यह प्रसिद्ध; **ज्ञानमात्र:**=ज्ञान की परिपूर्णता जहाँ है वह; **भाव:**=पदार्थ; **स एवाहं अस्मि**=वही मैं हूँ। जो **ज्ञेयज्ञानमात्र:**=ज्ञेय पदार्थों का ज्ञान मात्र=तदुत्पत्ति आदि से पदार्थों का आकार मात्र है, वह मैं; **नैव ज्ञेय:**=नहीं हूँ - ऐसा जानना चाहिए। तो मैं कैसा हूँ? **ज्ञेयज्ञानकल्लोलवल्गन् ज्ञानज्ञेयज्ञातृमद्वस्तुमात्र:**=ज्ञेय

वीचय:, अर्थाद्विवर्तास्तत्र वल्गात् वल्गानं कुर्वत् तद्ग्रहणं कुर्वदित्यर्थ: तच्च तज्ज्ञानं च तदेव ज्ञेयं परिच्छेद्यं, तस्य यो ज्ञातृमत् ज्ञायकं स्वपरपरिच्छेदकं तच्च तत्। वस्तु च, तदेव मात्रं प्रमाणं यस्य स:; ***ज्ञेय:*** ज्ञातव्य: ॥७९ ॥

अथात्मन: प्रतिभासभेदं सम्पूरयति—

पृथ्वी : **क्वचिल्लसति मेचकं क्वचिन्मेचकामेचकं,**
क्वचित्पुनरमेचकं सहजमेव तत्त्वं मम।
तथापि न विमोहयत्यमल-मेधसां तन्मन:,
परस्परसुसंहत-प्रकटशक्ति-चक्रं स्फुरत्॥८०॥२७२॥

टीका : ***मम*** आत्मन:; ***तत्त्वं*** ज्ञानस्वरूपं; ***क्वचित्*** कस्मिन् क्षणे; बहि: पदार्थग्रहणसमये; ***मेचकं*** चित्रस्वरूपं पक्षान्तरे रागद्वेषकलुषीकृतं वा; ***लसति*** विलासं करोति 'पञ्चवर्णं भवेद्रत्नं मेचकाख्यमिति' वचनात् तद्वत् ज्ञानमपि चित्राकारं मेचकं

और उसे जाननेवाला ज्ञान - ज्ञेय-ज्ञान, उनकी कल्लोलें=वीची/लहरें, अर्थात् विवर्त/पर्यायें, उनमें वल्गन करता हुआ=उन्हें ग्रहण करता हुआ/जानता हुआ - ऐसा अर्थ है; वह और वह ज्ञान, वही है ज्ञेय=परिच्छेद्य/जानने-योग्य, उसका जो ज्ञाता=ज्ञायक=स्व और पर को जाननेवाला, वह और वह वस्तु, वही है मात्र=प्रमाण जिसका, वह; **ज्ञेय**:=जानने-योग्य है।

अर्थात्, जो यह प्रसिद्ध ज्ञान की परिपूर्णतामय पदार्थ है, वही मैं हूँ। इसे ज्ञेय पदार्थों के ज्ञान मात्र/तदुत्पत्ति आदि से पदार्थों के आकार मात्र नहीं जानना चाहिए; वरन् ज्ञेय और ज्ञान की सम्पूर्ण पर्यायों को पूर्णतया स्पष्ट जाननेवाला, स्व और पर का ज्ञायक; ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञातामय प्रमाणभूत वस्तु जानना चाहिए।।२७१।।

अब, आत्मा के प्रतिभास-भेद को पुष्ट करते हैं—

पृथ्वी : **कभी दिखे मेचक कभी मेचकामेचक,**
कभी सहज तत्त्व में फिर दिखे अमेचक।
परस्पर मिली हुई शक्तियों से प्रगट,
अमल ज्ञानियों का मन नहिं कर सके मोहित।।२७२।।

टीकार्थ : मम=मुझ आत्मा का; **तत्त्वं**=ज्ञान-स्वरूप; **क्वचित्**=किसी क्षण में=बाह्य पदार्थों को ग्रहण करने के/जानते समय; **मेचकं**=अनेक स्वरूपवाला अथवा दूसरे पक्ष में राग, द्वेष से मलिन किया गया; **लसति**=विलास करता है; 'पाँच वर्ण वाला रत्न

भण्यते। ***पुनः*** भूयः; ***क्वचित्*** सहजशुद्धटङ्कोत्कीर्णस्वरसस्वभावालम्बनसमये; ***अमेचकं*** बहिश्चित्राकाररहितं रागद्वेषमोहमलमुक्तं वा विलसति। कीदृशं ? ***सहजं*** यदमेचकस्वरूपं तत्स्वरसजं; ***एव*** निश्चयेन, परेषामन्योपाधिसापेक्षत्वात्।

पुनः ***क्वचित्*** स्वपरग्रहणोन्मुखसमये; ***मेचकामेचकं*** परस्वरूपग्रहणेन मेचकं, स्वस्वरूपग्रहणेन अमेचकं प्रतिभासते; ***तथापि*** मेचकामेचकस्वरूपप्रतिभासोऽपि; ***तत्*** आत्मतत्त्वं कर्तृ; ***अमलमेधसां*** निर्मलज्ञानिनां; ***मनः*** चित्तं, कर्मतापन्नं; ***न विमोहयति*** मोहं न प्रापयति। सहेतुविशेषणमाह — ***परस्परसुसंहतप्रकटशक्तिचक्रं*** परस्परं अन्योन्यं, सुसंहता सम्यग्मिलिता, सा चासौ प्रकटशक्तिश्च स्फुटसामर्थ्यं, तेषां चक्रं समूहो यत्र तत्। पुनः ***स्फुरत्*** देदीप्यमानम्॥८०॥

मेचक कहलाता है' – ऐसा वचन होने से, उसके समान ज्ञान भी चित्राकार मेचक कहलाता है। **पुनः**=और; **क्वचित्**=सहज, शुद्ध, टंकोत्कीर्ण, आत्मिक रसरूप स्वभाव के आलम्बन के समय; **अमेचकं**=बाह्य सम्बन्धी अनेक आकारों से रहित अथवा राग, द्वेष, मोह रूपी मल से रहित विलसित होता है। वह कैसा है? **सहजं**=जो अमेचक-स्वरूप है, वह आत्म-रस से ही उत्पन्न है; **एव**=दूसरे/रागादि के अन्य उपाधि की सापेक्षता होने के कारण वास्तव में यह सहज है।

और **क्वचित्**=स्व और पर को ग्रहण/जानने की उन्मुखता के समय; **मेचकामेचकं**= अन्य के स्वरूप को जानने से मेचक, अपने स्वरूप को जानने से अमेचक प्रतिभासित होता है; **तथापि**=मेचक और अमेचक स्वरूप प्रतिभासित होने पर भी; **तत्**=वह आत्म-तत्त्व रूपी कर्ता; **अमलमेधसां**=निर्मल ज्ञानिओं के; **मनः**=कर्मता को प्राप्त चित्त को; **न विमोहयति**=मोह प्राप्त नहीं कराता है। हेतु पूर्वक विशेषण कहते हैं – **परस्परसुसंहतप्रकट-शक्तिचक्रं**=परस्पर=अन्योन्य/आपस में, सुसंहत=भली-भाँति मिले हुए, वह और वह प्रगट शक्ति=व्यक्त सामर्थ्य, उनका चक्र=समूह जिसमें है वह। और **स्फुरत्**=देदीप्यमान है।

अर्थात्, मुझ आत्मा का यह ज्ञान-स्वरूप किसी क्षण में/बाह्य-पदार्थों को जानते समय अनेक स्वरूपवाला या राग, द्वेष से मलिन किया गया मेचक रूप में विलसित होता है। किसी क्षण में/सहज, शुद्ध, टंकोत्कीर्ण, आत्मीक रसरूप स्वभाव के अवलम्बन के समय बाह्य-ज्ञेयाकारों से रहित अथवा राग, द्वेष, मोह रूपी मल से रहित, आत्म-रस से

अथैकत्वानेकत्वादिप्रतिभासनं बाभायते—

पृथ्वी : **इतो गतमनेकतां दधदितः सदाप्येकता-**
मितः क्षण-विभंगुरं ध्रुव-मितः सदैवोदयात्।
इतः परम-विस्तृतं धृत-मितः प्रदेशैर्निजै-
रहो सहजमात्मनस्तदिदमद्भुतं वैभवम्॥८१॥२७३॥

टीका : ***अहो*** महाश्चर्ये; ***तदिदं; आत्मनः*** चिद्रूपस्य; ***सहजं*** स्वाभाविकं; ***वैभवं*** माहात्म्यं; ***अद्भुतं*** आश्चर्यकारि। तत् किं ? यदिदं ***इतः*** अस्मात् शुद्धपर्यायार्पणात्; ***अनेकतां*** ज्ञानदर्शनस्ववीर्याद्यनेकस्वरूपं; ***गतं*** प्राप्तं; ***अपि*** पुनः; यत् ***इतः*** अस्मात् संग्रहनयात्; ***सदापि*** सर्वदापि; ***एकतां*** आत्मद्रव्येणैकत्वं गतं प्राप्तम्। ननु यदनेकं तदेकं कथं स्यात् अन्यथा घटपटादीनामनेकत्वेऽप्येकत्वं स्यादिति चेन्न, नयार्पणादेकत्वानेकत्वघटनात् सदात्मना

उत्पन्न सहज अमेचकरूप में विलसित होता है। किसी क्षण में/स्व और पर - दोनों को एक साथ जानते समय पर को जानने की अपेक्षा मेचक और स्वयं को जानने की अपेक्षा अमेचक - इस प्रकार मेचकामेचकरूप प्रतिभासित होता है। ऐसा होने पर भी परस्पर भली-भाँति सम्मिलित प्रगट सामर्थ्य के समूहरूप देदीप्यमान वह आत्म-तत्त्व निर्मल-ज्ञानियों के मन को मोहित नहीं कर पाता है।।२७२।।

अब एकत्व, अनेकत्व आदि के प्रतिभास को प्रगट करते हैं—

पृथ्वी : **इक ओर से अनेकता मयी एक ओर से,**
एकता क्षणिक सदा उदित नित्य एक से।
अखण्ड से अविस्तृत प्रदेश विस्तारयुत,
अहो सहज आत्म-वैभव सदा अद्‌भुत।।२७३।।

टीकार्थ : अहो=महान आश्चर्य अर्थ में अव्यय है; **तदिदं**=वह यह; **आत्मनः**=चिद्रूप आत्मा का; **सहजं**=स्वाभाविक; **वैभवं**=माहात्म्य; **अद्‌भुतं**=आश्चर्य-कारी है। वह क्या है? जो यह **इतः**=इस ओर से=शुद्ध पर्याय की अपेक्षा से; **अनेकतां**=ज्ञान, दर्शन, अपना वीर्य आदि अनेक स्वरूप को; **गतं**=प्राप्त है; **अपि**=और; जो **इतः**=इस संग्रह-नय से; **सदापि**=सदा ही; **एकता**=आत्म-द्रव्य से एकत्व को प्राप्त है।

प्रश्न : जो अनेक है, वह एक कैसे हो सकता है? और यदि हो तो घट, पट आदि के अनेकत्व में भी एकत्व हो।

घटादीनामनेकत्वेऽपि एकत्वघटनाच्च अन्यथाऽभावप्रसंगात्।

यत् ***इतः*** ऋजुसूत्रनयात्; ***क्षणविभंगुरं*** प्रतिक्षणं विनश्वरं; पुनः यत् ***इतः*** द्रव्यार्थिकनयात्; ***सदैव*** नित्यमेव; ***ध्रुवं*** नित्यं; ***सदैवोदयात्*** उत्पादाद्यभावे सदा प्रकाशमानत्वात्। ननु यत्क्षणिकं तत्कथं ध्रुवं शीतोष्णवत्तयोरन्योन्यं विरोधात् इति चेन्न नयविवक्षासद्भावात् मृद्द्रव्यवत्। यथा मृद्द्रव्यं मृत्पिण्डाकारेण विनष्टं तद्घटाकारेणोत्पद्यते मृद्द्रव्यस्य ध्रुवत्वं च तथात्मद्रव्यस्यापि।

यत् पुनः ***इतः*** द्रव्यार्पणात्; ***परं*** केवलं; ***अविस्तृतं*** विस्ताराभावविशिष्टं; ***इतः*** पर्यायविवक्षातः; ***निजैः प्रदेशैः*** आत्मीयैः प्रदेशैः असंख्यसंख्यावच्छिन्नैः; ***धृतं*** भृतं, विस्तारिद्रव्यमित्यर्थः ॥ ८१ ॥

उत्तर : ऐसा नहीं है; नय की अपेक्षा से एकत्व और अनेकत्व घटित होने के कारण; घट आदि के अनेकत्व होने पर भी सत् स्वरूप से एकत्व घटित होने के कारण; ऐसा नहीं मानने पर अभाव का प्रसंग होने से।

जो **इतः**=ऋजुसूत्र नय से; **क्षणविभंगुरं**=प्रतिक्षण विनश्वर है; और जो **इतः**=द्रव्यार्थिक नय से; **सदैव**=नित्य ही; **ध्रुवं**=नित्य है; **सदैवोदयात्**=सदा प्रकाशमान होने के कारण उत्पाद आदि के अभाव में।

प्रश्न : जो क्षणिक है, वह ध्रुव कैसे है? शीत और उष्ण के समान दोनों में परस्पर विरोध होने के कारण।

उत्तर : ऐसा नहीं है; नय की विवक्षा का सद्भाव होने से, मिट्टी द्रव्य के समान। जैसे मिट्टी द्रव्य मिट्टी के पिण्डाकार से विनष्ट, उसके घटरूप आकार से उत्पन्न होता है और मिट्टी द्रव्य की ध्रुवता होती है; उसी प्रकार आत्म-द्रव्य की भी ध्रुवता है।

और जो **इतः**=द्रव्य की अपेक्षा से; **परं**=केवल/मात्र; **अविस्तृतं**=विस्तार के अभाव से विशिष्ट है; **इतः**=पर्याय की अपेक्षा से; **निजः प्रदेशैः**=असंख्य की संख्यावाले अपने प्रदेशों से; **धृतं**=भरा हुआ, द्रव्य विस्तारमय है – ऐसा अर्थ है।

अर्थात्, एक ओर से/शुद्ध पर्याय की अपेक्षा ज्ञान, दर्शन, अपना वीर्य आदि अनेकता को प्राप्त है; एक ओर से/संग्रह-नय से सदैव आत्म-द्रव्य की अपेक्षा एकत्व को प्राप्त है; एक ओर से/ऋजुसूत्र-नय से प्रतिक्षण विनश्वर है; एक ओर से/द्रव्यार्थिक-नय से

अथात्मनः स्वभावो विजयते—

पृथ्वी : **कषायकलिरेकतः स्खलति शान्तिरस्त्येकतो,**
भवोपहति-रेकतः स्पृशति मुक्ति-रप्येकतः।
जगत्त्रितयमेकतः स्फुरति चिच्चकास्त्येकतः,
स्वभावमहिमात्मनो विजयतेऽद्भुतादद्भुतः॥८२॥२७४॥

टीका : ***विजयते*** सर्वोत्कर्षेण वर्तते। कः ? ***स्वभावमहिमा*** ज्ञानस्वरूपमाहात्म्यम्। कस्य ? ***आत्मनः*** चिद्रूपस्य; ***अद्भुतः*** आश्चर्योद्रेककारी। कुतः ? ***अद्भुतात्*** आश्चर्यकारि-जगत्पदार्थात्। तत्कथमित्याह — ***एकतः*** एकस्मिन्नंशे; ***कषायकलिः*** रागद्वेषमोहकलहः; ***स्खलति। एकतः*** शुद्धनिश्चयनयावलम्बनांशे; ***शान्तिः*** परमसाम्यं; ***अस्ति*** विद्यते।

उत्पाद आदि के अभाव में सदैव प्रकाशमान होने के कारण नित्य ही ध्रुव है। एक ओर से द्रव्य की अपेक्षा विस्तार का अभाव होने के कारण विशिष्ट द्रव्य मात्र है। एक ओर से पर्याय की अपेक्षा असंख्यात की संख्यावाले अपने प्रदेशों से भरा विस्तृत द्रव्य है।

इस प्रकार इस आत्मा का यह सहज स्वाभाविक अद्भुत आश्चर्य-कारक ऐश्वर्य सदा विद्यमान है - यह एक आश्चर्य-कारक वस्तु-स्वरूप है।।२७३।।

अब, आत्मा का स्वभाव विजयवान है, यह व्यक्त करते हैं—

पृथ्वी : **कषाय कलुष एक से, है एक से शान्तिमय,**
भव-भ्रमण एक से, है एक से मोक्षमय।
एक से त्रिलोक-गत, है एक से आत्म-गत,
आत्म-स्वभाव महिमा है अद्भुत-अद्भुत।।२७४।।

टीकार्थ : विजयते=सर्वोत्कर्षता से वर्तता है। ऐसा कौन है? **स्वभावमहिमा**=ज्ञान के स्वरूप का माहात्म्य वर्तता है। किसके ज्ञान का ऐसा वर्तता है? **आत्मनः**=चिद्रूप आत्मा के ज्ञान का माहात्म्य ऐसा वर्तता है; **अद्भुतः**=यह आश्चर्य का उद्रेक करनेवाला है। यह ऐसा कैसे है? **अद्भुतात्**=जगत का आश्चर्य-कारी पदार्थ होने से अपने ज्ञान का माहात्म्य आश्चर्य को उत्पन्न करनेवाले सर्वोत्कर्षता से वर्त रहा है। वह किस प्रकार से आश्चर्य-कारक है, इसे स्पष्ट करते हैं - **एकतः**=एक अंश/पर्याय में; **कषायकलिः**=राग, द्वेष, मोहरूपी कलह; **स्खलति**=व्यक्त है। **एकतः**=शुद्ध निश्चय नय के अवलम्बनरूप अंश में/ध्रुव स्वभाव में; **शान्तिः**=परम साम्य; **अस्ति**=विद्यमान है।

एकतः व्यवहार-नयावलम्बनांशे; ***भवोपहतिः*** भवस्य द्रव्यादिपञ्चधासंसारस्य, उपहतिः प्राप्तिरस्ति। ***एकतः*** शुद्धनयांशे; ***मुक्तिरपि*** कर्ममलमोचनमपि; ***स्पृशति*** आश्रयति आत्मानम्। ***एकतः*** एकस्मिन्नंशे; जगत्त्रितयं गच्छन्तीति जगन्ति; गम्लृगतौ, इत्यस्य धातोः 'द्युति गमोर्द्वेचेति' क्विप् प्रत्ययेनेति सिद्धं, जगतां त्रयं अधोमध्योर्ध्वभेदेन त्रिकं; ***स्फुरति*** चकास्ति। ***एकतः*** एकांशे; ***चित्*** ज्ञानं; ***चकास्ति*** द्योतते॥८२॥

अथैकत्वं तस्य जेगीयते—

एकतः=व्यवहार नय के अवलम्बनरूप अंश/पर और पर्याय की ओर दृष्टि होने में; **भवोपहतिः**=द्रव्य आदि पाँच प्रकार के संसार की, उपहति=प्राप्ति है। **एकतः**=शुद्ध-नय के अंश/शाश्वत आत्मा का अवलम्बन लेने में; **मुक्तिरपि**=कर्मरूपी मल के पूर्णतया अभावरूप मोक्ष भी; **स्पृशति**=आत्मा का आश्रय करता है। **एकतः**=एक अंश में/जगत को जानने की अपेक्षा; **जगत्त्रितयं**=तीनों लोकों को जानता है, सुशोभित/प्रकाशित करता है। गति अर्थ में गम्लृ - इस धातु के द्युति, गमन, उर्द, वच - इन अर्थों में क्विप् प्रत्यय से इसकी सिद्धि होती है। इस प्रकार अधो, मध्य, ऊर्ध्व भेद से तीन भेदमय तीनों लोकों को; **स्फुरति**=प्रकाशित करता है। **एकतः**=एक अंश में/स्वयं में ही स्थिर रहने की अपेक्षा; **चित्**=ज्ञान को; **चकास्ति**=प्रकाशित करता है।

अर्थात्, एक ओर से/अशुद्ध-नय या वर्तमान प्रगट विभावों की ओर से देखने पर राग, द्वेष, मोहरूपी कलह कष्ट दे रहे हैं। एक ओर से/शुद्ध-नय या शाश्वत तत्त्व की ओर से देखने पर शान्ति/परम साम्य है। एक ओर से/व्यवहार-नय या संयोग और संयोगी-भावों की ओर से देखने पर द्रव्य आदि पाँच प्रकार के संसार की दुःखमय दशा व्यक्त है। एक ओर से/शुद्ध-नय या शाश्वत आत्मा की ओर से देखने पर कर्मरूपी मल के पूर्णतया अभावरूप मोक्ष भी आत्मा का आश्रय कर रहा है। एक ओर से/सर्वज्ञता की अपेक्षा यह ऊर्ध्व, मध्य, अधो - इन भेदों रूप तीनों लोकों को प्रकाशित कर रहा है। एक ओर से/अपने प्रदेशों को छोड़कर अन्यत्र जाने का सर्वथा निषेध होने से अपने चैतन्यरूप ही सुशोभित हो रहा है।

इस प्रकार चिद्रूप आत्मा के ज्ञान-स्वभाव का; जगत का आश्चर्य-कारी पदार्थ होने से आश्चर्य उत्पन्न करनेवाला, अद्भुत से भी अद्भुत माहात्म्य; सर्वोत्कर्षता से जयवन्त वर्त रहा है।।२७४।।

अब, उस आत्मा के एकत्व का अतिशयता पूर्वक यशोगान करते हैं—

मालिनी : **जयति सहज-तेजः पुञ्ज-मज्जत्त्रिलोकी-**
स्खलदखिलविकल्पोऽप्येक एव स्वरूपः।
स्वरस-विसरपूर्णाच्छिन्न-तत्त्वोपलम्भः,
प्रसभनियमितार्चिश्चिच्चमत्कार एषः ॥८३॥२७५॥

टीका : ***एषः*** प्रत्यक्षः; ***चिच्चमत्कारः*** चैतन्याश्चर्योद्रेकः; ***जयति*** सर्वोत्कर्षेण वर्तते। कीदृशः ? ***सहजतेजःपुञ्जमज्जत्त्रिलोकीस्खलदखिलविकल्पः*** सहजं स्वाभाविकं तच्च तत्तेजश्च ज्ञानज्योतिः, तस्य पुञ्जः द्विकवारानन्तशक्तिसमूहः, तत्र मज्जन्ति मज्जनं कुर्वन्ती, प्रतिभासमानेत्यर्थः, सा चासौ त्रिलोकी च त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी, तया स्खलन्तः चलन्तः, अखिलविकल्पाः तद्विषयरूपेण समस्तविकल्पाः यत्र सः। ईदृशोऽपि ***एक एव*** अद्वितीय एव; ***स्वरूपः*** स्वस्य आत्मनः रूपं स्वरूपं यत्र सः। पुनः ***स्वरसविसरपूर्णाच्छिन्नतत्त्वोपलम्भः*** स्वरसः स्वभावः, तस्य विसरः समूहः, तेन पूर्णं सम्पूर्णं, तच्च तदच्छिन्नतत्त्वं चाखण्डात्मतत्त्वं तस्योपलम्भः प्राप्तिर्यत्र सः। पुनः ***प्रसभ-***

मालिनी : **भेदोंमय तीनों लोक को जानते भी,**
नित एक स्वरूपी आत्म रस से भरा ही।
आत्मिक उपलब्धिमय अखण्ड अनन्त,
निश्चित सब ज्ञाता शोभता चित् चमत्कृत।।२७५।।

टीकार्थ : एषः=यह प्रत्यक्ष; **चिच्चमत्कारः**=चैतन्यमय आश्चर्यों का उद्रेक/आधिक्य; **जयति**=सर्वोत्कर्ष से वर्तता है। वह कैसा है? **सहजतेजःपुञ्जमज्जत् त्रिलोकी-स्खलदखिलविकल्पः**=सहज=स्वाभाविक, वह और वह तेज=ज्ञान-ज्योति, उसका पुञ्ज=दो बार अनन्त/अनन्तानन्त शक्तिओं का समूह, उसमें मज्जन करते/डूबते हैं, प्रतिभासमान हैं - ऐसा अर्थ है, वह और वह त्रिलोकी, तीनों लोकों का समूह - त्रिलोकी, उससे स्खलित= चलते हुए/प्रगट हुए, अखिल विकल्प=उसके विषयरूप से सभी विकल्प जिसमें हैं, वह वर्तता है। **अपि**=ऐसा होने पर भी वह **एक एव**=एक अद्वितीय ही है; **स्वरूपः**=स्व=अपने आत्मा का रूप=स्वरूप है जिसमें वह। और **स्वरसविसरपूर्णाच्छिन्नतत्त्वोपलम्भः**= स्वरस=स्वभाव, उसका विसर=समूह, उससे पूर्ण=सम्पूर्ण, वह और वह अच्छिन्न-तत्त्व=अखण्ड आत्म-तत्त्व, उसकी उपलम्भ=प्राप्ति है जहाँ, वह। और **प्रसभनियमितार्चिः**=प्रसभ=पूर्ण

नियमितार्चिः प्रसभेन बलात्कारेण, नियमितं लोकालोकप्रकाशकत्वेन निश्चयीकृतं, अपरप्रकाश्यस्याभावादर्चिः तेजः, यस्य सः ॥८३ ॥

अथ कर्तृतागर्भितमात्मज्योतिर्जाज्वल्यते—

मालिनी : **अविचलितचिदात्मन्यात्मनात्मानमात्म-**
न्यनवरतनिमग्नं धारयद् ध्वस्तमोहम्।
उदित-ममृतचन्द्रज्योति-रेतत्समन्ता-
ज्ज्वलतु विमलपूर्णं निस्सपत्नस्वभावम्॥८३॥२७६॥

टीका : *समन्तात्* सामस्त्येन; ***ज्वलतु*** द्योतताम्। किं? ***एतत्*** प्रसिद्धं; ***अमृतचन्द्रज्योतिः*** न म्रियते यत्र इत्यमृतं मोक्षः, तदेव चन्द्रः चन्द्रयति आह्लादयति इति

बल-पूर्वक, नियमित=लोक और अलोक की प्रकाशकता से निश्चय किया गया, प्रकाशित करने-योग्य अन्य का अभाव होने से, अर्चि=तेज है जिसका वह।

अर्थात्, सहज स्वाभाविक, अनन्तानन्त शक्तिओं के समूहरूप ज्ञानमय ज्योति पुंज में प्रतिभासित होते हुए तीन लोक सम्बन्धी सम्पूर्ण विकल्पों/भेदोंमय वर्तता हुआ भी अपने स्वरूप से एक अद्वितीय स्वभाव-सम्पन्न; आत्मिक रस के समूह से परिपूर्ण, अखण्ड आत्म-तत्त्व की उपलब्धिमय; प्रकाशित करने/जानने-योग्य अन्य ज्ञेयों का अभाव होने के कारण लोक और अलोक की प्रकाशकता से निश्चित हुआ, अत्यधिक आत्मिक बलमय ज्ञान तेजवान, आश्चर्यों की अधिकता-सम्पन्न यह प्रत्यक्ष चैतन्यमय आत्मा सर्वोत्कर्षता के कारण जयवन्त वर्तता है।।२७५।।

अब, कर्ता के कर्तृत्व से संयुक्त आत्म-ज्योति का उद्योत अतिशयता पूर्वक उद्योतित करते हैं—

मालिनी : **अविचल चैतन्य आत्म में नित निमग्न,**
धारे आतम को आत्म से मोह ध्वस्त।
रिपुरहित स्वभावी विमल परिपूर्ण व्यक्त,
अमृतचन्द्र ज्योति हो सभी से प्रकाशित।।२७६।।

टीकार्थ : समन्तात्=सम्पूर्णरूप से; **ज्वलतु**=प्रकाशित हो। क्या प्रकाशित हो? **एतत्**=यह प्रसिद्ध; **अमृतचन्द्रज्योतिः**=जिसमें मरण नहीं है - ऐसा अमृत=मोक्ष; वही है

चन्द्रः, तस्य ज्योतिः ज्ञानतेजः इत्यर्थः अथवा अमृतचन्द्रसूरेर्वाग्ज्योतिः। कीदृशं मोक्षज्ञानम्? ***आत्मना*** ज्ञानेन कृत्वा; ***आत्मनि*** स्वस्वरूपे; ***आत्मानं*** स्वस्वरूपं; ***धारयत्*** दधत्। कीदृशे? ***अविचलितचिदात्मनि*** अविचलितः शाश्वतः, स चासौ चित् चेतना च, स एवात्मा स्वरूपं यस्य तस्मिन्, तद्वाग्ज्योतिरपि स्वस्वरूपे स्वरूपं धारयितुं क्षमम्। कीदृशं पुनः? ***आत्मनि अनवरतनिमग्नं*** निरन्तरं तदन्तः पातितं; पुनः ***ध्वस्तमोहं*** ध्वस्तः विनष्टः मोहो यत्र यस्मात्प्राणिनां वा तत्। ***उदितं*** उदयं प्राप्तं वाग्ज्योतिरपि भव्यप्रति-बोधनायोदयं गतम्। पुनः ***विमलपूर्णं*** विगतो मलोऽज्ञानादिरसत्यादिर्वा यस्मात्तत् पूर्णं ज्ञानादिगुणसम्पूर्णं विविधार्थसम्पूर्णं च, विमलं च तत् पूर्णं च तत्। ***निस्सपत्नस्वभावं*** निर्गताः सपत्नाः कर्मवैरिणः एकान्तमतवादवैरिणश्च यस्मात्तत्, तदेव स्वभावो यस्य, तत्॥८४॥

चन्द्र, प्रसन्न/आल्हादित करता है – ऐसा चन्द्र, उसकी ज्योति, ज्ञान तेज – ऐसा अर्थ है; अथवा अमृतचन्द्रसूरि की वचन-ज्योति। वह मोक्ष-ज्ञान कैसा है? **आत्मना**=अपने ज्ञान द्वारा; **आत्मनि**=अपने स्वरूप में; **आत्मानं**=अपने स्वरूप को; **धारयत्**=धारण करता हुआ। कैसे स्वरूप में? **अविचलितचिदात्मनि**=अविचलित=शाश्वत, वह और वह चित्=चेतना, वही है आत्मा=स्वरूप जिसका, उसमें; वह वचन-ज्योति भी अपने स्वरूप में स्वरूप को धारण करने के लिए समर्थ है।

वह मोक्ष-ज्ञान और कैसा है? **आत्मनि अनवरतनिमग्नं**=निरन्तर उसका अन्तः पाती है/आत्मा में निरन्तर निमग्न है; और **ध्वस्तमोहं**=ध्वस्त=विनष्ट है मोह जहाँ; अथवा जिससे प्राणिओं का मोह नष्ट हो जाता है, वह। **उदितं**=उदय को प्राप्त है; वचनरूपी ज्योति भी भव्य जीवों के प्रतिबोधन-हेतु उदय को प्राप्त है। और **विमलपूर्णं**=अज्ञान आदि या असत्य आदि मल से पूर्णतया रहित है, जिस कारण, वह पूर्ण=ज्ञानादि गुणों से सम्पूर्ण और अनेक प्रकार के पदार्थों से सम्पूर्ण, विमल और वह पूर्ण, वह। **निस्सपत्नस्वभावं**=निकल गए हैं सपत्न=कर्मरूपी वैरी और एकान्त-मतवादरूपी वैरी जिससे वह, वही है स्वभाव जिसका, वह।

अर्थात्, प्रस्तुत पद्य में अमृतचन्द्र ज्योति के दो अर्थ किए गए हैं – १. चन्द्रमा के समान आल्हाद-दायी, मरण से रहित, मोक्षमय ज्ञान-तेज और २. आचार्य अमृतचन्द्र

अथात्म-कर्मणोर्द्वैतेऽपि ज्ञानोद्योतं नरीनृत्यते—

शार्दूलविक्रीडित : **यस्माद् द्वैत-मभूत्पुरा स्व-परयोर्भूतं यतोऽत्रान्तरं,**
राग-द्वेष-परिग्रहे सति यतो जातं क्रिया-कारकैः।
भुञ्जाना च यतोऽनुभूतिरखिलं खिन्ना क्रियायाः फलं,
तद्विज्ञानघनौघमग्नमधुना किञ्चिन्न किञ्चित्किल॥ ८५ ॥२७७॥

टीका : *तत्* कर्म; ***विज्ञानघनौघमग्नं*** ज्ञाननिरन्तरसमूहान्तः पतितं सत्; ***अधुना***

स्वामी की वचन-ज्योति। शेष सभी पद इनके विशेषण हैं। जिनका अर्थ इस प्रकार है - १. मोक्षमय ज्ञान-तेज परक अर्थ : अविचलित, शाश्वत चैतन्य स्वरूप आत्मा में निरन्तर निमग्न, अपने स्वरूप को अपने ज्ञान द्वारा धारण करता हुआ, मोह से पूर्णतया रहित, अज्ञान आदि मल से पूर्णतया रहित, विमल, ज्ञानादि गुणों से परिपूर्ण, कर्मरूपी शत्रुओं के पूर्णतया अभाव स्वभावमय, उदित हुआ, चन्द्रमा के समान आल्हाद-दायक, मरण/विनाश से रहित यह प्रसिद्ध मोक्षमय ज्ञान-तेज परिपूर्ण रूप से प्रकाशित रहो।

२. आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी की वचन-ज्योति परक अर्थ : अविचलित, शाश्वत चैतन्य स्वरूप आत्मा में निरन्तर निमग्न अपने स्वरूप को अपने वचनों द्वारा धारण कराने में समर्थ, प्राणिओं को मोह-नष्ट करने का उपाय बतानेवाली, जीवों के प्रतिबोधन-हेतु उदय को प्राप्त, असत्य आदि मल से पूर्णतया रहित, अनेक प्रकार के पदार्थों का प्ररूपण करने से परिपूर्ण, एकान्त-मतवादरूपी शत्रुओं के पूर्णतया अभाव स्वभावमय, आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी के वचनरूपी यह प्रसिद्ध ज्योति परिपूर्ण रूप से प्रकाशित रहो।।२७६।।

अब, आत्मा और कर्म के द्वैत में भी ज्ञान का उद्योत विशेषता पूर्वक प्रकाशित रहता है, इसे व्यक्त करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **जिससे पहले हुआ द्वैत स्व पर राग द्वेष के ग्रहण में,**
जिससे भेद हुआ हुआ है जिससे कारक क्रिया जगत में।
जिससे किरिया के सभी फलों के वेदन समय खेद हो,
वे सब कुछ नहिं अब समूह घनमय विज्ञान में मग्न को।।२७७।।

टीकार्थ : तत्=वह कर्म; **विज्ञानघनौघमग्नं**=विशिष्ट ज्ञान के निरन्तर समूह में अन्तर्गर्भित होता हुआ; **अधुना**=अब इस समय, ग्रन्थ में कहे गए अपने पदार्थ का प्रत्यक्ष

इदानीं, ग्रन्थोक्तस्वार्थानुभवे जाते सति; ***किञ्चित्*** किमपि कर्म; ***किल*** इति निश्चितं; ***न किञ्चित्*** न किमप्यर्थक्रियाकारि अकिञ्चित्करत्वात्। तत्किं? ***यस्मात्*** कर्मणः; ***पुरा*** पूर्वं; ***द्वैतं*** आत्मा कर्मेति द्वैविध्यं जातं; पुनः ***अत्र*** जगति; ***यतः*** यस्मात्कर्मणः; ***स्वपरयोः*** आत्मकर्मणोः सिद्धस्वात्मनोर्वा; ***अन्तरं*** भेदः; ***भूतं*** समुत्पन्नम्। क्व सति? ***रागद्वेषपरिग्रहे सति*** रागद्वेषयोः परिग्रहे अङ्गीकारे जाते।

पुनः ***यतः*** कर्मणः सकाशात्; ***क्रियाकारकैः*** आत्मनः क्रियाः कर्मफलानुभवनरूप-गमनागमनरूपाश्च कारकाणि आत्मनः कर्तृत्वकर्मत्वकरणत्वादीनि तैः; ***जातं*** उत्पन्नं कर्मान्तरेणात्मनः कर्तृकर्मक्रियारूपेणाभवनात्। ***च*** पुनः; ***यतः*** यस्मात्कर्मणः; ***अनुभूतिः*** कर्मफलानुभवनं; ***खिन्ना*** खेदं गता। कीदृशा सा? ***क्रियायाः*** गमनागमनरूपाया जुहोतिपचतीत्यादिरूपायाश्च। ***अखिलं*** समस्तं फलं; ***भुञ्जाना*** मया गतं मयाऽऽगतं हुतं मया पक्वं ममेदं कृतमित्यादिरूपफलं भुंजाना॥ ८५॥

अनुभव होने पर; **किञ्चित्**=कुछ भी कर्म; **किल**=ऐसा निश्चित है; **न किञ्चत्**= अकिंचित्करता के कारण कुछ भी अर्थ-क्रिया-कारी नहीं है। ऐसा वह क्या है? **यस्मात्**=जिस कर्म से; **पुरा**=पहले; **द्वैतं**=आत्मा और कर्म - इस प्रकार की द्विविधता उत्पन्न हुई थी; और **अत्र**=यहाँ जगत में; **यतः**=जिस कर्म से; **स्वपरयोः**=आत्मा और कर्म का अथवा सिद्ध और अपने आत्मा का; **अन्तरं**=भेद; **भूतं**=समुत्पन्न हुआ है। किसके होने पर यह हुआ है? **रागद्वेषपरिग्रहे सति**=राग और द्वेष का परिग्रह=अंगीकार किए जाने पर यह भेद हुआ है।

और **यतः**=जिस कर्म से; **क्रियाकारकैः**=आत्मा की कर्म-फल के अनुभवरूप और गमन-आगमनरूप क्रिया; आत्मा के कर्तृत्व, कर्मत्व, करणत्व आदि कारक, उनसे; **जातं**=उत्पन्न है; क्योंकि कर्म के विना आत्मा कर्ता, कर्म, क्रियारूप से परिणमित नहीं होता है। **च**=और; **यतः**=जिस कर्म से; **अनुभूतिः**=कर्म के फल का अनुभवन; **खिन्नाः**=खेद को प्राप्त हुआ है। वह अनुभूति कैसी है? **क्रियायाः**=गमन, आगमनरूप और पूजन करता हूँ, भोजन पकाता हूँ इत्यादिरूप क्रिया का। **अखिलं**=सम्पूर्ण फल; **भुञ्जाना**=मैं गया, मैं आया, मैंने पूजन की, मैंने यह पक्व किया/पकाया इत्यादि रूप फल भोगती है।

अर्थात्, पहले जिस कर्म से आत्मा और कर्म की द्विविधता व्यक्त हुई थी; राग और द्वेष का परिग्रह होने पर जिस कर्म से इस जगत में आत्मा और कर्म का अथवा सिद्ध और अपने आत्मा का अन्तर/भेद-ज्ञान उत्पन्न हुआ है; जिस कर्म से कर्म-फल के अनुभवनरूप

अथात्मगुप्तस्य स्वतत्त्वसंसूचकस्य समयसारकृतिकृतत्वमस्य कृतविशुद्धबुद्ध-चित्स्वरूपभूरेरमृतचन्द्रसूरेः कृतकृत्यत्वं कीर्त्यते —

उपजाति : **स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वैर्व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः।**
स्वरूप-गुप्तस्य न किञ्चि-दस्ति कर्तव्य-मेवामृत-चन्द्रसूरेः ॥८६॥२७८॥

टीका : येन अमृतचन्द्रसूरिणा इत्याध्याहार्यम्। ***इयं व्याख्या*** व्याख्यानं; ***कृता*** निर्मापिता। कस्य? ***समयस्य*** सं सम्यग् अयति गच्छति प्राप्नोति स्वगुणपर्यायानिति समयः पदार्थः तस्य; कैः? ***शब्दैः*** अर्थप्रकाशकशब्दैः। कीदृशैस्तैः? ***स्वशक्तिसंसूचित***

और गमन-आगमनरूप आत्मा की क्रिया तथा कर्म के विना कर्ता, कर्म, क्रिया आदि रूप से परिणमित नहीं होने के कारण कर्तृत्व, कर्मत्व, करणत्व आदि आत्मा के कारकों से उत्पन्न हुए; जिस कर्म से गमन, आगमन, पूजन करना, भोजन पकाना आदि क्रियाओं के 'मैं गया, मैं आया, मैंने पूजन की, मैंने यह पकाया' इत्यादि रूप सम्पूर्ण फलमय कर्म के फल का अनुभवन खेद उत्पन्न करता है; वे सभी, अब इस समय ग्रन्थ में कहे गए अपने आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव होते समय विशिष्ट ज्ञान के सतत समूह में निमग्न को, अकिंचित्करता के कारण कुछ भी अर्थ-क्रिया करनेवाले नहीं होने से वास्तव में कुछ भी नहीं करते हैं।।२७७।।

अब, स्व-तत्त्व के संसूचक/आत्म-स्वरूप के प्रतिपादक, इस समयसाररूप कृति/पद्य-रचना के कर्ता, विशिष्ट शुद्ध, ज्ञानमय चित्स्वरूप आत्मा की अधिकता को प्राप्त, आत्म-गुप्त/स्वरूप में स्थिर, अमृतचन्द्र आचार्य की कृत-कृत्यता का कीर्तन/यशोगान करते हैं —

उपजाति : **वस्तु-स्वरूप वाचक स्वयं की, शक्ति प्रकाशित शब्दों से कृत ही।**
यह समय व्याख्या कर्तव्य कुछ नहिं स्वरूप गुप्त अमृतचन्द्रसूरी।।२७८।।

टीकार्थ : 'जिन अमृतचन्द्र आचार्य के द्वारा' इस पद का अध्याहार करना चाहिए। **इयं व्याख्या**=यह व्याख्यान; **कृता**=किया गया है। किसका किया गया है? **समयस्य**= सं=सम्यक्/भली-भाँति, अय=अपने गुण-पर्यायों को जाता है=प्राप्त होता है - ऐसा समय पदार्थ, उसका व्याख्यान किया गया। किनसे किया गया? **शब्दैः**=अर्थ के प्रकाशक शब्दों से किया गया। उन कैसे शब्दों द्वारा किया गया? **स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वैः**=स्व=अपनी, शक्ति=अर्थ को प्रकाशित करने की सामर्थ्य, उसके द्वारा, सं=सम्यक्/भली-भाँति,

-***वस्तुतत्त्वैः*** स्वस्य शक्तिः अर्थप्रकाशन-सामर्थ्यं, तया सं सम्यक्, सूचितं प्रकाशितं, वस्तूनां पदार्थानां, तत्त्वं स्वरूपं यैस्तैः। तस्य ***अमृतचन्द्रसूरेः*** अमृतचन्द्राख्याचार्यस्य; ***किञ्चित्*** किमपि; ***कर्तव्यं*** करणीयं; ***एव*** निश्चयेन; ***न*** नास्ति समस्तवस्तुकृत्येन पूर्णस्य। कीदृशस्य तस्य ? ***स्वरूपगुप्तस्य*** स्वस्य शुद्धचिद्रूपस्य, रूपं स्वरूपं तत्र गुप्तस्य एकतां प्राप्तस्य ॥८६ ॥

इति श्रीमन्नाटकसमयसारपद्यस्य परमाध्यात्मतरङ्गिणीनामधेयस्य व्याख्यायां स्याद्वादाधिकारः ॥

सूचित=प्रकाशित, वस्तु=पदार्थों का, तत्त्व=स्वरूप, जिनके द्वारा, उन शब्दों द्वारा किया गया है। उन **अमृतचन्द्रसूरेः**=अमृतचन्द्र नामक आचार्य का; **किञ्चित्**=कुछ भी; **कर्तव्यं**= करणीय; **एव**=ही है निश्चय से; **न**=सभी वस्तुओं के कृत्य से पूर्ण आचार्य का, नहीं है। कैसे आचार्य का नहीं है। **स्वरूपगुप्तस्य**=स्व=अपने शुद्ध चिद्रूप का, रूप=स्वरूप, उसमें गुप्त=एकता को प्राप्त आचार्य का कुछ भी कार्य नहीं है।

अर्थात्, अर्थ को प्रकाशित करने की अपनी सामर्थ्य द्वारा पदार्थों के स्वरूप का भली-भाँति प्रकाशन करनेवाले, अपने गुण-पर्यायों को भली-भाँति प्राप्त समयरूप अर्थ के प्रकाशक शब्दों द्वारा यह व्याख्या की गयी है। सभी वस्तुओं के कृत्य से पूर्ण/प्रत्येक वस्तु अपना कार्य करने में पूर्णतया समर्थ है; अतः अपने शुद्ध चिद्रूप में गुप्त/एकता को प्राप्त/ स्थिर, अमृतचन्द्र नामक आचार्य का वास्तव में कुछ भी कर्तव्य नहीं है।।२७८।।

इस प्रकार श्रीमत् नाटक समयसार पद्य की परम-अध्यात्म-तरङ्गिणी नामक व्याख्या में स्याद्वाद अधिकार समाप्त हुआ।

अथ संस्कृतटीकाकारस्य प्रशस्तिः

जयतु जितविपक्षः पालिताशेषशिष्यो, विदितनिजस्वतत्त्वश्चोद्धृतानेकसत्त्वः।
अमृतविधुयतीशः कुन्दकुन्दो गणेशः, श्रुतसुजिनविवादः स्याद्विवादाधिवादः॥१॥

सम्यक्संसार-वल्लीवलय-विदलने मत्तमातङ्गमानी,
पापातापेभ-कुम्भोद्गमनकराकुण्ठ-कण्ठीरवो हि।
विद्विद्याविनोदाकलित-मतिरहो मोह-तापस्य हर्ता,
चिद्रूपोद्भासिचेता विदित शुभयतिर्ज्ञानभूषस्तु भूयात्॥२॥

विजयकीर्तियतिर्जगतां गुरुर्विधृत-धर्मधुरोधृतिधारकः।
जयतु शासनभासनभारतीमयमतिर्दलितापरवादिकः॥३॥

शिष्यस्तस्य विशिष्टशास्त्रविशदः संसारभीताशयो,
भावाभावविवेकवारिधितरस्याद्वादविद्यानिधिः।

संस्कृत टीकाकार की प्रशस्ति

जिनेन्द्र भगवान द्वारा निरूपित श्रुत का विशिष्ट कथन करनेवाले, स्यात् के निरूपकों में प्रमुख, विपक्ष को जीतनेवाले, सभी शिष्यों के पालक, अपने स्व-तत्त्व/आत्मा के या जिनमत के ज्ञाता और अनेक प्राणिओं का उद्धार करनेवाले यतियों के ईश अमृतचन्द्र आचार्य और गणों के ईश कुन्दकुन्द आचार्य जयवन्त वर्तें।।१।।

संसाररूपी बल्ली/बेल के समूह को पूर्णतया भली-भाँति नष्ट करने के लिए मदोन्मत्त हाथी के समान, पापों के आतापरूपी हाथियों के गण्ड-स्थल को पूर्णतया नष्ट करने के लिए केशरी सिंह के समान, जानने-योग्य विद्या के विनोद-सम्पन्न आश्चर्य-कारी मति/बुद्धि से युक्त, मोहरूपी ताप का हरण करनेवाले, चिद्रूप आत्मा को भली-भाँति व्यक्त करनेवाले सावधान, जानकार शुभ/कल्याण-कारक यति, भट्टारक ज्ञानभूषण ज्ञान से विभूषित रहें।।२।।

जगत के गुरु, धर्मरूपी धुरा को धैर्य पूर्वक धारण करनेवाले, शासन को प्रकाशित करनेवाली भारती/वाणी-युक्त बुद्धि के द्वारा अन्यवादियों का निषेध करनेवाले, जगत के यति विजयकीर्ति जयवन्त वर्तें।।३।।

उनके शिष्य, विशिष्ट शास्त्रों को स्पष्टरूप में जाननेवाले, संसार से भयभीत, आशय-सम्पन्न, भाव और अभाव का विवेक करने में सागर के समान गम्भीर, स्याद्वाद

टीकां नाटकपद्यजां वरगुणाध्यात्मादिस्त्रोतस्विनीं,
श्रीमच्छ्रीशुभचन्द्र एष विधिवत्सञ्चर्करीति स्म वै॥४॥
त्रिभुवनवर-कीर्तेर्जातरूपात्तमूर्तेः, शम-दम-यम-मूर्तेराग्रहान्नाटकस्य।
विशदविभववृत्तो वृत्तिमाविश्चकार, गतनयशुभचन्द्राध्यानसिद्ध्यर्थमेव॥५॥
विक्रमवरभूपालात्पञ्चदशशतत्रिसप्ततिव्यधिके।
वर्षेप्याश्विनमासे शुक्ले पक्षेऽथ पञ्चमीदिवसे॥६॥
रचितेयं वर-टीका नाटक-पद्यस्य पद्य-युक्तस्य।
शुभचन्द्रेण सुजयताद्विद्यासबलं न पद्माङ्कात्॥७॥
.... पातनिकाभिश्चभिन्नभिन्नाभिः।
जीयादाचन्द्रार्कस्वाध्यायाध्यात्मतरङ्गिणी टीका॥८॥
इति कुमतद्रुममूलोन्मूलनमहानिर्झरिणी श्रीमद्परमाध्यात्मतरङ्गिणी टीका समाप्ता।
समाप्ताश्चायं ग्रन्थः॥

विद्यारूपी सम्पत्ति से सम्पन्न, श्रीमद् श्री शुभचन्द्र ने वास्तव में अध्यात्म आदि श्रेष्ठ गुणों को प्रवाहित करनेवाली नदी के समान, नाटक-पद्यों में प्रगट टीका को विधिवत आत्मसात् किया है।।४।।

वरकीर्ति से उत्पन्न/मूर्त शरीरधारी; शम, दम और यम की मूर्ति/इनसे सम्पन्न त्रिभुवन कीर्ति के आग्रह से इस नाटक की स्पष्टतारूप सम्पत्ति से सम्पन्न वृत्ति-युक्त टीका, मात्र ध्यान की सिद्धि के लिए ही, नय-पक्ष से रहित शुभचन्द्र ने की है।।५।।

विक्रमवर भूपाल से/विक्रम सम्वत् १५७३ वर्ष में आश्विन मास की शुक्ल पक्षीय पंचमी के दिन पद्य-युक्त नाटक पद्य/समयसार नाटक के पद्यों/कलशों की शुभचन्द्र के द्वारा रचित यह निर्दोष टीका जयवन्त वर्ते।।६-७।।

......पृथक्-पृथक् पातनिकाओं से सहित, आत्म-ज्ञान को पुष्ट करनेवाली यह अध्यात्म-तरंगिणी टीका चन्द्र, सूर्य की विद्यमानता पर्यन्त जीवित रहे/चिरकाल तक विद्यमान रहे।।८।।

इस प्रकार कुमतरूपी वृक्षों को जड़-मूल से नष्ट कर देनेवाली विशाल नदी के तीव्र प्रवाहवत् यह श्रीमद् परम-अध्यात्म-तरङ्गिणी टीका समाप्त हुई और यह ग्रन्थ भी समाप्त हुआ।

समयसार–कलश की वर्णानुक्रम सूची

पद्य–वर्ण	क्रमांक	छंद	पृष्ठांक
अ			
अकर्ता जीवोऽयं	१९५	शिख०	२८७
अखण्डितमनाकुलं	१४	पृथ्वी	२९
अचिन्त्यशक्ति: स्वयमेव	१४४	उपजाति	२११
अच्छाच्छा: स्वयमुच्छलन्ति	१४१	शार्दूल–वि०	२०६
अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यव–	५७	वसंत–ति०	१०२
अज्ञानमयभावानामज्ञानी	६८	अनु०	१२१
अज्ञानमेतदधिगम्य	१६९	वसंत–ति०	२४९
अज्ञानान्मृगतृष्णिकां जलधिया	५८	शार्दूल–वि०	१०४
अज्ञानी प्रकृतिस्वभाव	१९७	शार्दूल–वि०	२८९
अज्ञानं ज्ञानमप्येवं	६१	अनु०	११०
अतो हता: प्रमादिनो	१८९		२७९
अत: शुद्धनयायत्तं	७	अनु०	१६
अत्यन्तं भावयित्वा विरति–	२३३	स्रग्धरा	३४६
अत्र स्याद्वादशुद्ध्यर्थं	२४७	अनु०	३६४
अथ महामद–निर्भर–मन्थरं	११३	द्रुतवि०	१६३
अद्वैतापि हि चेतना	१८३	शार्दूल–वि०	२७०
अध्यास्य शुद्धनय	१२०	वसंत–ति०	१७३
अध्यास्यात्मनि सर्वभावभवनं	२५९	शार्दूल–वि०	३९०
अनन्तधर्मणस्तत्त्वं	२	अनु०	७
अनवरत–मनन्तै	१८७	मालिनी	२७६
अनाद्यनन्तमचलं	४१	अनु०	७२
अनेनाध्यवसायेन	१७१	अनु०	२५२
अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं	२३५	शार्दूल–वि०	३४९
अयि कथमपि मृत्वा	२३	मालिनी	४३
अर्थालम्बनकाल एव कलयन्	२५७	शार्दूल–वि०	३८६
अलमलमतिजल्पै–	२४४	मालिनी	३६०
अवतरति न यावद्	२९	मालिनी	५३
अविचलितचिदात्म–	२७६	मालिनी	४१७
अस्मिन्ननादिनि	४४	वसंत–ति०	७७
आ			
आक्रामन्नविकल्पभावमचलं	९३	शार्दूल–वि०	१३१
आत्मनश्चिन्तयै–वालं	१९	अनु०	३६
आत्मभावान् करोत्यात्मा	५६	अनु०	१००
आत्म–स्वभावं पर–भाव–भिन्न–	१०	उपजाति	२२
आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं	६२	अनु०	१११
आत्मानुभूतिरिति	१३	वसंत–ति०	२८
आत्मानं परिशुद्धमीप्सुभि–	२०८	शार्दूल–वि०	३०६
आसंसारत एव धावति	५५	शार्दूल–वि०	९९
आसंसारविरोधिसंवर–	१२५	शार्दूल–वि०	१८२
आसंसारात्प्रतिपद–ममी	१३८	मंदाक्रान्ता	२०२
इ			
इति परिचिततत्त्वै	२८	मालिनी	५२
इति वस्तुस्वभावं स्वं, ज्ञानी	१७६	अनु०	२५८
इति वस्तुस्वभावं स्वं, नाज्ञानी	१७७	अनु०	२५९
इति सति सह सर्वै	३१	मालिनी	५६
इतीदमात्मनस्तत्त्वं	२४६	अनु०	३६२
इतो गतमनेकतां	२७३	पृथ्वी	४१२
इत: पदार्थप्रथनावगुंठनात्	२३४	वंशस्थ	३४८
इत्थं ज्ञान–क्रकच–कलना	४५	मंदाक्रान्ता	७८
इत्थं परिग्रहमपास्य समस्तमेव	१४५	वसंत–ति०	२१२
इत्यज्ञान–विमूढानां	२६२	अनु०	३९७

पद्य–वर्ण	क्रमांक	छंद	पृष्ठांक
इत्याद्यनेकनिजशक्ति	२६४	वसंत–ति०	३९८
इत्यालोच्य विवेच्य	१७८	शार्दूल–वि०	२६०
इत्येवं विरचय्य सम्प्रति	४८	शार्दूल–वि०	८५
इदमेकं जगच्चक्षु	२४५	अनु०	३६१
इद–मेवात्र तात्पर्यं	१२२	अनु०	१७६
इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत्	९१	रथोद्धता	१२९
उ			
उदयति न नयश्री	९	मालिनी	१९
उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्त	२३६	उपजाति	३५०
उभयनयविरोध	४	मालिनी	१०
ए			
एकज्ञायकभावनिर्भर	१४०	शार्दूल–वि०	२०४
एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो	६	शार्दूल–वि०	१४
एकत्वं व्यवहारतो न तु	२७	शार्दूल–वि०	४९
एकमेव हि तत्स्वाद्यं	१३९	अनु०	२०४
एकश्चितश्चिन्मय एव भावो	१८४	इन्द्रवज्रा	२७२
एकस्य कर्ता	७४	उपजाति	१२५
एकस्य कार्यं	७९	उपजाति	१२६
एकस्य चेत्यो	८६	उपजाति	१२७
एकस्य चैको	८१	उपजाति	१२६
एकस्य जीवो	७६	उपजाति	१२५
एकस्य दुष्टो	७३	उपजाति	१२५
एकस्य दृश्यो	८७	उपजाति	१२७
एकस्य नाना	८५	उपजाति	१२७
एकस्य नित्यो	८३	उपजाति	१२६
एकस्य बद्धो	७०	उपजाति	१२३
एकस्य भातो	८९	उपजाति	१२७
एकस्य भावो	८०	उपजाति	१२६
एकस्य भोक्ता	७५	उपजाति	१२५
एकस्य मूढो	७१	उपजाति	१२४
एकस्य रक्तो	७२	उपजाति	१२५
एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण	२०१	वसंत–ति०	२९४
एकस्य वाच्यो	८४	उपजाति	१२६
एकस्य वेद्यो	८८	उपजाति	१२७
एकस्य सातो	८२	उपजाति	१२६
एकस्य सूक्ष्मो	७७	उपजाति	१२५
एकस्य हेतु–	७८	उपजाति	१२५
एको दूरात्त्यजति मदिरां	१०१	मंदक्रान्ता	१४५
एको मोक्षपथो य एष	२४०	शार्दूल–वि०	३५४
एकं ज्ञान–मनाद्यनन्त–मचलं	१६०	शार्दूल–वि०	२३४
एक: परिणमति सदा	५२	आर्या	९४
एक: कर्ता चिदहमिह	४६	मंदाक्रान्ता	८१
एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य	२३८	अनु०	३५२
एवं तत्त्वव्यवस्थित्या	२६३	अनु०	३९७
एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा	१५	अनु०	३२
एषैकैव हि वेदना	१५६	शार्दूल–वि०	२२८
क			
कथमपि समुपात्त	२०	मालिनी	३७
कथमपि हि लभन्ते–	२१	मालिनी	३९
कर्ता कर्ता भवति न यथा	९९	मंदाक्रान्ता	१४१
कर्ता कर्मणि नास्ति	९८	शार्दूल–वि०	१३९
कर्तारं स्वफलेन यत्किल	१५२	शार्दूल–वि०	२२१
कर्तुर्वेदयितुश्च युक्तिवशतो	२०९	शार्दूल–वि०	३०६
कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य	१९४	अनु०	२८६

पद्य–वर्ण	क्रमांक	छंद	पृष्ठांक
कर्म सर्वमपि सर्वविदो	१०३	स्वागता	१४८
कर्मैव प्रवितर्क्य कर्तृहतकैः	२०४	शार्दूल–वि०	३००
कषायकलिरेकतः	२७४	पृथ्वी	४१४
कान्त्यैव स्नपयन्ति ये	२४	शार्दूल–वि०	४५
कार्यत्वादकृतं न कर्म	२०३	शार्दूल–वि०	२९७
कृतकारितानुमननै–	२२५	आर्या	३३७
क्लिश्यन्तां स्वयमेव	१४२	शार्दूल–वि०	२०९
क्वचिल्लसति मेचकं	२७२	पृथ्वी	४१०
क्ष			
क्षणिक–मिदमिहैकः	२०६	मालिनी	३०४
घ			
घृतकुम्भाभिधानेऽपि	४०	अनु०	७१
च			
चिच्छक्ति–व्याप्त–सर्वस्व	३६	अनु०	६६
चित्पिण्डचण्डिमविलासि–	२६८	वसंत–ति०	४०४
चित्रात्मशक्तिसमुदायमयो–	२७०	वसंत–ति०	४०७
चित्स्वभावभरभावितभावा–	९२	स्वागता	१३०
चिरमिति नवतत्त्व–	८	मालिनी	१७
चैद्रूप्यं जडरूपतां च	१२६	शार्दूल–वि०	१८४
ज			
जयति सहज–तेजः	२७५	मालिनी	४१६
जानाति यः स न करोति	१६७	वसंत–ति०	२४७
जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा	३३	शार्दूल–वि०	६०
जीवादजीवमिति	४३	वसंत–ति०	७५
जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म	६३	वसंत–ति०	११३
ज्ञ			
ज्ञप्तिः करोतौ न हि	९७	इन्द्रवज्रा	१३८
ज्ञानमय एव भावः	६६	आर्या	१२०
ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि	१४९	स्वागता	२१७
ज्ञानस्य सञ्चेतनयैव नित्यं	२२४	उपजाति	३३६
ज्ञानादेव ज्वलनपयसो–	६०	मंदाक्रान्ता	१०८
ज्ञानाद्विवेचकतया तु	५९	वसंत–ति०	१०६
ज्ञानिन् कर्म न जातु	१५१	शार्दूल–वि०	२२०
ज्ञानिनो न हि परिग्रह–भावं	१४८	स्वागता	२१६
ज्ञानिनो ज्ञान–निर्वृत्ताः	६७	अनु०	१२०
ज्ञानी करोति न	१९८	वसंत–ति०	२९१
ज्ञानी जानन्नपीमां	५०	स्रग्धरा	९१
ज्ञेयाकारकलङ्कमेचकचिति	२५१	शार्दूल–वि०	३७५
ट			
टङ्कोत्कीर्णविशुद्धबोधविसरा–	२६१	शार्दूल–वि०	३९४
टङ्कोत्कीर्णस्वरसनिचित–	१६१	मंदाक्रान्ता	२३६
त			
तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं	१३४	अनु०	१९६
तथापि न निरर्गलं	१६६	पृथ्वी	२४६
तदथ कर्म शुभाशुभभेदतो	१००	द्रुतवि०	१४३
त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि	१९१	शार्दूल–वि०	२८१
त्यक्तं येन फलं स कर्म	१५३	शार्दूल–वि०	२२३
त्यजतु जग–दिदानीं	२२	मालिनी	४१
द			
दर्शन–ज्ञान–चारित्र–त्रयात्मा	२३९	अनु०	३५३
दर्शन–ज्ञान–चारित्रैस्त्रित्वा	१६	अनु०	३३
दर्शन–ज्ञान–चारित्रैस्त्रिभिः	१७	अनु०	३४
दूरं भूरिविकल्पजालगहने	९४	शार्दूल–वि०	१३३
द्रव्यलिङ्ग–ममकार–मीलितै	२४३	स्वागता	३५९

पद्य-वर्ण	क्रमांक	छंद	पृष्ठांक
द्विधाकृत्य प्रज्ञाक्रकच-	१८०	शिख०	२६४
ध			
धीरोदारमहिम्न्यनादिनिधने	१२३	शार्दूल-वि०	१७७
न			
न कर्मबहुलं जगन्न	१६४	पृथ्वी	२४२
न जातु रागादि-	१७५	उपजाति	२५६
न जातु रागादि	२११	नर्दटक	३१५
नमः समयसाराय	१	अनु०	२
न हि विदधति बद्ध	११	मालिनी	२४
नाश्नुते विषयसेवनेऽपि	१३५	रथोद्धता	१९७
नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः	२००	अनु०	२९४
निजमहिमरतानां	१२८	मालिनी	१८८
नित्यमविकारसुस्थित	२६	आर्या	४७
निर्वर्त्यते येन यदत्र किञ्चित्त-	३८	उपजाति	६८
निश्शेषकर्मफल-	२३१	वसंत-ति०	३४४
निषिद्धे सर्वस्मिन्	१०४	शिखरिणी	१४९
नीत्वा सम्यक् प्रलय	१९३	मंदाक्रान्ता	२८४
नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ	५४	आर्या	९४
नैकान्तसङ्गतदृशा स्वयमेव	२६५	वसंत-ति०	४००
नोभौ परिणमतः खलु	५३	आर्या	९४
प			
पदमिदं ननु कर्म-दुरासदं	१४३	द्रुतवि०	२१०
परद्रव्यग्रहं कुर्वन्	१८६	अनु०	२७५
परपरिणतिहेतो-	३	मालिनी	८
परपरिणतिमुज्झत्	४७	मालिनी	८४
परमार्थेन तु व्यक्त-	१८	अनु०	३४
पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा	२२२	शार्दूल-वि०	३३१
पूर्वबद्धनिजकर्म-	१४६	स्वागता	२१४
पूर्वालम्बितबोध्यनाशसमये	२५६	शार्दूल-वि०	३८५
प्रच्युत्य शुद्धनयतः	१२१	वसंत-ति०	१७५
प्रज्ञाछेत्री शितेयं	१८१	स्रग्धरा	२६६
प्रत्यक्षालिखितस्फुटस्थिर-	२५२	शार्दूल-वि०	३७७
प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म	२२८	आर्या	३४०
प्रमादकलितः कथं भवति	१९०	पृथ्वी	२८०
प्राकारकवलिताम्बर-	२५	आर्या	४७
प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरणं	१५९	शार्दूल-वि०	२३३
प्रादुर्भावविराममुद्रित-	२६०	शार्दूल-वि०	३९२
ब			
बन्धच्छेदात्कलय-दतुलं	१९२	मंदाक्रान्ता	२८२
बहिर्लुठति यद्यपि	२१२	पृथ्वी	३१५
बाह्यार्थग्रहणस्वभावभरतो	२५०	शार्दूल-वि०	३७२
बाह्यार्थैः परिपीतमुज्झित-	२४८	शार्दूल-वि०	३६५
भ			
भावयेद्भेदविज्ञान	१३०	अनु०	१९०
भावास्रवाभावमयं प्रपन्नो	११५	उपजाति	१६६
भावो राग-द्वेष-मोहैर्विना यो,	११४	शालिनी	१६४
भित्त्वा सर्वमपि स्वलक्षण-	१८२	शार्दूल-वि०	२६८
भिन्नक्षेत्रनिषण्णबोध्य-	२५४	शार्दूल-वि०	३८१
भूतं भान्तमभूतमेव	१२	शार्दूल-वि०	२६
भेदज्ञानोच्छलन-	१३२	मंदाक्रान्ता	१९२
भेदविज्ञानतः सिद्धाः	१३१	अनु०	१९१
भेदोन्मादं भ्रम-रस-भरा-	११२	मंदाक्रान्ता	१६०
भोक्तृत्वं न स्वभावोऽस्य	१९६	अनु०	२८८

पद्य–वर्ण	क्रमांक	छंद	पृष्ठांक
म			
मग्ना: कर्मनयाव–	१११	शार्दूल–वि०	१५८
मज्जन्तु निर्भरममी	३२	वसंत–ति०	५८
मा कर्तारममी स्पृशन्तु	२०५	शार्दूल–वि०	३०२
मिथ्यादृष्टेः स एवास्य	१७०	अनु०	२५१
मोक्षहेतुतिरोधानाद्	१०८	अनु०	१५४
मोहविलासविजृम्भित–	२२७	आर्या	३३९
मोहाद्यदह–मकार्षं	२२६	आर्या	३३८
य			
य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं	६९	उपेन्द्रवज्रा	१२२
यत्तु वस्तु कुरुते	२१४	रथोद्धता	३१६
यत्र प्रतिक्रमणमेव	१८८	वसंत–ति०	२७७
यत्सन्नाश–मुपैति तन्न नियतं	१५७	शार्दूल–वि०	२३०
यदि कथमपि धारावाहिना	१२७	मालिनी	१८६
यदिह भवति राग–द्वेष–	२२०	मालिनी	३२८
यदेतज्ज्ञानात्मा	१०५	शिखरिणी	१५०
यस्माद् द्वैत–मभूत्पुरा	२७७	शार्दूल–वि०	४१९
यादृक् तादृगिहास्ति	१५०	शार्दूल–वि०	२१८
यावत्पाकमुपैतिकर्मविरति–	११०	शार्दूल–वि०	१५६
ये तु कर्तार–मात्मानं	१९९	अनु०	२९२
ये तु स्वभावनियमं	२०२	वसंत–ति०	२९६
ये त्वेनं परिहृत्य	२४१	शार्दूल–वि०	३५६
ये ज्ञानमात्रनिजभावमयी–	२६६	वसंत–ति०	४०१
योऽयं भावो ज्ञानमात्रो	२७१	शालिनी	४०९
यः करोति स करोति केवलं	९६	रथोद्धता	१३६
यः परिणमति स कर्ता	५१	आर्या	९४
यः पूर्वभावकृतकर्म–	२३२	वसंत–ति०	३४५
र			
रागजन्मनि निमित्ततां	२२१	रथोद्धता	३२९
राग–द्वेष–द्वय–मुदयते	२१७	मंदाक्रान्ता	३२३
रागद्वेषविभावमुक्तमहसो	२२३	शार्दूल–वि०	३३३
राग–द्वेष–विमोहानां	११९	अनु०	१७२
रागद्वेषाविह हि भवति	२१८	मंदाक्रान्ता	३२४
रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्ट्या	२१९	शालिनी	३२६
रागाद्यास्रवरोधतो	१३३	शार्दूल–वि०	१९४
रागादयो बन्धनिदानमुक्ता	१७४	उपजाति	२५६
रागादीना–मुदय–मदयं	१७९	मंदाक्रान्ता	२६१
रागादीनां झगिति विगमात्	१२४	मंदाक्रान्ता	१७९
रागोद्गार–महारसेन सकलं	१६३	शार्दूल–वि०	२४०
रुन्धन् बन्धं नवमिति	१६२	मंदाक्रान्ता	२३७
ल			
लोकः कर्मततोऽस्तु	१६५	शार्दूल–वि०	२४४
लोकः शाश्वत एक एष	१५५	शार्दूल–वि०	२२७
व			
वर्णादिसामग्र्यमिदं विदन्तु	३९	उपजाति	६९
वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा	३७	शालिनी	६७
वर्णाद्यैः सहितस्तथा	४२	शार्दूल–वि०	७३
वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुनो	२१३	रथोद्धता	३१६
विकल्पकः परं कर्ता	९५	अनु०	१३५
विगलन्तु कर्मविषतरु–	२३०	आर्या	३४२
विजहति न हि सत्तां	११८	मालिनी	१७०
विरम किमपरेणाकार्य	३४	मालिनी	६२
विश्वं ज्ञानमिति प्रतर्क्य–	२४९	शार्दूल–वि०	३६८
विश्रान्तः परभावभावकलना–	२५८	शार्दूल–वि०	३८८

पद्य–वर्ण	क्रमांक	छंद	पृष्ठांक
विश्वाद्विभक्तोऽपि हि	१७२	इंद्रवज्रा	२५३
वृत्तं कर्मस्वभावेन	१०७	अनु०	१५३
वृत्तं ज्ञान–स्वभावेन	१०६	अनु०	१५२
वृत्त्यंश–भेदतोऽत्यन्तं	२०७	अनु०	३०६
वेद्यवेदक–विभाव–चलत्वाद्	१४७	स्वागता	२१५
व्यतिरिक्तं परद्रव्या–देवं	२३७	अनु०	३५१
व्यवहरणनय: स्याद्यद्यपि	५	मालिनी	१२
व्यवहारविमूढदृष्टय:	२४२	वियोगिनी	३५७
व्याप्यव्यापकता तदात्मनि	४९	शार्दूल–वि०	८७
व्यावहारिकदृशैव केवलं	२१०	रथोद्धता	३१३
श			
शुद्धद्रव्य–निरूपणार्पित	२१५	शार्दूल–वि०	३१९
शुद्धद्रव्यस्वरसभवनात्किं	२१६	मंदाक्रान्ता	३२१
स			
सकलमपि विहायाह्नय	३५	मालिनी	६५
समस्तमित्येवमपास्य कर्म	२२९	उपजाति	३४२
सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं	१५४	शार्दूल–वि०	२२५
सम्यग्दृष्टि: स्वयमयमहं	१३७	मंदाक्रान्ता	२००
सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं	१३६	मंदाक्रान्ता	१९८
सर्वत: स्व–रस निर्भर–भावं	३०	स्वागता	५५
सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं	१७३	शार्दूल–वि०	२५५
सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य	२५३	शार्दूल–वि०	३७९
सर्वस्या–मेव जीवन्त्यां	११७	अनु०	१६९
सर्वं सदैव नियतं	१६८	वसंत–ति०	२४९
सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्त–	१८५	शार्दूल–वि०	२७३
संन्यस्यन्निजबुद्धिपूर्वमनिशं	११६	शार्दूल–वि०	१६७
संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि	१०९	शार्दूल–वि०	१५५
सम्पद्यते संवर एष	१२९	उपजाति	१८९
स्थितेति जीवस्य निरन्तराया	६५	उपजाति	११७
स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्‌गलस्य	६४	उपजाति	११४
स्याद्वादकौशलसुनिश्चल–	२६७	वसंत–ति०	४०३
स्याद्वाददीपितलसन्महसि	२६९	वसंत–ति०	४०६
स्वक्षेत्रस्थितये पृथग्विध	२५५	शार्दूल–वि०	३८३
स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वै–	२७८	उपजाति	४२१
स्वेच्छासमुच्छलदनल्प–	९०	वसंत–ति०	१२८
स्वं रूपं किल वस्तुनो–	१५८	शार्दूल–वि०	२३१
ह			
हेतु–स्वभावानुभवाश्रयाणां	१०२	उपजाति	१४५

तीर्थधाम मङ्गलायतन
ग्रन्थमाला के सम्माननीय सदस्य

परम संरक्षक –

(1) पण्डित श्री कैलाशचन्द्र पवनकुमार जैन, अलीगढ़; (2) श्रीमती सुशीलादेवी, धर्मपत्नी श्री अजितप्रसाद जैन, दिल्ली; (3) श्रीमती ममता जैन, धर्मपत्नी श्री मुकेश जैन परिवार, अलीगढ़; (4) श्रीमती ताराबेन दाह्यालाल शाह, मुम्बई हस्ते श्री हसमुखभाई शाह, मुम्बई; (5) श्री गिरीश-प्रवीण शाह, यू.एस.ए.; (6) श्री गुणवन्त जे. हिमानी, मुम्बई; (7) श्रीमती कमलादेवी धर्मपत्नी श्री नेमीचन्द पाण्डया, कोलकाता; (8) श्री महेशचन्द्र परिवार, कन्नौज; (9) श्रीमती सरलादेवी जैन मातृश्री आलोककुमार जैन, परिवार, कानपुर; (10)श्री पी. के. जैन, परिवार, रुड़की; (11) श्री चम्पालाल भण्डारी, बंगलौर; (12) श्री महाचन्द जैन चन्दकला जैन सिंघई, भीलवाड़ा; (13) श्रीमती शीतल बी. शाह, लन्दन; (14) श्रीमती बीना जैन धर्मपत्नी श्री राजेन्द्रकुमार जैन, देहरादून; (15) श्री प्रेमचन्द बजाज, कोटा; (16) श्री ऋषभ सुपुत्र श्री जैन बहादुर जैन, स्नेहलता, कानपुर; (17) श्रीमती पुष्पलता जैन धर्मपत्नी श्री अजितकुमार जैन, छिन्दबाड़ा; (18) श्री रमणलाल नेमीचन्द शाह, मुम्बई; (19) श्रीमती अमिता धर्मपत्नी श्री भानेन्द्रकुमार बगड़ा, नैरोबी; (20) श्री अजितजी जैन, बड़ौदरा, गुजरात (21) श्री गंभीरमल प्रकाशचन्द्र जैन, अहमदाबाद; (22) श्री वीरेन्द्र कुमार, त्रिशला देवी, नईदिल्ली; (23) श्री बाबूलाल राजेशकुमार मनोजकुमार पाटौदी, गोहाटी (दिल्ली); (24) जैन सेन्टर ऑफ ग्रेटर फिनिक्स, ऐरिजोना; (25) श्रीमती कोकिलाबेन शाह C/O श्री प्रवीन शाह कल्पना शाह, अमेरिका; (26) श्रीमती रंभाबेन पोपटलाल बोरा चैरिटेबिल ट्रस्ट, मुम्बई। (27) श्री विवेक जैन, इन्दौर। (28) श्रीमती कौशल्यादेवी धर्मपत्नी श्री हरीशचन्द्र जैन, विकासनगर, देहरादून।

संरक्षक –

(1) अहिंसा चेरिटेबिल ट्रस्ट, जयपुर हस्ते दिलीपभाई; (2) श्री प्रकाशचन्द्र जैन छाबड़ा, सूरत; (3) डॉ० सनतकुमार जैन परिवार, सिहोर; (4) श्री कपूरचन्द छाबड़ा परिवार, सूरत; (5) श्री कैलाशचन्द छाबड़ा परिवार, सूरत; (6) श्रीमती त्रिशलादेवी जैन, सूरत; (7) ज्ञायक पारमार्थिक ट्रस्ट, बाँसबाड़ा; (8) श्रीमती मीना जैन धर्मपत्नी श्री केशवदेव जैन, कानपुर; (9) श्री निहालचन्द जैन, धेवरचन्द जैन, जयपुर; (10) श्रीमती कमलप्रभा जैन मातुश्री श्री अशोक बड़जात्या, इन्दौर (11) श्री महावीर जी पाटिल, सांगली, महाराष्ट्र (12) श्री विजेन्द्र कुमार जैन, जैन मैटल कम्पनी, कुमार मैटल कम्पनी, अलीगढ़।

परम सहायक –

(1) पण्डित कैलाशचन्द जैन, परिवार, अलीगढ़; (2) श्री कैलाशचन्द्रजी जैन, परिवार, ठाकुरगंज; (3) श्री अशोककुमार जैन, परिवार, चिलकाना; (4) श्री बोसकुमार जैन, परिवार, चिलकाना; (5) श्री राजीवकुमार जैन, चिलकाना; (6) श्री संजयकुमार जैन, चिलकाना; (7) श्री बलीशकुमार जैन, परिवार, गाजियाबाद; (8) श्री कैलाशचन्द्रजी जैन, परिवार, भीलवाड़ा; (9) श्री दिगम्बर जैन कुन्द कुन्द कहान स्मृति सभागृह ट्रस्ट, आगरा; (10) श्री प्रशान्तभाई दोशी, पुणे; (11) श्री राजेन्द्रभान बारौलिया, आगरा; (12) श्री शान्तिलाल कुसुमलता पाटनी, छिन्दबाड़ा; (13) श्री रविन्द्रकुमार जैन स्नेहलता जैन, नवी मुम्बई; (14) श्री कपूरचन्द अक्षयकुमार बत्सल, खनियांधाना; (15) श्री एम.पी. जैन चैरिटेबल ट्रस्ट, विवेक विहार, दिल्ली; (16) श्री जीवराज, कैलाश, प्रकाश संचेती, अजमेर; (17) श्रीमती इन्दिराबेन नवीनभाई शाह जोबालिया, मुम्बई; (18) श्री प्रकाशचन्द जैन, सूरत; (19) श्री शीतल गायक, बांसवाड़ा (राज.); (20) श्री महीपाल गायक, बांसवाड़ा (राज.); (21) श्री रूचाम्स फ्रेमिंग, टोरन्टो कनाडा।

सहायक

(1) श्रीमती कान्तीदेवी जैन, धर्मपत्नी श्री मोतीचन्द्र जैन (शहरी), चिलकाना; (2) श्रीमती सीमा सेठी धर्मपत्नी श्री दिलीप सेठी, झालावाड़; (3) श्री शीलचन्द्र जैन 'सर्राफ', परिवार, बीना; (4) श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, आगरा; (5) श्री दिगम्बर

जैन मुमुक्षु मण्डल, करेली; (6) श्री उमेशचन्द संजीवकुमार, भोपाल; (7) श्री कन्नूभाई दोशी, परिवार, मुम्बई; (8) श्री खुशालचन्द्र राकेशकुमार सर्राफ, खिमलसा; (9) श्री धनकुमार सुनीलकुमार जैन, सूरत; (10) श्री वीरेश चिरंजीलाल कासलीवाल परिवार, सूरत; (11) श्रीमती स्व० शोभाबेन, धर्मपत्नी स्व० मोतीलाल कीकावत, लूणदा; (12) श्रीमती प्रकाशवती धर्मपत्नी गंभीरचन्द्रजी वैद्य, अलीगंज हस्ते डॉ० योगेश जैन; (13) श्री महेशचन्द जैन, आगरा; (14) श्रीमती रविकान्ता जैन, राधोगढ़; (15) श्री कीर्तिञ्जय अण्णासा गोरे, हिंगोली (फालेगाँव); (16) वन्दना प्रकाशन, अलवर; (17) श्री राजकुमार जैन, रश्मि जैन, उज्जैन; (18) श्री अजित 'अचल' ग्वालियर; (19) श्री कोटडिया चम्पकलाल नाथालाल शाह, अहमदाबाद; (20) श्री सी.एस. जैन, देहरादून; (21) श्री सागरमल माधवलाल सेठी, बुरहानपुर (एम.पी.); (22) श्रीमती शकुन्तलादेवी धर्मपत्नी श्री जवाहरलाल जैन, जयपुर; (23) श्री मनु जैन सुपुत्र श्री अरिदमन जैन, मेरठ; (24) श्री अजितकुमार जैन, एड. सीकर; (25) श्री वीरेन्द्रकुमार पारसकुमार, मनोजकुमार हरसौरा, कोटा; (26) डॉ. रांका जैन, प्रिसिंपल, देहरादून; (27) श्रीमती वर्षा बेन पीयूष शाह, ऐरिजोना अमेरिका; (28) श्री विजय किकावत, बसंत विहार, नई दिल्ली; (29) पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट, मुम्बई; (30) श्री अजय जैन (सी.ए.), कोटा; (31) श्री चान्दमल हेमन्तकुमार वेद, भीलवाड़ा; (32) श्री सुशीलकुमार जैन समकित पहाड़िया, किशनगढ़; (33) श्री समय गाँधी सुपुत्र श्री रणजीत भाऊ साहेब गाँधी, सोलापुर; (34) श्री कमल बोहरा, कोटा; (35) श्री अनूपकुमार जैन, आगरा; (36) श्रीमती नेहल धर्मपत्नी श्री राजेन्द्रकुमार कोठारी, दाहोद; (37) श्रीमती नीलमबेन रमणीकभाई घड़ियाली, मोरबी; (38) स्व. श्री चान्दमल लुहाड़िया परिवार, बिजौलिया; (39) श्री महावीर प्रसाद जैन, आगरा; (40) श्री सुभाषचन्द गोयल, आगरा; (41) श्री वंशीधर जैन, आगरा; (42) श्रीमती सत्या जैन धर्मपत्नी श्री महेन्द्रकुमार जैन, नई दिल्ली; (43) श्रीमती प्रकाशदेवी सेठी, गोहाटी; (44) श्री धनकुमार जैन, पार्ले पाइन्ट, सूरत; (45) श्री महावीर कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, दुर्ग; (46) सुमतचन्द विनीतकुमार शास्त्री, आगरा; (47) श्री भगवान पारसकुमार जैन, आगरा; (48) स्व. श्री ज्ञानमलजी, भीलवाड़ा (राज०); (49) श्री विमलचन्द पुत्र श्री राजकुमार काला, खरगौन; (50) श्री पुचाम्स परिवार, टोरंटो, कनाडा; (51) श्रीमती सुलोचनादेवी जैन, गोहाटी; (52) श्री प्रभुदयाल जैन, सिलीगुड़ी (आसाम); (53) श्रीमती चंचला जैन, सोलापुर; (54) श्री अम्बुज जैन पुत्र श्री जे. डी. जैन, मलाड़, मुम्बई; (55) श्री अनुभव जैन, जयपुर; (56) श्री कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन परमागम ट्रस्ट, इन्दौर; (57) श्री रमेशचन्द सोगानी, कोलकाता; (58) श्री बटुकलाल राघवजी भापाणी, घाटकोपर, मुम्बई।